# त्वक् रोग निदान चिकित्सा

सम्पूर्ण चर्म रोग एवं त्वचा पर परिलक्षित होने वाले रोगों तथा कतिपय

क्षुद्र रोगों का क्रमबद्ध सचित्र विवेचन, निदान एवं चिकित्सा

—०—

—लेखक एवं संकलनकर्ता—

वैद्य किरीट भाई बी० पण्ड्या डी० एस० ए० सी०

सुश्रुत क्लिनिक, ई—ब्लाक, कामर्सियल सैण्टर,

आश्रम रोड, एलिस ब्रिज, अहमदाबाद—३८० ००६ (गुजरात)

***

: प्रकाशक

[ते]ल आयुर्वेद संस्थान, डी-७८ औद्योगिक नगर, अलीगढ़-

मूल्य—३५ रुपया

ग्लेज कागज पर छपा मूल्य—४० रुपया

[द्वा]रा प्रिंटिंग प्रेस अलीगढ़ के आदेश से ए[ग्रि]सा प्रिन्टर्स, अलीगढ़ में मुद्रित।
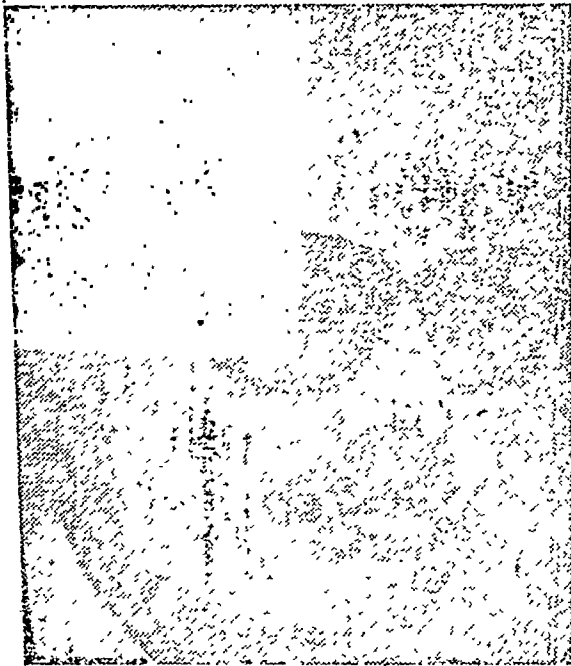
अपने कृपालु सहृदय पाठकों की सेवा में चिर प्रतीक्षित "त्वक् रोग निदान चिकित्सा" को प्रस्तुत करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता है। आयुर्वेद वाङ्मय में जिस प्रकार ज्वर, कास, अतिसार, ग्रहणी, प्रमेह, राजयक्ष्मा आदि रोगों का पृथक रूप से स्पष्टतया उल्लेख किया गया है उस प्रकार से त्वक् विकारों का पृथक से एवं स्पष्ट वर्णन नहीं मिलकर विकीर्ण रूप से मिलता है। चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट, माधव एवं परवर्ती ग्रन्थकारों ने त्वक् रोगों से सम्बन्धित विवेचन कुष्ठ, विसर्प, क्षुद्र रोगों आदि में विकीर्ण रूप से किया है जिसे पूर्ण विवेचना सहित एक ही ग्रन्थ में समाविष्ट कर आपके समक्ष प्रस्तुत किया गया है। आज सम्पूर्ण विश्व में त्वक् रोगों का विस्तार अन्य किसी भी संस्थान के रोगों की अपेक्षा अधिक है। त्वचा शरीर का बाह्यतम आवरण है तथा यह आन्तरिक अंगों की सुरक्षा का कवच है जिससे यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आजकल त्वक् रोगों के उत्पादक निदानों का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। विरुद्ध आहार-विहार सेवन से त्वचा को बाधित किया त्वचा को अधिष्ठान बनाकर अनेक रोग मनुष्य शरीर को ग्रसित करते हैं तथा कष्ट देते हैं। इन कष्टों के निवारण हेतु ही "धन्वन्तरि" का [illegible] विशेषांक आपकी सेवा में समर्पित है। इसके द्वारा

आप स्वयं ही आयुर्वेद की महत्ता जान सकेंगे, आयुर्वेद मतानुसार त्वगाश्रित रोगों का शोधन एवं शमन कर अपने रोगियों को त्वक् रोगों से निरामय कर यश प्राप्त कर सकेंगे । यही हमारा अभीष्ट है ।

गुजरात प्रान्त के अहमदाबाद नगर में प्रतिभा सम्पन्न एवं शास्त्रीय वैद्यों में श्री किरीट भाई पण्ड्या का नाम अग्रिम स्तर पर लिया जाता है । पूर्वकाल में आपने गुजरात आयुर्वेद स्नातक, 'गुजरात प्रदेश वैद्य मण्डल, अखिल गुजरात वैद्य मण्डल आदि अनेकों संस्थाओं में विभिन्न पदों पर रहकर आयुर्वेद की बहुमूल्य सेवा की है । आप पिछले १४-१६ वर्षों से गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय के सीनेट-सिण्डीकेट मेम्बर हैं । म्युनिसिपल कारपोरेशन अहमदाबाद के भूतपूर्व पंचकर्म चिकित्सक भी रह चुके हैं । एम० एल० सी० बोर्ड गुजरात के सदस्य रह चुके हैं । वर्तमान में आप स्वतन्त्र चिकित्सालय में पंचकर्म पर ज्यादा ध्यान देते हैं । चर्म रोगों पर आपने संशोधन कार्य किया है तथा आपने त्वक् रोगों के सम्बन्ध में गुजराती भाषा में एक ग्रन्थ का भी लेखन किया है । आयुर्वेद प्रचार-प्रसार हेतु आपने स्विटजरलैंड, इटली, फ्रांस, इंग्लैण्ड, स्पेन, पुर्तगाल, जर्मनी, बेल्जियम, हालैंड, अमरीका आदि में आयुर्वेद प्रवचन भी दिये हैं । सन् ९१ में 'धन्वन्तरि' "त्वक् रोग निदान चिकित्सांक" प्रकाशित किया जाय तथा विशेष सम्पादक किसे बनाया जावे तो आपके चिरपरिचित श्री मनोज भाई उपाध्याय जी ने आपके नाम को सुझाया तथा श्री पण्ड्या जी को इस कार्य को संपादित हेतु तैयार भी किया । मेरी दृष्टि में 'त्वक् रोग निदान चिकित्सा' के सम्पादन एवं संकलन का दुरूह कर्तव्य आपने श्री वैद्य मनोज भाई उपाध्याय जी के सहयोग एवं दिशा निर्देश में अत्यन्त कुशलता एवं दक्षता से सम्पन्न किया है। एतदर्थ श्री पण्ड्या जी एवं श्री उपाध्याय जी दोनों का चिर आभारी हूँ। साथ ही इस अनुपम कृति के लिए आयुर्वेद जगत भी आप दोनों का चिर ऋणी रहेगा । श्री उपाध्याय जी में आयुर्वेद तथा 'धन्वन्तरि' के लिये कुछ कर गुजरने की तीव्र लालसा है जिसका कि दिग्दर्शन इससे होता है कि परम पिता परमात्मा की नियति लीलावश आपकी पत्नी श्रीमती सविता देवी का २८-७-९० को देहावसान हो गया तथा आप अत्यन्त शोकग्रस्त हो गये । ऐसी शोकपूर्ण स्थिति में भी आप १-२।। माह पश्चात स्वयं अहमदाबाद जाकर श्री पण्ड्या जी से मिले तथा 'त्वक् रोग निदान चिकित्सा' हेतु आगत सभी लेखों को पढ़ा, समझा तथा उनको व्यवस्थित करने हेतु सादर कुशलता से आये तथा श्री पण्ड्या जी के सहयोग से सम्पादित करके हमें यथासमय भेज दिया । अत्यन्त शोकपूर्ण स्थिति में भी आपने हमें पूर्ण सहयोग प्रदान किया यह 'धन्वन्तरि' के प्रति आपकी अगाध दृढ़ सद्भावना का प्रतीक है ।

इस 'त्वक् रोग निदान चिकित्सा' हेतु प्रकाशनार्थ जो लेख प्रेषित किये गये थे या हमें सीधे लेखकों से प्राप्त हुए थे वह बहुत अधिक थे । यद्यपि सभी लेख अत्यन्त उत्कृष्ट थे लेकिन सीमित पृष्ठ संख्या की समस्या भी हमारे समक्ष उपस्थित थी जिसके कारण सभी लेखों को इसमें समाविष्ट नहीं किया जा सका है एतदर्थ हम उन लेखक महोदयों से विनम्रतापूर्वक क्षमायाचना करते हुए निवेदन करना है कि कुछ लेखों को 'धन्वन्तरि' के अप्रैल ९१ में प्रकाशित किया गया है तथा अवशिष्ट लेखों को 'धन्वन्तरि' के मई+जून ९१ के संयुक्तांक में प्रकाशित करेंगे । सभी लेख अत्यन्त उच्चकोटि के हैं तथा वह प्रकाशित होकर आप तक अवश्य पहुंचें ऐसी हमारी उत्कट अभिलाषा है इसी कारण से सीमित पृष्ठ संख्या की समस्या के कारण ऐसा आयोजन करना पड़ा है। हमारी विषम समस्या को दृष्टिगत कर आशा है कि हमारे कृपालु लेखक-पाठक हमें क्षमा करेंगे ।

**'धन्वन्तरि' का वार्षिक मूल्य—**

यद्यपि 'धन्वन्तरि' का प्रकाशन घाटा उठाकर किया जाता है फिर भी गत वर्ष हमने घोषणा की थी कि सन् ९१ में 'धन्वन्तरि' के वार्षिक शुल्क में कोई वृद्धि नहीं की जायेगी । तदनुसार इस वर्ष वार्षिक

शुल्क गत वर्ष जैसा ही है लेकिन इस वर्ष भी जनवरी में कागज-स्याही के मूल्यों में वृद्धि हुई है। साथ ही भारत सरकार ने १ जुलाई तथा ३ जुलाई ९१ को रुपये का लगभग २०% अवमूल्यन कर दिया है जिससे लगता है कि अखबारी कागज जो कि विदेश से आता है के भाव भी २५% बढ़ सकते है। इस कारण से हमें अत्यन्त विवश होकर इस वृ० विशेषांक 'त्वक् रोग निदान चिकित्सांक' में १६ पृष्ठ गत वर्ष की अपेक्षा कम करने पड़े हैं। आशा है कि हमारे कृपालु पाठक हमारी विवशता को समझ कर इस हेतु हमें पूर्ववत् कृपापूर्ण सहयोग प्रदान करते रहेंगे।

## त्वक् रोग निदान चिकित्सांक का देरी से प्रकाशित होना—

जैसाकि आपको समाचार पत्रों से विदित होता रहा होगा कि २२ अक्टूबर ९० से अलीगढ़ में भीषण दंगे होते रहे हैं तथा यह क्रम नवम्बर ९०, दिसम्बर ९० तथा कुछ दिन जनवरी ९१ में भी चलता रहा। कभी २-४-६ दिन को स्थिति ठीक होती, तत्पश्चात् फिर दंगा भड़क उठता। ऐसी स्थिति में प्रेस आदि का सभी कार्य रुक गया। इसी कारण से यह विशेषांक ३ माह देरी से भेज पा रहे हैं। कर्फ्यू के कारण डाक की भी बड़ी अव्यवस्था रही जिससे 'त्वक् रोग निदान चिकित्सा' में प्रकाशनार्थ जो लेख सीधे हमें प्रेषित किये गये, उनमें से अनेक लेख हम तक नहीं पहुँच सके तथा प्रकाशित होने से रह गये। एतदर्थ क्षमाप्रार्थी हैं।

इस 'त्वक् रोग निदान चिकित्सा' के प्रकाशन में श्री वैद्य किरीट भाई पण्ड्या तथा श्री वैद्य अशोक भाई ढलाविया का जो अथक सहयोग मिला है उसके लिये दोनों का ही अत्यन्त आभारी हूं। जिन लेखों का समावेश हुआ है उनके लेखकों के सहयोग हेतु उन सभी का अत्यन्त आभारी हूं। अपने कर्मचारियों का भी आभारी हूं जिनका सहयोग सदैव मिलता रहा है। आशा है कि 'धन्वन्तरि' के पाठक इस प्रकाशन से अवश्य ही लाभान्वित होंगे। हमारी शुभ कामनाओं एवं आपसे पूर्ण सहयोग की अपेक्षा के साथ—

गुलजार नगर,
रामघाट रोड, अलीगढ़।
६-७-९१

[हस्ताक्षर]
सम्पादक एवं प्रकाशक-'धन्वन्तरि'
निर्मल आयुर्वेद संस्थान,
डी-७४ औद्योगिक नगर,
अलीगढ़-२०२००१ [उ० प्र०]

# शुभ कामनायें

आचार्य प्रियव्रत शर्मा ए. एम. एस., साहित्याचार्य,
भूतपूर्व निदेशक—स्नातकोत्तर आयुर्वेदीय संस्थान,
प्रमुख आयुर्वेद संकाय, अध्यक्ष द्रव्य गुण विभाग
अध्यक्ष चिकित्सा इतिहास परिषद्, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
३८, गुरुधाम कालोनी, वाराणसी–१.

प्रिय वैद्य पण्ड्या जी,

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप 'त्वक् रोग विशेषांक' का सम्पादन कर रहे हैं। विशेषांक की सफलता के लिये मेरी हार्दिक शुभ कामनायें।

—प्रियव्रत शर्मा

× × × ×
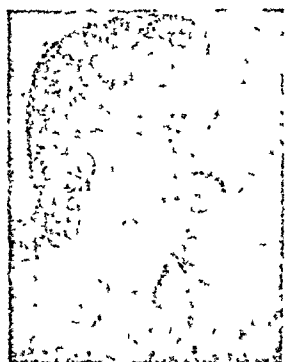
वैद्य अशोक भाई तवाविया भारद्वाज आयुर्वेदाचार्य,
आयुर्वेद मार्तण्ड, आचार्य मनो चिकित्सा, बी. एस. ए. एम.
भारद्वाज औषधालय, स्वामी नारायण मन्दिर,
सावर कुण्डला–३६४५१५ (भावनगर) गुज०

विशेष प्रसन्नता है कि 'त्वचा रोग विशेषांक' के विशेष सम्पादन का कार्य भार गुजरात के त्वचा रोग निष्णात वैद्य श्री किरीट भाई बी० पण्ड्या जी ने संभाला है। श्री वैद्य पण्ड्या जी गुजरात के माने जाने सुप्रसिद्ध चिकित्सक हैं। उनके चिकित्सालय में ७५% रुग्ण त्वचा-रोग के आते हैं। सारे अहमदाबाद नगर में एवं गुजरात तथा बम्बई के त्वचा रोगी श्री पण्ड्या जी के पास चिकित्सार्थ आते रहते हैं। पण्ड्या जी अनेकों संस्थाओं से भी संलग्न हैं, अनेकों राजकीय संस्थाओं के मान्यता प्राप्त वैद्य हैं। श्वित्र पर उनका विशेष सफल कार्य हुआ है। ऐसे विद्वान द्वारा सम्पादित त्वचा रोग विशेषांक अवश्यमेव सफल सिद्ध होगा। विषय का चयन मैंने किया था एवं विशेष सम्पादक का नाम भी मैंने सूचित किया था, दोनों को डा० गर्ग जी ने स्वीकारा है। अतः मुझे अति प्रसन्नता है। मैं श्री गर्ग जी एवं विशेष सम्पादक के प्रति अपनी शुभ कामना प्रेषित करता हूं।

—वैद्य अशोक भाई तवाविया

कवि० गिरिधारी लाल मिश्र आयुर्वेद चक्रवर्ती (श्रीलंका)
सहाय चिकित्सक—केपादलब आर० हास्पीटल,
तेजपुर (असम)

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि 'धन्वन्तरि' का आगामी विशाल विशेषांक 'त्वक् रोग निदान चिकित्सा' आयुर्वेद के उद्भट विद्वान वैद्य किरीट बी० पण्ड्या जी के विशेष सम्पादकत्व में प्रकाशित होने जा रहा है। आशा है इसमें गवेषणात्मक जनोपयोगी सामग्री प्रस्तुत होगी। विशेषांक की सर्वांगीण सफलता के लिए मेरी हार्दिक शुभ कामनायें।

× × × ×

डा० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी शास्त्री, एम० ए०
के-३०/६ भाटी टोला, वाराणसी।
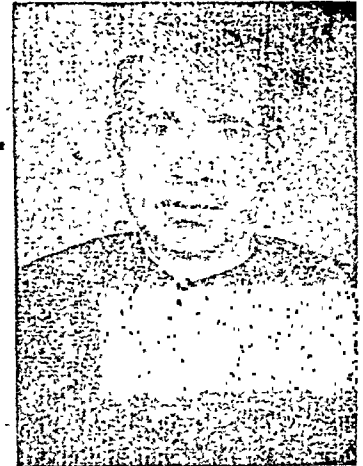
मनुष्य के गुण दोष आकलन में, रूप सौन्दर्य के निर्धारण करने में त्वचा को एक अहम भूमिका का निर्वाह करना होता है। नीरोग त्वचा मानव के जीवन में चेतना का संचार करने में सफल होती है। इस नई सूझबूझ से युक्त प्रस्तुत विशेषांक की मैं हृदय से सफलता की कामना करता हूं। रोग निवारण की दृष्टि से यह विशेषांक लोकप्रिय होगा। ऐसा मेरा विश्वास है।

× × × ×

वैद्य मायाराम उनियाल वनौषधि विद्यापति (श्रीलंका)
प्रभारी सहायक निदेशक—संयुक्त अनुसन्धानीय संस्थान
ताड़ीखेत (रानीखेत) उ. प्र.।

'धन्वन्तरि' विगत छः दशकों से भी अधिक समय से आप जैसे कर्मनिष्ठ सम्पादकों के माध्यम से आयुर्वेद सामग्री प्रकाशित करने में क्रियारत है। मैं अपनी शुभ कामना इस विशेषांक के सम्पादन एवं प्रकाशन हेतु भेज रहा हूं।

डा० बाबू भाई के० पटेल डी. एस-सी. ए., आयुर्वेदाचार्य,
चर्मरोग विशेषज्ञ

अध्यक्ष—धान लैब्स प्रा. लि., राजकोट
प्रबन्धक निदेशक—बासु फार्मा. प्रा. लि., बड़ोदरा
निदेशक—आयु० लैब्स प्रा. लि., राजकोट
पूर्व उपाध्यक्ष—राजकीय आयु० नर्सिङ्ग काउन्सिल, गुजरात
सदस्य—राजकीय औषधि सलाहकार बोर्ड, गुजरात
मेडीकल एडवाइजर—धान मार्क प्रा. लि., राजकोट
'पुष्कर' १५-बी, पञ्चवटी सोसायटी, कालावड रोड, राजकोट।

'धन्वन्तरि' द्वारा वैद्यराज श्री किरीट भाई पण्ड्या के सम्पादन में 'त्वक् रोग निदान चिकित्सा' प्रकाशित हो रहा है, यह जानकर बड़ी प्रसन्नता है। आयुर्वेद चिकित्सा जगत के लिये बड़ा ही उपकार किया है। आपके प्रयासों की मैं हार्दिक सफलता की कामना करता हूं।

× × × ×

वैद्य वेद प्रकाश तिवारी
प्रभारी सहायक अनुसन्धान अधिकारी
आदिवासी स्वास्थ्य रक्षा अनुसन्धान परियोजना
(केन्द्रीय आयुर्वेद एवं सिद्ध अनुसन्धान परिषद्)
जीरो (अरुणाचल प्रदेश)

❀❀❀

'धन्वन्तरि' द्वारा वर्ष १९९१ में 'त्वक् रोग निदान चिकित्सा' का प्रकाशन किया जा रहा है। त्वक् रोगों से ग्रसित समाज के लाभार्थ इसका महत्व और भी अधिक सिद्ध होगा। अतः इसके प्रकाशन की सफलता की कामना करता हूं।

× × × ×

डा० कृष्ण मुरारी अग्रवाल एम. डी. (आयु०)
विवेचक—काय चिकित्सा
मदन मोहन मालवीय राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय,
३७७ टीचर्स कालोनी, अम्बा माता स्कीम, उदयपुर (राजस्थान)

'धन्वन्तरि' का 'त्वक् रोग निदान चिकित्सा' प्रकाशित होने जा रहा है जो निदान एवं चिकित्सा की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

# त्वक् रोग निदान चिकित्सा

डा० गिरीश कुमार सिंह बी.एस.सी., बी.ए.एम.एस. एवं पी.एच.डी.
शरीर क्रिया विभाग
श्री लालबहादुर शास्त्री स्मारक राज० आयुर्वेद महाविद्यालय,
हंडिया (इलाहाबाद)
१०७४/१३८ ए, मुट्ठी गंज, इलाहाबाद

'धन्वन्तरि' द्वारा 'त्वक् रोग निदान चिकित्सा' प्रकाशित हो रहा है। यह छात्रों एवं आयुर्वेद प्रेमियों के लिये बहुत उपयोगी होगा।
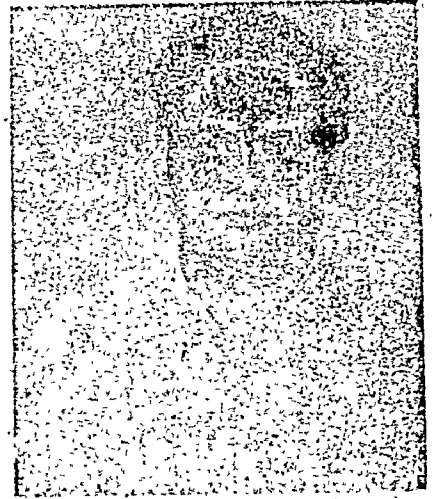
आचार्य वेद व्रत शास्त्री काव्य तीर्थ
नदरई गेट, कासगंज (एटा) उ. प्र.

'धन्वन्तरि' का यह अंक सुन्दर, सुपाठ्य होगा, ऐसी आशा है।

× × × ×
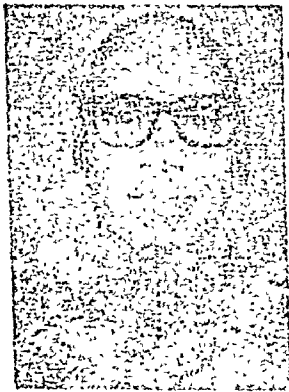
कवि० डा० वेद प्रकाश गुप्ता बी. आई. एम. एस.
गुलमोहर एनक्लेव, नई दिल्ली

卐

प्रतिवर्ष किसी न किसी मूर्धन्य, विश्वविख्यात, उच्चकोटि के आयुर्वेद विद्वान के विशेष सम्पादकत्व में 'धन्वन्तरि' का विशाल विशेषांक अनेक वर्षों से प्रकाशित हो रहा है। इससे आधुनिक चिकित्सा शास्त्र के एलोपैथिक वालों को आयुर्वेद के गूढ़ रहस्यों का बोध होता है कि आयुर्वेद वैज्ञानिक, सम्पूर्ण अनुसन्धान की कसौटी पर परखा हुआ शास्त्र है। मैं प्रकाशन कार्य निर्विघ्न सम्पन्न होवे, ऐसी शुभ कामना करता हूं।

× × × ×

वैद्य पं० नारायण शर्मा कौशिक
प्रधान सम्पादक—वेदांग ज्योति एवं श्री सालासर पंचांग
मेड़ता सिटी (नागौर) राजस्थान।

'धन्वन्तरि' का विशेषांक 'त्वक् रोग-निदान चिकित्सा' का विशेष सम्पादन गुजरात प्रान्त के विश्व विख्यात वैद्यराज किरीट भाई पण्ड्या डी. एस. ए. सी. अहमदाबाद द्वारा हो रहा है। पूर्ण विश्वास है कि आपकी यह कृति अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। चिकित्सकों तथा आयुर्वेद विद्यार्थियों के लिये विशेष लाभदायी होगा। इस प्रकाशन के लिये सादर शुभ कामनायें।

# त्वक् रोग निदान चिकित्सा

डा० वी० एन० गिरि ए एम बी एस., चिकित्सा साहित्य रत्न
इन्द्रपुरी आयुर्विज्ञान चिकित्सालय,
डंगरा (गया) बिहार
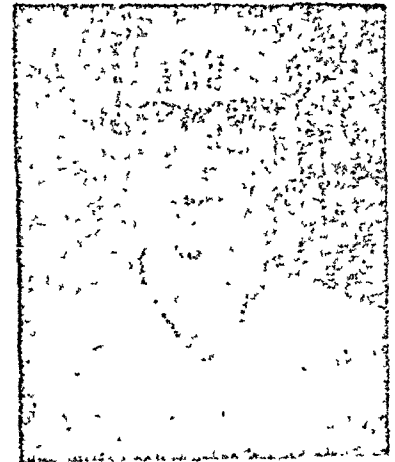
'धन्वन्तरि' वैद्य किरीट बी० पण्ड्या डी. एस. ए. सी. के सम्पादकत्व में 'त्वक् रोग निदान चिकित्सा' प्रकाशित करने जा रहा है। वस्तुतः इस विषय का चयन सामयिक है। वर्तमान में पर्यावरण विनाश और विभिन्न रासायनिक द्रव्यों के धड़ल्ले से प्रयोग तथा उसके द्वारा उत्पादित खाद्य पदार्थों के दैनिक उपयोग से अनेक त्वक् रोगों की उत्पत्ति बढ़ी है। इस संदर्भ में मूर्धन्य विद्वानों के अनुसंधानात्मक शोध पत्रों का समावेश किया जायेगा जिससे त्वक् रोगों पर काबू पाया जा सके। वैद्य श्री किरीट बी० पण्ड्या देश के जानेमाने सुप्रसिद्ध चिकित्सक एवं विद्वान लेखक हैं। इनके कर कमलों द्वारा सम्पादित 'त्वक् रोग निदान चिकित्सा' से आयुर्वेद जगत में एक बड़े अभाव की पूर्ति हो सकेगी, ऐसी आशा है। सफलता हेतु मेरी हार्दिक शुभ कामनायें।

× × × ×

वैद्य ताराशंकर मिश्र आयु० चक्रवर्ती (श्रीलंका)
प्रधानाचार्य—श्री अर्जुन आयु० विद्यालय, वाराणसी

'धन्वन्तरि' का 'त्वक् रोग निदान चिकित्सा' प्रकाशित होने जा रहा है और उसके विशेष सम्पादक श्री वैद्य किरीट भाई पण्ड्या हैं। यह जानकर अतीव प्रसन्नता हुई। निश्चय ही यह 'त्वक् रोग निदान चिकित्सा' अतीव उपयोगी होगा। बहुत सी भ्रान्तियों को दूर कर आयुर्वेद एवं इसके उपजीवियों के लिये शुभंकर होगा।

× × × ×
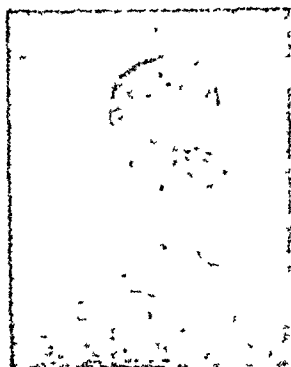
वैद्य नन्दकिशोर शर्मा वैद्य रत्न,
आगर (मालवा) वाया उज्जैन (म० प्र०)

आपने आयुर्वेद की उन्नति के लिये जो कदम उठाया है सराहनीय है। ईश्वर शक्ति से प्रार्थना है कि वह आपकी लोह-लेखनी को पूर्ण शक्ति प्रदान करे।

'त्वक् रोग निदान चिकित्सा' के लेखक एवं संकलनकर्ता
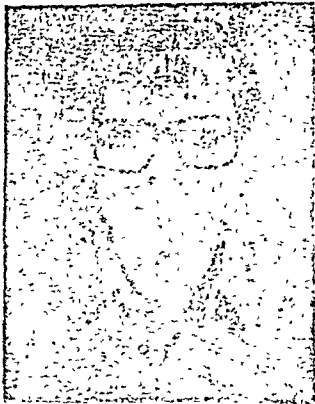
# श्री वैद्य किरीट बी० पण्ड्या

डी० एस० ए० सी०

का

# —संक्षिप्त जीवन परिचय—

भूतकाल में जब आयुर्वेद शास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ होगा, तब समाज व्यवस्था ऋषि-मुनियों की प्रणाली के आधार पर थी। ऋषि जीवन आधारित समाज व्यवस्था से आध्यात्मिक परम्परा प्रचलित थी। आयुर्वेद का विकास व प्रसार इस आध्यात्मिक परम्परा की देन है। आज भी आयुर्वेद का जितना प्रचार-प्रसार है उसका श्रेय शास्त्रीय वैद्यों को दिया जाना उचित है। भारत एवं गुजरात में भूतकाल में शास्त्रीय वैद्यों का बोलबाला था, वर्तमान समय में भी कुछ ऐसे शास्त्रीय वैद्य हैं जिनसे आज का आयुर्वेद प्रगति कर रहा है। गुजरात में शास्त्रीय एवं सिद्धहस्त वैद्यों में श्री किरीट भाई पण्ड्या का नाम एवं कार्य अग्र स्थान में है।

श्री किरीट भाई पण्ड्या का जन्म दिनांक ५-५-४१ में हुआ था। श्री पण्ड्या जी परम्परागत वैद्य हैं, इनके पिता एवं प्रपितामह भी वैद्य थे, ज्येष्ठ भ्राता भी वैद्य थे, जो गुजरात आयुर्वेद बोर्ड के सदस्य थे।

शिक्षा—आयुर्वेद प्रवीण डी० एस० ए० सी० (१९६२)

आयु० प्रदान—

आयु० मेडीकल आफीसर,
अहमदाबाद म्यु० कार्पोरेशन १९६४ से १९७७,
पंचकर्म फिजीशियन
म्यु० पंचकर्म चिकित्सालय, अहमदाबाद—१९७१-७७

कन्सल्टिंग वैद्य—

१—गुजरात राज्य प्रेरित—गुजरात आयु० विकास मंडल—कन्सल्टिंग पेनल १९७८-८०।

२—विवेकानन्द पोली क्लिनिक, अहमदाबाद, १९७८-८१

३—इसरो (आई. एस. आर. ओ.) भारतीय अवकाश अनुसन्धान केन्द्र (भारत सरकार)

४—फिजीकल रिसर्च लेबोरेट्री पी०आर०एल० (गुज० यूनि०) अहमदाबाद

५—आइल एण्ड नेचरल गैस कमीशन, ओ. एन. जी.सी., अहमदाबाद

६—प्लास्मा फिजीकल प्रोग्राम (पी. पी. पी.)

७—उदयपुर सोलर ओब्जर्वेट्री

आयुर्वेद क्षेत्रीय प्रदान—

१. भूतपूर्व सेनेट सिण्डीकेट सदस्य—१५ वर्ष गुज० आयु० यूनि० जामनगर, जामनगर (परीक्षा समिति, पोस्ट ग्रेजुएट एस. एम. सी. कमेटी, फायनान्स कमेटी इत्यादि में कार्य)।

भूतपूर्व सदस्य—आयु० फार्माकोपिया कमेटी नई दिल्ली भारत सरकार, १९७५-८१

भूतपूर्व सदस्य—गुज० एस.एस.सी.ई. बोर्ड., गांधीनगर १९८०-८६

# श्वेत कुष्ठ निदान चिकित्सा

(आयु० प्रवेश हेतु १०० मार्क्स के संस्कृत विषय की परीक्षा देने हेतु नियम बनाया)

भूतपूर्व अध्यक्ष—आयु० स्नातक मंडल–१९७०-७१

भूतपूर्व बोर्ड आफ डायरेक्टर–साइन्स क्लब, अहमदाबाद

लेखन—टाइम्स आफ इण्डिया, इण्डियन एक्सप्रेस, संदेश, गुजरात समाचार–जैसे अग्रिम दैनिक पत्रों एवं मासिक पत्रों, साप्ताहिक पत्रों में आयुर्वेद लेखों का प्रकाशन। आज तक १०० से अधिक लेख प्रकाशित हुए हैं। कुछ रिसर्च पेपर अलग-अलग परिषदों में पढ़े गये हैं—

आकाशवाणी एवं दूरदर्शन केन्द्र द्वारा वार्तालाप—आज तक २१ एपीसोड हुए हैं।

श्रेणी—'आलेखो छो मवे' ? वनस्पति परिचय।

'घामड़ी नां रोगो, पुछो मानद मित्रो' ग्रन्थ प्रकाशन

सदस्य—आकाशवाणी सलाहकार समिति (भारत) (परामर्शक-आरोग्य व परिवार कल्याण)

आयु० शिक्षण संशोधन—विदेश में प्रचार—पू० महर्षि महेश योगी द्वारा तथा मेरु यूनिवर्सिटी हालैण्ड के निमन्त्रण से अमरीका, ब्रिटेन, इटली, स्विटजरलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, पुर्तगाल, स्पेन, बेल्जियम, हालैण्ड, केनेडा का ६ माह का प्रवास। यहां आयुर्वेद विषयक परिषदों में वक्तव्य दिये गये।

अर्थवोच एक्सपीडेशन—फिलाडेल्फिया यू एस. ए. के सहयोग से सफेद दाग का संशोधन कार्य–आयु० अभिगम एलोपैथी के साथ १९८७

श्री पण्ड्या जी आयुर्वेद पंचकर्म निष्णात एवं त्वक् रोग निष्णात हैं। आप मितभाषी एवं मिलनसार हैं। आयुर्वेद में विशेष श्रद्धा रखते हैं। सतत, निरन्तर आयुर्वेद अनुसन्धान करना आपकी प्रकृति में है। आपका आयुर्वेद सेण्टर-सुश्रुत क्लिनिक सचमुच ही आयुर्वेद का धाम बन गया है। आज तक सहस्रों सफेद दाग के रोगियों की सफल चिकित्सा कर आपने उनका शुभाशीर्वाद पाया है।

कौटुम्बिक परिचय—पत्नी संगीता बहन हैं, जो सतत आयुर्वेद के कार्यों में आपका सहयोग दे रही हैं। दो पुत्र हैं—१. तुषार और २. सुश्रुत।

ऐसे विद्वान वैद्य की सेवा 'धन्वन्तरि' को प्राप्त हुई है, 'धन्वन्तरि' पत्रिका का यह अहोभाग्य है। पाठक एवं चिकित्सक निम्न पते पर पत्र सम्पर्क कर सकते हैं—

श्री वैद्य किरीट भाई पण्ड्या डी.एस.ए.सी.,
सुश्रुत क्लिनिक, ई–ब्लाक, दूसरा मंजिल,
कैपीटल कार्मसियल सेण्टर, संन्यास आश्रम के पास
आश्रम रोड, एलीस ब्रिज, अहमदाबाद–३८०००९
(गुजरात)

परिचयकर्ता—वैद्य अशोक भाई तलाविया भारद्वाज
भारद्वाज औषधालय, स्वामीनारायण मन्दिर,
सांवर कुण्डला–३६४५१५, (भावनगर) गुज०

—•—•—

प्राणी मात्र के शरीर में ग्यारह इन्द्रियां विद्यमान हैं। राजस्+तामस गुणों द्वारा इन्द्रियों की उत्पत्ति बताई गई है। इसमें पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय तथा एक मन, कुल मिलाकर ग्यारह इन्द्रियां हैं। मन तो ज्ञानेन्द्रिय भी है और कर्मेन्द्रिय भी है। ज्ञानेन्द्रिय—कर्णेन्द्रिय (श्रोत्र), स्पर्शेन्द्रिय (त्वक्), दृष्टेन्द्रिय (नेत्र), जिह्वेन्द्रिय (जिह्वा) और नासिका इन्द्रिय हैं। क्रमशः इनके विषय हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। ज्ञान प्राप्ति हेतु ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों की अधिकतम महत्ता है। इन सभी इन्द्रियों में स्पर्शेन्द्रिय की विशेष महत्ता आयुर्वेद में वर्णित है। महर्षि चरक के मतानुसार स्पर्शेन्द्रिय सभी इन्द्रियों में व्यापक है। बाह्य और आभ्यन्तर शरीर में स्पर्शेन्द्रिय विद्यमान होने से यथाशीघ्र ज्ञान प्राप्ति होती है। प्रभा, छाया, अरिष्ट, उपद्रव इत्यादि त्वचा से ही जाना जाता है। वर्ण वर्ग भी त्वचा द्वारा जाना जाता है। रोग की परीक्षा भी स्पर्श द्वारा हो सकती है। सांत्वना, आश्वासन, स्नेह, सद्भावना इत्यादि में त्वचा का ही महत्व है। क्रोधी व्यक्ति को प्रेम से स्पर्श करेंगे तो उसका क्रोध शान्त हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि शरीर में त्वचा का ही अधिक महत्व है। त्वचा ढक्कन के रूप में कार्य करती है। त्वचा से शरीर का आवरण होता है। आवरण से शरीर की रक्षा होती है। उष्णता, शीतता त्वचा द्वारा जाना जाता है। कोई दिन यकायक अग्नि की उष्णता त्वचा को प्राप्त होती है तो यथा शीघ्र तत्क्षण त्वचा मन को स्पर्शेन्द्रिय द्वारा ज्ञान कराती है। परिणामतः शरीर के रक्षण का भाव मन द्वारा प्राप्त होता है। आचार्यों ने यथोचित कहा है कि मन तो एक ही है और अणु है, लेकिन त्वचा जो है वह दूसरा मन है। हाथ-पग इत्यादि कर्मेन्द्रिय द्वारा ज्ञान प्राप्ति में विलम्ब होता है, लेकिन त्वचा अपनी स्पर्शेन्द्रिय द्वारा तत्क्षण ज्ञान प्राप्त कराती है। रोगी की वेदना का ज्ञान त्वचा द्वारा ही प्राप्त होता है। बाह्य एवं आभ्यन्तर शरीर में व्याधि का प्रादुर्भाव होता है, तब त्वचा द्वारा व्यक्त होता है। उदाहरणार्थ—ज्वर (देहसंताप) त्वचा द्वारा ही जाना जाता है, अम्लपित्त में त्वक् दाह त्वचा द्वारा व्यक्त होता है, शिरोरोग, मस्तिष्क उष्णता, शिरोगत त्वचा स्पर्श से जानी जाती है, विविध त्वक् रोग, त्वचाश्रित व्याधि हैं।

आजकल सौन्दर्यता के लिए युवा युवतियां अधिकतर चिंतित हैं। स्वाभाविक भी है। अपनी त्वचा से ही सौन्दर्य निखर उठता है। सौन्दर्यता बनाये रखने के लिए त्वचा की सम्भाल ही एकमात्र रास्ता है। अतः त्वचा सौन्दर्य का महत्व जो है वह शरीर के लिए भी अति उपयोगी माना गया है। आयुर्वेद ने सहस्रों वर्ष पूर्व भी त्वचा सौन्दर्य का आदेश दिया है। विविध वर्ण्यक लेप, त्वक् प्रसाधन, अभ्यङ्ग, स्वेदन, उबटन इत्यादि द्वारा त्वचा सुन्दर बनाई जाती है। इससे सौन्दर्य बढ़ाया जा सकता है।

दो प्रकार के रोग हैं—(१) अभ्यन्तर (२) बाह्य। इनमें बाह्य रोगों में त्वचा अवश्यमेव दूषित होती है। आभ्यन्तर रोगों की उपद्रवावस्था तथा अरिष्टावस्था में ही त्वचा दूषित होती है। इसके सिवा शारीरिक रोगों, मानसिक रोगों तथा आगन्तुक रोगों में भी त्वचा दूषित होती है। इस तरह त्वचा का ही अधिक महत्व है। विविध प्रकार के कुष्ठ रोगों तथा अनेकों क्षुद्र रोगों का आश्रय स्थान त्वचा ही है। श्वित्र रोग एक महत्व का त्वचाजन्य रोग है, जो पापकर्म से एवं वंशपरम्परा से होता है। इससे सौन्दर्यता में बाधा उत्पन्न होती है।

साम्प्रत समय में त्वचा रोग अधिक होते हैं। रोगी परेशान होते हैं। विभिन्न चिकित्सा पद्धति द्वारा चिकित्सा-उपचार लेने से भी कोई परिणाम नहीं मिलता है। इस अवस्था को विचारकर आयुर्वेद के दृष्टिकोण से औषध चिकित्सा या आयुर्वेदीय पंचकर्म चिकित्सा दी जाये तो त्वचा रोग अवश्यमेव मिट जाता है। ऐसा हमारा चिकित्सकीय अनुभव है।

# त्वक् रोग निदान चिकित्सा

एकदा श्री वैद्य अशोक भाई तलाविया भारद्वाज का मुझे पत्र मिला कि यदि 'धन्वन्तरि' पत्रिका द्वारा १९९१ में 'त्वचा रोग निदान चिकित्सा' प्रकाशित किया जाय तो आपको उसका विशेष सम्पादन करना होगा। मैंने उत्तर दिया कि यदि आप सहयोग देंगे तो ही मैं कार्य भार सम्भालूंगा। भारद्वाज जी ने सम्मति दे दी और श्री अशोक भाई ने 'त्वक् रोग निदानांक' प्रकाशित करने का सुझाव 'धन्वन्तरि' के सम्पादक महोदय श्री डा० दाऊदयाल गर्ग को भेजा। यथाशीघ्र ही डा० गर्ग जी का सम्मति पत्र मिला और मैंने कार्यभार संभाला। अशोक भाई तो सम्पादन क्षेत्र में कुशल हैं, विद्वान वैद्य हैं, मुझे यथासमय सहयोग देने का आश्वासन भी दिया। लेकिन कुदरत ने कुछ और सोचा होगा। जुलाई १९९० की २८ दिनांक को वैद्य अशोक भाई की धर्मपत्नी योगिता बहन का मस्तिष्कगत रक्तस्राव से दुःखद देहावसान हो जाने से मैं दुःखी हो गया, क्योंकि अशोक भाई निरभिमानी और सर्वगुण सम्पन्न है, उनके प्रति मेरा हार्दिक लगाव, सद्भावना वर्षों से है, मैं उनको अपना ही मानता हूं, उनके दुःख से मुझे सदमा जरूर लगा। मैंने उनको आश्वासन दिया कि अंक की चिन्ता नहीं करेंगे, मैं ही सम्भालूंगा। मगर अशोक भाई तो विचारशील विरल व्यक्तित्वशील है, उन्होंने कहा कि सुख और दुःख तो मनुष्य का कुदरती क्रम है, हमारा कार्य पुरुषार्थ शुरू ही रखना चाहिए। यकायक अशोक भाई अहमदाबाद आ गये और मेरे पास आकर विशेषांक के सम्पादन के बारे में परामर्श किया। मैंने सभी सामग्री उनको दे दी और वे उसे लेकर कुण्डला ले गये। वहां उन्होंने एक माह तक सम्पादन किया। कुछ लेख शेष रहे थे, वह भी मेरे पास से मंगा लिये, कुछ लेखों की पूर्ति स्वयं श्री अशोक भाई ने कर दी है। कुछ लेख नहीं मिले तो अशोक भाई ने विद्वान लेखकों से पुनः सम्पर्क कर मंगा लिया तथा सभी की व्यवस्था दी।

इस वृहद् विशेषांक में एक ही विषय के कुछ लेखों की संख्या अधिक है। हमने सोचा कि श्वित्र, विचर्चिका, मंडल कुष्ठ इत्यादि कष्टसाध्य हैं और व्यापकता भी अधिक है, तो इन विषयों पर विभिन्न विद्वानों के अनुभव दिये जांय तो वैद्यों, छात्र और पाठकों को जानकारी मिलेगी।

हमने पुरुषार्थ किया है, ऋषि-ऋण अदा किया है। त्रुटि तो रह गई होंगी, लेकिन विश्वास है कि भारत के विद्वान इस अंक को देखकर-पढ़कर संतुष्ट होंगे ही।

आभार दर्शन :—

मुझे 'धन्वन्तरि' के विशेषांकों (पूर्व प्रकाशित) के सम्पादकों की परम्परा में स्थान देकर विशेष सम्पादक का पद दिया है उसका श्रेय डा० दाऊदयाल जी गर्ग को है। मैं श्री डा० दाऊदयाल जी का आभारी हूं। सम्पादन में श्री अशोक भाई तलाविया भारद्वाज जी ने सम्पूर्ण सहयोग दिया है विशेषांक का गुरुतर भार उन्होंने उठाया है। मैं श्री अशोक भाई का विशेष आभारी हूं। विशेषांक के सम्पादन में प्रा० श्री भानुप्रताप मिश्र ने परामर्श किया है, मार्गदर्शन दिया है, उनका भी आभार मानता हूं। भारत भर के विद्वान वैद्यों ने मुझे अपना मानकर लेख भेजकर विशेषांक की गरिमा बढ़ाई है। इन सबका मैं ऋणी हूं।

'धन्वन्तरि' पत्रिका भारतवर्ष की अग्रिम आयुर्वेदीय पत्रिका है। उसके सम्पादक महोदय डा० गर्ग जी दिन रात 'धन्वन्तरि' द्वारा आयुर्वेद का प्रचार व प्रसार निःस्वार्थ भाव से कर रहे हैं। मुझे अपेक्षा है कि पाठकों एवं विद्वानों का विशेष सहयोग भविष्य में भी 'धन्वन्तरि' को मिलता रहेगा।

— भवदीय

वैद्य किरीट भाई पण्ड्या डी. एस. ए. सी.
विशेष सम्पादक—'धन्वन्तरि—त्वक् रोग निदान चिकित्सा'
सुश्रुत क्लिनिक, ई—ब्लाक, कैपीटल कोम० सेन्टर,
एलिस ब्रिज, आश्रम रोड, अहमदाबाद—९

त्वक् रोग निदान चिकित्सा

—❀—

# त्वक् रोग निदान चिकित्सा



❀ ❀ ❀

# त्वक् विकार एवं निदान दोष-दूष्य

श्री जी० के० चतुर्वेदी एच. पी. ए., प्राध्यापक– रोग निदान,
सरकारी आयु० कालेज, आगवा रोड, वड़ोदरा (गुजरात)।

* * * *

वैद्य एवं वकील श्री जी. के. चतुर्वेदी जी ने इस दोष, दूष्य, निदान को अपनी तर्क शक्ति द्वारा ही समझाने की कोशिश की है। त्वचा के ऊपर दोष, दूष्य का प्रभाव कैसे कैसे पाया जाता है और इस घटना-क्रम को लेकर रोगावतरण कहां और कैसे होता है इस दशा में सोचने का ढङ्ग इस लेख से उपलब्ध होता है।

त्वचा को अधिष्ठान बनाकर धातुगत कुष्ठों की कल्पना की गई है, त्वचा को अधिष्ठान बनाकर विभिन्न दोष-दूष्य के आधार पर रोगोत्पत्ति करने वाले रोगों की संख्या असंख्य है।

श्री चतुर्वेदी जी ने इस लेख में धातु, दोष, दूष्य का त्वक् रोगों में क्या क्या महत्व है। यह बताया है। श्री चतुर्वेदी एक अच्छे चिन्तक भी हैं। रजनीश परिवार में ये जाने-माने हैं।

—विशेष सम्पादक।

---

त्वक् रोगों का अभ्यास आयुर्वेद की चिकित्सा क्षेत्र में प्रतिष्ठा एवं यश प्राप्ति का माध्यम है। इस क्षेत्र में जब तक आधुनिक चिकित्सा शास्त्र अधिक गवेषणा नहीं कर लेता, तब तक यदि आयुर्वेदज्ञ अपनी संग्रहीत राशि का सदुपयोग कर उसे अनुसंधानात्मक वैज्ञानिक स्वरूप प्रस्तुत करने का प्रयास करले तो चिकित्सा शास्त्रों में आयुर्वेद की प्रतिष्ठा अप्रतिम हो सकती है। मात्र भारत में ही नहीं वरन् प्रायः विश्व के सभी देशों में त्वक् रोगों की चिकित्सा करना सरल नहीं माना जाता। इस विषय में यह किंवदन्ति बहु-प्रचलित है कि त्वक् रोगों की चिकित्सा करने वाले चिकित्सक अधिक धनवान एवं सुख की नींद सोने वाले होते हैं। क्योंकि त्वक् रोगों से पीड़ित रोगी जल्दी ठीक नहीं होते। अतः चिकित्सक को द्रव्य लाभ कराते रहते हैं। आत्ययिक अवस्था न होने से रात्रि में निद्रा भंग नहीं कराते एवं यमदेव उन्हें ले जाने में शीघ्रता नहीं करते, अतः चिकित्सकों को त्वक् रोग की चिकित्सा में अपयश नहीं मिलता।

आज सारे विश्व में त्वक् रोगों का विस्तार अन्य किसी भी संस्थान के रोगी की अपेक्षा अधिक है। संसार में शायद ही कोई व्यक्ति यह दावा कर सके कि उसे कभी कोई त्वक् विकार नहीं हुआ, क्योंकि त्वचा शरीर का बाह्यतम भाग है, आभ्यन्तर अवयवों की सुरक्षा का कवच है एवं जन्म से मृत्यु तक इस जगत के महाभारत में बिना क्षत-विक्षत हुए अनाहत निकल जाना असम्भव है। मात्र प्रकृति एवं एवं काल के परि-वर्तन ही इतने अधिक होते हैं कि नित्य असंख्य निरीह अकारण ही काल कवलित होते रहते हैं, फिर मात्र त्वचा को सुरक्षित रख लेना कहां तक सम्भव है। जगत के बाह्य प्रभाव के समान ही इस शरीर के आभ्य-न्तर भाव भी कई बार अपनी अभिव्यक्ति त्वचा के माध्यम से करते हैं। शरीर के दोष-दूष्य एवं मल बाह्य एवं आभ्यन्तर निदानों की अभिव्यक्ति भी त्वचा पर करते हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य स्वयं एक अबुध विवश एवं प्रज्ञापराध प्राणी है। वह स्वेच्छा या अनिच्छावश ऐसे कई हेतुओं का सेवन करता रहता है जिसके परि-णामों के प्रति वह अज्ञात होने का प्रदर्शन करता रहता है। वैसे भी आजकल त्वक् रोगों के उत्पादक निदानों का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है कि उसमें शरीर एवं मन के असंख्य भाव समाविष्ट हो जाते हैं। आहार के विभिन्न घटकों एवं विरुद्ध आहार से लेकर विहार की विभिन्न अवस्थाओं एवं मन के अनेक व्यापार त्वक् रोगों की उत्पत्ति के साक्षात कारण बन जाते हैं। वैसे भी अस्वच्छता, दारिद्र्य एव सामाजिक स्वास्थ्य की न्यूनतम आवश्यकताओं का अभाव त्वक् रोगों को प्रोत्साहित

करता आया है। हमारा दुर्भाग्य यह है कि आज भी जगत को सुशिक्षित एवं समृद्ध वर्ग भी स्वास्थ्य विषयक प्राथमिक ज्ञान से अज्ञात है। हमारे प्रबुद्ध नागरिक एवं स्वयं चिकित्सक वर्ग भी त्वक् रोगों के मूलभूत हेतु विरुद्धाहार के विषय में सम्यक् ज्ञान नहीं रखते और जो रखते हैं वे उसका पालन नहीं करते। कई लोग तो विरुद्धाहार की वैज्ञानिकता पर संदेह करते हैं। ऐसा वर्ग जब तक स्वयं आत्मालोचन का अभ्यस्त नहीं होता तब तक त्वक् रोगों की संख्या बढ़ती ही रहेगी।

इस देश की जलवायु भी त्वक् रोगों की उत्पत्ति में सहायक है और उसे जन सामान्य के घनघोर दारिद्र्य एवं अज्ञान ने और भी अधिक प्रोत्साहित किया है। इस देश के प्राचीनतम चिकित्सा ग्रन्थों में भी त्वक् रोगों का जो वर्णन मिलता है वह अत्यन्त गम्भीर एवं सिहरन उत्पन्न करने वाला है। शास्त्र में महाकुष्ठों का जो वर्णन है उससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि त्वक् विकारों की गम्भीरता किस सीमा तक पहुँची हुई थी, उस समय भी कुष्ठ शब्द का नाम सुनते ही लोगों में जो भय उत्पन्न हो जाता था एवं कुष्ठ पीड़ित रुग्णों के साथ जिस प्रकार का सामाजिक व्यवहार किया जाता था वह अत्यन्त करुणाजनक ही नहीं, घृणास्पद भी है।

आजकल अनुर्जता (Allergy) का नया क्षेत्र विकसित हुआ है। वैसे पहले भी शीतपित्त, उदर्द, कोठ आदि प्रचलित व्याधियां थी। किन्तु आधुनिक चिकित्सा की विशाल परिणामों वाली Drug Allergy एक नई समस्या बन गई है जिसका व्यापक प्रभाव त्वचा पर भी होता है। असंख्य रुग्ण इन औषधों की अनुर्जता का शिकार होकर प्राण त्याग कर रहे हैं या अपनी त्वचा पर दुष्परिणामों को भोग रहे हैं।

### त्वक् रोग एवं कुष्ठ—

आयुर्वेद में त्वक् रोग एवं कुष्ठ रोग को विभेदित करना कभी कभी कठिन हो जाता है। क्योंकि कुष्ठ रोग की जो परिसीमा निर्धारित की गई है, उसमें त्वचा को अधिष्ठान कर उत्पन्न होने वाले कई रोग शेष रह जाते हैं। 'कुष्णातीति कुष्ठं एवं कुत्सितं करोति शरीरमिति शेषम्' कहकर कुष्ठ में त्वचा को कुत्सित करना बताया है। ऐसी व्याधियां जो त्वचा में अधिष्ठित होते हुए भी आशुकारी एवं त्वचा को कुत्सित नहीं करती, त्वगामय होने हुए भी कुष्ठ नहीं कहलाती। त्वगामय शब्द Skin Disease जैसा है। इससे आशुकारी शीतपित्त, विसर्प, मसुरिका, रोमान्तिका आदि कई विकार हो जाते हैं एवं एककुष्ठ, किटिभ, चर्मदल, पामा, कच्छु, विस्फोट, शतारु, अलसक, दद्रु एवं कापाल, औदुम्बर, मण्डल आदि अनेक कुष्ठ भी आ जाते हैं। कुष्ठ की परिभाषा में शीतपित्त, विसर्प, कोठादि का समावेश नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें व्याधि की चिरकारिता एवं त्वक् नाश का अभाव होता है।

### त्वचा भेद एवं अधिष्ठान—

आचार्य चरक ने त्वचायें ६ मानी हैं एवं आचार्य सुश्रुत ने ७ मानी हैं। इसकी उत्पत्ति बताते हुए आचार्य सुश्रुत कहते हैं "तत्र खल्वेवं प्रवृत्तस्य शुक्रशोणितस्याभिपच्यमानस्य क्षीरस्येव सन्तानिकाः सप्त त्वचो भवन्ति।"

आचार्य चरक ने ६ त्वचाओं का वर्णन किया है—

प्रथम त्वचा—उदकधरा, बाह्य त्वक्

द्वितीय—असृकधरा, रक्त को धारण करने वाली

तृतीय—सिध्मकिलाससंभवाधिष्ठाना

चतुर्थ—दद्रुकुष्ठसंभवाधिष्ठाना

पंचम—अलजी विद्रधिसंभवाधिष्ठाना

षष्ठी—जिसके छिन्न होने से तमःप्रवेश प्रतीति होती है एवं त्वचा में कृष्ण, रक्त वर्ण स्थूल मूल की अरुंषिका (पिटिकायें) उत्पन्न होती हैं।

आचार्य सुश्रुत ने ७ त्वचाओं का वर्णन किया है एवं उन्हें पृथक-पृथक नाम दिये हैं। यथा—

प्रथमा—अवभासिनी–यह सब वर्णों की प्रकाशक है, व्रीही के अष्टादश प्रमाण की है एवं सिध्म तथा पद्मनीकंटक का अधिष्ठान है। अष्टांग संग्रहकार ने इसे 'भासिनी' नाम दिया है।

द्वितीया—लोहिता–इसका प्रमाण षोडश भाग बताया है। यह तिलकालक, न्यच्छ एवं व्यङ्ग की अधिष्ठान है। अ० संग्रहकार ने इसे 'लोहिनी' नाम दिया है।

तृतीया— श्वेता–इसका द्वादश भाग प्रमाण बताया है एवं चर्मदल, अजगल्ली एवं मशक की अधिष्ठाता है। इसका वर्ण श्वेत होता है।

चतुर्थी–ताम्रा इसका अष्टभाग प्रमाण बताया है यह विविध कुष्ठ एवं किलास की अधिष्ठाता है यह ताम्रवर्णा है।

पंचमी— वेदिनी–पंच भाग प्रमाण वाली यह त्वचा कुष्ठ एवं विसर्प की अधिष्ठाता है।

षष्ठी—रोहिणी–व्रीही प्रमाणा, ग्रन्थि अपची, अर्बुद, श्लीपद एवं गलगण्ड की अधिष्ठाता है।

सप्तमी— मांसधरा–व्रीहीद्वय प्रमाणा, भगन्दर, विद्रधि, अर्श अधिष्ठान वाली यह अन्तिम त्वचा है।

इस वर्णन में यद्यपि त्वचा की संख्या एवं अधिष्ठान के संदर्भ में कुछ भिन्नता है, फिर भी कोई मौलिक विचार मिलता नहीं है। जो-जो व्याधियां त्वचा पर अभिव्यक्त होती हैं उनका वर्णन करना ही इसका मुख्य अभिप्राय है। इससे चिकित्सा करते समय अधिष्ठान का स्मरण रहता है एवं तदनरूप ही औषध योजना एवं पथ्यादि का उपक्रम किया जा सकता है।

सभी त्वचाओं की मोटाई लगभग ०.६" होती है। इनकी तुलना 'कदलीदलवदन्तरेन्तरे क्रमेण वर्तन्ते' बताई है, इसलिए इनको क्रमशः अन्दर से बाहर निकाला जा सकता है।

त्वचा एवं अन्य भाव - शास्त्र में कुछ संदर्भ ऐसे भी हैं जो त्वचा का अन्य अवयवों एवं उनकी क्रियाओं से सम्बन्ध बताते हैं। यथा आचार्य डल्हण ने त्वचा को उदक एवं रस का अधिष्ठान बताया है और काश्यप ने त्वगाश्रित उदक का प्रमाण दस अञ्जली बताया है। आचार्य चक्रपाणि ने मांस एवं त्वचा के मध्य में स्थित उदक को लसिका संज्ञा दी है जो प्रणगत व्यवहार में लसिका कहा जाता है। अष्टांग संग्रह में लसिका को उदक का पिच्छा भाग एवं रस का उपधातु भी कहा है।

शास्त्र में रस धातु का त्वचा से सीधा संबंध बताया है, क्योंकि त्वचा रस धातु का अधिष्ठान है। अतः यदि रससार के लक्षण ज्ञात करना हो तो त्वचा माध्यम होने से उसे त्वक्सार कहा जाता है। इसी तरह रसगत वात के लक्षण ज्ञात करना हो तो त्वक्गत वात का आश्रय लेना पड़ता है।

त्वचा का रक्त से भी सीधा सम्बन्ध है। द्वितीय त्वचा रक्तधरा या असृक्धरा ही कही जा सकती है। वैसे भी 'रसं वैरक्तम्' कहकर रस को रक्त से पृथक स्रोत वाली धातु नहीं माना जाता। रक्तसार के लक्षणों में कर्ण, नेत्र, मुख, जिह्वा, नासिका, ओष्ठ, हस्तपाद तल, नख, ललाट एवं मूत्रेन्द्रिय से स्निग्धता और रक्तवर्णता होना बताया है। व्यवहार में भी रक्त के विकारों को त्वचा में ही ढूंढा जाता है। कई वैद्य एवं हकीम रक्तदोष एवं खून की खराबी बताकर ही त्वक् रोगों का उपचार करते हैं। त्वक् रोगों के सापेक्ष निदान में दुविधा होने पर भी रक्त शोधक औषधि का ही आश्रय लेते हैं। Boyd त्वचा को Blood depot कहते हैं।

त्वचा का सबसे महत्वपूर्ण गुण इन्द्रियाधिष्ठान होना है। त्वचा ज्ञानेन्द्रिय है। यही स्पर्श सुख का अनुभव कराती है एवं विकारावस्था में त्वचा ही स्पर्श ज्ञान का अभाव बताती है। कई प्रकार की वेदनाओं का वहन भी त्वचा के माध्यम से ही होता है। दाह, संताप, संकोच, शूल, तोद आदि अनेक वेदनायें त्वचा से ही ज्ञात होती हैं। क्योंकि त्वचा में ही वेदना के संवाहक तंतु स्थित होते हैं। तीव्र, मध्यम एवं न्यून वेदनाओं के सम्वाहक तंतु शरीर के भिन्न-२ स्थानों पर स्थित होते हैं। Sympathetic एवं Parasympathetic का व्यापार एवं नाडी संस्थान की अधिकांश क्रियायें त्वचा को ही माध्यम बनाती हैं। वात व्याधि की कुछ अवस्थायें यथा अधरांग वात (Paraplegia) त्वचा पर शीत उष्णादि भावों की प्रतीति नहीं होती। इसी प्रकार कोथादि (Gangrine) की अवस्था में भी स्पर्श ज्ञान समाप्त हो जाता है। स्पर्श की प्रतीति न होने वाले विकारों का एक बहुत बड़ा वर्ग है। इसी प्रकार स्पर्श ज्ञान का अतिरेक भी विकारावस्था में आता है। इसमें त्वचा की संवेदनशीलता असाधारणरूप से बढ़ जाती है। अनेक वात व्याधि रोग इससे सम्बन्धित हैं।

काम शास्त्र लगभग पूर्णतः त्वचा के स्पर्श व्यापार पर ही आधारित है। शरीर के विभिन्न भाग कामोत्तेजना के माध्यम से बनते हैं। पुरुष एवं स्त्री जननाङ्गों के अतिरिक्त अन्य भी कई स्थान काम के केन्द्र हैं।

यही वह इन्द्रिय है जो जीवन की एक महत्वपूर्ण एषणा कामैषणा की तृप्ति करती है। अधिकांश पुरुष अपने जीवन में आहार तृप्ति के पश्चात काम तृप्ति को ही लक्ष्य बनाते हैं। त्वक् रोगों की कई अवस्थायें कामतृप्ति के विकृत माध्यमों का परिणाम होती हैं। आजकल त्वचा के रोगो की चिकित्सा करने वाले चिकित्सक ही इन कामजन्य रोगो की भी चिकित्सा करते हैं।

त्वचा एवं दोष सम्बन्ध—त्वचा का सम्बन्ध प्राण, उदान, व्यान एवं समान से भी है। इन्द्रियाधिष्ठान होने से त्वचा में प्राण का होना सिद्ध है। 'स्वेददोषाम्बुवाहिनी' होने से समान, स्वेद एवं रक्त का श्रवण होने से व्यान एवं वर्ण का अधिष्ठान त्वचा में होने से उदान वायु की स्थिति भी मानी जा सकती है। प्राण का घनिष्ठ सम्बन्ध इन्द्रियाधिष्ठान होने के कारण है। इसीलिए ध्यान, योग एवं तंत्र की कई विधियों में त्वचा को माध्यम बनाया जाता है। विपश्यता जैसे महत्वपूर्ण ध्यान में स्पर्श को ही महत्व देते है। त्वचा का यह उपयोग मोक्ष का भी साधन बनता है।

पित्त में भ्राजक का सीधा सम्बन्ध त्वचा से है। अभ्यङ्ग, आलेप, स्वेदन आदि के पाचन एवं छाया, प्रभा एव वर्ण के प्रकाशन में भ्राजक महत्वपूर्ण होता है। वर्ण की अनेक विकृतियां त्वचा पर ही अभिव्यक्त होती हैं। हृद् रोग जैसे आभ्यन्तर जटिल रोगों की अभिव्यक्ति भी 'श्यावती' के रूप से त्वचा पर अभिव्यक्त होती है। फिर श्वित्र जैसी व्याधियां तो स्पष्टत: देखी ही जा सकती है। त्वचा के वर्ण निर्माण में मात्र Melanin ही उत्तरदायी नही होता वरन् इसके लिए पांच विभिन्न कणों को कारणभूत मानते हैं। यथा Melanin, Melanoid, Oxyhaemoglobin, Reduced haemoglobin एवं Carotene। इनके अतिरिक्त जलवायु की कुछ अवस्थायें भी उत्तरदायी होती हैं। गर्भावस्था, मधुमेह, यकृद्विकार, पाण्डुता, कैंसर, परप्युरा, सहज हृद्रोग, वृक्कशोथ, मलेरिया, कालाजार, टाइफाईड, न्यूमोनिया, यक्ष्मा, मिक्सोडिमा, कामला, हलीमक एवं कुष्ठ की अनेक अवस्थाओं में त्वचा में वैवर्ण्य देखा जा सकता है।

त्वचा के वर्ण प्रकाशन में अग्नि का भी महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि शरीर की कांति, प्रतिमा आदि के प्रकाशन में वह महत्वपूर्ण है। त्वकस्थ अग्नि का दीपन उद्वर्तन से होता है ऐसा उल्लेख आचार्य सुश्रुत ने किया है।

त्वचा में कफ की उपस्थिति उसके रोपण कार्य से सिद्ध होती है, जो सम्भवत: श्लेषक कफ करता है। त्वचा के सामान्य आघात एवं व्रणो के रोपण से लेकर विदग्ध व्रणों का रोपण भी इसीसे होता है।

त्वचा में धातुओं की स्थिति पूर्व में बताई जा चुकी है। मांस धातु का इससे सीधा सम्बन्ध है क्योंकि अन्तिम त्वचा मांस धातु का ही आवरण कर्म करती है। शरीर के कई धातु मल त्वचा के माध्यम से बाहर आते हैं। उनका उल्लेख भी शास्त्र में मिलता है। यथा त्वचा पर जो स्नेहांश देखा जाता है उसे मज्जा धातु का मल बताया गया है। अन्य धातुओं के भी ऐसे उल्लेख मिल सकते हैं।

मल के रूप में स्वेद सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह स्वेद भौगोलिक परिवर्तन एवं शारीरिक संगठन की विविधता के अतिरिक्त भी न्यूनाधिक होता है। आचार्य चरक कहते हैं कि शरीर में दस अञ्जली प्रमाण जल होता है। इसके अतिरिक्त होने पर पुरीष से सम्बन्ध स्थापित कर बाहर निकलता है तथा मूत्र एवं रक्त और अन्य शारीरिक धातुओं से सम्बन्ध स्थापित करता है। यह जल त्वचा की उदकधरा को धारण एवं पोषण करता है एवं व्रणावस्था में लसिका नाम से जाना है। यही जल उष्मा से सम्बन्धित होकर लोम कूपों से निकलते हुए स्वेद नाम को प्राप्त होता है। आधुनिक मत से तापमान का नियन्त्रण एवं शरीर जल का नियन्त्रण त्वचा से ही होता है।

शास्त्रों में स्त्रियों की त्वचा का उल्लेख विशेष रूप से हुआ है। स्त्रियों में पच्यमान धातुओं से निर्मित वसा को ओज बताया है। इसी वसा के धारण स्त्रियों में मार्दव, सुकुमारता, अल्परोमता, उत्साह, दृष्टिस्थिति, पक्तिकांति एवं दीप्ति होती है। आचार्य डल्हण ने इस विशिष्ट वसा को सप्त धातु का सार कहा है एवं उसे ओज के समान ही बताया है। इसमें अन्तर यह है कि ओज सौम्य होता है एवं यह आग्नेय होती है।

निदान वैशिष्ट्य—

त्वक् रोगों के निदान में अन्य रोगों की अपेक्षा कुछ विशिष्टता होती है। इसमें विरुद्ध अन्नपान को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है। विरुद्ध आहार मानव समाज की सैकड़ों वर्ष पूर्व से समस्या रही है। यह धातुओं में विगुणता उत्पन्न करने में सर्वाधिक समर्थ है। आजकल आहार की गुणवत्ता में विरुद्ध आहार का उल्लेख ही नहीं किया जाता। इसका अज्ञान समाज में त्वक् रोगों की उत्पत्ति का प्रधान कारण है। वेगावरोध भी कुष्ठ का महत्वपूर्ण निदान है, किन्तु वेगावरोध की सीमा रेखा निर्धारित करना अत्यन्त कठिन होता है। इसलिए परोक्ष रूप से धातुदुष्टि होती रहती है। इसी प्रकार का महत्व पंचकर्म की क्रियाओं में हीन मिथ्याति योग होने पर दिया जाता है, क्योंकि उसमें उत्क्लिष्ट दोष बाहर नहीं निकल पाने से वैगुण्य करते हैं। शास्त्र में शीत एवं उष्ण का ध्यान न रखने, नवीन अन्न का सेवन, माष मूलक पिष्ठान्न, तिल, क्षीर, गुडादि को साथ-साथ सेवन करने वाले एवं लवण का अधिक सेवन करने वाले त्वक् रोगों के अनुकूल होते हैं। त्वचा पर जिन हेतुओं का सीधा प्रभाव पड़ता है, ऐसे हेतु बाह्य वातावरण में भी उपस्थित होते हैं। विभिन्न रजकण, व दूषित वायु एवं धूमादि, विभिन्न रसायन द्रव्य एवं वातावरण का प्रदूषण त्वचा को प्रभावित करता है। आचार्य चरक ने शीत के तत्काल पश्चात उष्ण का सेवन या उष्ण के पश्चात तत्काल शीत सेवन कुष्ठ में कारणभूत माना है। इससे त्वचा, सिरा, रक्त एवं लसिका का शिथिलीभाव होता है। रक्त की दुष्टि एवं स्रोतोरोध भी इससे सम्भव हैं। मधु, मत्स्य, लकुच, मूलक, काकमाची का सतत सेवन भी कुष्ठादि उत्पन्न करता है। मत्स्य एवं दुग्ध के साथ ही अम्ल फलों का सेवन विरुद्ध आहार बन जाता है। आजकल विभिन्न फलों के रसों के साथ दुग्ध का सेवन, फ्रूट सलाद आदि आहार की विशिष्टता मानी जाती है। किन्तु यह परिणाम रूप में दुःखदायी ही होता है।

मन की विभिन्न अवस्थायें भी त्वक् रोगों की उत्पत्ति में सहायक हैं। आचार्य चरक ने ब्राह्मण, माता पिता एवं आचार्य का तिरस्कार करने वाले तथा नीच कर्मों में प्रवृत्त रहने वालों में कुष्ठ का होना बताया है। मानसिक हेतु का प्रभाव प्राण पर पड़ता है। प्राण की विगुणता समान एवं व्यान को भी विगुण करती है। प्राण का सात्म्य मानसिक कारणों से शीघ्र प्रभावित होता है। इसीलिए क्रोधादि भावों की अभिव्यक्ति त्वचा पर शीघ्र देखी जा सकती है। इसी प्रकार घृणा, मोह, लोभ, मत्सर्य, विद्वेष आदि भिन्न-भिन्न रूप में अपना प्रभाव बताते हैं। प्राचीनकाल में औषधि चिकित्सा के साथ अन्य चिकित्सा कर्मों का भी आश्रय लिया जाता था। मुख्यतः मानसिक भावों की शान्ति के लिए यन्त्र, तन्त्र, ध्यान, योग आदि का आश्रय लिया जाता था जिसका उद्देश्य मन को निर्मल बनाना एवं आनन्द की वृद्धि करना था।

सत्व शुद्ध्या वहन्त्येते क्रमेण प्राणवायवः।
आयति तथान्नानि व्याधि तत्र विनश्यति॥

योग वाशिष्ठ का यह सूत्र मानसिक भावों के शारीरिक प्रभावों को स्पष्ट करता है।

एक और महत्वपूर्ण हेतु समूह परस्पर संस्पर्श का है। विशेषतः त्वक् रोगों में स्पर्शजन्य व्याधियों का विशेष महत्व है। इस महत्व का उल्लेख प्राचीनतम ग्रन्थों में भी मिलता है।

आचार्य चरक ने रोगोत्पत्ति एवं रोगों की अनुत्पत्ति में जिन घटकों को महत्वपूर्ण माना है वे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने निदान, दोष एवं दूष्य की विशेषता से विकारविघात भाव एवं विकारविघात अभाव होना बताया है। हम कई बार यह सोचते हैं कि अमुक गम्भीर हेतुओं के सेवन करने पर भी कोई रोगोत्पत्ति नहीं हुई एवं कभी-कभी बिना कुछ स्पष्ट हेतुओं के भी व्याधि की उत्पत्ति हो गई। किन्तु ऐसा सम्भव है, कारण के बिना तो कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। यह सम्भव है कि हम कारणों को सम्यकतया ढूंढने में असमर्थ रहे हों। आचार्य चरक कहते हैं कि व्याधि की उत्पत्ति में निदान, दोष एवं दूष्य का परस्पर अनुबन्ध महत्वपूर्ण है। इसके अल्प या गम्भीर अनुबन्ध एवं कालप्रकर्ष भाव के आधार पर ही अल्प लक्षणोत्पत्ति, मध्यम लक्षणोत्पत्ति या सर्व लिङ्गोत्पत्ति होती है। शीघ्र

—शेषांश पृष्ठ ६७ पर देखें।

# त्वचा का शारीर विज्ञान, महत्व एवं प्रकार

आयुर्वेद बृहस्पति आचार्य डा० महेश्वर प्रसाद, आयुर्वेद चक्रवर्ती, प्राणाचार्य जी. ए. एम. एस.,
एम. डी. (ए.), आयुर्वेद वारिधि, योग-ब्रह्मर्षि,
निदेशक—आचार्य डा० महेश्वर विज्ञान शोध संस्थान, मंगलगढ़ (समस्तीपुर) बिहार
प्राचार्य—महात्मा गांधी आयुर्वेद महाविद्यालय, बेनी।

'धन्वन्तरि' के पुराने प्रसिद्ध मान्य लेखक। विद्वान आयुर्वेदाचार्य। आयुर्वेदीय अनुसन्धानकर्ता।
विभिन्न आयुर्वेदीय उपाधियों से अलंकृत। अनेकों हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के मान्य लेखक।
आयुर्वेद एवं आधुनिक आरोग्य विषयक ग्रन्थों के लेखक। त्वचा की विशेष महत्ता दर्शायी है।
—वैद्य किरीट पण्डया (विशेष सम्पादक)

अथातो त्वचा शारीर क्रिया विज्ञान, महत्व प्रकार अध्ययनीयं नाम प्रकरणं व्याख्यास्यामोयथोवुरात्रेय धन्वन्तरि आचार्य महेश्वर प्रभृत्य: ॥

अभिप्राय यह है कि इस प्रकरण में त्वचा या चर्म का शारीर क्रिया विज्ञान, महत्व एवं प्रकार का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है। त्वचा समस्त शरीर का आवरक है, इस हेतु इसकी पुरी जानकारी रखना कम महत्वपूर्ण नही है।

**त्वचा शारीर एवं क्रिया—**

तस्य खल्वेवं प्रवृत्तस्य शुक्रशोणितस्याभिपच्यमानस्य क्षीरस्येव सन्तानिका:सप्त त्वचो भवन्ति। तासां प्रथमाऽवभासिनी नाम या सर्वान वर्णानवभासयति पंचविधां च छायां प्रकाशयति सा व्रीहेरष्टादश भाग प्रमाणा सिध्म-पद्मकण्टकाधिष्ठाना। द्वितीयालोहितानाम षोडशभागप्रमाणा तिलकालक न्यच्छव्यंगाधिष्ठाना। तृतीया श्वेतानाम द्वादश भागप्रमाणाचर्मदलाजगल्लीमषका-धिष्ठाना। चतुर्थी ताम्रा नामे अष्टभागप्रमाणा विविध विलासकुष्ठाधिष्ठाना। पञ्चमी वेदिनी नाम पञ्च भाग प्रमाणा कुष्ठविसर्पाधिष्ठाना, षष्ठी रोहिणी नाम व्रीहिप्रमाणा ग्रन्थ्यपच्यर्बुदश्लीपदगलगण्डाधिष्ठाना। सप्तमी मांसधरा नाम व्रीहिद्वयप्रमाणा भगन्दर विद्रधि अर्शोऽधिष्ठाना। —सुश्रुत शा० ४।

अभिप्राय यह है कि चर्म या त्वचा सम्पूर्ण शरीर को आच्छादित करता है तथा स्पर्शेन्द्रिय, स्वेदवह स्रोत और रोमकूपों का अधिष्ठान है। यह दो अंशों में बंटी है, (१) बहिस्त्वक् और (२) अन्तस्त्वक्। ये दोनों निम्न सात प्रकार के स्तरों से निर्मित हुई हैं—

(क) अवभासिनी, (ख) लोहिता, (ग) श्वेता, (घ) ताम्रा, (ङ) वेदिनी, (च) रोहिणी एवं (छ) मांसधरा।

बहिस्त्वक् या वाह्य चर्म सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से निरीक्षण करने पर अत्यन्त पतली तथा शिरा, धमनी आदि से रहित होती है और यह निम्नलिखित चार स्तरों से निर्मित होकर बाहर से भीतर (आभ्यन्तर) की ओर निम्नांकित क्रम से सुनियोजित रहती हैं—

(अ) शार्ङ्गिणी या शल्कस्तर (स्ट्रेटम कॉर्नियम),
(आ) शल्किनी या स्वच्छस्तर (,, ल्युसिडम),
(इ) कणिनी या कणमय स्तर (,, ग्रेन्युलोसम)
(ई) वर्णिनी या मालपीजी स्तर (,, मालपीजी),
(रेटी म्यूकोसम)।

वाह्य त्वचा हस्त एवं पाद के तल में स्थूल होती है तथा उसमें स्वेदवह स्रोतों की अधिकता रहती है जिसके विविध स्तरों का पोषण सूक्ष्म लसीकावह स्रोतों के द्वारा होता है। स्वेद ग्रन्थियां अनुमानतः बीस लाख
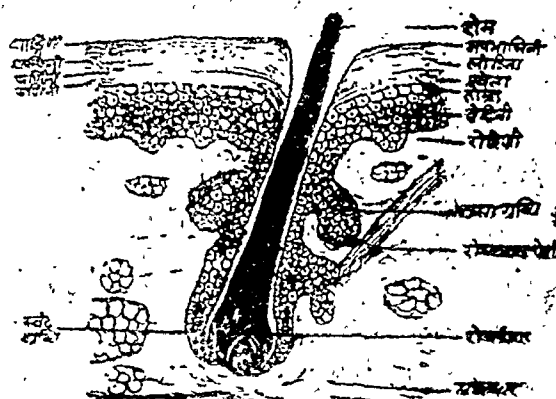
त्वचा की शारीर रचना

की संख्या में समस्त शरीर में स्थित हैं किन्तु अधिकांशतः हस्त एवं पाद के तल, ललाट एवं कक्षा में उपलब्ध होती हैं जिनकी वाहिनियां टेढ़ी-मेढ़ी घूमती हुई अन्तस्त्वक् आदि समस्त त्वचा द्वारा होकर बाहर बाह्य त्वचा में खुलती हैं जिन्हें स्वेदकूप कहते हैं। यदुक्तं—

स्वेदवहानां स्रोतसां मेदो मूलं लोमकूपाश्च।

—च० वि० ५।

आशय यह है कि अन्तस्त्वक् स्थूल अर्थात् मोटी स्तरों से निर्मित तथा स्पर्शेन्द्रिय का मुख्य अधिष्ठान है जिसके द्वारा शरीर की उष्णता की रक्षा एवं स्नेह आदि के शोषण का कार्य संपादित होता है। ध्यानपूर्वक देखने पर ज्ञात होता है कि यह स्तर मांसपेशीय ऊतकों एवं चर्बी के ऊपर स्थित होती है। इसमें ही स्वेदवह ग्रंथियां, लसीका वाहिनियां एवं संज्ञावाही तन्त्रिकाओं के अन्तिम छोरों का जाल बिछा रहता है। स्मरण रहे कि जब इसमें सूचिका चुभ जाती है तो रक्त निकल पड़ता है तथा वेदना होती है। स्वेद ग्रंथियों में रक्त का दूषित तरलांश स्वेद सञ्चित होता रहता है जो यदाकदा बाह्य त्वचा के रोमकूपों से बाहर निकलता रहता है। वसा ग्रन्थियों का स्नेह रोमों (केशों) को स्निग्ध, आभायुक्त, मृदु बनाती हैं। ये ग्रन्थियां मुखमण्डल की त्वचा में अधिक होती हैं।

**त्वचा की उत्पत्ति एवं कर्म—**

आयुर्वेद के मत से त्वचा की उत्पत्ति वात, पित्त एवं कफ त्रिदोषों से पाक किये शुक्र एवं शोणित धातुओं से निर्मित बनायी गई है। त्वचा शीत-ऊष्ण, गुरू, लघु, मृदु, रूक्षादि स्पर्शों का ज्ञान कराती है तथा हित और अहित स्पर्श द्वारा शरीर की रक्षा का भी कार्य करती है। रोगोत्पादक जीवाणुओं से भी रक्षा करती है।

स्वेद ग्रन्थियां त्वचा के नीचे हाथ एवं पैर के तलों में अत्यधिक संख्या में रहती हैं। हाथ की हथेली के २.५ वर्ग सें.मी. त्वचा में ३५०० स्वेद छिद्र रहते हैं। समस्त शरीर में (अनुमानतः)२० लाख स्वेद ग्रन्थियां होती हैं। स्वेद ग्रन्थियों में निर्मित स्वेद रोमकूपों के मार्ग से बाहर निष्काशित होता रहता है।

वसा ग्रन्थियां त्वचा के ऊपरी भाग में नन्हीं-नन्हीं कोषों के रूप में स्थित रहती हैं। इनकी भित्तियां एक प्रकार की स्निग्ध वस्तु उत्पन्न करके उसे केशों की जड़ों में पहुँचाती रहती है जिससे केश चिकने एवं चमकीले बने दीख पड़ते हैं। ये ग्रन्थियां मुख मण्डल की त्वचा में अधिक होती है अतः मुखमण्डल की त्वचा स्निग्ध और आभामय दीख पड़ती है। वसा ग्रन्थियां हाथ की हथेलियों एवं पैरों के तलुओं में प्रायः उपस्थित ही नहीं रहतीं।

**त्वचा के निम्नलिखित प्रमुख कर्म हैं—**

(१) त्वचा के आभ्यन्तरिक अवयवों को आघात, चोट-मोच, संक्रमण आदि से बचाती है।

(२) त्वचा में सञ्चित स्नेह, तैल वसा आदि त्वचा को मुलायम, स्निग्ध और लचीला बनाये रखती है जिससे जीवाणुओं का नाश होता है।

(३) त्वचा स्थित रक्तवाहिनियां आवश्यकतानुसार प्रसारित और संकुचित होती हैं तथा इस प्रकार ये शरीर के ताप एवं रक्तदाब को प्राकृत रखती हैं।

(४) त्वचा शरीर के आभ्यन्तरिक जल को अधिक सूखने नहीं देती तथा शरीर पर जो बाह्य प्रयोग की औषधि, सिद्ध तैल आदि लगायी जाती हैं, उनका वह अवशोषण करती है।

(५) त्वचा पर यदि कोई एण्टीजन आदि विष लगाया जाता है तो त्वचा के आभ्यन्तर का प्रतिविष (एण्टबोडी) उससे मिलकर त्वचा में लाली, सूजन आदि उत्पन्न करती है। इससे कई व्याधियों के निदान में सहयोग प्राप्त होता है।

**प्रकार—**

त्वचा के निम्नांकित प्रकार बताये हैं—

१. स्थूलाकृति त्वचा या ब्लॉण्ड स्किन।
२. व्रणिकायुक्त त्वचा (स्किन विथ बरोज)।
३. दरोमिल त्वचा (रलबरस स्किन)।
४. रोमांची त्वचा (गूज स्किन)।
५. स्फुटन युक्त त्वचा (स्किन विद् इरप्शन)।
६. अंकुरक युक्त त्वचा (स्किन विद् पैपिला)।
७. पपड़ी जमती हुई त्वचा।

**संदर्भ ग्रन्थ—**

चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, अष्टाङ्ग हृदयम्, अष्टाङ्ग संग्रह, भाव प्रकाश निघन्टु, प्रत्यक्ष शारीरम्, अभिनव शारीरम्, शरीर क्रिया विज्ञान, लैन्सेट, ब्रिटिश मेडिकल जेनरल आदि अंग्रेजी पत्रिकायें।

# ✲✲✲ त्वचा विज्ञान ✲✲✲

डा. जगदीशचन्द्र असावा बी. ए., ए. एम. बी. एस. (आनर्स), रीडर
शारीर विभागाध्यक्ष, ललित हरि राजकीय आयु. कालेज, पीलीभीत
८१, दुर्गाप्रसाद क्लिनिक, कोमल्ला चौराहा. पीलीभीत ।

✫ धन्वन्तरि के पुराण प्रसिद्ध मान्य लेखक ।

✫ उत्तर प्रदेश के जानेमाने विज्ञान आयु. प्राध्यापक ।

✫ निष्णात आयुर्वेदज्ञ एवं अनुसन्धानकर्त्ता ।

✫ धन्वन्तरि के "दोष धातु मल विज्ञानांक" विशेषांक के विशेष सम्पादक ।

—वैद्य अशोक भाई तलाविया भारद्वाज ।
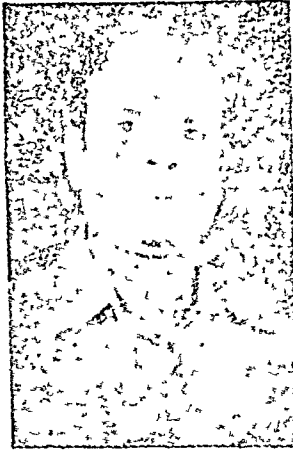
त्वचा शब्द 'त्वच् संवरणे' धातु से निर्मित होता है जिसका अर्थ होता है आवरण करना ।

मानव शरीर में अस्थि कंकाल के ऊपर जो रचनायें मांस पेशियां, रक्त वाहनियां, नाड़ियां, कण्डरायें आदि के ऊपर इन रचनाओं को एक निश्चित आकृति में सीमाबद्ध करने का कार्य त्वचा ही करती है ।

वैद्य श्री आठवले ने अपनी पुस्तक दृष्टार्थ शारीरम् में कहा है—

शरीर पर बाह्यत: जो मोटा स्निग्ध मृदु प्रसरणशील वसायुक्त, रोमयुक्त तथा संरक्षक आवरण रहता है, वह त्वचा कहलाता है ।

आधुनिक दृष्टिकोण—आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से त्वचा की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

"The Skin or Cutis is an organ because it consist of Tissues structurally joined togather to perform specific activities.

It is not just a single thin covering that keeps the body togather and gives it protection. The Skin is quite complex in structure and performs several functions essential for Survival

—Principles of Anatomy and Physiology.

**आयुर्वेद मत से त्वचा रचना शारीर—**

उत्पत्ति—सुश्रुत शारीर स्थान में त्वचा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है—

तस्य खलु एवं प्रवृत्तस्य शुक्र शोणितस्य अभिपच्यमानस्य क्षीरस्येव संतानिका: सप्त त्वचा भवन्ति ।

अर्थात्—शुक्र शोणित के संयोग से जीव का अवतरण होता है । तत्पश्चात पंच महाभूतों की क्रिया से तथा उन पर भौतिक अग्नियों की पाक क्रिया से अङ्ग प्रत्यङ्ग का निर्माण होता है । इसी प्रक्रिया में त्वचा की उत्पत्ति होती है । इस प्रक्रिया का दृष्टान्त दुग्ध पाक होने पर मलाई के ऊपरी तल पर आ जाने से दिया गया है जिसका अभिप्राय है शरीर में पञ्च महाभूत पाक कर्म से वाह्य आवरण के रूप में त्वचा का निर्माण होता है ।

**आधुनिक मत—**

सूक्ष्म रचना की दृष्टि से त्वचा के कई स्तर होते हैं । इन स्तरों की संख्या आयुर्वेद विद्या के दो प्रमुख सम्प्रदायों के अनुसार पृथक पृथक कही गई है ।

धन्वन्तरि मत से ये सात तथा चरक मत से छः कही गई हैं। जिनका वर्णन निम्नवत है –

सुश्रुत मतानुसार—

(१) अवभासिनी—शारीर स्थान अ. ४ में प्राप्त वर्णन के अनुसार प्रथम त्वचा का नाम अवभासिनी है। यह त्वचा सर्व वर्णों का आभास कराती है। देह के गौर, कृष्ण, श्वेताभ, पीताभ आदि वर्णों का प्रदर्शन इसी त्वचा द्वारा होता है। यही त्वचा छाया एवं प्रभा को दर्शाती है। आचार्य सुश्रुत ने इन त्वचाओं (त्वचा स्तरों) की मुटाई का भी उल्लेख किया है। अवभासिनी त्वचा की मोटाई व्रीहि के १८ वें भाग के बराबर कही है। चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है कि सिध्म कुष्ठ तथा पद्मकंटक नामक व्याधियां इसी त्वचा में होती हैं।

(२) लोहिता—द्वितीय स्तर लोहिता नाम से जाना जाता है। यह स्तर १/१६ व्रीहि प्रमाण होता है। सैद्धानिक महत्व की दृष्टि से तिल कालिका न्यच्छ तथा व्यङ्ग नामक व्याधियां इस स्तर में होती हैं।

(३) श्वेता—त्वचा के तीसरे स्तर का नाम श्वेता है। यह १/१२ व्रीहि प्रमाण मोटी होती है। इस त्वचा में चर्मदल, अज गिल्ल और मषक व्याधियां होती हैं।

(४) ताम्रा—चौथे स्तर का नाम ताम्रा दिया गया है। इसकी मोटाई १/८ व्रीहि प्रमाण होती है। इस त्वचा में किलास-कुष्ठ आदि व्याधियां होती हैं।

(५) वेदिनी पांचवीं त्वचा वेदिनी होती है। यह १/५ व्रीहि प्रमाण मोटी होती है वेदना का आभास इस त्वचा में ही होता है। विसर्प एवं कुष्ठ रोगों का यह अधिष्ठान होती है।

(६) रोहिणी—छठी त्वचा रोहिणी होती है। यह व्रीहि के समान मोटी होती है। रोम का आश्रय इस त्वचा में होता है। ग्रन्थि, अपची, गलगण्ड, श्लीपद आदि व्याधियां इस त्वचा में होती हैं।

(७) मांस धरा—त्वचा का ७वां स्तर मांस धरा नाम से कहा गया है। इसकी मोटाई दो व्रीहि प्रमाण होती है। भगन्दर, अर्श, विद्रधि आदि रोगों का यह अधिष्ठान होती है।

नोट—व्रीहि का अर्थ यव या जौ के समान आकार से ग्रहण किया जाता है।

चरक मतानुसार—

चरक शारीर स्थान अ. ७ में त्वचा का वर्णन किया गया है। यह वर्णन सुश्रुत के समान स्पष्ट नहीं है तथापि यहां इसका उल्लेख करना अभीष्ट है।

अग्निवेश के प्रश्न के उत्तर में भगवान आत्रेय ने कहा "शरीर में छः त्वचायें होती हैं—

१. बाहरी त्वचा जल को धारण करने वाली।

२. रक्त को धारण करने वाली।

३. सिध्म तथा किलास नामक कुष्ठ की उत्पत्ति का स्थान।

४. दाह एवं सभी कुष्ठों की उत्पत्ति का स्थान।

५. अलजी एवं विद्रधि की उत्पत्ति का स्थान।

६. जिस त्वचा के कट जाने पर मनुष्य अन्धे व्यक्ति के समान (अन्धकार में प्रवेश करता हुआ) अनुभव करता है तथा जिसके आश्रयभूत काली, लाल, स्थूल मूल वाली दुश्चिकित्स्य फुन्सियां पर्वों पर उत्पन्न होती हैं।

चरक मत में शरीरावयवों में सर्व प्रथम त्वचा का उल्लेख किया गया है।

चरक-सुश्रुत मत का सामंजस्य—

चरक एवं सुश्रुत में त्वचाओं का सामंजस्य इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) चरकानुसार प्रथम उदक धरा जो पूर्ण शरीर में व्याप्त है तथा गौर-श्यामादि वर्ण को प्रकट करती है यही सुश्रुतोक्त प्रथम त्वचा अवभासिनी है।

(२) चरकोक्त द्वितीय त्वचा रक्त धरा है। इस त्वचा में रक्तवाहिनियां होती हैं तथा रक्त का संचय होने से इसका वर्ण लोहित होता है। अतः सुश्रुत ने इसे लोहिता नाम से सम्बोधित किया है।

(३) चरक में तृतीय त्वचा को सिध्म तथा किलास की उत्पत्ति का स्थान माना है, जबकि सुश्रुत ने प्रथम से तृतीय एवं चतुर्थ त्वचा में सम्बद्ध व्याधियों का उत्पत्ति स्थल माना है तथा वर्ण के अनुसार तृतीय तथा चतुर्थ त्वचा को श्वेता एवं ताम्रा कहा है।

(४) दाह एवं कुष्ठ की आधारभूत त्वचा को चरक ने चतुर्थ त्वचा माना है। सुश्रुत ने पांचवीं त्वचा को

कुष्ठ का स्थान माना है तथा वेदिनी नाम से पुकारा है।

(५) चरक में अलजी एवं विद्रधि का स्थान पांचवीं त्वचा को कहा है जबकि सुश्रुत मत में रोहिणी नाम की षष्ठी त्वचा को व्याधियों का स्थान कहा है।

(६) काटने पर तम प्रवेश का आभास होना, यह छठी त्वचा कही गई है तथा इस त्वचा में स्थूल मूल वाली पिडिकायें उत्पन्न होती हैं। वर्णनान्तर से सुश्रुत ने भी अर्श, भगन्दर आदि स्थूल मूल वाली पिडिका के रूप में उत्पन्न व्रणों का स्थान माना है तथा इसको सप्तमी त्वचा कहा है। इस प्रकार चरकोक्त ६ तथा सुश्रुतोक्त ७ त्वचायें लगभग समान अर्थ वाली हैं।

**आधुनिक मत में त्वचा की रचना—**

रचना की दृष्टि से त्वचा के दो प्रमुख भाग होते हैं-

(१) बाह्य पतला स्तर जोकि आवरक तन्तु का बना होता है Ep dermis कहलाता है।

बाह्य स्तर आन्तरिक, मोटे, संयोजक तन्तु के स्तर से सम्बद्ध होता है। इसको Dermis कहते हैं। डरमिस के नीचे अधस्त्वक् स्तर (Subcutancous layer)। इसको Hypodermis कहा जाता है।

Epidermis—इसका निर्माण Langerhans cells and Stratified Squamous epithelium से मिलकर होता है। यह ४ या ५ कोषीय मोटा स्तर होता है। अधिक घर्षण के स्थान तथा कर एवं पाद तल पर यह स्तर अधिक सघन तथा दृढ़ होता है। इस स्तर में ५ कोषीय परतें होती हैं। इनका क्रम अन्दर से बाहर की ओर क्रमशः इस प्रकार होता है—

(1) Stratum Basale—Cuboidal Or Columner epithelial cells का एक कोषीय स्तर होता है। इसके कोषों में विभाजन शीघ्र होता है तथा ये कोष आगे बढ़कर दूसरे स्तर में सम्मिलित होते रहते हैं।

(2) Stratum Spinosum—बहुभुजाकार कोषों की ८-१० पंक्तियां होती हैं। कोष परस्पर गुथे रहते हैं।

इन कोषों का आकार उभरी हुई नुकीली रचनाओं के समान हो जाता है।
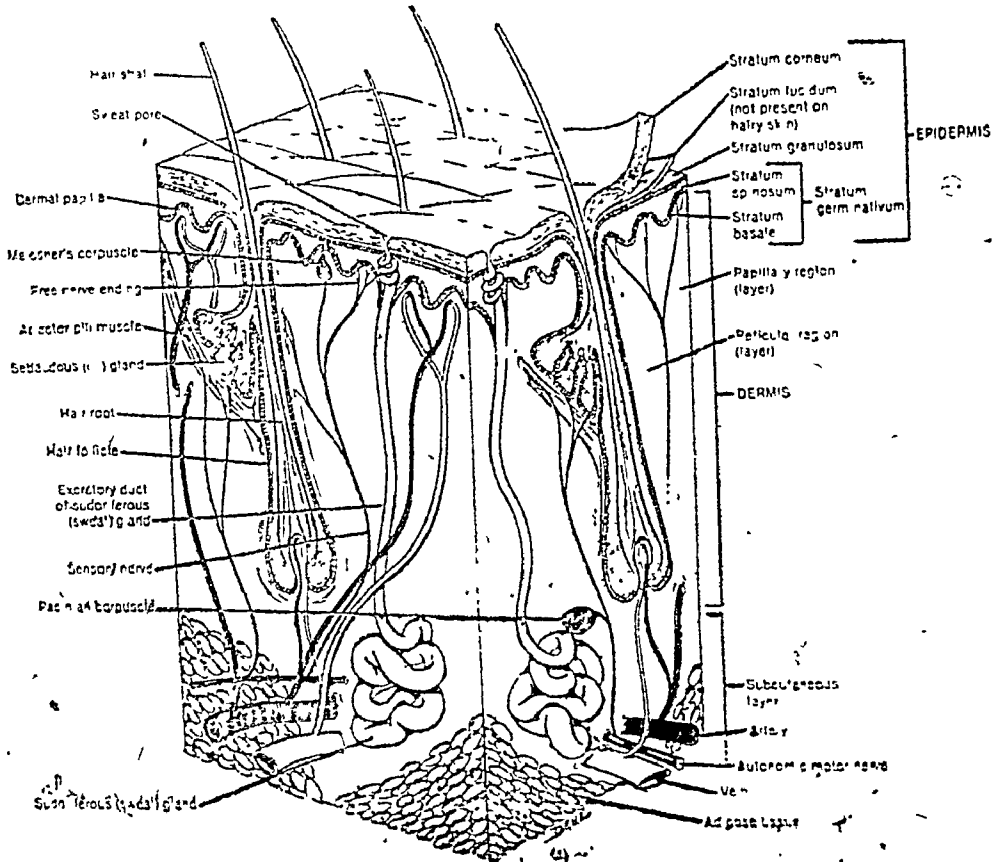
नोट—कभी-कभी प्रथम तथा द्वितीय स्तर का संयुक्त नाम Stratum Germinativum दिया जाता है।

(3) Stratum Granulosum—एपीडर्मिस के तृतीय स्तर तीन से पांच कोष पंक्तियां निर्मित होती हैं। कोष चपटे होते हैं। इनमें केरेटो हाइलीन (Kerato Hyalin) नामक द्रव्य के कण होते हैं।

(4) Stratum Lucidum यह स्तर कर और पाद तलों पर अधिक स्पष्ट होता है। इस स्तर में कई चपटे कोषों की पंक्तियां होती हैं। इन कोषों में एलीडिन (Eleiden) नामक पदार्थ की बूंदें पाई जाती हैं। यह पदार्थ पारदर्शक होता है। इसका निर्माण Kerato Hyalin से होता है जो कि अन्ततोगत्वा Keratin में परिवर्तित हो जाता है।

(5) Stratum Corneum—इस स्तर में २० से ३० कोष पंक्तियां होती हैं। ये मृत कोष पूर्ण रूप से Keratin युक्त होते हैं। ये कोष बराबर रूप से मृत तथा पुनर्स्थापित होते रहते हैं।

DERMIS—त्वचा का दूसरा मुख्य भाग Dermis होता है। यह संयोजक तन्तुओं से बनता है। इसमें कोलोजन युक्त तथा लचकदार सूत्र पाये जाते हैं। डर्मिस हस्त एवं पाद तल पर अति स्थूल होती है, जबकि चक्षु वर्त्म, शिश्न एवं वृषण के ऊपर अति पतली होती है। यह शरीर के Dorsal भाग पर मोटी तथा Ventral भाग पर पतली होती है। इस प्रकार शाखाओं के Medial भाग पर पतली और lateral भाग में स्थूल होती है। डर्मिस में पर्याप्त संख्या में रक्तवाहिनियां, नाड़ियां, ग्रन्थियां तथा रोम कूप रहते हैं।

रचना की दृष्टि से डर्मिस के दो भाग होते हैं

(1) Papillary region (layer) dermis की मोटाई का १/५ भाग होता है। इस भाग के ऊपर तल पर अंगुली सदृश प्रवर्धन होते हैं। इनको Dermal Papillae कहते हैं। यह प्रवर्धन Epidermis के आन्तरिक भाग में घुसे रहते हैं। इन प्रवर्धनों में केशिकाओं का जाल और कुछ में स्पर्श कोष पाये जाते हैं।

(2) Reticular region—यह भाग सघन अनियमित आकार के संयोजक तंतुओं का बना होता है। इनमें कोलोजन पदार्थ के सूत्र तथा लचकदार सूत्रों के गुच्छे पाये जाते हैं। ये सूत्र जालाकार रूप में रहते हैं, अतः इस भाग को Reticular region कहते हैं। सूत्रों के मध्य अन्तराल में एडीपोज तंतु, रोमकूप, नाड़ियां, तैल ग्रन्थियां और स्वेद ग्रन्थियों की सूक्ष्म प्रणालियां रहती हैं। इसी भाग की मोटाई का अन्तर त्वचा की मोटाई का प्रतीक होता है।

इसी संरचना के कारण त्वचा में—

1. Extensibility (Ability to stretch).

2. Elasticity (Ability to return in original shape) तथा 3. Strength निर्भर करती है।

त्वचा के अन्दर रहने वाली रचनायें—

(१) लोममूल—डर्मिस की पूर्ण मोटाई में लोम मूल धंसा रहता है। लोम में epidermis के सभी स्तर होते हैं। लोम त्वचा के ऊपर तिर्यक (Obliquely) फैले रहते हैं। लोमों में अनैच्छिक मांसपेशी सूत्र होते हैं। लोम शरीर में कर एवं पाद तल, ओष्ठ एवं शिश्न मुंड के अतिरिक्त लगभग पूर्ण त्वचा पर फैले रहते हैं।

(२) स्नेह ग्रन्थियां (Sebaccous glands)—लोम मूल के पार्श्व में लोम तथा मांसपेशी सूत्र के मध्य स्थित होती हैं। कुछ ग्रन्थियां लोम मूल के बाहर स्थित होती हैं और सीधे ही त्वचा पर खुलती हैं। इन ग्रंथियों से स्नेह द्रव्य निकलता है। यह ग्रन्थियां मुख, वक्ष, पृष्ठ तथा वृषणों पर अधिक होती हैं।

(३) स्वेद ग्रन्थियां (Sweet glands)—त्वचा में सर्वत्र व्याप्त रहती हैं। ये डर्मिस या अधस्त्वक् तंतुओं में स्थित होती हैं तथा बाह्य त्वक् (Epidermis) पर खुलती हैं। इनमें अनैच्छिक मांसपेशी सूत्र पाये जाते हैं जोकि Pilomotor नाड़ियों से सम्बद्ध होते हैं। इन नाड़ियों की उत्तेजना से ही स्वेद का स्राव होता है।

Apocrine तथा Ecrine भेद से स्वेद ग्रन्थियां दो प्रकार की होती हैं।

(४) नख (Nails)—Epidermis के दृढ़ Keratinised कोष नख का रूप ग्रहण करते हैं। ये कोष हाथ तथा पैर के अंगुल पर्वों की dorsal surface पर दृढ़ ठोस आवरण बनाते हैं। यही नख कहे जाते हैं।

नख के तीन भाग होते हैं —

1. Nail body, दृश्य होता है।

2. Free edge—पर्व के दूरस्थ किनारे पर स्थित भाग होता है।

3. Nail root—Nail groove में धंसा भाग होता है।

त्वचा सारिणी

आयुर्वेदीय क्रिया शारीर विज्ञानम् नामक पुस्तक में डा० शिवकुमार गौड़ ने त्वचा सारिणी प्रस्तुत की है। उपयोगिता की दृष्टि से उसे यहां प्रस्तुत करना अभीष्ट होगा—

| | क्रम | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| चरक मत | नाम | प्रथमा | द्वितीया | तृतीया | चतुर्थी | पंचमी | षष्ठी | |
| | अधिष्ठान | उदक | असृक | सिध्म, किलास | दद्रु, कुष्ठ | अलजी विद्रधि | अरुंषि | |
| सुश्रुत मत | नाम | अवभासिनी | लोहिता | श्वेता | ताम्रा | वेदिनी | रोहिणी | मांसधरा |
| | अधिष्ठान | सिध्म पद्म कण्टक | तिलकालिक न्यच्छ व्यंग | चर्मदल मशक अजगल्ली | किलास कुष्ठ | कुष्ठ विसर्प | ग्रंथी अपची अर्बुद श्लीपद | भगंदर विद्रधि अर्श |
| | मोटाई व्रीहि प्रमाण | १/१८ | १/१६ | १/१२ | १/८ | १/५ | १ | २ |
| आधुनिक सम्भावित नाम | | S. Corneum Horney layer | S Lucidum Clear layer | S Granulosum. Granular layer | S Germinavitom | Papillary layer | Reticular layer | Subcutanoous |

## त्वचा क्रिया शारीर

लक्षणं सर्वमेवतत् स्पर्शेन्द्रिय गोचरम्।

—च शा. १-३०

त्वक्स्थं भ्राजक भ्राजनात् त्वचः।

— अ. हृ. सू. १२-१४

ऊष्मणो मात्रामात्रत्वं वर्ण भेदौ त्वग् गतस्य भ्राजकस्य। —चक्रपाणि

अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति। तद्यथा मात्रामात्रत्वमूष्मणः प्रकृति विकृति वर्णो। — च. सू. १२-११

त्वचा सम्पूर्ण शरीर को आवृत किये रहती है। यह स्पर्शेन्द्रिय का अधिष्ठान है। यह शीत, उष्ण आदि स्पर्श का ज्ञान कराती है।

त्वचा का प्रमुख कार्य उसमें स्थित भ्राजक पित्त के द्वारा सम्पन्न होता है जोकि—

(१) शरीरोष्मा का नियंत्रण करता है।

(२) लेप अभ्यंग आदि द्रव्यों का शोषण एवं पाचन करता है।

(३) शरीर कांति का प्रकाशक है।

स्वेद ग्रन्थियों का आश्रय भी त्वचा है। अतः स्वेद के कर्म त्वचा के कर्मों के अन्तर्गत आते हैं।

स्नेह ग्रन्थियों, नख, रोम, केश तथा स्तन ग्रन्थियों का आश्रय त्वचा ही है। अतः इन सभी रचनाओं के कर्म त्वचा के कर्मों से सम्बद्ध हैं।

संहिता ग्रन्थों के उपरोक्त उदाहरणों से निष्कर्ष निकलता है कि भ्राजक पित्त के माध्यम से त्वचा—

(१) शरीरोष्मा का नियन्त्रण (चरक)।

(२) लेप, अभ्यग आदि से प्रयुक्त द्रव्यों का शोषण एवं पाचन (सुश्रुत)।

(३) शरीर की छाया प्रभा का प्रकाशन (सुश्रुत एवं वाग्भट्ट) कर्म करती है।

छाया तथा प्रभा से रोग एवं आरोग्य का बोध—

चरक इन्द्रिय स्थान अ. ७ में कहा गया है कि कोई भी व्यक्ति छाया तथा प्रभा से मुक्त नहीं है। समय विशेष पर छाया तथा प्रभा के आश्रित भेद ही शुभ (निरोग) और अशुभ (रोग) रोग की स्थिति को प्रकट करते हैं। चरक इन्द्रिय स्थान में छाया के पांच भौतिक भेदों का भी उल्लेख किया गया है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी त्वचा के वर्ण (colour) के द्वारा रोग निदान का महत्व है।

आधुनिक क्रिया शारीर के अनुसार त्वचा के कर्म

[१] रक्षण कर्म—त्वचा का बाह्य स्तर बाह्य आघात (यान्त्रिक, रासायनिक, ताप आदि) से शरीर की रक्षा करता है। यह शरीर के आन्तरिक अङ्गों की जीवाणुओं से रक्षा करता है। नख पशुओं में सींग आदि भी (त्वचा के स्वरूप विशेष) रक्षण कर्म में सहायक होते हैं।

[२] ऊष्मा नियमन—सम्वहन, संचालन एव विकिरण के द्वारा पर्याप्त मात्रा में ताप का क्षय होता है।

त्वचा एवं अधस्त्वक तन्तुओं में वसा की उपस्थिति तथा वसा का ताप के प्रति कुचालक होने से शरीरोष्मा संतुलन में सहायक होती है।

स्वेदन से शरीर की ऊष्मा की पर्याप्त मात्रा वाष्पीकरण प्रक्रिया में नष्ट होती है।

त्वचा की रक्तवाहिनियों में प्रचुर नाड़ी सूत्र सन्निद्ध रहते हैं जिससे कि वह आवश्यकतानुसार संकुचित एवं प्रसारित होती है जिससे कि शरीरोष्मा का सम्यक् रूप से नियंत्रण होता है।

मानव के अतिरिक्त पशुओं में त्वचागत केश भी ऊष्मा नियमन में सहायक होते हैं।

[३] सामान्य संज्ञा ज्ञान—स्पर्श, उष्णता, शैत्य आदि की सामान्य संज्ञायें त्वचा में फैले नाड़ी अग्रों से ग्रहण की जाती है। रोम मूलों में प्रचुरता से नाड़ी अग्र फैले रहते हैं। अतः किंचित उत्तेजना यथा हवा का झोंका, जो रोम को हिलाता है, संज्ञा का कारण होता है। इस प्रकार त्वचा सामान्य संज्ञायें शीत, उष्ण, वेदनायें आदि के ग्रहण करने का प्रमुख स्थल होती है।

[४] उत्सर्जन—त्वचा मलों का शरीर से उत्सर्ग कराती है। स्वेद के माध्यम से शरीर से तिरिक्त लवणांश तथा धातु पाक के अन्तिम पदार्थ (End products of metabolism) उत्सर्जित होते हैं।

[५] संश्लेषण कर्म त्वचा एवं अधस्त्वक् तंतुओं में विद्यमान अर्गा स्टीरोल नामक पदार्थ पर सूर्य रश्मियों की क्रिया से जीवनीय द्रव्य डी Vitamin D) का संश्लेषण होता है।

[६] स्रावोत्पादन—त्वचा से निम्न स्राव उत्पन्न होते हैं—

अ—त्वक स्नेह (सीबम) Sebaceous glands से एक वसायुक्त द्रव्य स्रवित होता है। यह कोलेस्टीरोल युक्त पदार्थ होता है। यह द्रव्य त्वचा की शुष्कता को समाप्त कर स्निग्ध रखता है।

आ—स्वेद—स्वेद ग्रन्थियों का स्राव होता है। यह ग्रन्थियां त्वचा में रहती हैं। स्वेद शरीर में निम्न ऊष्मा नियमन जल सतुलन, लवण सतुलन, अम्ल क्षार साम्य स्थापित करना, मलोत्सृजन, त्वचा को आर्द्र एव मृदु रखना तथा शुष्कता से बचाना आदि कर्म करता है—

इ स्तन्य यह भी स्तन ग्रन्थियों का स्राव होता है। स्तन ग्रन्थियां त्वचा में ही स्थित होती है।

ई—टोड मेढक की त्वचा में कुछ विषैले स्राव स्रवित करने वाली ग्रन्थियां पाई जाती हैं जोकि रक्षा का कार्य करती हैं।

स्वेद के सम्बन्ध में आयुर्वेद मत -

चरक विमान स्थान अ.५ में स्वेदवह स्रोतस का उल्लेख इस प्रकार किया है—

स्वेद वहानां स्रोतसां मेदो मूलं लोम कूपाश्च ॥

अर्थात् स्वेदवह स्रोतस का एक मूल भेद (त्वचा का मेद बहुल आभ्यन्तर भाग) होता है तथा दूसरा सिरा लोम कूप अर्थात् त्वचा का बाह्य स्तर होता है। सु. सू. स्थान अ. १५ में स्वेद के कार्यों का वर्णन इस प्रकार किया है—

स्वेदः क्लेद त्वक् सौकुमार्यं कृत।

अर्थात् स्वेद त्वचा को आर्द्र करता है और उसको

मृदु बनाता है। इस प्रकार स्वेद के सम्बन्ध में आधुनिक एवं आयुर्वेदीय ग्रन्थों ने समान वर्णन किया है।

[७] शोषण—अविदीर्ण त्वचा से जलीय द्रव्य शोषित नहीं होते हैं। परन्तु वसायुक्त स्निग्ध द्रव्यों का शोषण त्वचा से सरलता से होता है। आयुर्वेदोक्त त्वचा के कार्यों में इसका उल्लेख किया गया है।

[८] जल संतुलन—स्वेद निर्माण एवं वाष्पीकरण प्रक्रिया द्वारा त्वचा शरीरगत जल संतुलन का कार्य करती है।

[९] अम्ल क्षार साम्य—स्वेद के माध्यम से पर्याप्त अम्ल शरीर से निष्कासित होता है। अत: स्वेद के द्वारा त्वचा अम्ल क्षार साम्य का कार्य करती है।

[१०] संचय कर्म—त्वचा का अन्त:स्तर डर्मिस और अन्य अधस्त्वक् तंतुओं में वसा, जल, लवण एवं ग्लूकोज सदृश द्रव्य संचित होजाते हैं। इसी प्रकार प्रचुर मात्रा में रक्त भी संचित हो सकता है जोकि आवश्यकता पड़ने पर पुन: केन्द्रीय संचार में भेजा जा सकता है।

[११] वायु विनिमय कर्म—एक निश्चित परिमाण में आक्सीजन का शोषण तथा कार्बन डाई आक्साइड का उत्सर्ग त्वचा द्वारा होता है। कुछ प्राणियों में उदाहरणतया मेंढक में यह क्रिया अधिक सक्रिय होती है।

इस प्रकार त्वचा के उपरोक्त कर्मों पर दृष्टिपात करने से त्वचा के महत्व का बोध स्वत: ही हो जाता है।

चिकित्सा विज्ञान में नैदानिक परीक्षण एवं रोग की साध्यासाध्यता की दृष्टि से त्वचा का अत्यधिक महत्व है। त्रिविध परीक्षा-दर्शन, स्पर्शन प्रश्न में स्पर्शन का सीधा सम्बन्ध त्वचा से होता है।

अष्ट विध परीक्षा—

(नाड़ी, मूत्र, मल, जिह्वा शब्द, स्पर्श, दृग एवं आकृति) में भी स्पर्श का समावेश किया गया है।

त्वक् सार पुरुष—

सुप्रसन्न मृदुत्वग्रोमाणं त्वग सारं विद्यादिति ॥

—सु.सू.

त्वक सार पुरुष की त्वचा और रोम सुप्रसन्न तथा कोमल होते हैं।

चरक विमान स्थान अ. ८ में त्वक् सार पुरुष की लक्षणावली इस प्रकार कही है—

त्वक् सार पुरुष की त्वचा स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, सूक्ष्म, कोमल रोम वाली तथा प्रभा युक्त होती है।

त्वक् सारता, सुख, सौभाग्य, ऐश्वर्य, उपभोग वृद्धि, आरोग्य, प्रसन्नता और दीर्घायु की परिचायक होती है। •

---

त्वक् विकार एवं निदान दोष दूष्य :: — पृष्ठ ४५ का शेषांश

---

लक्षणोत्पत्ति एवं चिरलक्षणोत्पत्ति या अनुत्पत्ति भी इन्हीं की विशेषता से होती है। लक्षणों की प्रबलता के कारण असाध्यता आना या न्यून दोषों के कारण मात्र कुछ लक्षण अभिव्यक्त होकर रह जाना भी निदान, दोष एवं दूष्य की विशेषता से ही होते हैं।

त्वक् रोगों के संदर्भ में भी उक्त विधान अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि त्वचा की उत्पत्ति में प्राय: सभी दोष, धातु एवं मल सम्मिलित होते हैं और जो धातु व्याधियों के अधिष्ठान में महत्वपूर्ण होते हैं, वे सभी धातु त्वक् रोगों के आश्रय में भी महत्वपूर्ण हैं। इसीलिए शास्त्र में धातुगत कुष्ठों की कल्पना की गई है। त्वचा को अधिष्ठान बनाकर विभिन्न दोष, दूष्यों के आधार पर रोगोत्पत्ति करने वाले रोगों की संख्या असंख्य है। समान अधिष्ठान, होते हुए भी व्याधि लक्षणों की पृथक-पृथक अभिव्यक्ति निदान दोष एवं दूष्य की विशेषता के कारण ही है। इसीलिए त्वचा पर सामान्य कण्डू एवं पिटिका जैसे लक्षणों से लेकर असाध्यतम कुष्ठ एवं कैंसर जैसे रोग भी हो सकते हैं।

त्वचा के पृथक पृथक रोगों की विशेषता एवं उनके उपचार से व्याधि प्रत्यनीक द्रव्यों की शोध आज की आवश्यकता है। जितना महत्व चिकित्सा द्रव्यों के अनुसंधान का है उतना ही रोगों के निदान दोष, दूष्य और सम्प्राप्ति के अध्ययन का है। क्योंकि अन्तत: चिकित्सा सम्प्राप्ति के विघटन से ही सम्भव होती है। इस विषय में सघन अनुसंधानात्मक प्रयास अपेक्षित है। ★

# ❀ त्वचा - एक विहङ्गावलोकन ❀

डा० बाबूभाई पटेल डी. एस. सी. ए., एल पी. ए. सी. (बम्बई)
पुष्कर १५-बी पंचवटी सोसायटी, कालावड रोड, राजकोट (गुज०)

राजकोट नगर के सुप्रसिद्ध चिकित्सक। अनेकों आयुर्वेद उपाधियों से अलंकृत। राजकोट एवं गुजरात की विभिन्न आयुर्वेदिक संस्थाओं में उच्च पदाधिकारी। धन्वन्तरि आयु० संस्कृत पाठशाला के भूतपूर्व प्रधानाचार्य। गुजराती भाषा में आयुर्वेद विषयक ग्रन्थों के लेखक। धन्वन्तरि के मान्य लेखक। धाम्स ग्रुप के प्रयोगशाला एवं सलाहकार। —वैद्य किरीट पण्ड्या (विशेष सम्पादक)

—*●*—

**मानव शरीर में त्वचा का स्थान—**

मानव शरीर परम कृपालु परमात्मा की अनेक रचनाओं में एक अनुपम, अनोखी अद्भुत एवं अद्वितीय परिपूर्ण रचना है। इस शरीर में ईश्वर दत्त एक महत्वपूर्ण आवरण जो कि त्वचा, चमड़ी या स्पर्शेन्द्रिय रूप में पहचाना जाता है। भगवान ने शरीर के भीतरी अवयवों एवं पदार्थों की रक्षा के लिए त्वचा रूपी कवच की रचना की है।

चर्म रोगों के संदर्भ में त्वचा कार्य समझना आवश्यक है। उसका मुख्य कार्य मल विसर्जन है। हमारे शरीर की एक वर्ग इञ्च त्वचा में २८०० छिद्र होते हैं। ये छिद्र पसीना बाहर निकालने वाली ग्रंथियों के मूल हैं।

त्वचा शरीर के उपयोगी अवयवों की गर्मी, ठंडी, वर्षा आदि से रक्षा करती है। उपरांत विजातीय द्रव्य चमड़ी रूपी कवच के कारण शरीर में दाखिल नहीं हो सकते। चमड़ी के छिद्रों से पसीना बाहर निकलने के कारण शरीर के भीतरी निरर्थक तत्व क्षार, यूरिया, यूरिक एसिड तथा अतिरिक्त जल का निकलना होता है। इस प्रकार त्वचा मूत्रपिंड के कार्य में मदद करती है।

इसके उपरांत त्वचा के द्वारा एक प्रकार का चिकना और तैलीय पदार्थ बाहर आता है। त्वचा के इस तैलीय स्राव के कारण चमड़ी चमकती, मुलायम, कोमल और सुन्दर रहती है। चमड़ी स्वास्थ्य के दर्पण उपरांत शरीर के अनेकविध अङ्गों की रक्षक है। त्वचा के माध्यम से शरीर के विष उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है।

विष निकालने वाले अवयव जैसे कि आंत, फेफड़े, मूत्रपिंड आदि पर आने वाले कार्य भार को चमड़ी हल्का करती है। त्वचा स्वास्थ्य पर शरीर स्वास्थ्य का विशेष आधार एवं गाढ़ा सम्बन्ध है। त्वचा रोग प्रतिकारक शक्ति और जीवनी शक्ति का कलात्मक दुर्ग है। मुलायम, चमकती, निर्मल तथा रमणीय त्वचा का आधार रूप है। त्वचा और रूप सौंदर्य या लावण्य का गहरा सम्बन्ध विषय के लिये विशिष्ट महत्व है। इस दृष्टि से त्वचा को शारीरिक सुन्दरता, कांति और व्यक्तित्व का प्रतीक कहा जा सकता है।

वस्तुत: त्वचा का स्वास्थ्य ही आकर्षक सौंदर्य उत्पन्न करता है। मानव समाज में निर्मल, निर्दोष, स्निग्ध और गौरवर्ण स्वस्थ त्वचा बहुधा सौंदर्य का कारण मानी जाती है। इसलिए त्वचा की सुन्दरता जरूरी है। देहयष्टि का सौंदर्य एवं शरीर सौष्ठव त्वचा का आभारी है।

त्वचा अन्धों की आंखें हैं। त्वचा स्पर्श के द्वारा वेदना, गर्मी, ठंडी का भान कराके सुरक्षा के कार्य में मदद करती है। त्वचा सूर्य किरणों की उपस्थिति में विटामिन 'डी' तैयार करती है। अस्थि विकास और वृद्धि उपरांत रोग प्रतिकार के लिए अत्यंत उपयोगी तथा आवश्यक है। यह वातावरण के अनुरूप शरीर की गर्मी को भी सुरक्षित रखती है। गर्मी की अधिकता में स्वेदाधिक्य के द्वारा वह शरीर को ठंडा करती है।

मुलायम त्वचा हमारे आंतरिक आरोग्य और बाह्य सौंदर्य की कसौटी है। शारीरिक सौंदर्य के लिये यह आधार मिला है। सुन्दर और मुलायम त्वचा के लिये आरोग्यप्रद आहार, आठ घण्टे की निद्रा, हरी तरकारियां और ऋतु अनुसार ताजे फल लेना बहुत जरूरी है।

त्वचा शरीर का सबसे विस्तृत अङ्ग है और वह समग्र शरीर को ढंकती है, उसकी रक्षा करती है। उपरांत पदार्थों की सम्वेदना देती है। उसमें रही वाहिनियां सिकुड़कर या विस्तृत बनकर देह का तापमान बनाये रखती हैं। उसकी स्वेदग्रन्थि भी तापमान तथा जल की समतुला बनाये रखने में सहायरूप होती हैं।

पोषण में होते परिवर्तन तथा उम्र की असर त्वचा कह देती है। अर्थात् उस पर स्पष्ट असर दिखाई देता है। आंतरिक भावों के अनुसार त्वचा में परिवर्तन होते हैं। वह मात्र शरीर का कवच या आवरण ही नहीं परन्तु महत्वपूर्ण जीवंत अङ्ग है। इसीलिए त्वचा को सज्जनों की आंख या आइना कहा गया है।

प्रजीवक 'ए' की कमी के कारण त्वचा खुरदरी, फुंसियों से मढी हो ऐसी बन जाती है। इसलिए चिकित्सक उसे मगर जैसी त्वचा कहते हैं।

प्रजीवक 'बी' के अभाव से तथा चरबी के स्नेहाम्लों के अभाव में भी ऐसी चमड़ी हो जाती है। सूर्य-ताप सहते भाग में तुरन्त फुंसियां उभर आती हैं। पर्याप्त सफाई के अभाव में भी चमड़ी मोटी, काली, खुरदरी बनती है। ऐसी चमड़ी कुहनी, घुटना या बैठने के स्थान पर होती है। यहां चमड़ी खुरदरी हो जाती है और उसमें सलवटें भी पड़ जाती हैं। ऐसी त्वचा को मगर की, हाथी की और मेंढ़क की चमड़ी की उपमा दी जाती है।

बिवाई की दरारों वाली चमड़ी खास करके नंगे (खुले) पैर चलने वाले लोगों में विशेषकर दिखाई देती है। पैरों के तले में जो दरारें पड़ती हैं उसमें छाले भी पड़ते हैं। प्रजीवक 'ए' इस प्रकार की स्थिति में अधिक सहायक होता है।

शरीर में असंख्य ग्रन्थियां ऐसी हैं जो कि स्वेद (पसीना) उत्पन्न करती हैं और रक्त में खराबी पैदा करती हैं। पसीना बाहर निकालने का काम चमड़ी करती है। प्रत्येक ग्रंथि १/४ इन्च लम्बी होने से प्रति वर्ग इन्च सात सौ इन्च यानी साढ़े उन्नीस गज लम्बी नली होती है। सामान्य मनुष्य की चमड़ी की सतह २५०० चौरस इन्च होने से उसके समग्र शरीर के भीतर सत्तर लाख ग्रन्थियां हैं। प्रत्येक ग्रन्थि १/४ इन्च लम्बी होने से उसके एक सिरे को दूसरे सिरे के साथ जोड़ने से उसकी लम्बाई करीब २८ मील होती है। इस २८ मील लम्बी नली में हर रोज लगभग १ किलो पसीना निकलता है।

त्वचा को शास्त्रीय भाषा में स्पर्शेन्द्रिय (पेरीफेरल नर्वस) कहते हैं। त्वचा के नीचे पतली-पतली असंख्य नसें होती हैं। मस्तिष्क ज्ञानतन्तु का वायरलेस स्टेशन है। ऐसी अद्भुत शक्ति धारण करने वाली त्वचा का सदैव रक्षण आवश्यक है।

त्वचा के सात स्तर

त्वचा के प्रथम स्तर का नाम अवभासिनी है। सिध्म नामक रोग इसमें उत्पन्न होता है। दूसरे स्तर का नाम 'लोहिता' है, काले तिल इस स्तर में उत्पन्न होते हैं। तीसरे का नाम है 'श्वेता' चर्मदल (कुष्ठ) उसमें होता है। चौथे स्तर का नाम 'ताम्रा'। किलास तथा श्वित्र नामक कुष्ठ इसीमें होता है। पांचवें स्तर का नाम है—वेदिनी। सभी प्रकार के कुष्ठ इसी में उत्पन्न होते हैं। छठे स्तर का नाम है रोहिणी-ग्रन्थि, गण्डमाला और अपची इसमें होती हैं। सातवें स्तर का नाम है 'स्थूला' (मांसधरा त्वचा) विद्रधि आदि रोग इसमें उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार त्वचा के सात स्तर बताये गये हैं। चरक विशेष दृष्टि देते हैं कि सात स्तरों का जो वर्णन है वे त्वचा के सात स्वतन्त्र भाग हैं। प्रत्येक त्वचा के सात स्तर हैं। शुक्र शोणित की सात त्वचाओं की जिस प्रकार दूध की मलाई बनती है उसी प्रकार सात त्वचा बनती हैं।

रोग प्रतिकारकता -

हमें अपना जीवन टिकाये रखने के लिये आस-पास के वातावरण में रहे हुए रोगकारक जीवाणुओं से सुरक्षा प्राप्त करनी पड़ती है। रोग प्रतिकारकता के लिए कुदरत ने त्वचा की रक्षा की है। वह रोगजन्य जीवाणुओं को शरीर में जाने से रोकती है। रुधिर में रहे हुए श्वेत कण भी उनका नाश करते हैं।

कोई भी व्यक्ति रोग ग्रस्त होने के बाद स्वस्थ होने पर उसके शरीर में रोग के विरुद्ध प्रतिकारक शक्ति पैदा होती है। एक बार चेचक आदि निकलने के बाद से रोग होने की बहुत कम सम्भावना होती है। इसी

को जब रोग हुआ हो तब उसके शरीर में कुछ ऐसी क्रियायें होती हैं जिसके कारण उसे रोग प्रतिकारकता प्राप्त होती है, परन्तु दाने या चेचक आदि की विरुद्ध प्रतिकारकता हैजा या अन्य रोग के खिलाफ रक्षण नहीं दे सकती। संक्षेप में रोग प्रतिकारकता मनुष्य को जीवन टिकाये रखने में सहायक बनती है।

स्पर्श द्वारा भी त्वचा सम्बन्धी रोग होते हैं। वाईरस बैक्टेरिया और अमीबा जैसे सूक्ष्म जीवाणु रोगी के शरीर में से निरोगी के शरीर में प्रविष्ट होकर रोग फैलाते हैं।

त्वचा के स्वास्थ्य—

त्वचा का स्वास्थ्य महत्वपूर्ण है। इसके लिए व्यायाम, आहार, शुद्ध हवा, सूर्य स्नान, स्वच्छता आदि जरूरी है। त्वचा के माध्यम से हम हवा(श्वास) ले सकते हैं। इसलिए यथाशक्य इतने कम स्वच्छ कपड़े पहनने चाहिए। शरीर के अधिकांश अङ्गों को दिवस दरम्यान एक-दो घण्टे खुले रखना चाहिए। रात को खिड़की-दरवाजे खुले रखकर सोना चाहिए। नाइट ड्रेस भी बारीक खुला और स्वच्छ होना चाहिए। हवामान के परिवर्तन से शरीर में रोग प्रतिकारक शक्ति बढ़ती है।

सूर्य की कोमल किरणें आरोग्यप्रद होती हैं। उसमें रोग प्रतिकारक शक्ति है। सूर्य स्नान मरियल चमड़ी को नवजीवन देती है। प्रस्वेद ग्रन्थियों को सतेज करती है। रक्तभ्रमण क्रिया को उत्तेजित करती है। "तड़का खाओ तगड़े बनो" सूत्र हमें अपनाना चाहिए। सूर्यस्नान त्वचा (चर्म रोग) के दर्दी की अचूक और अमोघ औषधि है।

त्वचा की रक्षा और स्वच्छता के अभाव में मैल त्वचा के छिद्रों में भर जाता है। फल स्वरूप पसीने की क्रिया में बाधा पहुँचाने से रक्त विकार या चर्म विकार उत्पन्न होता है।

त्वचा के मरीज अधिकांशतः आत्मलक्षी होते हैं। वे जितनी मात्रा में त्वचा के विकारों को छिपाने का प्रयत्न करते हैं उतनी ही मात्रा में प्रगट करके वह मानसिक संघर्ष में पड़ जाता है। त्वचा शारीरिक हालात की चुगली करती है। चिकित्सक त्वचा को देखकर रोग का निदान कर सकता है।

त्वचा के स्वास्थ्य का रक्षण—

त्वचा के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए उसकी उचित सफाई आवश्यक है। धूप तथा धूल से रक्षा करना, क्षारयुक्त साबुन का त्याग, पावडर, स्नो क्रीम आदि का त्याग और त्वचा के मरीज जिस बिछौने इत्यादि का उपयोग करते हैं उसका हम उपयोग नहीं करें। इसके अतिरिक्त इसके वस्त्र आदि अलग रखें। टेरीलिन, टेरीकोटन, टेरिन आदि कपड़े त्वग्रोग उत्पन्न करते हैं।

साधारण गर्म पानी से स्नान करना चाहिए। ठंडे पानी से स्नान करने से पहले सूखी मालिश करने से त्वचा का स्वास्थ्य तेजी से बढ़ता है।

त्वचा को अयोग्य रूप से व्यर्थ बलपूर्वक रगड़ना या घिसना उचित नहीं है। आरम्भ में साधारण लाल रंग होने तक उसे घिसना चाहिये। ५, १०, १५, २० मिनट इस प्रकार क्रमशः समय बढ़ाते जावें। पूर्ण मालिश २५ मिनट से अधिक नहीं करें। मोटे तौलिया को पानी में भिगोकर निचोड़े तौलिये से घिसकर स्नान करें।

उपवास त्वचा के दर्दी के लिए अमोघ शस्त्र है। मरीज को खुराक, परहेज पर विशेष ध्यान देना जरूरी है। खुराक में रहा स्टार्च तथा शक्कर त्वचा के रोगों में अभिवृद्धि करते हैं। खुराक में एक साथ प्रोटीन और स्टार्च नहीं होने चाहिए। पथ्य पालन (परहेज) जरूरी है। अधिक खाते रहने की वृत्ति, विरुद्ध आहार, प्रमादी जीवन आदि भी त्वचा रोग के कारण हैं।

त्वचा के रोग का मुख्य कारण अपथ्य-कुपथ्य और विरुद्ध आहार है। खट्टे, तीखे, अति नमकीन और बासी खुराक पेट में जाकर दोषों को प्रकुपित करके अनेक रोग पैदा होते हैं। चर्म रोग न हों उसके लिए आहार में नियमितता एवं सात्विक, समतोल आहार की जरूरत है।

रोग के उत्पन्न होने से पूर्व ही उसका नाश करना ही सच्चा सयानापन है। रोग होने के बाद उसे मिटाना जिससे उसे होने से रोकना अधिक सरल, योग्य तथा हितकर है। आवश्यकता से अधिक चाय-काफी पीना, धूम्रपान, शराबपान, चरस, अफीम आदि मादक पदार्थों का सेवन करना, आवश्यकता से अधिक परिश्रम करना, बंद कमरे में सोना, प्रमादी जीवन व्यतीत करना, ब्रह्मचर्य का पालन न करना चर्म रोग कारक हैं।

# आधुनिक दृष्टि से त्वचा के स्तर और आयुर्वेदीय रोग वर्णन

डा० किरीट जी० मोढ़ एम. डी. (आयुर्वेद)
रिसर्च स्कालर, काय चिकित्सा विभाग,
आई. पी. जी. टी एण्ड आर. जामनगर (गुजरात)

—०*०—

मेधावी चिकित्सक। विद्वान लेखक। आयुर्वेदीय पत्रिकाओं मे लेखन।
यहां आधुनिक एवं आयुर्वेदीय विवेचन समन्वयात्मक दृष्टि से किया गया है जो प्रसंशनीय है।

— वैद्य किरीट पण्ड्या (विशेष सम्पादक)

---

त्वचा का महत्व

अनेक अवयव युक्त शरीर को ऊपर से आवृत्त किये रखने वाला अवयव त्वक् है, जिससे शरीर सुन्दर दिखाई पड़ता है। यह त्वक् सिर्फ बाह्यावरण ही नहीं है, बल्कि यह शरीर का एक महत्वपूर्ण अवयव है तथा इसका कुछ महत्वपूर्ण कार्य भी है। यह शरीर को बाह्य आघातों एवं बाहर के रोगोत्पादक अनेक जीवाणुओं एवं कृमियों को शरीर के भीतर प्रवेश नही करने देता। शरीर की शीत एवं उष्णता के अतिक्रम से रक्षा करता है।

त्वचा स्पर्शेन्द्रिय का अधिष्ठान है। यह गुरु-लघु, शीत-उष्ण, सुख दुःखादि स्पर्श प्रधान अनुभूतियों का ज्ञान कराती है। त्वक् स्थित भ्राजक पित्त उष्मा का नियन्त्रण रखता है। स्नेह ग्रन्थियों, नख रोम, केश आदि का अधिष्ठान त्वक् है। शरीर के स्वाभाविक वर्ण—कृष्ण, कृष्ण श्याम, श्यामापक्षात, अवदात आदि की धारक त्वचा है। पांचों प्रकार की छाया तथा शरीर का तेज-प्रभा की धारक त्वक् है। अनेक प्रकार के कुष्ठ तथा क्षुद्र रोगों का आश्रय स्थान त्वक् ही है।

त्वचा की उत्पत्ति—

त्वचा की उत्पत्ति के विषय में सुश्रुत शा. ४/३ में—

तस्य खल्वेवं प्रवृत्तस्य शुक्र शोणितस्याभिपच्यमानस्य क्षीरस्येव सन्तानिकाः सप्त त्वचो भवन्ति। सु.शा.अ.४/३

तत्र सप्त त्वचोऽसृजः।

पच्यमानात्प्रजायन्ते क्षीरासन्तानिका इव।

—अ. हृ. शारीर ३/८

गर्भाशय मे शुक्रशोणित संयोग होने पर उसमें जब पुरुष प्रवेश करता है तब पूर्ण गर्भ उत्पन्न होता है। दूध को गर्म करने से उसकी ऊपरी सतह पर मलाई की मोटो तहें बन जाती हैं। उसी तरह गर्भाशय मे पित्त द्वारा गर्भ का पाक होने पर उसके पृष्ठ भाग पर त्वचा की कई तहें बन जाती है। सुश्रुत और अष्टांग हृदय में त्वचा की संख्या सात बताई है।

चरक ने त्वचा की उत्पत्ति का विशिष्ट वर्णन नहीं किया है फिर भी उपधातु प्रकरण मे मांस के पाक होने पर उपधातु के रूप में त्वचा की उत्पत्ति बताया है। चरक त्वचा की संख्या छः बताते हैं।

शरीरे षट्त्वचः॥ - चरक शारीर अ. ७/४

चरक और सुश्रुत के मतानुसार त्वचा के स्तरो के नाम प्रमाण एव स्तर मे अधिष्ठित व्याधि के नाम दर्शाये जाते हैं।

चरक के मतानुसार त्वचा के स्तर —च शा. ५/४

| स्तर के नाम | कार्य | अधिष्ठित व्याधि |
|---|---|---|
| १. उदकधरा | उदक धारयति बाह्य त्वचा | |
| २. असृग्धरा | रक्त धारयति | — |
| ३. तृतीया | — | सिध्म, किलास। |
| ४. चतुर्थ | — | दद्रु, कुष्ठ। |
| ५. पंचमी | — | अलजी विद्रधि। |
| ६ षष्ठी | — | इसके कटने से आंखों के सामने अंधकार की अनुभूति तथा यह काली, लाल एवं स्थूल मूलवाली दुश्चिकित्स्य पिडिकाओं का अधिष्ठान |

सुश्रुत के मतानुसार त्वचा के स्तर—सुश्रुत शा. ४-४

| स्तर के नाम | प्रमाण | कार्य | अधिष्ठित व्याधि | विशेषता |
|---|---|---|---|---|
| १. अवभासिनी | व्रीहि का १/१८ भाग | सर्व वर्ण एवं छाया को प्रदर्शित करना | सिध्म पद्मकण्टक | शरीर के वर्ण को अवभासित करती है। |
| २. लोहिता | व्रीहि का १/१६ भाग | रक्त का धारण | तिलकालक न्यच्छ, व्यंग | रक्तवाहिनी ज्यादा होने से रक्त का धारण |
| ३. श्वेता | व्रीहि का १/१२ भाग | — | चर्मदल, मशक, अजगल्लिका | श्वेत वर्ण युक्त |
| ४. ताम्रा | व्रीहि का १/८ भाग | — | विविध किलास कुष्ठ | ताम्र वर्ण युक्त |
| ५. वेदिनी | व्रीहि के १/५ भाग | — | कुष्ठ, विसर्प | विशेष संवेदनशील है। |
| ६. रोहिणी | व्रीहि के बराबर | — | ग्रन्थि अपची, | रोहण कर्म करती है। |
| | | — | अर्बुद, गलगण्ड | |
| ७. मांसधरा | दो व्रीहि के बराबर की | — | विद्रधि, भगन्दर, अर्श का अधिष्ठान | मांस में अधिष्ठान। |

सुश्रुत ने प्रत्येक त्वचा का प्रमाण व्रीहि धान्य से दर्शाया है। व्रीहि से उत्तम परिपक्व यव लेना चाहिए।

संख्या की दृष्टि से त्वचा की संख्या चरक ने छः जब कि सुश्रुत ने सात बताई है। सुश्रुत जिस मांसधरा का वर्णन करते हैं उसे चरक नहीं मानते क्योंकि मांसधरा से पेशीमय स्तर ज्ञात होता है। इस त्वचा की मोटाई बहुत है। इतनी मोटाई त्वचा के किसी भी स्तर की नहीं हो सकती है। इस त्वचा में जो रोगों का स्थान माना गया है वे रोग आयुर्वेद में मांसजन्य बताये है। अतः चरक ने छः त्वचा बताई हैं। आधुनिक में भी त्वचा की संख्या छः है।

चरक की उदकधरा एवं सुश्रुत की अवभासिनी दोनों में सिर्फ नाम का अन्तर है। कार्य दृष्टया दोनों में साम्य है। शरीर के गौरादि प्राकृत वर्ण तथा विकृत वर्णों को अवभासित करती है, अतः उसे अवभासिनी कहा है। चरक ने जल का संग्रह होकर इसमें फफोले बनने के कारण इसे उदकधरा कहा है।

चरक की असृग्धरा एवं सुश्रुत की लोहिता में सिर्फ नाम का फर्क है। क्योंकि यह दोनों रक्त को धारण करती हैं। इनमें रक्तवाहिनियां ज्यादा रहती हैं।

आधुनिक दृष्ट्या त्वचा के स्तरों की रचना—

आधुनिक दृष्ट्या त्वचा के दो विभाग हैं—

[१] बहिस्त्वक् Epidermis
[२] अन्तस्त्वक् Dermis

[१] बहिस्त्वक्—इसके चार स्तर हैं—

(अ) शृङ्गमय स्तर (Horny Layer) –

यह स्तर एपिथेलियल सेलों की कई तहों से बना है। इसकी सेलें सबसे बाहर होने से पीडन और दबाव के कारण कठिन हो जाती हैं। जैसे पादतल, हथेलियों में निरन्तर रगड के कारण यह स्तरिका सब से मोटी है।

(ब) स्वच्छ स्तर Stratum Lucidum) —

यह शृङ्गमय स्तर के नीचे स्वच्छ सेलों से युक्त है। इसकी मोटाई ज्यादा नहीं होती।

(क) कणमय स्तर (Stratum Granulosum) —

यह कणयुक्त सेलों की दो तीन तहों से बना है। यह सेलें चपटी तथा कठिन स्तर तथा माल्पीजियन स्तर की सेलों के बीच की होती हैं।

(ड) वर्णमय स्तर (Malpighian 'ayer) -

यह स्तर कई सेलों की तहों से बना है। सबसे ऊपर के स्तर की सेलों का नाश होने पर उनके स्थान पर नीचे की सेलें बनती आती है।

त्वचा के कृष्ण गौर आदि वर्ण दिखाई पड़ते हैं उसका कारण वर्णरंजक द्रव्य (Malanine) है। इसकी अधिक राशि माल्पीजियन स्तर में है, जो उत्तरोत्तर ऊपरी स्तर की ओर कम होती जाती है। सबसे ऊपर के कठिन स्तर में भी यह रंग द्रव्य होता है जिसकी न्यूनाधिकता के कारण मनुष्य श्याम या गौर वर्ण दीखता है।

[२] अन्तस्त्वक्— इसके दो स्तर हैं—

यह त्वचा बाह्य त्वचा के नीचे स्थित है।

(अ) अंकुरमय स्तर (Papillary layer)—

यह अनेक अंकुरों से बना है। ये अंकुर तान्तव धातु, रक्तवाहिनियां, स्पर्शपिंड और नाड़ियों के अग्रों से बनता है। इस स्तर में स्पर्शज्ञान शक्ति अत्यधिक है।

(ब) जालिमय स्तर (Reticular layer)—

इसमें जालि के समान तन्तु होते हैं। इसमें रोमकूप, स्वेद ग्रन्थि, तैल ग्रन्थि और कुछ मांसतन्तु भी होते हैं।

इन दोनों स्तरों की मोटाई ऊपर के चारों स्तरों की अपेक्षा बहुत अधिक है।

**प्राचीन और अर्वाचीन स्तरों का सम्बन्ध—**

प्राचीन और अर्वाचीन मत से त्वचा के छः स्तर हैं। इनके कार्यों में कुछ साम्यता है। प्रथम त्वचा अवभासिनी से वर्ण का ज्ञान होता है। जबकि वर्णरंजक द्रव्य अधिक वर्णमय स्तर (माल्पीजियन) में है। इस रंग द्रव्य का प्रत्यक्ष उसके ऊपर के स्तर अपारदर्शक होने से नहीं हो सकता। सबसे बाहरी त्वचा में रंगद्रव्य की जो कुछ भी राशि है उसी से मनुष्य के वर्ण का ज्ञान होता है। उदक धारण उसका धर्म है वह भी इसकी कठिनता से स्पष्ट होता है अतः अवभासिनी (Horney layer) से समझना चाहिये।

लोहिता—Stratum Lucidum से तथा श्वेता Stratum Granulosum से समानता रखती है।

ताम्रा त्वचा श्वेतकुष्ठ का अधिष्ठान है। श्वेतकुष्ठ तब होता है, जब त्वचागत रंगद्रव्य की उत्पत्ति बन्द हो जाती है। इस रंग का मुख्य स्थान वर्णमय स्तर है अतः ताम्रा को Malpighian Layer का पर्याय माना जा सकता है।

पांचवी त्वचा वेदिनी है। आधुनिक खोज अनुसार स्पर्शपिंड, नाड़ी अग्र अंकुरमय स्तर में होने के कारण संवेदना का कार्य इसी स्तर से होता है। दग्ध में इसके ऊपर के सब स्तर जल जाते हैं और इसको हानि पहुँचती है तब अति शीघ्र वेदना होती है। अतः वेदिनी त्वचा Papillary layer का पर्याय है। वेदिनी होने वाले रोग भी इसी स्तर में होते हैं।

रोहिणी त्वचा वेदिनी के नीचे होने से उसको Reticular layer समझ सकते हैं। रक्ताधिक्य तथा त्वचा छिल जाने पर या जल जाने पर इसी स्तर से रोपित या रोहित होने के कारण रोहिणी नाम सार्थक है। इसी स्तर में उपत्वचा (Subcutaneous tissue) का भी समावेश करें।

इस प्रकार प्राचीन और अर्वाचीन दृष्ट्या पाये गये स्तर समान हैं। अब जो भिन्नता मालूम होती है, वह प्रत्येक स्तर की मोटाई में है। जैसे कि अवभासिनी की मोटाई नीचे के तीनों स्तरों की संयुक्त मोटाई से अधिक होनी चाहिए, किन्तु यहां पर सबसे कम बतलाई है।

**त्वचा के प्राचीन अर्वाचीन स्तरों का तुलनात्मक कोष्ठक**

| प्राचीन | अर्वाचीन | |
|---|---|---|
| १. अवभासिनी— | Horney layer | १. बाह्यत्वचा Epidermis |
| २. लोहिता— | Stratum lucidum | |
| ३. श्वेता— | Stratum Granulosum | |
| ४. ताम्रा— | Malpighian layer | |
| ५. वेदिनी— | Papillary layer | २. अन्तस्त्वचा Dermis |
| ६. रोहिणी— | Reticular layer | |
| ७. मांसधरा— | Subcutaneous tissue and Muscles | |

# अन्य रोगों के उपद्रव में त्वक् रोग का अवलोकन
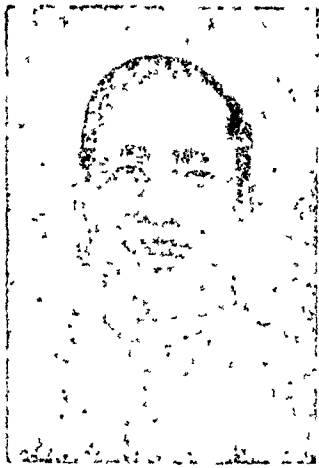
डा० दिनेश कुमार एन. श्रीवास्तव एम. डी. (आयु.)
आयुर्वेदोपचार केन्द्र, गोविन्द भवन के सामने,
वाडिया बाजार, बडौदा (गुजरात)

चरक ने इन्द्रिय स्थान में त्वचा की विकृतावस्था का वर्णन नीचे-श्याव, ताम्र, हरित और शुक्ल वर्ण से दिया है।

वैद्य श्रीवास्तव जी ने अन्य रोगों के परिपेक्ष्य में त्वचा रोग का क्या योगदान है बताने की कोशिश की है। कई वैद्य डाक्टर अपना प्रथम निदान त्वक दर्शन से कर लेते हैं। इस दृष्टि को प्राप्त होना आवश्यक है। इस लेख में आप यह देख सकेंगे।

शास्त्रकार ने कहा है कि जिसका ललाट (कपाल की त्वचा) बहुत चमकीला है वह प्रमेहाधिकारी हो सकता है।

श्रीवास्तव जी आयुर्वेदीय चिकित्सा में काफी डूबे हुए व्यक्ति हैं।

—वैद्य किरीट पण्ड्या (विशेष सम्पादक)

—★★—

अन्य रोगो के उपद्रव में त्वक रोग का अवलोकन करना एक जटिल तथा विशद कार्य है परन्तु विषय की महत्ता को देखते हुये और वैद्य श्री किरीट भाई जी का इस जटिल विषय के लिये मेरा चयन किये जाने पर मैंने यथाशक्य इस विषय का संक्षिप्त निरूपण करने का प्रयास किया है।

विषय का विशदीकरण करने से पूर्व त्वक रोग की शास्त्रीय समीक्षा आवश्यक है। त्वचा की गणना आचार्य चरक ने प्रत्यक्ष अवयवों में की है। सम्पूर्ण शरीर त्वचा से आच्छादित रहता है इस प्रकार यह शरीर का एक महत्वपूर्ण अवयव है। चरक ने शारीर स्थान ६/८ में स्पष्टरूप से कहा है कि जो वैद्य सम्यक प्रकार से सम्पूर्ण शरीर को जानता है, वही वैद्य आयुर्वेद शास्त्र को अच्छी तरह जानता है। (शरीरं सर्वथा सर्व...वेद लोक सुख प्रदम्।)

आचार्य सुश्रुत ने शुक्र शोणित की अभिपच्यमाना-वस्था से त्वचा की उत्पत्ति बताई है जबकि अष्टांग संग्रह में रक्त से। चरक संहिता में त्वचा की उत्पत्ति का वर्णन नहीं है परन्तु त्वचा को मातृज भाव बताया है (च. शा. ३)। इस प्रकार मूलत: शुक्र शोणित अन्य रोगों के उपद्रवस्वरूप त्वक रोग की स्थिति का विचार किया जा सकता है। दूषित शुक्र अथवा दूषित शोणित के कारण जन्मोत्तर उपद्रव स्वरूप त्वक रोग प्रत्यक्ष मे देखा जा सकता है जिन्हें चरक ने आदिबल प्रवृत संज्ञा दी है। इसीलिए स्वस्थ बालक की उत्पत्ति मे शुद्ध शुक्र एवं शोणित का वर्णन आचार्यों ने किया है।

त्वचा में शिरा-धमनी तथा कोशिकायें होती हैं, अत. इनमें बहने वाला रक्त विशेषत: लोहिता एवं ताम्रा नामक त्वचा में रहता है और दूषित रक्त की अवस्था में त्वचा का रोग ग्रस्त होना देखा जाता है। इस प्रकार रक्तज रोगों में उपद्रव स्वरूप त्वक रोग का अवलोकन किया जा सकता है।

त्वचा के आश्रित रोम, रोम कूप तथा स्वेद ग्रंथियां भी होती हैं। इन अवयवों के विकारग्रस्त होने पर त्वचा भी विकृत होती है मांस धरा-कला से भी त्वचा और मांस का सम्बन्ध स्पष्ट होता है, परिणामस्वरूप मांस के रोगग्रस्त होने पर उपद्रवस्वरूप त्वचा को विकृत होते हुए देखा जाता है।

अप्रत्यक्ष रूप मे आहार का प्रभाव शरीर पर पड़ता है अर्थात दूषित आहार अथवा विहार का सेवन करने से आम पाक होकर उपद्रव के रूप मे त्वचा का रोग हो सकता - जैसे—खिचड़ी दूध का सेवन, मास दूध का सेवन, कटहल-दही का सेवन, खट्टे-मीठे फलो का दूध के साथ सेवन (फ्रूट सलाद) इत्यादि ।

रुग्ण परीक्षण मे सर्व प्रथम प्रत्यक्ष परीक्षा में रोगी की त्वचा की ओर चिकित्सक का ध्यान आकृष्ट होता है। पाण्डु-कामला, विष, जल अल्पता, शोफ आदि विकारो मे त्वचा की विकृति तुरन्त दिखलाई पड़ती है जो इन व्याधियो क उपद्रवस्वरूप त्वच गत परिवतन है । चरक ने इन्द्रिय स्थान मे त्वचा की विकृतावस्था का वर्णन नील, श्याव, ताम्र, हरित और शुक्ल वण से किया है जो मूलतः किसी न किसी रोग के उपद्रव के परिणाम का द्योतक ह ।

स्रोतानुसार प्राणवह स्रोत, रसवह स्रोत, रक्तवह स्रोत, अन्नवह स्रोत के रोगो क उपद्रव की अवस्था मे भी त्वचा विकृत होते हुए देखी जाती है जेसे कार्बन-डाई ओक्साइड आदि क कारण, विकृत आहार से उत्पन्न आम रस के कारण, यकृत प्लीहा क रोगो मे, कृमि के उपद्रव मे त्वचा का विकारग्रस्त होना स्पष्ट देखा जा सकता है ।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान मे भी इस तथ्य को समर्थन प्राप्त होता ह कि अन्य रोगो जैसे डायबिटीज हाइपोविटामिनोसिस अथवा अन्य इण्डोजीनस फेक्टर्स के कारण त्वचा से सुरक्षात्मक गुण का ह्रास होकर त्वचा विकृत होती है । इन्ही कारणो से त्वक रोग की निदान चिकित्सा करते समय अन्य रोगो का विचार करना आवश्यक है । एक्जीमा-न्युरो डर्मेटाइसिस, लीचेन स्वरप्लेनस आदि त्वचा के विकारो म मानसिक अस्वस्थता तथा भावनात्मक अस्थिरता को कारण माना गया है जो केन्द्रीय नाड़ी संस्थान क विक्षिप्त होने का परिणाम है । इस प्रकार सेन्ट्रल तथा पेरीफेरल नर्वस सिस्टम के विकार ग्रस्त होने से कई प्रकार के त्वक रोगों का उद्भव होता है जैसे. हर्पीज जोस्टर, पर्फोरेटिंग अल्सर, सिरिगोमेलिया टेर्बज डोरसेलिस, एल्कोहलिक न्युरायटिस आदि । गृध्रसी नाड़ी (सियाटिक नर्व) के क्षत होने से ट्रोपिकल अल्सर होता है ।

अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की विकृति में भी त्वचा की विकृति देखी जाती है । पिच्युटरी ग्रन्थि तथा सेक्सुएल ग्रन्थियों के स्राव की अनियमितता से सेबोरिया तथा एक्ने जैसे उपद्रवस्वरूप त्वक विकार होते हैं । एड्रीनल ग्रन्थि के अनियमित स्राव से एडीसन्स विकार होता है । इसी प्रकार यानी-मिनरल्स, कार्बोहाईड्रेट, प्रोटीन आदि के चयापचय के विक्षिप्त होने से विभिन्न प्रकार के त्वक विकारों को उपद्रव रूप में देखा जा सकता है । विटामिन-सी की कमी से स्कर्वी, विटामिन पी की कमी से प्लेग्रा, विटामिन ए की कमी से फ्राइनो-डरमा जैसे त्वक रोग होते हैं जो प्रत्यक्षतः उपद्रव की संज्ञा मे नही आते हैं, परन्तु परोक्ष रूप से अभावजन्य व्याधियों के परिणामस्वरूप ही उपद्रव के रूप मे इन रोगों का समावेश किया जा सकता है। रक्त और लसिका प्रवाह मे विक्षेप पड़ने के कारण इनका प्रभाव पैरों में होता ह जिससे पैरो में शोफ उत्पन्न होकर त्वचा मोटी हो जाती है—श्लीपद में यह विकृति स्पष्ट देखी जा सकती है जिसे उपद्रव जन्य त्वक रोग में समावेश कर सकते हैं क्योकि मुख्य व्याधि फाइलेरिया है ।

अन्ततः यह निष्कर्ष निकलता है कि त्वचा का सम्बन्ध प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से रस-रक्त-मांस धातुओ तथा सभी स्रोतों से होता है जिनकी विकृत अवस्था में त्वचा के रोगों को उपद्रव की संज्ञा में समावेश करना अनुचित नहीं होगा। क्योंकि चिकित्सा सिद्धांत के अनुसार भी प्रधान व्याधि की चिकित्सा करने पर उपद्रवों का शमन स्वतः होता है जो उपरोक्त वर्णित व्याधियों से स्पष्ट है ।

—०卐०—

# त्वक् शारीर–अर्वाचीन दृष्टिकोण

वैद्य दयानन्द तिवारी, भा. सा. आयुर्वेद महाविद्यालय, सावंतवाडी–४१६५१०, सिंधु दुर्ग (महाराष्ट्र)

—*卐*—

सम्पूर्ण शरीर को आच्छादित करने वाले पतले आवरण को 'त्वचा' कहते हैं। यह त्वचा शरीर के नौ या ग्यारह द्वार की श्लेष्म कला से भी सम्बन्धित होती है। त्वचा भी शरीर की एक संस्था मानी जाती है अतः इसे 'कवच संस्था' भी कहते हैं।

**त्वचा की रचना—**

त्वचा प्रमुख रूप से दो स्तरों से बनी है।

[१] बाह्य त्वचा (Fpidermis)

[२] अन्तःस्त्वक् (Dermis or Cornium)

१–बाह्य त्वचा –

त्वचा का सबसे बाहरी या उत्तान भाग बाह्य त्वचा ही है जो Keratinised Stratified Squamous Epithilium से मिलकर बना है। इसकी नाड़ी भिन्न-भिन्न स्थानों पर अलग-अलग है। उदाहरण के लिए सबसे ज्यादा मोटाई हथेली व एड़ी में है।

बाह्य त्वचा की दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें रक्त वाहिनियां या नाड़ी प्रान्त नहीं हैं किन्तु इसका गंभीर स्तर अन्तर कोषीय द्रव (interstitial fluid) से भरा रहता है जो लसिका द्वारा वाहित होता है।

तृतीय महत्वपूर्ण बात यह है कि बाह्य त्वचा में निम्न स्तर बाहर से भीतर की ओर रहते हैं—

१. कठिन स्तर या शार्ङ्गी (Stratum Corneum or Horney Layer)।
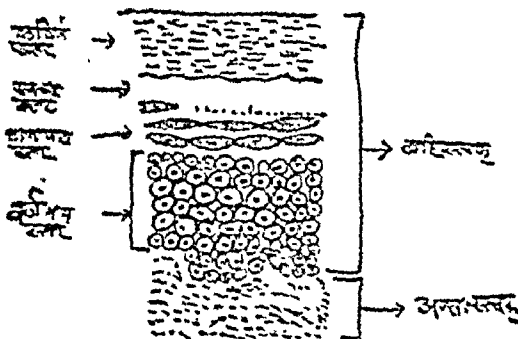
—बाह्य त्वक् के प्रमुख स्तर—

२. स्वच्छ स्तर (Stratum lucidum)।

३. कणमय स्तर (Stratum granulosum)।

४. Stratum Spinosum।

५. वर्णमय स्तर (Stratum basal या mapighian layer या germinative layer)।

बाह्य त्वचा के उत्तान भाग की कोशिकायें नष्ट होती रहती हैं व उनके स्थान पर वर्णमय स्तर से नवीन कोशिकाओं की उत्पत्ति होती रहती है। बाह्य त्वचा के भीतरी भाग सचेतन व क्रियाशील होते हैं साथ ही इसमें रक्त प्रवाह भी होता है। इन स्तरों की कोशिकाओं में रङ्ग कण होते हैं जिस पर त्वचा का वर्ण निर्भर करता है। ये रंगकण जब ज्यादा प्रमाण में होते हैं तो त्वचा कृष्ण दीखती है। त्वचा को अधिक धूप लगने पर रंगकण कोशिकायें ज्यादा ही रंगकण तैयार करती है।

बाह्य त्वचा से निम्न अवयव बाहर निकलते हैं—

१. केश

२. स्राव (Secretions from Sebaceous gland)

३. स्वेद ग्रन्थि नलिका (Sweat glands duct)

२–अन्तः स्त्वक—

यह त्वचा कठिन तथा लचीली होती है। यह श्वेत सौत्रिक तन्तु व पीत सौत्रिक तन्तु से मिलकर बनी है। निम्न रचनायें इस स्तर में होती हैं—

[१] रक्तवाहिनियां—ये केशिका जाल का रूप धारण करके स्वेद ग्रन्थि, तैल ग्रन्थि, केश मूल व बाह्य त्वचा के गम्भीर स्तरों को रक्त प्रदान करती हैं।

[२] लसिका वाहिनी—यह अन्तः स्त्वक् व गम्भीर स्तरों (बाह्यत्वचा के) में अपना कार्य करते हैं।

[३] संवेदनिक नाड़ी—स्पर्श तापमान व दबाव इनका संबंध अन्तः स्त्वक् से है। बाह्य त्वचा में अनुपस्थित है।

[४] स्वेद ग्रन्थि—यह अन्तः त्वक् में गांठ की तरह मूल व वहां से निकलकर बाह्य त्वचा से होते हुए त्वचा पर खुलती है जिसे Pore कहते हैं। यह epi

belial cells से बनी ग्रन्थि होती है। इस ग्रन्थि का महत्वपूर्ण कार्य शरीर के ताप का नियमन करना है। ग्रन्थि की कोशिकायें रक्त से एक प्रकार का द्रव पदार्थ एकत्र करते हैं—यह द्रव पदार्थ ही स्वेद कहलाता है जो स्वेद ग्रंथि की नालिकाओं द्वारा त्वचा के पृष्ठ भाग पर आता है। स्वेद मे निम्न घटक रहते हैं।—

जल ९९.४ %, पोटैशियम, सोडियम क्लोरायड, सल्फेट ०.२ % अन्य पदार्थ ०.४ %।

[५] केश (Hair follicle) इसमें Epidermal cell का विकास अन्तरत्वक् मे होता है। मूल में bulb है जिससे केश वृद्धि करता है। बल्ब की केशिकाओं में होने वाले परिवर्तन से केश की उत्पत्ति होती है। जैसे ही ये ऊपर की ओर ढकेले जाते हैं, केशिकायें मृत हो केराटिन के रूप मे रूपातरित हो जाती है।

केश का वर्ण मैलानिन नामक द्रव पर निर्भर करता है। केश का श्वेत होना मैलानिन का tiny air bubbles मे रूपान्तरित होने का निर्देश करता है।

[६] तैल ग्रन्थि—इनमें इपीथीलियम स्रावक तैल होता है, जो अपना स्राव (sebum) hair follicle में भरते है। वहां से त्वचा के सभी भाग उपस्थित होते है। केवल मात्र हस्त पाद की त्वचा में ही इनका अभाव है। खोपड़ी, चेहरा कक्षा नितम्ब प्रदेश में इनकी अधिकता है। तैल ग्रन्थि से उत्पन्न होने वाला तैल बाहर त्वचा पर आकर पतला स्तर तैयार करता है जिससे त्वचा स्पर्श में मृदु व चमकदार लगती है।

[७] पेशी—यह अनैच्छिक पेशी है जो केशमूल से जुड़ी होती है। जब यह पेशी संकुचित होती हैं तब केश खड़े होजाते है। ये पेशिया सिम्पैथैटिक नाड़ी से उत्तेजित होने से भय व शीत के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करती है।

**त्वचा के तीन रंजक द्रव्य—**

१. मैलानिन—यह बादामी रंगद्रव्य वर्णमय स्तर में पाया जाता है।

२. मैलानोयड—यह बादामी रंग द्रव्य बाह्य त्वचा की कोशिकाओं में होता है।

३. कैरोटिन—यह पीत रंग द्रव्य कठिन स्तर मे पाया जाता है।

**त्वचा के प्रमुख कार्य—**

(१) संरक्षण—यह शरीर के सभी अवयवों का संरक्षण करती है क्योंकि सर्व शरीर का आच्छादन करना ही इसका प्रमुख कर्म है।

यह संक्रमण को भी भीतर जाने से रोकती है। सूर्य किरण से ऊर्जा मिलती है। यह ऊर्जा जीवित केशिकाओं उत्तेजित करती है जिससे उनका कार्य बढ़ता है। किन्तु यदि ज्यादा समय तक ये किरण त्वचा पर जब पड़ती हैं तो कोशिकायें नष्ट हो जाती हैं। ऐसे समय त्वचा रंग कण तैयार करती है जिससे सूर्य किरणों से होने वाला नुकसान बचाया जाता है।

(२) जीवन सत्व डी को निर्मित करना—त्वचा में एक वसा सदृश पदार्थ रहता है जिसे ७ डिहाइड्रो कोलेस्ट्रोल कहते हैं। इसे अल्ट्रावायलेट किरणें जीवन सत्व D में रूपान्तरित करती हैं।

(३) शरीर के ताप का नियमन करना—मानव उष्ण रक्त वाला प्राणी है। शरीर का ताप ३६.८°c पर नियमित रखना त्वचा का कार्य है। यह प्राकृत कार्य त्वचा ही करती है। यदि ताप बढ़ता है तो शरीर को चयापचय क्रिया बढ़ी रहती है, यदि ताप कम होता है तो चयापचय क्रिया कम रहती है।

**उष्मा निर्मिति—**

इसमें निम्न ३ अवयव कार्य करते हैं—

१. मांसपेशियां—व्यायामादि से एच्छिक पेशियां आकुंचित होती हैं जिससे ऊष्मा निर्मित होती है।

२. यकृत—में होने वाली अनेक रासायनिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप उष्मा निर्मित होती है।

३. पचन संस्थान—पचन संस्थान की पेशियों के आकुंचन, रासायनिक परिवर्तनों से उष्मा निर्मित होती है।

उष्मा का नाश—

८७ % त्वचा द्वारा उष्मा का नाश होता है।

२ % बहिः श्वसन से ऊष्मा का नाश होता है।

१ % मूत्र व पुरीष द्वारा ऊष्मा का नाश होता है।

शरीर का ताप नियमन का केन्द्र हायपोथैलेमस में है।

(४) स्वेद ग्रन्थि—यदि शरीर का ताप ०.२५ से ०.५ c तक बढ़ा तो स्वेद प्रवृत्ति होती है जिससे त्वचा ठंडी होती है। इस ग्रन्थि के द्वारा ही जल, क्षार व अन्य मल पदार्थ शरीर से बाहर उत्सर्जित किये जाते हैं, शरीर के जल को समतोल रखा जाता है। ★

# संहितोक्त त्वक् शारीर विवेचन

वैद्य चन्द्रकांत वा. सोनारे, अधिव्याख्याता द्रव्यगुण विभाग,
भा. सा. आयुर्वेद महाविद्यालय, सावंतवाडी, सिंधुदुर्ग (महाराष्ट्र)
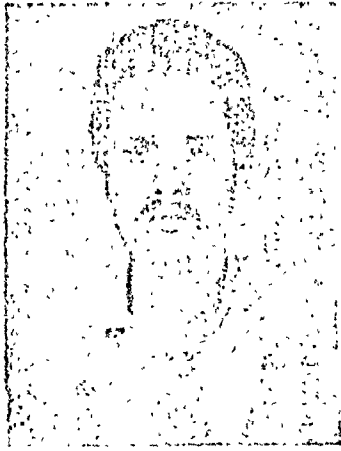
सर्वं शरीरस्य बाह्यं आवरणं त्वक् इति उच्यते। शरीर के अन्य अवयवों की भांति त्वचा भी एक महत्वपूर्ण अवयव है। त्वचा हमारे शरीर को सम्यक् प्रकार से ढके रहता है। त्वचा के सर्वांग शरीर को व्याप्त तथा आवृत्त किये रहने के कारण ही इ. Common Integument कहते हैं। उसी प्रकार यह त्वचा हमारे शरीर को बाह्य आघातों से बचाये रहती है। बाहरी किसी भी प्रकार के शीत, उष्ण, तीक्ष्ण आदि वस्तुओं के स्पर्श होने से यही त्वचा आत्मा को इनका ज्ञान कराती है। इसीलिए स्पर्शनेन्द्रिय का अधिष्ठान कहा गया है। त्वचा स्वेद एवं मेदो ग्रन्थि, नख, रोम, केश, स्तन ग्रन्थियों का आश्रयस्थान है। यह इनके द्वारा होने वाले कर्मों का आधार कारण है।

**त्वचा शब्द की निरुक्ति—**

त्वक्—(स्त्री)

त्वचति। 'त्वच् संवरणे' इस धातु का अर्थ—'आवृत्त करना' ऐसा होता है। (अमरकोष २-६-६२)

त्वच् (स्त्री)—शरीर मांस जन्य उपधातुः
(च. चि. १५-१७)

मांस वहानां स्रोतसां मूलम् (च. वि. ५-८)
(आयुर्वेदीय कोष)

**त्वचा की उत्पत्ति तथा पोषण—**

तस्य खलु एवं प्रवृत्तस्य शुक्रशोणितस्य अभिपच्यमानस्य क्षीरस्य इव सन्तानिकाः सप्त त्वचो भवन्ति।

—सु. शा. ४-३

भूतात्मा से (जीवात्मा) अधिष्ठित होने पर सर्वाङ्ग परिपूर्ण गर्भ निर्मित करने की दिशा में प्रवृत्त हुए और तत्पश्चात् त्रिदोषों की क्रिया द्वारा परिपक्व होते हुए उस शुक्रशोणित संयोग से त्वचा की उत्पत्ति उसी प्रकार से होती है जिस प्रकार अग्नि के द्वारा परिपक्व किये जाते हुए दूध के ऊपरी पृष्ठ भाग पर जैसे मलाई की कई तहें बनती दिखाई देती हैं और पूर्णतः पक्व द्रव्य के ऊपर इन सब तहों से मोटी मलाई बनती है। वैसे ही त्रिदोषों द्वारा उसमें भी विशेषतया पित्त के द्वारा परिपक्व होते हुए वृद्धि को प्राप्त गर्भ के पृष्ठ भाग पर त्वचा की छः (चरक मत) या सात (सुश्रुत मत) तहें बन जाती हैं। और सर्वाङ्ग परिपूर्ण गर्भ के शरीर पर ये सब तहें मिलकर त्वचा बनती है।

त्वचा मांस धातु का उपधातु माना गया है।

मांसाद् वसा त्वचः षट् च। —च. चि. १५-१७

त्वचा मांसवह स्रोतस का मूलस्थान माना गया है।

मांसवहानां च स्रोतसां स्नायुर्मूलं त्वक् च। —च.चि.५-८

त्वचा मृदु अवयव होने से उसको मातृज भावों में गणना की गई है। —च. शा. ३

त्वचा मांसधातु से उत्पन्न होती है। मांस धातु पृथ्वी महाभूत बहुल माना जाता है।

मांसं पार्थिवं। सु. सू. १५-८ पर चक्रपाणि भानुमती टीका मांसे तु पार्थिवाः। सु. सू. १५-१० पर डल्हण टीका इसी प्रकार पार्थिव घटकों से रचना एवं निर्माण होने वाली त्वचा वायु महाभूत के विषय स्पर्श का स्पर्शनेन्द्रिय के माध्यम से ग्रहण करने में कैसे सक्षम होती है। इस बारे में निम्नलिखित प्रकार से स्पष्टीकरण हो सकता है—

चरक चि. अ. १५-२८ मे मांस धातु की निर्मिति की प्रक्रिया इस प्रकार है ।

वायु अम्बु तेजसा रक्तं उष्मणा च अभिसंयुक्तम् ।
स्थिरतां प्राप्य मांस स्यात् स्व उष्मणा पक्वं एनतत् ॥
—च. चि. १५-२८

शोणितं स्व अग्निना पक्वं वायुना च घनीकृतम् ।
तदेव मांसं जानीयात् स्थिर भवति देहिनाम् ॥ इति पा.

वायु जल तथा तेज की उष्मा से संयुक्त और अपनी अग्नि से पक्व हुआ रक्त का प्रसाद अंश जब स्थिरता को प्राप्त होता है तो उसे 'मांस' कहा जाता है । 'स्थिरता' यह गुण उसके पार्थिव स्वरूप का निदर्शक है । इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है। बृहद्-आरण्यक्-उपनिषद के 'अद्भ्यां पृथ्वी' इस संदर्भ द्वारा पृथ्वी महाभूत की उत्पत्ति परिपाक क्रिया मे जल महाभूत के ऊपर निर्माण हुए फेन से मानी गई है। जिस प्रकार जल महाभूत से 'स्थिरता' गुण वाला पृथ्वी महाभूत निर्माण होता है उसी प्रकार रक्तधातु से स्थिरता गुणवाला मांसधातु जैसा पृथ्वीबहुल धातु निर्माण होता है।

मांसोत्पत्तिकाले एव त्वचः पोषण भवति ।

धातुपोषण क्रम में मांस धातु के प्रसाद अंश द्वारा मांसधात्वग्नि की क्रिया से उत्तर धातु मेद का पोषण होता है तथा उपधातु के स्वरूप मे वसा तथा त्वचा का निर्माण तथा पोषण होता है । इस सन्दर्भ मे युक्ति दी गई है कि जिस प्रकार से दूध का अग्नि द्वारा परिपाक होते समय उसके ऊपरी भाग मे लघुत्व के कारण मलाई का स्तर इकट्ठा होता है पाकक्रिया द्वारा दुग्ध लघुता का विकास होकर लघुता वाला भाग मलाई के स्तर के रूप मे ऊपरी भाग मे संग्रहीत होता दिखाई देता है तथा उसमें स्निग्धत्व भी दिखाई देता है उसी प्रकार से शरीर के बाहरी भाग में मांस धातु के ऊपर ही उसकी उपधातु त्वचा का आवरण रूप स्तर निर्माण होता है। तथा दूसरी उपधातु वसा भी निर्माण होती है । (शुद्ध मांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिताः (सु.शा.४-१३)
(वसा मांसगत स्निग्ध अंश)

यद्यपि मांस धातु का निर्माण तथा पोषण पार्थिव अंशों से होना माना गया है तथापि उसी की उपधातु त्वचा के निर्माण प्रक्रिया के समय पाक क्रिया द्वारा त्वचा में लघुत्व आ जाने से तथा लघुता यह वायु महाभूत का प्रधान लक्षण है । अतएव त्वचा मे अधिष्ठित स्पर्शनेन्द्रिय अपने वायु महाभूत प्रधान अर्थ 'स्पर्श' का ग्रहण करती है ।

**त्वचा का स्वरूप -**

घनं आच्छादकं पटलाकारं तनु मृदु अवयवः अस्ति ।

संपूर्ण शरीर के अंश को बाहर से आवृत्त करने वाला एवं शरीर में सर्व प्रथम दिखाई देने वाला अङ्ग त्वचा है । यह स्पर्शनेन्द्रिय का अधिष्ठान है ।

स्पर्शनेन्द्रियस्य अधिष्ठानम् त्वक् (च.सू. ८-१०)

इन्द्रियः सर्व शरीरवर्ति स्पर्शनेन्द्रियं त्वगिन्द्रियम् इति अभिधीयते । —च. शा. १-४

**त्वचा और स्पर्शनेन्द्रिय सम्बन्धी शब्द**

(१) चर्म —इसे त्वचा या Skin or cutics कहते हैं । यही त्वगिन्द्रिय का अधिष्ठान है ।

(२) चर्मचेली—इसका वर्णन डल्हण ने 'चिपिटिकावन्तः' इन शब्द द्वारा सु.सू. अ. २३-१९ की व्याख्या में किया है । चिपिटिकावन्तः इति चर्मचेली युक्तः विशुष्यमाणत्वत् त्वचाश्चर्मश्चेली सम्भवः । 'व्रणे शुष्कसूक्ष्मश्वेता या उच्चडति त्वक् सा 'चर्मचेली' इति कथ्यते ॥

फोड़ो के ठीक होने के उपरांत जो खुरण्ट उतरते है उन्हें चर्मचेली नाम से कहा जाता है । इसमे त्वचा की पपड़ी या छिलका या खुरण्ट (Scales of the skin) के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है ।

(३) चिपिटिका चर्मचेली का प्रतिशब्द

(४) त्वक्—

**त्वचा प्रकार—**

त्वचा के छः या सात जो प्रकार बताये गये हैं, वे छः या सात स्वतंत्र त्वचायें न होकर एक ही त्वचा के छः या सात स्तर हैं (Layers of Skin) । अष्टाङ्ग संग्रह तथा चरक संहिता इन ग्रन्थों में छः त्वचायें वर्णित हैं । सुश्रुत संहिता तथा अष्टांग हृदय के टीकाकार अरुण दत्त ने सात त्वचाओं का वर्णन किया है ।

............तत्र सप्त त्वचोऽसृजः ।
पच्यमानात् प्रजायन्ते क्षीरात् सन्तानिका इव ।
(अ. हृ. शा. ३-८)

(त्वक् प्रकार विवरण तालिका पृष्ठ ६८ पर देखें)

त्वचा के स्तरों का वर्णन —

(१) अवभासिनी यह त्वचा सबसे बाहर की है। चरक में यही त्वचा उदकधरा बतायी है। इसका कारण यह है कि इसके होने से शरीरगत रस तथा लसिका बाहर नहीं आ सकती और इसके छिल जाने से निकलने लगती है।

तासां प्रथमा देहम् उदकं बिभर्ति येन बहिराद्रं त्वाभावः। (इन्दु टीका)

यह सभी प्रकार के वर्णों को प्रकट करती है और पांचों प्रकार की छाया को प्रकाशित करती है।

वर्ण शरीर का स्वाभाविक रंग या वर्ण चार या पांच प्रकार का होता है।

(१) कृष्णः कृष्णश्याम, श्यामावदातः अवदातश्चेति प्रकृतिवर्णाः शरीरस्य भवन्ति। (चरक)

(२) तत्र गौरः श्यामः कृष्णः गौरश्यामः कृष्णश्यामः इति देहप्रकृति वर्णाः। (अष्टांग संग्रह)

ये प्राय. शरीर के स्वाभाविक वर्ण होते हैं। इनके अतिरिक्त जो वैकारिक वर्ण बतलाये हैं, वे भी क्वचित प्राकृत हो सकते हैं।

छाया इसको शरीर की कांति कह सकते हैं।

छाया वर्ण प्रभाश्रया। (चरक)

यह पांच प्रकार की होती हैं।

खादीनां पंच पंचानां छाया विविध लक्षणाः।
नाभसी निर्मला नीला सास्नेहा सप्रभेव च॥
रूक्षा श्यावारुणा या तु वायवी सा हतप्रभा।
विशुद्ध रक्ता त्वाग्नेयी दीप्ताभा दर्शनप्रिया॥
शुद्धवैदूर्यविमला सुस्निग्धा चाम्भसी मता।
स्थिरा स्निग्धा घना श्लक्ष्णा
श्यामा श्वेता च पार्थिवी॥

प्रभा · शरीर का जो दीप्ति या तेज होता है, वह प्रभा है। प्रभा और वर्ण दोनों के संयोग से शरीर की जो विशेषता होती है। वह छाया है।

छाया और प्रभा में भेद—छाया वर्ण पर अपना प्रभाव डालती है। यानि वर्ण की खराबी को प्रच्छन्न करती है। प्रभा वर्ण को अधिक प्रकाशित करती है। छाया नजदीक से दिखाई देती है। प्रभा दूर से दिखाई देती है। छाया पंचमहाभूतात्मिका है, प्रभा तेज प्रभवा है।

परिमाण—व्रीहि के १८ वें भाग के समान मोटी होती है। इसी त्वचा के आश्रय से सिध्म (Pityrisis Versicolor) तथा पद्मकण्टक (papilloma of the skin) नामक रोग होते हैं।

सिध्म यह कण्डूयुक्त, सफेद, कष्ट रहित, सूक्ष्माकार (तनु) व प्रायः ऊपर के शरीर (छाती, ग्रीवा, मुख) पर होता है, वह सिध्म समझना चाहिए। – सु.नि. ५-१२

अर्वाचीन दृष्ट्या इसका कारण microsporon furfur नामक एक फंगस जाति का कृमि माना जाता है यह छाती और ग्रीवा में अधिक होता है। और खुजाने पर उससे भुसी निकला करती है।

पद्मकण्टक — कमलिनी के कांटों की भांति अंकुरों से व्याप्त, उभरा हुआ, कण्डूयुक्त, श्वेत वर्ण कफ वात जन्य मण्डल पद्मिनी कण्टक नाम से जानना चाहिए। (सु. नि. १३-३७) इसे Papilloma of the skin कहा जाता है। इसमें उपत्वचा के अंकुरों की वृद्धि होती है। यह एक प्रकार का सौम्य अंकुर है। श्लेष्मल त्वचा पर भी होता है।

(२) लोहिता — (असृग्धरा—चरक)

दूसरा लोहिता नामक त्वचा का स्तर है। यह व्रीहि के सोलहवें भाग के प्रमाण का है। और तिलकालक (Non-elevated mole) न्यच्छ और व्यंग का आश्रयदाता स्तर है।

तिलकालक—वात, पित्त और कफ के उद्रेक से काले, तिल प्रमाण, पीड़ा रहित और सम जो बिन्दु होते हैं उनको तिलकालक समझें। (सु.नि.१३-४०)

इस विकार में त्वचा पर मेलानिन नामक स्याही मायल रंग जम जाता है। इसे अंग्रेजी में Mole कहते हैं। सम या अनुन्नत होने से इसको तिलकालक या तिल कहते हैं।

न्यच्छ -- शरीर पर छोटा या बड़ा कृष्ण वर्ण या श्याम वर्ण, पीड़ा रहित जन्म से हुआ मण्डल (चकत्ता) ... कहलाता है। इसीको लांछन कहते हैं।

न्यच्छं लांछनं उच्यते। (सु. नि. १३-४१

व्यंग —क्रोध और परिश्रम से कुपित हुई वायु से मिलकर अकस्मात मुख की त्वचा में प्राप्त हो मण्डल उत्पन्न करती है। तब वह पीड़ा रहित, छोटे

## त्वक् प्रकार विवरण तालिका (तृतीय शारीर परिभाषा चर्चा परिषद–दिल्ली)

| ग्रन्थ संदर्भ | | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| चरक | नाम | प्रथमा | द्वितीया | तृतीया | चतुर्थी | पचमी | षष्ठी | — |
| | अधिष्ठान | उदकधरा | असृक्धरा | सिध्म किलास | दद्रु कुष्ठ | अलर्जी-विद्रधी | अरुंषि | — |
| वृद्ध वाग्भट, अष्टाङ्ग संग्रह | नाम | प्रथमा | द्वितीया | तृतीया | चतुर्थी | पचमी | षष्ठमी | |
| | अधिष्ठान | उदकधरा | असृक्धरा | सिध्म किलास | सर्व कुष्ठ | अलर्जी-विद्रधी | प्राणधर अरुंषि | |
| सुश्रुत | नाम | अवभासिनी | लोहिता | श्वेता | ताम्रा | वेदिनी | रोहिणी | मांसधरा |
| | अधिष्ठान | सिध्म पद्मकटक | तिलकालक न्यच्छ व्यङ्ग | चर्मदल, अज गल्ली मशक | विलास कुष्ठ | कुष्ठ विसर्प | ग्रन्थि अपचि अर्बुद-श्लीपद गलगड | भगन्दर विद्रधि अर्श |
| | प्रमाण | व्रीहि:अष्टादशभाग | व्रीहि.षोड्स भाग | व्रीहि द्वादश भाग | व्रीहि. अष्टभाग | व्रीहि पच भाग | व्रीहि प्रमाण | व्रीहिद्वय |
| | कार्य | वर्णविभासिनी पंच विधा छाया प्रकाशिनी | | — | — | — | — | — |
| अरुणदत्त | नाम | भासिनी | लोहिता | श्वेता | ताम्रा | वेदिनी | रोहिणी | मांसधरा |
| | अधिष्ठान | उदक | असृक | सिध्म मिलप | सर्व कुष्ठ | विद्रधि अलर्जी रोगकारिणी | स्थूलमूलपर्व-अरुंषि | त्वक् शय्या |
| | प्रमाण व्रीहि | १/१८ | १/१६ | १/१२ | १/८ | १/५ | १ | २ |
| प्रत्यक्ष शारीर भाग ३ गणनाथ सेन | | धारिणी | रञ्जिनी | कणिनी | | अंकुरिणी | जालिनी | |
| मैक्सीमोव एवं ब्लूम के नाम | | Strecium corneum (Horny Layer) | Stratum Lucidum (Clear Layer) | Stratum Granualosum (granular Layer) | Stratum Germinatium (Layer of malpighi) | Papillary layer | Reticular layer | Hypodermis (subcutaneous layer) |
| तृतीय शारीर शास्त्र चर्चा परिषद में निश्चित | | अवभासिनी उदकधरा Stratum Corneum | लोहिता असृकधरा Stratum Lucidum | श्वेता Stratum granulosam | ताम्रा Malpighian Layer | वेदिनी Stratum papillae | रोहिणी Stratum Reticular | मांसधरा Superficial & deep fascia.. |
| किये हुए नाम | | ←——— Epidermis | | (बहिःत्वक्) → | | ←———DERMIS अन्तस्त्वक् | — | — |

श्यामरक्त वर्ण युक्त मण्डल को व्यंग कहते हैं।

(सु. नि. १३-४०)

न्यच्छ और व्यंग वास्तव में एक विकृति के दो नाम हैं। धमनिकाओं, सिराओं और केशिकाओं का एक छोटा सा गुच्छा त्वचा में बनने से यह विकार उत्पन्न होते हैं। अंग्रेजी में इनको कैपीलरी एंजियोमाटा कहते हैं।

(३) श्वेता स्तर—तीसरा श्वेता नामक स्तर है। परिमाण व्रीहि के बारहवें भाग के प्रमाण की होती है : यह त्वचा स्तर चर्मदल, अजगल्ली और मसक का अधिष्ठान है।

प्रायः देखा जाता है कि किसी वस्तु की खरोंच लग जाने से उतरने वाली त्वचा के नीचे कुछ क्षण तक श्वेत भाग दिखाई देता है। इसी को श्वेता समझा जाता है।

चर्मदल—जिससे हाथ और पैर के तलुवे में खाज, पीड़ा, जलन और चोष हो उसको चर्मदल कहते हैं।

—सु. नि. ५-१०

अजगल्ली—चिकनी, त्वचा के वर्ण की, गांठदार, पीड़ा रहित, मूंग के समान (मोटी), कफ और वात से बालकों में उत्पन्न हुई अजगल्लिका समझनी चाहिए।

—सु. नि. १३-३

मशक—जिसके शरीर पर पीड़ा रहित, स्थिर, उड़द के समान कृष्णवर्ण और उन्नत (चिह्न) दीखता है वह मशक कहलाता है। इसमें त्वचा पर मेलानिन नामक स्याही मायल रंग जम जाता है। अंग्रेजी में इसको mole कहते हैं। सम या अनुन्नत और उन्नत या उन्नत करके इसके दो भेद होते हैं। इनमें से उन्नत को 'मशक' या मसा कहते हैं।

(४) ताम्रा—त्वचा के चौथे स्तर का नाम ताम्रा है। परिमाण—व्रीहि के ८ वें भाग के प्रमाण की होती है। यह विविध प्रकार के किलास और कुष्ठों का आश्रय स्थान है।

किलास त्वग्दोष का ही एक भेद है। यह वात से, पित्त से और कफ से तीन प्रकार का है। कुष्ठ और किलास का अन्तर यह है कि किलास केवल त्वचा में स्थित और स्रावरहित होता है। किलास वायु से रूक्ष, किंचित रक्तवर्ण, खुरदरा और (त्वचा के भागों का) नाश करने वाला होता है। पित्त से कमलपत्र के सदृश और दाहयुक्त होता है। कफ से सफेद, चिकना स्थूल और कण्डूयुक्त होता है। इसी को 'श्वित्र' भी कहते हैं। व्यवहार में इसको सफेद दाग और अंग्रेजी में ल्यूकोडर्मा कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं—दोषज और व्रणज।

किलास में विकृति—मनुष्यों की त्वचा के ऊपरी पर्त में मेलानिन नामक रंग रहता है और इसी के कारण त्वचा रंगीन रहती है। इस रंग का एक कार्य धूप से शरीर की रक्षा करना है। उष्णप्रदेश के लोगों में तथा धूप में काम करने वालों की त्वचा में इसकी अधिकता होती है। और वे लोग काले हो जाते हैं। किलास में त्वचा का यह रंग जाता रहता है। जिससे रंगरहित स्थान सफेद हो जाते हैं। अक्सर यह देखा गया है कि एक ओर जिस स्थान पर यह रोग होता है उसी स्थान पर भी दूसरी ओर हुआ करता है। श्वेत दाग पर कुष्ठ की भांति न सुन्नता होती है न कृमि मिलते हैं। परन्तु त्वचा की मृदुता नष्ट होती है।

कुष्ठ—कुष्णाति इति कुष्ठम्। त्वगादि धातुओं का नाश करने के कारण कुष्ठ कहते हैं।

कुष्ठं वदन्ति तत्। कालेनोपेक्षितं यस्मात् सर्वं कुष्णाति तद् वपुः। (अष्टांग संग्रह)

इस साधारण निरुक्ति के अनुसार कुष्ठ में कोढ़ (leprosy) जैसे दारुण रोग से लेकर खुजली जैसे क्षुद्र रोग तक सब रोगों का समावेश किया जाता है। शास्त्र में कई बार कुष्ठ के लिए त्वग्दोष शब्द का प्रयोग किया गया है।

पापक्रियया पुराकृत कर्मयोगात् च त्वग्दोषा भवन्ति।
तत्र त्वग्दोषी दिवास्वप्नं व्यवायं च परिहरेत्॥

(कुष्ठ चिकित्सा)

व्यवहार में महाकुष्ठ और क्षुद्रकुष्ठ करके इसके दो भेद किये जाते हैं। महाकुष्ठों का निर्देश प्रायः केवल कुष्ठ शब्द से और क्षुद्र कुष्ठों का उनके स्वतन्त्र नाम से किया जाता है। महाकुष्ठ के एक प्रकार को अंग्रेजी में leprosy कहते हैं। क्षुद्र कुष्ठों में अनेक त्वग् रोग समाविष्ट होते हैं।

(५) वेदिनी त्वचा के पांचवे स्वर का नाम वेदिनी है। यह व्रीहि के पांचवे भाग के प्रमाण का मोट. है और कुष्ठ तथा विसर्प का आश्रय स्थान है।

विसर्प—त्वचा (त्वचाश्रित लसिका), मांस और रक्त में प्राप्त हुए (वातादि) कुपित दोष सर्व शरीर में फैलने वाला, उत्पत्ति के स्थान में (अधिक देर तक) स्थित न होने वाला, वातादि दोषों के अपने लक्षणों से युक्त, विस्तृत और कुष्ठ ऊपर को उठा हुआ शोथ शीघ्रता से उत्पन्न करते हैं। चारों ओर फैलने के कारण उसे विसर्प कहते हैं। विसर्प को एरिसिपेलास कहते हैं। त्वचा में विसर्पजनक मालाकार जीवाणु स्ट्रेप्टोकोकस एरिसिपेलासिस प्रविष्ट होने से यह रोग उत्पन्न होता है। यह जीवाणु इसका प्रधान कारण है। त्वचा में क्षत होने पर इस जीवाणु का शरीर में प्रवेश होता है। कभी-कभी क्षत अतिसूक्ष्म होने के कारण उसका हमें पता नहीं चलता, परन्तु जीवाणु अतिसूक्ष्म क्षत मे से भी शरीर में प्रवेश कर सकते हैं। व्यवहार मे दो प्रकार माने जाते हैं—१. ईडियोपैथिक २. ट्रामेटिक। त्वचा में प्रविष्ट होने पर जीवाणु वहां पलते है और रसायनियों के द्वारा प्रवेश स्थान के चारों ओर फैलते हैं। जिसमें स्थानिक शोथ, रक्तिमा, जलन इत्यादि लक्षण होते हैं। कुछ जीवाणु तथा उनका विष रक्त में प्रविष्ट होकर ज्वरादि सार्वदैहिक लक्षण उत्पन्न करता है।

कुष्ठ-- leprosy (कोढ़)

(६) रोहिणी— इस छठे स्तर को रोहिणी कहते हैं। यह व्रीहि के प्रमाण का स्थूल बताया गया है। ग्रन्थि, अपची, अर्बुद, श्लीपद गलगण्ड इनका आश्रय स्थान है।

ग्रन्थि प्रदुष्ट हुए वातादि दोष और मास रक्त तथा कफ संयुक्त मेद को दूषित करके गोलाकार, ऊंचा, गांठ के समान (मर्यादित) शोथ करते हैं। इसलिए (यह रोग) ग्रन्थि कहलाता है। उपरोक्त वर्णन से यह एक छोटी गोल, परिमित आकार की द्रव-गर्भ गांठ होती है। इसके चारों ओर कोश (capsule) भी होता है। क्योंकि चरक संहिता में उस पर शस्त्र से चीरा लगाकर कोश के साथ उसको निकालने को कहा है। इससे ग्रन्थि को cyst कहा जा सकता है।

अपची—इसको क्रोनिक ट्यूबरकुलस लिम्फेडेमेनाइटिस स्क्रोफुला कहते है। इस रोग का प्रधान कारण राजयक्ष्मा का जीवाणु है। अपची में शरीर की लसिका ग्रन्थियां विकृत हो जाती हैं। यह ग्रन्थियां धीरे-धीरे बढ़ती हैं। इनमें मवाद पड़ जाता है। फिर फूट जाती हैं, नई-नई विकृत होती हैं और इस तरह इनका अनुबन्ध सालों साल रहता है।

अर्बुद -- इसको ट्यूमर या नियोप्लाज्म कहते हैं।

श्लीपद फाइलेरिया या एलीफेन्टाइटिस।

गलगंड गलगंड मे थायरोइड-ग्रंथि की स्थाई अतिवृद्धि होती है। यह ग्रन्थि ग्रीवा मे टेंटुवे के सामने तथा दोनों ओर होती है।

इस त्वचा मे कुछ ग्रंथियां कुछ अर्बुद तथा श्लीपद के रोग त्वचा में होते हैं इसमे सन्देह नहीं। लेकिन 'अपची' रोग त्वचा के नीचे स्थित स्तर में होने वाली लसिका ग्रन्थियों का रोग है। 'गलगण्ड' मे वृद्धि होने वाली थायरोयड नामक ग्रन्थि ग्रीवा मध्य मे तथा त्वचा से बहुत दूर होती है। त्वचा और इस ग्रन्थि के दरमियान पेशियां (मास) आती है। अब तक प्रथम छः त्वचाओं में जिन रोगों का उल्लेख किया गया है, वे सब रोग अपची और गलगण्ड को छोड़कर, त्वचा में ही उत्पन्न होते हैं, यह बात आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक के अनुसार भी सिद्ध है।

(७) मांसधरा–सातवां अन्तिम त्वचा का स्तर जो मांसपेशियों मे संलग्न होता है। मांसधरा नाम से कहा जाता है।

परिमाण--२ व्रीहि के बराबर मोटा होता है। इस त्वचा स्तर मे तनु स्थानों मे भगन्दर, विद्रधि एवं अर्श प्रभृति रोग होते है।

भगन्दर -

गुद-विद्रधि --

(१) दोषो के कारण नासादि विविध अंगों की त्वचा मे उत्पन्न हुए मासांकुर–यह अर्श का साधारण अर्थ है।

(२ जब ये मांसांकुर गुदा मे उत्पन्न होते हैं, तब हेमोराइड्स या पाइल्स कहते हैं।

**परिमाण**

त्वचा के प्रकार स्पष्ट करने के बाद सुश्रुताचार्य

कहते हैं कि यह जो परिमाण बताया गया है वह मांसल स्थानों का है। ललाट, अंगुली तथा सूक्ष्म आदि स्थानों का नहीं। इसलिए उदररोग चिकित्सा में कहते हैं कि व्रीहि मुख शस्त्र द्वारा अंगुष्ठ की चौड़ाई के बराबर वेधन करें।

उपरोक्त परिमाण बताते समय 'मांसलेषु अवकाशेषु' ऐसा शब्द प्रयोग किया गया है। इसके दो अर्थ हो सकते हैं। १) जहां त्वचा अधिक मांसल यानि स्थूल है, ऐसे अवकाशों यानि स्थानों में यह साधारण अर्थ है। (२) मांसधरा त्वचा से आवृत्त अवकाशों याने रिक्त स्थानों से, जैसे कोष्ठ या उदरगुहा। यह दूसरा अर्थ यहां अभिप्रेत है। क्योंकि इसी का उदाहरण आगे दिया गया है। 'यतो वक्ष्यति उदरेषु' सु चिकित्सा स्थान १४ वें अध्याय के अन्त में उदरगुहागत जल निकालने के शस्त्रकर्म में 'अंगुष्ठोदर प्रमाण अवगाहम्' त्वचा की मोटाई की जो उच्चतम मर्यादा निर्दिष्ट की गई है। इसको सिद्ध करने के लिए यह उदाहरण दिया गया है। जल निकालने के लिए जहां वेध किया जाता है वह स्थान नाभि के नीचे बाई ओर चार अंगुल पर होता है। इस स्थान का जल तक छेद लिया जाय तो बाहर की ओर निम्न भाग मुख्यतया मिलते हैं। त्वचा और उदर प्राचीर की पेशियां। त्वचा में उपत्वचा का और पेशियों में उदरकला का समावेश कर सकते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि सुश्रुत में उदरगुहा का आगे का आवरण केवल त्वचा से निर्मित माना जाता है। अंगुष्ठोदर प्रमाणं इति, एतेन एतद् उक्तं भवति सप्तानां समुदायेन अंगुष्ठोदर प्रमाणं अस्ति। अंगुष्ठोदरं विंशतितम भागो न,षड् यव प्रमाणम्। (डल्हण टीका सु शा. ४-३) इसका प्रत्यय सद्योव्रण शारीर चिकित्सा में मिलता है।

त्वचोऽतीत्य.सिरादीनि भित्वा वा परिहृत्य वा।
कोष्ठे प्रतिष्ठितं शल्यं कुर्याद् उक्तानि उपद्रवान् ॥

यहां पर केवल त्वचा (त्वचः सप्त। डल्हण) पार करने से शल्य कोष्ठ (उदरगुहा) में प्रवेश करता है यह स्पष्ट लिखा है।

सुश्रुत ने त्वक् प्रकारों का परिमाण वर्णन करते समय व्रीहि प्रमाण के अनुसार मोटाई बताई है। इस बारे में व्याख्याकर डल्हणाचार्य का मन्तव्य इस प्रकार है--

व्रीहिः अत्र यवः, प्रत्येकं व्रीहिविस्तार य विंशति भागाः परिकल्पनीयाः ते च अष्टादश भागाः अवभासिन्याः प्रमाणम्, एवं वक्ष्यमाणेषु अपि विंशति भागेषु षोडश प्रभृतयो भागा बोद्धव्याः।

—सु.शा. ४/४ डल्हण टीका

डल्हणाचार्य के मतानुसार सातों त्वचाओं की कुल मोटाई (जोकि मांसल-उदरादि स्थानों में स्थित है जिसका स्पष्टीकरण पहले किया जा चुका है।) $5\frac{18}{20}$ इतनी होती है। इस प्रकार डल्हण मतानुसार त्वचा की मोटाई वास्तविक मोटाई से बहुत अधिक होती है। इसलिए 'व्रीहेः अष्टादश भाग प्रमाणा' इसका अर्थ डल्हण मतानुसार (उदरादि मांसल स्थानो के परिप्रेक्ष्य में) १८/२० व ऐसा न करके १/१८ यव (वास्तविक मोटाई के परिप्रेक्ष्य में) ऐसा किया गया है। इसका अरुणदत्त ने भी समर्थन किया है। इसमें सातों की मोटाई साढ़े तीन यव (३-२०/३८) के लगभग होती है। यह मोटाई सब जगह एकसी नहीं होती। यहां पर निर्दिष्ट किया हुआ प्रमाण उच्चतम मर्यादा का है।

त्वचा के परिप्रेक्ष्य में दोषों के कर्म —

(१) वातदोष - (१) प्राणकर्म इन्द्रिय धारणम् श्रोत्रादीनां पंचज्ञानेन्द्रियाणां धारणानाम् शब्दादि विषय ग्रहणे प्रेरणं, तत् कर्माणि वचनादानम् इन्द्रिय गृहीत अर्थानां च वहनम् इति यतन् इंद्रियधारणं प्राणः करोति।

सर्व शरीर व्यापनीत्वक स्पर्शनेन्द्रिय अधिष्ठानम्। त्वक् स्थित स्पर्शनेन्द्रिय वृष्टि आदि के स्पर्शादि स्पर्श विशेषों का ग्रहण करती है।

(१) उदान कर्म — वर्णः
वर्णस्तु त्वक् गतो रूपविशेषः।
उदानः वर्णकरः इति उक्तम्।
वर्णस्तु सर्वशरीरवर्ती।

(२) व्यान वायुकर्म —
स्वेद असृक् स्रावणम् (सु. नि. १/१७-१८)
यत् च (उदकम्) उष्मणा अनुबद्धं,
लोमकूपेभ्यः निष्पतत् स्वेदाख्यम् अवाप्नोति।
—च. शा. ७-१७

स्वेद: केशत्वक् सौकुमार्य कृत् (सु. सू. १५।५)

(२) पित्तदोष—भ्राजक पित्त—

त्वक्स्थिकान्तिकर ज्ञेयं……भ्राजमकम् (शा र्ङ्गधर)

………… भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा।

सोऽभ्यंगपरिषेक अवगाहालेपनादीनां क्रिया।

द्रव्याणां पक्ता, छायानां च प्रकाशकः॥

(सु. सू. २१।१०)

…भ्राजनात् त्वचः। (अ. हृ. सू. १२-१४

…मात्रामात्रत्वं उष्मणः प्रकृतिविकृतिवर्णौ।

(च. सू. १२।१२)

उष्मणो मात्रामात्रत्व वर्णभेदो च त्वग्गतस्य भ्राजकस्य॥ — चक्रपाणि

भ्राजक शब्द का अर्थ 'वर्ण प्रकाशन', कान्तिजनन ऐसा होता है। भ्राजक पित्त सर्व शरीर को आच्छादित करने वाली त्वचा के आश्रय से रहता है। यहां त्वचा से अवभासिनी नामक बाह्य त्वक् समझना चाहिए। यह पित्त विशेषतः उष्णगुणात्मक होता है। त्वचा के उष्ण स्पर्श से यह प्रतीत होता है। (शार्ङ्गधर आढमल्ल टीका) (एतत् पित्त विशेषतः उष्णगुणान्वितम् अस्ति। त्वचि उष्णस्पर्शेन तस्य प्रतीयमानत्वात्।)। सु. सू १४-४ में भ्राजकपित्त को 'उष्मकृत पित्त' नाम से कहा गया है।

कर्म —

(१) छाया एवं प्रभाओं को प्रकाशित करता है।

(२) अभ्यंग, परिषेक स्वेद, अवगाहस्वेद आलेप आदि क्रिया से त्वचा के अन्दर प्रविष्ट होने वाले द्रव्यों का पाचन करना जिस प्रकार से अन्न का पाचन पाचक पित्त द्वारा होता है। इसी प्रकार भ्राजक पित्त से त्वचा में स्थित अभ्यंगादि द्रव्यों का पाचन होता है। अभ्यंग लेपादि का कर्म उसके भ्राजक पित्त द्वारा सम्यग् पाचन होने के बाद ही दिखाई देता है। अतएव लेपादि कर्मकर नहीं होवे।

(३) उष्णता का नियमन करना।

(४) स्वेद उत्पन्न करना।

(५) मेदोग्रन्थि के मेदस (तैलीय) स्राव उत्पन्न करके त्वचा को मृदु, अक्षत और चमकीली करना।

कफ—तर्पक (प्रतिश्लेष्मा… शा. प्र. शा ङ्गधर)

स्नेहन: स्नेहदानेन समस्त इन्द्रियतर्पणः।

—भा. प्र. पूर्व. गर्भ प्रकरण ३-१३२

तर्पणं तर्पक श्लेष्मणः कर्म। चक्षुरादि इन्द्रियाणां स्नेहसंतर्पणं इति शब्देन लक्षितम्। स्नेहदान इति स्नेहन कफस्य, कर्म भावप्रकाशे वर्णितम्। स्नेहनः इति तर्पक कफस्य इव संज्ञा। स्नेहदानम् एव तर्पण शब्देन वर्णितं वाग्भट्टे। तर्पक श्लेष्मा स्ववीर्येण इन्द्रियाणाम् अनुग्रहं करोति इति तस्य तर्पणं कर्म।

त्वचा के परिप्रेक्ष्य में मल—

(१) स्वेद तथा स्वेदग्रन्थियां

मलः स्वेदस्तु मेदसः —च. चि. १५-१८

स्वेदवहानां स्रोतसां मेदो मूलं लोमकूपाश्च।

(च. वि. ५।७)

स्वेद मेदोधातु का मल है। स्वेदवह स्रोतों का एक मूल अर्थात् उत्पत्ति स्थान मेद है; इनका दूसरा अन्तः लोमकूप अर्थात् तद् उपलक्षित त्वचा का स्पर्श प्रदेश है।

त्वचा की परीक्षा करने से पता चलता है कि उसमें रोमकूपों के अतिरिक्त भी अगणित सूक्ष्म छिद्र होते हैं। ये छिद्र स्वेदवह स्रोतों के मुख हैं। अन्तस्त्वक् में स्वेद का निर्माण करनेवाली ग्रन्थियां (स्वेदग्रन्थियां) होती हैं। इनके चारों ओर केशिकाओं का निबिड़ जाल होता है। स्वेद ग्रन्थियां केशिकागत रस रक्त से जल तथा कुछ मलमय घन द्रव्यों का सर्वदा निर्हरण किया करती हैं। यही जल तथा उसमें विलीन द्रव्य स्वेद कहलाते हैं।

स्वेदन कर्म—

स्वेदः क्लेदत्वक् सौकुमार्यकृत्। —सु. सू. १५।५

स्वेद का कर्म त्वचा को क्लिन्न, मृदु और सुकुमार बनाये रखना है।

स्नेह ग्रन्थि (Sebaceous Glands)—ये छोटी-छोटी ग्रन्थियां हैं, जो प्रत्येक लोम वा केश के चारों ओर अनेक होती हैं। इनका स्नेहमय स्राव लोमकूपों के ऊर्ध्व भाग में स्रुत होता है और वहां से त्वचा पर आता है। यह लोमों और केशों तथा त्वचा को स्निग्ध रखता है। त्वचा का स्नेह आयुर्वेद मत से मज्जागत मल माना है।

स्नेहोऽक्षित्वक् विषाम् ओजो धातूनां क्रमशो मला।

—सु. सू. ४६।५२

रोम और केश—यह अस्थिधातु के मल हैं। इनका अधिष्ठान त्वचा है।

# आयुर्वेदोक्त शैशवीय त्वक् विकार

डा० देवेन्द्रनाथ मिश्र
विभागाध्यक्ष– प्रसूति तंत्र, स्त्री एवं बाल रोग विशेषज्ञ
श्री लालबहादुर शास्त्री राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय
हंडिया (इलाहाबाद) उ. प्र.।

---
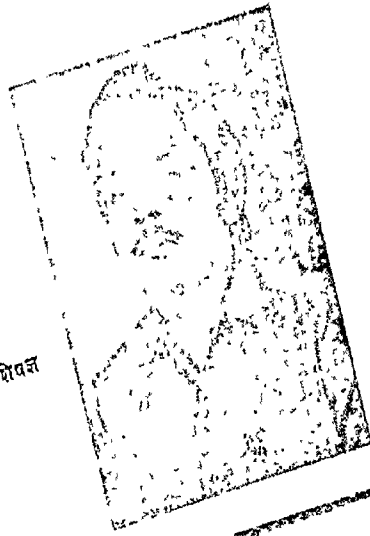
* आयुर्वेद के जाने-माने विद्वान वैद्य * आयुर्वेदीय बाल रोग विशेषज्ञ
* आयुर्वेदीय लेखक
* अनुसन्धानकर्ता
* ग्रन्थ लेखन एवं प्रकाशन
* अनेकों आयुर्वेदिक उपाधियों से अलंकृत
* 'धन्वन्तरि' के जाने-माने मान्य लेखक
* विद्वान प्राध्यापक। — वैद्य अशोक भाई तलाविया भारद्वाज।

त्वक् विकारों में त्वचा में होने वाली सभी व्याधियों तथा त्वचा के समीपस्थ श्लैष्मिक कला में होने वाली सभी व्याधियों का समावेश किया जाता है। आयुर्वेद में कौमारभृत्य विषयक साहित्य अल्पतम रूप में उपलब्ध है। परन्तु उसके विषय वस्तु संहिता ग्रन्थों में फैले हुए हैं। आवश्यकता इस बात की है कि उन्हें संकलित कर एक स्थान पर प्रस्तुत किया जाय। इसमें आयुर्वेद के जिज्ञासुओं के साथ-साथ छात्रों को भी लाभ होगा। इस तरह का एक प्रयास मैंने कौमारभृत्य (कौमारभृत्य द्वारा डा० देवेन्द्रनाथ मिश्र प्रकाशक वाराणसी संस्कृत संस्थान, सी. २७/६४ जगतगंज, वाराणसी–२२१००२) नामक अपनी पुस्तक में भी किया है।

चिकित्सा विभाग की परम्परानुसार जन्मकाल से होने वाली सभी व्याधियों का संकलन भी कौमारभृत्य में ही होता है। अतः सामान्य रूपेण प्रचलित शैशवीय त्वक् रोगों के अतिरिक्त निम्नलिखित व्याधियां भी इस शीर्षक में आती हैं—

प्रथम वर्ग–क्षुद्र रोग— जतुमणि, मषक, तिलकालक, न्यच्छ लाञ्छन, अजगल्लिका, अहिपुतना।

द्वितीय वर्ग–बाल ग्रह—शकुनी ग्रह।

तृतीय वर्ग–बाल रोग—चर्मदल, विसर्प, परिदग्ध छवि, पद्माग्निज, वृषण कच्छू, अरिकोलक, महापद्म।

**जतुमणि, मषक एवं तिलकालक—**

समभुत्पन्नमरुजं मण्डलं कफरक्तजम्।
सहजं ल ग चैकपां लक्ष्यो जतुमणिस्तु सः॥
—मा. नि. ५५/३७

सपाट या उन्नत, पीड़ा रहित कफ रक्तज मण्डल को जतुमणि कहते हैं। कुछ आचार्यों के मत से यह सहज जन्मजात होता है। सुश्रुत ने इसे सहज माना है। (सु. नि. १३/४०)। अष्टांग हृदयकार ने इसे तिलकालक के समान कहा है—

तथा विधो जतुःमणिः सहजो लोहितस्तु सः॥
— उ. ३१/२७

अर्थात् तिलकालक या मस्से के समान, जन्म से उत्पन्न लाल रंग का जतुमणि है। श्लोक सं० २५ व २६ में वाग्भट्ट ने तिल कालक तथा मषक के लक्षण दिये हैं— ... ... ... तिलाभांस्तिलकालकान्।

कृष्णा न वेदनां त्वक्स्थान मषस्तानेव चोन्नता।
भोस्यरनुन्नतरोञ्मम कीलान मिलामितान्।
२५-२६

तिल के समान, काले रंग के बिना वेदना के सदा त्वचा में स्थित तिल कालक होते हैं। यही जब ऊपर उठे हों तो मषक (मस्से) कहे जाते हैं। मषकों से भी कुछ अधिक ऊंचे काले रंग या सफेद वर्ण का चर्मकील होता है।

उपरोक्त विवरण में जतुमणि, तिल कालक, मषक तथा चर्मकील को एक व्याधि का विभिन्न स्वरूप माना है।

(१) जन्म से तिल के समान (आकार) लाल वर्ण का सपाट या उन्नत जतुमणि है।

(२) तिलवत्, कृष्ण वर्ण एवं सपाट तिलकालक है।

(३) तिलवत्, कृष्ण वर्ण एवं उन्नत मषक है।

(४) तिलवत् कृष्ण/श्वेत वर्ण एवं अति उन्नत चर्मकील होता है।

परन्तु सुश्रुत एवं माधव निदान में देखने पर दोषों की अवस्था से भेद दिखाई देता है--

| क्षुद्र रोग | दोष | दूष्य |
|---|---|---|
| जतुमणि | कफ | रक्त |
| मषक | वात (सु.) | मेद |
| | वातकफ (भोज) | |
| तिल कालक | त्रिदोष | रक्त |

उपरोक्त समस्त विवरण को एक नजर में इस प्रकार कह सकते हैं। जन्मकाल से होने वाला जतुमणि कफ दोष व रक्त दूष्य से होता है। यदि सपाट है तो तिल कालक के दोष भी युक्त हो जाते हैं तथा उन्नत होने पर मषक के। अतः शैशवीय त्वक् विकारों में जतुमणि के साथ साथ मषक एवं तिल कालक भी रखना चाहिए।

**न्यच्छ एवं लाञ्छन—**

मण्डलं महदल्पं वा श्यामं वायदि वा सितम्।
सहजं नीरुजं गात्रे न्यच्छमित्यभिधीयते ॥
—सु. नि. १३/४३

शरीर के किसी भाग पर बडा या छोटा, श्याम या श्वेत एवं रुजा रहित एवं सहज जो चिन्ह होता है उसे न्यच्छ कहते हैं। यही लक्षण अष्टांग हृदयकार ने भी कहे हैं। परन्तु माधव ने ऐसा नही कहा है। वे इसे सहज नही मानते हैं। वाग्भट्ट ने इसे ही लांछन कहा है।

**अजगल्लिका—**

स्निग्धा सवर्णा ग्रथिता नीरुजा ग्रन्थिसन्निभा।
कफ वातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगल्लिका ॥
—सु. नि. १३/४

स्निग्ध, त्वचा के समान वर्ण वाली, गांठयुक्त वेदना रहित, मूंग के प्रमाण की कफ एवं वात से उत्पन्न होने वाली बालकों की पिडिका को कहते है। बालकों में होने वाली इस व्याधि का वर्णन वाग्भट्ट एव माधव ने भी लगभग इसी प्रकार किया है।

**अहिपूतना—**

पर्याय—मातृका दोष पृष्ठारु, गुदकुट्ट एवं अन्तपक

संदर्भ—(सु. नि. १३/५६-६०), अ. स. उ. २/७६
एवं अ. हृ. उ. /६६-७०

कारण—मल मूत्र से लिप्त बालक की गुदा की ठी से सफाई न करना, अति स्वेद, स्नान न कराना।

दोष—रक्त एवं कफजन्य व्रण का होना

लक्षण—गुद कण्डू, कण्डू से स्फोट एवं स्राव का होना तथा धीरे-धीरे कई स्फोट एक से मिलकर भयानक ताम्र वर्ण का व्रण हो जाता है। वय शैशवकाल।

मत वैभिन्न्य—सुश्रुत एवं माधव ने इसकी गणना क्षुद्र रोगों में की है। जबकि वाग्भट्ट ने इसे बालोपचरणीय अध्याय मे बालकों के सम्बन्ध मे कहा है।

आजकल भी Napkin rash नाम से इस प्रकार के लक्षण की व्याधि मिलती है। जो अम्लीय मल के कारण होती है।

**शकुनी ग्रह—**

बाल ग्रहों में वर्णित व्याधियों में दोष-दूष्य परिकल्पना का स्पष्ट उल्लेख नहीं है तथा स्पष्ट निदान एवं चिकित्सा भी वर्णित नहीं है। लक्षण ही इसका स्वरूप बताते हैं।

स्रस्ताङ्गो भय चकितो विहङ्गगन्धिः
संस्रा विव्रण परिपीडितः समन्तात्।
स्फोटैश्च प्रचिततनुः सदाहपाकै-
र्विज्ञेयो भवति शिशुः क्षतः शकुन्या ॥
· सु. उ. २७/१०

स्रस्ताङ्गत्वमतीसारो जिह्वा तालु गले व्रणाः।
स्फोटाः सदाहरुक्पाकाः सन्धिषु स्युः पुनः पुनः ॥
निश्यह्नि प्रविलीयन्ते पाको वक्त्रे गुदेऽपि वा।
भयं शकुनीगन्धत्वं ज्वरश्च शकुनि ग्रहे ॥
—अ. हृ. उ. ३/१८

अङ्गों का ढीला होना, अतिसार, जिह्वा, तालु एवं

गने में व्रण, स्फोट, दाह, वेदना एवं पाक होते हैं। रात को सन्धियों में छाले पड़ते हैं, जो दिन में छिप जाते हैं।

विसर्पस्तु शिशो प्राणनाशनो वस्तिशीर्षजः।
पद्मवर्णो महापद्मनामा दोषत्रयोद्भवः॥
शङ्खाभ्यां हृदयं याति हृदयाद्वा गुदं व्रजेत्॥

वस्ति एवं सिर प्रदेश में होने वाला बालकों का विसर्प प्राणनाशक होता है। लाल कमल के वर्ण के होने के कारण इस त्रिदोषज विकार को महापद्म भी कहते हैं। यह शङ्ख प्रदेश से हृदय प्रदेश में अथवा हृदय प्रदेश से गुदा तक जाता है। जहाँ वाग्भट्ट एवं माधव ने इसे असाध्य माना है वहीं काश्यप इसे दुग्ध दोषजन्य मानते हैं। उपचार विधि का विस्तृत उल्लेख करते हैं।

भगवन् मण्डली भूतं त्वग्रक्तं मांस मेव च।
विदहा दृश्यते व्याधिराशीविष वर्णोपमः॥
दुःसहः सुकुमाराणां कुमाराणां विशेषतः।

— का. खि १४/४

भगवन्! सर्प विष के समान यह व्याधि मण्डली भूत त्वचा, रक्त एवं मांस को जलाती हुई सी दिखाई देती है। यह विशेषकर सुकुमार बालकों में होती है।

यहाँ पर मैंने चर्मदल एवं विसर्प का मात्र संकेत दिया है। विस्तृत विवरण काश्यप संहिता में खिल स्थान अध्याय १४ व १५ में देखिये। मुख या गुदा में पाक, भय, शकुनी पक्षी के समान गन्ध एवं ज्वर ये ग्रह के लक्षण हैं।

इन दोनों ही आचार्यों के मत से स्पष्ट हो जाता है कि यह व्याधि त्वचा या त्वचा एवं श्लैष्मिककला में होती है। ज्वर, अतिसार संक्रमण की दिशा में संकेत करते हैं। अतः इसे Pemphigus or Dermatitis or Eruptive Fever माना जा सकता है।

**चर्मदल—**

१८ प्रकार के कुष्ठों में इसका वर्णन सभी आचार्यों ने किया है। परन्तु आचार्य कश्यप ने इसे २ वर्ष तक की अवस्था तक को ही व्याधि माना है।

··· ··· क्षीरपाणां कुमाराणां स्तन्यदोषेण, क्षीरान्नादानां स्तन्यदोषेणाहारदोषेण च, ··· ··· ।

यह रोग क्षीरप बालकों को स्तन्य के दोष से और क्षीरान्नाद बालक को दुग्ध तथा आहार दोष से होती है।

**विसर्प एवं महापद्म रोग —**

सामान्यतः विसर्प का वर्णन सामान्य त्वक विकारों में आता है। परन्तु महापद्म के नाम से इसका वर्णन जब वाग्भट्ट एवं माधव ने किया है तो इसे भी प्रकार का माना है।

**परिदग्ध छवि—**

इस व्याधि के ग्रन्थों में होने का मात्र नामोल्लेख मिलता है। परिदग्ध शब्द में परि उपसर्ग है, दग्ध का अर्थ है जला हुआ। अर्थात् भलीभांति जला हुआ। छवि का प्रयोग प्रायः त्वक स्वरूपार्थ होता है। इस प्रकार इस पूर्ण शब्द का अर्थ हुआ "त्वचा पर पूर्णरूपेण दग्ध का निशान'। ऐसा प्रायः बच्चों में विभिन्न शरीर स्थलों पर पाये जाने वाले चिन्हों से समझा जा सकता है।

**पद्मगुद —**

दुष्टमन्नादिभिर्मातुः स्तन्यं संपिबतः शिशोः।
यदा प्रकुपितं पित्तं गुदं समाभिधावति॥
तदा संजायते तत्र जलौकोदर संनिभ।
व्रणः सदाहो ज्वरकोपः तदाऽस्य स्याज्ज्वरातुरः॥
हरितं पीतकं चाऽपि वर्च्चस्तेन भवेद् द्रवम्।
व्रणः पद्मगुदो नाम व्याधिः परमदारुणः॥

माता जब सदोष एवं विकृत अन्न का भोजन करके बालक को स्तन्य पिलाती है, तब पित्त कुपित होकर शिशु के गुद प्रदेश में व्याप्त हो जाता है। यहाँ जोंक के आकार का व्रण दाह एवं ज्वर को उत्पन्न कर देता है। जिसमें हरा, पीला वर्ण का दस्त होता है। इस गुदा व्रण को पद्मगुद कहते हैं। इस रोग की चिकित्सा में पैत्तिक अर्श तथा व्रण की जैसी चिकित्सा करना उचित है। यह व्याधि भी देखने से अहिपूतना जैसी ही लगती है। इसका वर्णन भैषज्य रत्नावली बाल रोगाधिकार में उपलब्ध है।

**वृषण कच्छू —**

स्नानोत्सादनहीनस्य मलो वृषण संश्रितः।
प्रक्लिद्यते यदा स्वेदात् स कण्डूं जनयेत्तदा॥
तत्र कण्डूयनात् क्षिप्रं स्फोटाः स्रावश्च जायते।
प्राहुर्वृषणकच्छूं तां श्लेष्मरक्त प्रकोपजाम्॥

—मु नि १/६१-६२
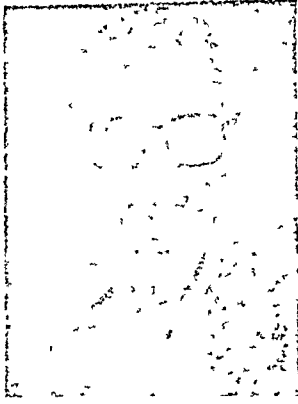
# अष्टादश कुष्ठस्य लक्षणानि

लेखक एवं संकलककर्त्ता वैद्य किरीट भाई बी० पण्डया (विशेष सम्पादक)
सुश्रुतक्लिनिक 'ई' ब्लाक, कैपीटल कार्मशियल सेण्टर,
आश्रम रोड, एलिस अहमदाबाद-६, गुजरात।

---

चरक मतानुसार अष्टादश कुष्ठस्य लक्षणानि
'[च. चि. अ. ७/१३ से २४]

सप्त महाकुष्ठानि—

कपाल—कृष्णारुणकपालाभं यद्रूक्ष परुषं तनु ।
कपालं तोद बहुल तत्कुष्ठं विषमं स्मृतम् ॥१३॥

उदुम्बर—दाहकण्डूरुजाराग परीतं लोमपिञ्जरम् ।
उदुम्बरफलाभासं कुष्ठमौदुम्बरं विदुः ॥१४।

मण्डल— श्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमण्डलम् ।
कृच्छ्रमन्योन्यसंसक्तं कुष्ठं मण्डलमुच्यते ॥१५॥

ऋष्यजिह्व - कर्कशं रक्तपर्यन्तंमन्तश्यावं सवेदनम् ।
यदृष्यजिह्वासंस्थानमृष्यजिह्व तदुच्यते ॥१६॥

पुण्डरीक—सश्वेतं रक्तपर्यन्तं पुण्डरीककदलोपमम् ।
सोत्सेधं च सरागं च पुण्डरीक तदुच्यते ॥१७॥

सिध्म—श्वेतम् ताम्रं तनु च यद्रजो घृष्ठं विमुञ्चति ।
अलाबुपुष्पवर्णं तत्सिध्मं प्रायेण चोरसि ॥१८॥

काकणक —यत्काकणन्तिकावर्णमपाकं तीव्रवेदनम् ।
त्रिदोषलिंगं तत्कुष्ठं काकणं नैव सिध्यति ॥१९॥

एकादश क्षुद्रकुष्ठानि—

एककुष्ठ-अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्स्यशकलोपमम् ।
चर्माख्यं-चर्माख्यं वहलं हस्तिचर्मवत् ॥२०॥
किटिभ-श्यावं किणखरस्पर्शं परुषं किटिभं स्मृतम् ।
वैपादिक-वैपादिकं पाणिपादस्फुटनं तीव्रवेदनम् ॥ २१॥
अलसक-कण्डूमद्भिः सरागैश्च गण्डैरलसकं चितम् ।
दद्रु-सकण्डूरागपिडकं दद्रुमण्डलमुद्गतम् ॥२२॥
चर्मदल-रक्तं शूलं कण्डूमत् सस्फोटं यद् दलत्यपि ।
तच्चर्मदलमाख्यातम् संस्पर्शासहमुच्यते ॥२३॥
पामा-पामाश्वेतारुणश्यावाः कण्डूला पिडका भृशम् ।
विस्फोटक-स्फोटा श्यावारुणा भासा विस्फोटाः
स्युस्तनुत्वचः ।।२४॥
शतारु-रक्तं श्यावं सदाहार्ति शतारुः स्याद्बहुव्रणम् ।
विचर्चिका-सकण्डू पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका ॥२५॥ [च. नि. अ. ५]

कपाल-रूक्षारुणपरुषाणि विषम विसृतानि तनून्युद्वृत्तबहिस्तनूनि सुप्तसुप्तानि खरपर्यन्तानि हर्षितलोमाचितानि निस्तोदबहुलान्यल्पकण्डूदाहपूयलसीकान्याशुगति समुत्थानान्याशुभेदीनि जन्तुमन्तिकृष्णारुण कपाल वर्णानि कापाल कुष्ठानीति विद्यात् ॥१०।

उदुम्बर-ताम्राणि ताम्रखररोमराजीभिरवनद्धानि बहलानि बहु बहुलरक्तपूयलसीकानि कण्डूक्लेदकोथदाहपाकवन्त्याशुगतिसमुत्थानभेदीनि सस्यन्तापकृमिणि पक्वोदुम्बरफल वर्णान्युदुम्बरकुष्ठानीतिविद्यात् ।

मण्डल-स्निग्धानि गुरुण्युत्सेधवन्ति श्लक्ष्णस्थिरपीतपर्यन्तानि शुक्लरक्तावभासानि शुक्लरोमराजी सन्तन्तानि बहुबहलशुक्लपिच्छिल स्रावीणि बहुक्लेदकण्डूकृमीणि सक्तगतिसमुत्थान भेदीनि परिमण्डलानि मण्डलकुष्ठानीति विद्यात् ॥१२॥

ऋष्यजिह्व-परुषाण्यरुणवर्णानि बहिरन्तः श्यावानि नीलपीत ताम्रावभासान्याशुगति समुत्थानान्यल्पकण्डूक्लेदकृमीणि दाहभेदनिस्तोदपाकबहुलानि शूकोपहतोवेदनान्युत्सन्न मध्यानि तनुपर्यन्तानि कर्कशपिडका चितानि दीर्घपरिमण्डलानि ऋष्यजिह्वाकृतीनि ऋष्यजिह्वानीति विद्यात् ॥१३॥

चर्मकुष्ठ–हस्तिचर्मखरस्पर्श चर्म ।
एककुष्ठ–एकाख्य महाश्रयम् । अस्वेदनम् मत्स्यशकल-संनिभम् ।
किटिभ–किटिभं पुनः ।२०।
रूक्षं किणखरस्पर्शं कण्डूमत्परुषासितम् ।
सिध्म–सिध्म रूक्षं बहिः स्निग्धमंतर्घृष्टं रजः किरेत् ।
श्लक्ष्णस्पर्शं तनु श्वेत ताम्रं दौग्धिकपुष्पवत् ।२१।
प्रायेण चोर्ध्वकाये स्यात् ।
अलसक–गण्डैः कण्डूयुतैश्चितम् ।२२। रक्तै रलसकम्
विपादिका–पाणिपादिदार्यो विपादिकाः ।
तीव्रार्त्यो मंदकण्ड्वश्च सराग-पिटिकाचिताः ।२३।
दद्रु–दीर्घ प्रताना दूर्वावदतसीकुसुमच्छविः ।
उत्सन्नमण्डला दद्रुः कण्डूमत्यनुषङ्गिणी ।२४।
शतारु–स्थूलमूलं सदाहार्ति रक्तस्रावं बहुव्रणम् ।
शतारुः क्लेदजन्त्वाढ्यं प्रायशः पर्वजन्म च ।२५।
पुण्डरीक–रक्तांतमंतरा पाण्डु कण्डूदाहरुजान्वितम् ।
सोत्सेधमाचितम् रक्तैः पद्मपत्रमिवाणुभिः ॥
घनभूरिलसीकासृक्पा‍ऽमाशु विभेदि च । पुंडरीकम्
विस्फोट–तनुत्वग्भिश्चितम् स्फोटैः सितारुणैः ।२७। विस्फोटम्
पामा–पिटिकाः पामा कण्डूक्लेदरुजाधिकाः ।
सूक्ष्माः श्यावारुणा बह्व्यः प्रायः स्फिक्पाणिकूर्परे ॥
चर्मदल–सस्फोटमस्पर्शसहं कण्डूपातोददाहवत् ।
रक्तं दलं चर्मदलम्
काकणक–काकणं तीव्रदाहरुक् ।२९।
पूर्वं रक्तं च कृष्णं च काकणंती फलोपमम् ।
कुष्ठलिंगैर्युतं सर्वैर्नैकवर्णं ततो भवेत् ।३०।

### माधव निदान मतानुसार अष्टादश कुष्ठस्य लक्षणानि [मा. नि. कुष्ठ निदान]

**सप्त महाकुष्ठानि—**

कपाल–कृष्णारुण कपालाभं यद्रूक्षं परुषं तनु ।१०।
कापालं तोद बहुलं तत् कुष्ठं विषमं स्मृतम् ।
औदुम्बर–रुग्दाहरांग-कण्डूभिः परीतं रोमपिञ्जरम् ।११।
उदुम्बरफलाभासं कुष्ठमौदुम्बरं वदेत् ।
मण्डल–श्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमंडलम् ।१२
कृच्छ्रमन्योन्यसंयुक्तं कुष्ठं मण्डलमुच्यते ।
ऋष्यजिह्व–कर्कशं रक्तपर्यन्तमन्तः श्यावं सवेदनम् ।१३।
यहृष्यजिह्वासंस्थानमृष्यजिह्वं तदुच्यते ।
पुंडरीक–सश्वेतम् रक्तपर्यन्तं पुंडरीकदलोपमम् ।१४।
सोत्सेध च सरागं च पुंडरीकं तदुच्यते ।
सिध्म–श्वेतं ताम्रं तनु च यद्रजो घृष्टं विमुञ्चति ।१५।
प्रायश्चोरसि तत् सिध्ममलाबुकुसुमोपमम् ।
काकणक–यत् काकणन्तिकावर्णं सपाकं तीव्रवेदनम् ।१६।
त्रिदोषलिंगं तत् कुष्ठं काकणं नैव सिध्यति ।

**एकादश क्षुद्र कुष्ठानि –**

एककुष्ठ–अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्स्यशकलोपमम् ।१७।
तदेककुष्ठं चर्माख्यं बहुलं हस्तिचर्मवत् ।
किटिभ–श्यावं किणखरस्पर्शं परुषं किटिभं स्मृतम् ।१८।
वैपादिक–वैपादिकं पाणिपादस्फुटनं तीव्रवेदनम् ।
अलसक–कण्डूमद्भिः सरागैश्च गण्डैरलसकं चितम् ।१९।
दद्रु–सकण्डू-राग-पिडकं दद्रुमण्डलमुद्गतम् ।
चर्मदल–रक्तं सशूलं कण्डूमत् सस्फोटं यद्दलत्यपि ।
तच्चर्मदलमाख्यातं संस्पर्शासहमुच्यते ॥
पामा–सूक्ष्मा बह्व्यः पिडकाः स्राववत्यः कण्डूमत्य.सदाहा ।
कच्छु–सैव स्फोटैस्तीव्रदाहैरुपेता ज्ञेया पाण्योः कच्छुरुग्रा स्फिचोश्च ।२१।
विस्फोटक–स्फोटाः श्यावारुणाभासा विस्फोटाः स्युस्तनुत्वचः ।
शतारु–रक्तं श्यावं सदाहार्ति शतारुः स्याद्बहुव्रणं ।२२।
विचर्चिका–सकण्डूः पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका ।

### भावप्रकाश मतानुसार अष्टादश कुष्ठस्य लक्षणानि

[भाव. प्र. म. खं. अ. ५४/७–३४]

**सप्त महाकुष्ठानि—**

पूर्वं त्रिकं तथा सिध्म ततः काकणकः तथा ।
पुंडरीकर्क्ष ऋक्षजिह्वे के महाकुष्ठानि सप्त च ।७।

**एकादश क्षुद्र कुष्ठानि—**

एककुष्ठं स्मृतं पूर्वं गजचर्म ततः स्मृतम् ।
ततश्चर्मदलं प्रोक्तं ततश्चापि विचर्चिका ।८।
विपादिकाऽभिधा सैव पामा कच्छू स्ततः परम् ।
दद्रु विस्फोटकिटिभाल सकानि च वेष्टितम् ॥
क्षुद्र कुष्ठानि चैतानि कथितानि भिषग्वरैः ।९।
कपाल–कृष्णारुणकपालाभं यद्रूक्षं परुषं तनु ।
कापालं तोदबहुलं तत् कुष्ठं विषमं स्मृतम् ।१७।
औदुम्बर–उदुम्बरफलाभासं कुष्ठमौदुम्बरं वदेत् ।
रुग्दाहरागकण्डूभिः परीतं रोमपिञ्जरम् ।१८।

कफज–श्वेतपांडुघनोत्सेध गुरुस्तैमित्यस्तम्भमहापरिग्रहा-
ग्निसादै शीता व्रतगाभुराये कफोरक्तराणि विद्यात्।

सन्निपातज–व्याविद्धरपवहस्फुटितपरिस्रावकृमिदाहरुजो-
पेतशरीरावयवपातनशुचि विगन्धिशोथवहूलमनेकोप-
द्रवं सान्निपातिकं रक्तत्वात् काकणमित्युच्यते।

सिध्म–तत् (त्र) रजोध्वस्तमलबुवारणपुष्पीपुष्पसदृशं
सिध्मं; पित्तश्लैष्मिकम्।

विचर्चिका श्यामलोहितव्रणवेदनास्रावपाकवती
विचर्चिका।

पामा–कंडूतोदपाकस्रावारुष्मती पामा:।

दद्रु–रौक्ष्यकण्डूदाहस्रावववन्ति मंडलानि वृद्धिमन्ति दद्रु:।

किटिभ कृष्णश्यावारुणखरपरुषस्रावववृद्धिमंति गुरुणि
प्रशान्तानि च पुनः पुनरुत्पद्यन्ते किटिभानि।

कपाल कृष्णखरपरुषमलिनमनेक सस्थानमंडल कण्डूलमृ-
तुसंधिपूर्णे चातिबाधते कपालाकृति कपालम्।
वातोत्तरे कपालकुष्ठम्।

महारुष्क–पिच्छास्रावेदनादाहकंडूतोदज्वरविसर्पमहा-
व्रणपरिग्रहं मृदुखरनिभं महारुष्कम्

मंडल–मंडलैर्बन्धुजीवकुसुमोपमैर्दाहदूवेदनास्रावववृद्धिम-
मंडल कुष्ठम्। कफोत्तरेमंडलकुष्ठम्।

विषज–लूताकीटपतङ्गसर्पदशनदष्टमुपेक्षित व्यभिचारेण
खरी भवति कृच्छ्रसाध्य विषजम्।

पौण्डरीक-महाशयमुत्सेधं जातं चिराद्भेदि पुडरीक-
पलाशवर्ण पौंडरीकम्। पित्तश्लेष्मिक पौंडरीकम्।

श्वित्र–श्वेतभावाच्छ्वित्रं पञ्चविधमुत्तरत्रोपदेक्ष्याम.।

ऋष्यजिह्व–ऋष्यजिह्वोपमं पारुष्यंवैवर्ण्यगौरवर्णविक्लेद-
ऋष्यजिह्वम्। वातपैत्तिकमृष्यजिह्वम्।

शतारुष्क–नीललोहितपीतासितैरनेकशोदृश: खरैः स्रावि-
भिरुपद्रुतं शतारुष्कम्।

औदुम्वर–पक्वोदुम्वरफलसदृशमस्राविजडमनेकमौदुम्वरं
व्याख्यातम्। पित्तोत्तरेत्वौदुम्वरम्।

काकण–काकणं हस्तिचर्मसदृशं खरम्। सान्निपातकं
रक्तत्वात्।

चर्मदल–वृद्धिमच्चर्मवलम्।

एककुष्ठ–वैसर्पोद्भवं नित्यविसर्पि स्राववेदनाक्रिमिमदेक-
कुष्ठम्।

विपादिका–पाणिपादांगुष्ठौजङ्घादण्डदेशेपुस्फुटित स्रावि-
वेदनावतीमविपाकिनीम् विपादिकां विद्यात्।

## हारीत मतानुसार अष्टादश कुष्ठस्य लक्षणानि

[हा. सं. तृतीय स्थान अ. ४२]

कुष्ठस्यनामानि --

कापालिकं चैवमुदुम्वरं च
तथैव दद्रूणि च मंडलानि।
विसर्पकं हस्तिवलं किणं च
गोजिह्वकं लोहितमंडलं च॥
वैपादिकं चर्मदलं तथान्यं
विस्फोटकान्यञ्च बहुव्रणं च।
कण्डूविचर्ची कथितं तथान्यत्
धातुप्रभेवात्वचि रोगसिध्मा॥

कापालिक–कपालकाभ सितवर्णकं च कृष्णारुणं।

औदुम्वर–स्निग्धं च सर्वाङ्गगतं च कंडूमुदुम्वरं।

दद्रु–दद्रूपमं यद्भवते च दद्रु:।

मण्डल–यन्मण्डलं मंडलकं तमाहु:।

विसर्प विसर्पवत्सर्पति तद्विसर्पम्।

हस्तिवल किण–तथान्तमातङ्गकचर्मतुल्यम्।

गोजिह्वक- यद्रूक्ष्यपारुष्यसकर्कशं स गोजिह्वकंस्यात्
खलमेदयोग्यम्।

लोहित मण्डल–श्वेतानि रक्तानि च मंडलानि
सकण्डूकानि व्रणसंयुतानि।
ज्ञेयं तु तल्लोहितमंडलं च
रक्तोद्भवं तद्रुधिराश्रितं च।

वैपादिक–पादस्यमूलं हस्ततलं च
यस्य सवेदनार्तस्य परिस्फुटं च॥
विपादिका सा कथिता विधेया सरक्तवात कुपितेन
जाता।

विस्फोटक–तथैव विस्फोटकसन्निभा वा।

बहुव्रण–तथापरं नाम बहुव्रण च।
सूक्ष्मा च बह्वयः पिटिकास्तु यस्य बहुव्रणं तद्गदितं
नरस्य।

कंडू विचर्ची }–कण्डूविचर्चि भुवने प्रतीता श्वेतानि सूक्ष्मानि
च पाटलानि॥

सिध्म–विसर्पते यस्य नरस्य रक्तं युवानके वापि भवेच्चं
सिध्मा।

# ❋ धातुगत कुष्ठ ❋

श्री वैद्य जी. के. दवे एच. पी. ए.
आचार्य - सरकारी आयुर्वेद महाविद्यालय
आजवा रोड, वडोदरा (गुजरात)

— ॐ —

श्री वैद्य जी. के. दवे गुजरात के गणमान्य विद्वान वैद्य हैं। आप आयुर्वेद के विद्वान प्राध्यापक हैं। आपका जन्म २८-१२-३८ में हुआ है। अहमदाबाद डी. एस. ए. सी. कर जामनगर से एच. पी. ए. किया। प्रथम वर्ष से ही आपका स्थान प्रथम ही रहा है। आप हिम्मतवान हैं—जब अहमदाबाद में कोई भी स्नातक प्राइवेट चिकित्सा करने को तैयार नहीं था, तब आपने अपने वस्ति चिकित्सालय का प्रारम्भ किया था। आप पंचकर्म के ज्ञाता हैं। सरकारी अखण्डानन्द आयु० महाविद्यालय मे आपने वर्षों तक अध्यापन कार्य किया है आपने दो वर्ष तक रिसर्च आफीसर के पद पर रहकर मधुमेह पर शोध काय किया है। साढ़े तीन वर्ष तक उप आयुर्वेद नियामक गुजरात राज्य के पद पर रहकर आपने आयुर्वेद की सेवा की है। ६ वर्ष से आप सरकारी आयु कालेज के प्रिन्सीपल हैं। आप गुजरात आयु० विश्व० जामनगर के सिण्डीकेट सदस्य हैं। दस साल तक परीक्षक के रूप में कार्य किया है। गुजरात आयुर्वेद विकास मण्डल फार्मेसी के सदस्य हैं। दो वर्ष तक गुजरात आयु० विश्व० के अन्तगत अनुस्नातक विभाग के स्टाफ सिलेक्शन कमेटी के सदस्य रहे थे। आप लेखक भी हैं संक्षिप्त आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान, गुजराती में श्री वैद्य लाभशङ्कर ठाकर के सहयोग से एवं वृक्षो मानव मित्र, श्री वैद्य किरीट भाई पण्ड्या के सहयोग से लिखा है। विश्वविद्यालय ग्रन्थ निर्माण बोर्ड द्वारा प्रकाशित तीन ग्रन्थों के परामर्शक हैं। आपने चालीस रिसर्च पेपर तैयार किये हैं। एक सौ से अधिक लेख लिखे हैं। अनुस्नातक वर्ग के गाइड के रूप में कार्य किया है। विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित आयुर्वेद पत्रिका तथा नियामक द्वारा प्रकाशित 'आयुर्वेद प्रकाश' पत्रिका के सम्पादक सदस्य हैं। आप श्री वैद्य किरीट भाई पण्ड्या के परम साथी मित्र तथा श्री वैद्य अशोक भाई तलाविया के विद्या गुरु हैं। यहां आपने धातुगत कुष्ठ पर विवेचन किया है जो उपयोगी होगा।

—वैद्य अशोक भाई तलाविया भारद्वाज।

---

प्रत्येक व्याधि की उत्पत्ति मे दोष-दूष्य, सम्मूर्च्छना होती ही है। जिस तरह दोष रोगोत्पत्ति मे एक मुख्य घटक है, उसी तरह 'दूष्य' या 'धातु' भी एक आवश्यक घटक है। दोषो को ध्यान मे रखकर वात व्याधि, पित्तनानात्मक रोग, कफनानात्मक रोग आदि के रूप में व्याधि का वर्गीकरण किया गया है, उसी तरह 'धातु' को केन्द्र में रखकर भी शास्त्रकारों ने 'रस प्रदोषज', 'रक्त प्रदोषज' आदि धातु की दुष्टि से होने वाली व्याधि भी बताई है। ये रस प्रदोषज आदि व्याधि 'अस्थायी' या 'परिणामापद्यमान' धातु की दुष्टि होने से होते हैं। दोष-दूष्य-सम्मूर्छना हटने से ये व्याधि ठीक हो जाती हैं। व्याधि की 'धातुगतावस्था' इससे भिन्न है। इसमें व्याधि का प्रभाव 'स्थायी धातु' या 'परिणामापन्न' धातु पर होता है। परिणामस्वरूप दुष्टि या व्याधि का प्रभाव इसमें गहरा होता है। जिस तरह अस्थायी रूप में एकत्र हुए लोगों का गठन शीघ्र ही विमुक्त हो जाता है। स्थायी रूप से एक दल या संस्था के रूप में लोगों का जो गठन होता है वह अधिक समय तक रहता

है और कभी कभी कायमी भी हो जाता है। राजकीय पक्षों का ऐसा स्थायी-अस्थायी गठन आजकल अधिक देखने को मिलते हैं। शरीर मे भी जो व्यवस्था है, उसमें भी ऐसा ही देखने को मिलता है कि अस्थायी गठन शीघ्र दूर हो सकता है जबकि स्थायी गठन 'धातुगतावस्था' में होने पर वह शीघ्र दूर नहीं हो सकता है।

आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यों ने सभी रोगों में 'धातुगतावस्था' नही बताई है। केवल वात व्याधि, ज्वर एवं कुष्ठ मे धातुगतावस्था बताई गई है। बाद मे शीतला, रोमान्तिका, मसूरिका में भी धातुगतावस्था का उल्लेख प्राप्त होता है। इन रोगों के अलावा क्या दूसरे रोगों मे धातुगतावस्था उत्पन्न नहीं होती होगी। ऐसा प्रश्न होना स्वाभाविक है। शायद गगरी मे सागर भरने वाले हमारे प्राचीन आचार्यों ने संक्षेप में सिद्धान्त के रूप में इन तीन रोगों में धातुगतावस्था का उल्लेख किया है। वात व्याधि मे सामान्य सम्प्राप्ति सम्प्राप्त दोष 'वायु' है। ज्वर मे पित्त एवं कुष्ठ मे 'कफ' है। अर्थात किसी भी व्याधि में सामान्य सम्प्राप्ति सम्प्राप्त दोष 'वात' हो तो उसकी 'धातुगतावस्था के लक्षण वात व्याधि के अनुसार समझना चाहिए। सामान्य सम्प्राप्ति मे पित्त हो तो ज्वर की धातुगतानुसार उसमे भी धातुगतावस्था मिल सकती है। यदि कफ सामान्य सम्प्राप्ति सम्प्राप्त दोष हो तो कुष्ठ की धातुगतावस्था का अनुसरण उसमे भी होता है। इस तरह कुष्ठ की धातुगतावस्था समग्र कफज रोगों की धातुगतावस्था को सूचित करती है, ऐसा मानना चाहिए।

ज्वर या वात व्याधि मे सुश्रुत ने धातुगतावस्था के लिए लक्षणों के अलावा कोई अन्य बात नही बताई है। कुष्ठ में धातुगतावस्था का वर्णन एक उपमा देकर किया है। काल व्यतीत होने पर जिस तरह वनस्पति को वृष्टि या पानी मिलने पर उस के मूल बढ़ते हैं। भूमि में और अन्दर उतरते हैं और मजबूत या दृढ होते हैं, उसी तरह चिकित्सा न करने पर कुष्ठ भी त्वचा में उत्पन्न होकर समय व्यतीत होने पर अन्तर्धातु में-रस रक्तादि में फैलते हैं। कहा है—

यथा वनस्पतिर्जातः प्राप्य कालप्रकर्षणम्।
अन्तर्भूमिं विगाहेत मूलैर्वृष्टिविवर्धितैः ।२०।
एवं कुष्ठं समुत्पन्नं त्वचि कालप्रकर्षतः।
क्रमेण धातून् व्याप्नोति नरस्याप्रतिकारिणः ।२१।
—सु. नि. अ. ५/२०-२१

कुष्ठ चिरकारी व्याधियों में श्रेष्ठ है। इसलिए चिकित्सा करने पर भी जल्द अच्छे नहीं होते हैं। यदि चिकित्सा न की जाय तो क्रमशः धातुगतावस्था होने पर उसमें अच्छा होने की सम्भावना न्यून हो जाती है। सभी कुष्ठ कष्ट साध्य तो हैं ही, धातुगत होने से वे और कष्ट साध्य या असाध्य हो जाते हैं।

कुष्ठ की धातुगतावस्था उसकी साध्यासाध्यता की दृष्टि से महत्व रखती है। त्वचा, रक्त एवं मांसगत कुष्ठ साध्य है, मेदोगत याप्य है, अस्थि-मज्जा शुक्रगत कुष्ठ असाध्य है। शुक्रगत कुष्ठ हो तो भी वह मारक नहीं है। पीडन रहता है। ज्वर शुक्रगत हो तो मृत्यु उत्पन्न करता है। ज्वर की धातुगत के अन्त मे सुश्रुत ने यह सुन्दर ढङ्ग से समझाया है।

कुष्ठ क्षुद्र हो या महा, प्रारम्भ से ही चिकित्सा करना अत्यन्त जरूरी है। यदि चिकित्सा नहीं होती है तो सरलता से अच्छे होने वाले दद्रु, पामा, सिध्म, विचर्चिका जैसी व्याधि भी धातुगत हो जाती हैं और कष्ट साध्य या साध्य या असाध्य बन जाती हैं।

कुष्ठ चिरकारी व्याधि होने से शरीर मन को दीर्घकाल पर्यन्त पीडना रहती है। उसमें प्रारम्भ में दुर्लक्ष्य करने से या केवल स्थानिक या अस्थायी उपचार करने से उसके दोषों का क्रमशः गम्भीर धातुओं में अवगाहन होने से कुष्ठ की चिकित्सा चिकित्सक और रुग्ण दोनों के लिए आवश्यक बन जाती है। इसमें केवल बाह्योपचार करने से और अन्दर की शुद्धि नहीं होने से मूलगामी चिकित्सा नहीं होती है। क्रमशः दोष आभ्यन्तर धातुगत होते हैं। इसलिए इसमें आभ्यन्तर शुद्धि वमनादि पंचकर्मों से होने के बाद ही बाह्य लेप आदि का उपचार लाभप्रद है। अन्यथा जैसे आजकल होता है, केवल स्थानिक या अस्थायी उपचार करते रहने से सामान्य कुष्ठ भी असाध्य हो जाते हैं। एक रुग्ण का वृत्त देकर इस प्रकरण को समाप्त करेंगे।

सिध्म रोग से पीड़ित एक ४५ वर्षीय धनाढ्य और अति व्यस्त रुग्ण हमारे पास आया। प्रायः ८-१०

वर्ष की आयु से उनके मुख पर श्वित्र का प्रारम्भ हुआ था। दधि आदि का सेवन करते रहने पर एवं श्वित्र में कोई तकलीफ नहीं होने से उन्होंने उसका कोई उपचार नहीं किया। क्रमशः श्वित्र पूरे शरीर में व्याप्त हो गया। यद्यपि सामान्य कण्डू आदि के अलावा उनको कष्ट देने वाला कोई लक्षण नहीं होने से उनको मृत्यु का कोई भय नहीं है। सामान्य जीवन अभी भी व्यतीत कर पाते हैं। व्याधि शोधन के बिना अच्छा नहीं हो सकेगा। उसको हमने विधिपूर्वक शोधन कराया और स्थानिक उपचार दिया तब जाकर व्याधि अच्छा हो सका। हमने उसको रस-रक्तादि गतावस्था ही होगी, ऐसा अनुमान किया।

महाकुष्ठ (Leprosy) में उसकी धातुगतावस्था अधिक देखने को मिलती है। रोगी विकलांग हो जाता है और उसका जीवन अत्यन्त कष्टप्रद हो जाता है, इसलिए उसमें बारम्बार से शोधन करके बाद में दीर्घकाल तक चिकित्सा करने से ही लाभ होता है। इसी तरह Psoriasis में एवं Dermatitis में भी धातुगतावस्था होने पर कष्टसाध्यत्व या असाध्यत्व होता है। इसलिए इन दोनों में प्रारम्भ से ही बारम्बार शोधन करके शमन उपचार करने से अच्छा होता है। Psoriasis में धातुगतावस्था होने के बाद भी कोई विकलांगता प्रायः नहीं होती है लेकिन Dermatitis में धातुगतावस्था होने पर मृत्यु तक हो जाती है। इसलिए उसमें सावधानी रखकर उपचार करने चाहिए। उसमें शोधन चिकित्सा करने पर ही लाभ होता है।

कुष्ठ में भी ज्वर की धातुगतावस्था के अनुसार दोषों के लक्षणों का एक दोषज कुष्ठ, द्विदोषज कुष्ठ और सान्निपातिक कुष्ठ के अनुसार अनुमान करना चाहिए और दोषों का अनुमान करके धातुगत कुष्ठ में शोधन उपचार कराना चाहिए। ज्वर की धातुगतावस्था में कहा गया है—

> वातपित्तकफोत्थानां ज्वराणां लक्षणं यथा ॥ –६०
> तथा तेषां भिषग्ब्रूयाद्रसादिस्थापि बुद्धिमान्।
> समस्तैः सन्निपातेन धातुस्थमपि निर्दिशेत् ॥–६१
> —सु. उत्तर ३९/६०-६१

इस तरह कुष्ठ में धातुगतावस्था के बारे में बहुत ही अध्ययनपूर्ण बातें शास्त्रों में वर्णायी हैं। इसीके आधार पर चिकित्सा करने पर क्षुद्र एवं महाकुष्ठ में लाभ मिलता है। चिकित्सकों को त्वग्रोग की चिकित्सा करते समय इन सभी बातों को ध्यान में रखना अति आवश्यक है। *

---

❂ आयुर्वेदोक्त शैशवीय त्वक् विकार — पृष्ठ ७५ का शेषांश ❂

स्नान तथा उबटन नहीं करने वाले बच्चे के वृषण प्रान्त में जमा हुआ मल जब स्वेद से गीला हो जाता है तो वह कण्डू उत्पन्न करता है तथा वहां कण्डू से शीघ्र ही स्फोट निकल आते हैं और उनसे स्राव भी होता है। इस प्रकार कफ एवं रक्त के प्रकोप से उत्पन्न हुए इस रोग को वृषण कच्छू कहते हैं।

अरिकालक

> यदा पक्वेष्टका चूर्णं भोक्षणं गुण्ठ्यते शिशुः।
> त्रपुसैर्वाकबीजं वा खादतोऽङ्गेषु शुष्यति ॥
> मेदोऽभिवर्धनं चान्नं दिवास्वप्नं च सेवते।
> तस्य मेदः कुपितं वायुना त्वचमाहृतम् ॥
> मेदः पूर्वं त्वचाङ्गा जनयत्यरुकालकाः।
> ककर्तन (ककड़ी) इष्यन्ते च वर्तन्ति क्वचित् ॥
> कर्कन्धुगोस्तन सदृशा वर्धमाना भवन्ति च ॥
> —का. /खि. / द्विवेदी/पृ १२८

जब बालक के शरीर पर निरन्तर पकी हुई ईंट का चूर्ण लगता रहे। खीरे या ककड़ी के बीज खाने से जिसके अङ्ग सूख जाय। जो मेद वर्धक अन्न का सेवन करता हो तथा दिन में सोता हो, उसका मेद प्रकुपित होकर वायु के द्वारा त्वचा में पहुँच जाता है और अरिकोलक उत्पन्न करता है। प्रारम्भ में यह छोटे-छोटे उभार कहीं कहीं दिखाई देते हैं तथा धीरे-धीरे बढ़कर कर्कन्धु (झड़बेरी) एवं मुनक्के के समान बड़े हो जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बहुत सी व्याधियां शैशवीय त्वक् वर्ग की यत्रतत्र वर्णित हैं। इनका संग्रह यहां करने का प्रयास किया गया है। इनमें से प्रायः व्याधियों का विस्तृत वर्णन इसी विशेषांक में देखने को प्राप्त हो सकेगा। अन्यथा संदर्भानुसार इसका विस्तृत विवरण देखा जा सकता है। *

# विभिन्न मतानुसार कुष्ठ लक्षणम्

लेखक एवं संशोधन कर्त्ता — वैद्य किरीट भाई पण्ड्या,
विशेष सम्पादक-त्वक् रोग चिकित्सांक

—०ॐ०—

## विभिन्न मतानुसार कापालकुष्ठस्य लक्षणानि

| चरक | सुश्रुत | वाग्भट्ट | भावप्रकाश | माधवनिदान | योगरत्नाकर | काश्यप | हारित |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| –कृष्णारुण | कृष्णकपालिका | कृष्णारुण | कृष्णारुण | कृष्णारुण | कृष्णारुण | श्यावारुण | कपालकाभम् |
| कपालाभम् | प्रकाशानि | कपालाभम् | कपालाभम् | कपालाभम् | कपालाभम् | कृष्ण | कृष्णारुणम् |
| ★कृष्णारुण कपालवर्णानि | | | | | | | |
| –रूक्षम् | | रूक्षम् | रूक्षम् | रूक्षम् | रूक्षम् | खरत्व खर | सितवर्णकम् |
| –परुष | | खरम् | परुषम् | परुषम् | परुषम् | पारुस्यपरुष | |
| –तनु | | तनु | तनु | तनु | तनु | | |
| तोदवहुलम् | | तोदाढ्यम् | तोदाढ्यम् | तोद वहुलं | तोद वहुलम् | शूल | **काश्यप** |
| –विषमम् | | असमपर्यन्तम् | विषमम् | विषमम् | विषमम् | आयाम् | ऋतुसन्धि |
| ★विसृतानि | चरक निदान | सुप्तम् | | | | चिमचिम | पुष्णं च |
| ★खरपर्यन्तानि | अ'शुमेदीनि | | | | | | अतिबाधते |
| ★मुखवत्सुप्तानि | ·जन्तुमन्ति | | | | | चिमचिम | कपालाकृति |
| –हृषितलोमाचितानि | | हृषितैर्लोमभिश्चितम् | | | | -संस्तम्भम् | वातोत्तरे |
| | | | | | | -मलिन | |
| ★निस्तोद वहुल | | | | | | | |
| ★अल्प कण्डू | | अल्पकण्डुकम् | | | | -कण्डुलम् | |
| ★दाह | | | | | | -कण्डूम् | |
| पूयलसीका | | | | | | | |
| ★आशुगतिसमुत्थाना | | शीघ्रसर्पि | | | | अनेकसंस्थान मण्डलम् | |

## विभिन्न मतानुसार उदुम्बर कुष्ठस्य लक्षणानि—

| चरक | सुश्रुत | वाग्भट्ट | भावप्रकाश | माधवनिदान | योगरत्नाकर | काश्यप | हारित |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| –दह | | दाह | दाह | दाह | दाह | दाह | |
| ★कण्डू | | | कण्डू | कण्डू | | | स्निग्धं च |
| रुजा | | रुजाधिकम् | रुजा | रुजा | रुजा | वेदना | सर्वांगगतं च |
| रागपरीतम् | | | राग | राग | राग | (शीतमधुर कषायसर्पिरनुपयस्व) | कण्डूम् उदुम्बरम् |
| लोमपिंजरम् | | ताम्रोम् | रोम पिंजरम् | रोम पिंजरम् | रोम पिंजरम् | | |
| ★कृमिणि | | | | | | पित्तोत्तरम् | |

(–) इस लेख में चिन्ह वाले लक्षण चरक ने निदान स्थान एवं चिकित्सा स्थान में बताये हैं ।

(★) इस लेख में चिन्ह वाले लक्षण चरक ने केवल निदान स्थान में बताये हैं ।

| चरक | सुश्रुत | वाग्भट्ट | भावप्रकाश | माधवनिदान | योगरत्नाकर | काश्यप | हारीत |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| उदुम्बरफलाभासं | पक्वोदुम्बर | पक्वोदुम्बर-ताम्र | उदुम्बर-फलाभासम् | उदुम्बर-फलाभासम् | उदुम्बर-फलाभासम् | पक्वोदुम्बर-फलसदृशम् | |
| *पक्वोदुम्बरफल-वर्णा | फलाकृतिवर्ण | | | | | | |
| *तामाणिताम्र | | | | | | ज्वर | |
| *ज्वर | | | | | | विडभेदो | |
| *रोमराजी-भिरवनद्धानि | | गौरसिराविम् | | | | पायन | |
| *बहलानि | | बहलम् | | | | पाक | |
| *बहुबहलरक्त-पूय लसीकानि | | क्लेदरक्तम् | | | | स्राव | |
| *क्लेद | | | | | | स्फोट | |
| *कोथ | | आशूत्थानाम् | | | | अनिरूर्ण | |
| *पाकवन्त | | | | | | क्षिप्रोत्थान | |
| *आशुगतिसमुत्थानभेदिनी | | अवदरण | | | | अस्रावि | |
| *ससंताप | | कृमिविघात् | | | | | |

विभिन्न मतानुसार मण्डल कुष्ठस्य लक्षणानि —

| चरक | सुश्रुत | वाग्भट्ट | भावप्रकाश | माधवनिदान | योगरत्नाकर | काश्यप | हारीत |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| श्वेतम् | | श्वेतम् | श्वेतं | श्वेतं | श्वेतम् | श्वेतं | |
| *शुक्ल | | | | | | | |
| रक्तं | अरुणाभं | रक्तं | रक्तं | रक्तं | रक्तं | पाण्डवन्धु-जीव कुसुमोपमं-मण्डलं | |
| रक्तावभासानि | | | | | | | |
| –स्थिरं | | स्थिरं | स्थिरं | स्थिरं | स्थिरं | दाह | |
| | | | | | | कण्डु | |
| स्त्यानं | | स्त्यानं | स्त्यानं | स्त्यानं | स्त्यानं | घन | |
| –स्निग्धं | | स्निग्धं | स्निग्धं | स्निग्धं | स्निग्धं | वेदना | |
| *परिमण्डलं | | | | | | स्राव | |
| उत्सन्नमंडलं | | | | | | | |
| *उत्सेधवन्ति | | उत्सन्नं | उत्सन्न-मण्डलं | उत्सन्न-मंडलं | उत्सन्न-मण्डलं | उत्सेध | दद्रूपमम् यदभयते च दद्रुः यन्मं-डलं |
| कृच्छ्रं | | | कृच्छ्रं | कृच्छ्रं | कृच्छ्रं | | |
| अन्योन्यसंसक्तं | | अन्योन्य-संसक्तं | अन्योन्य-संसक्तं | अन्योन्य-संसक्तं | अन्योन्य-संसक्तं | | मण्डलाख्यं तमाहुः। |
| *गूढ | तोद | बहुकंडू | | | | गूढ | |
| *श्लक्ष्ण | | सुप्ति | | | | | |
| *पीतपर्यन्तारि | भेद | | | | | स्थैमित्य | |
| *शुभ्ररोमराजी सन्ततानि | स्वापयुक्तं | क्रिमि | | | | स्तम्भ | |

| चरक | सुश्रुत | वाग्भट्ट | भावप्रकाश | माधवनिदान | योगरत्नाकर | काश्यप | हारीत |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| *बहु बहलशुक्ल पिच्छिल स्रावीणि | तनूनि | श्लक्ष्ण | | | | महापरिग्रह | |
| *बहुक्लेदकण्डू कृमिणि | त्रिसर्पीणि | पीताभपर्यन्तो | | | | अग्निसादै | |
| *रक्तगतिसमुत्था | | अनाशुगम् | | | | शोसादतरा- | |
| *मेदिनी | | परिमण्डलं | | | | अनुपशयैः | |

विभिन्न मतानुसार ऋष्यजिह्व कुष्ठस्य लक्षणानि -

| चरक | सुश्रुत | वाग्भट्ट | भावप्रकाश | माधवनिदान | योगरत्नाकर | काश्यप | हारीत |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कर्कशम् | | कर्कशम् | कर्कशम् | कर्कशम् | कर्कशम् | | कर्कशम् |
| रक्तपर्यन्तम् | | रक्तान्तम् | रक्तपर्यन्तम् | रक्तपर्यन्तम् | रक्तपर्यन्तम् | | |
| *तनुपर्यन्तानि | | | | | | | |
| —अन्तःश्यावम् | | अन्तःश्यावम् | अन्तश्यावम् | अन्तश्यावम् | अन्तःश्यावम् | | |
| *भेदनिस्तोद सवेदनम् | | सतोद | सवेदनम् | सवेदनम् | सवेदनम् | | |
| *ऋष्यजिह्वाकृतीनि ऋष्यजिह्वासंस्थानं सरत्वानि | (ऋक्ष) ऋष्यजिह्वा-प्रकाश सर-दवानि | ऋष्यजिह्वा-कृति | ऋष्यजिह्वा-संस्थानं | ऋष्यजिह्वा-संस्थानं | ऋष्यजिह्वा-संस्थान | ऋष्यजिह्वो-पमं | ऋष्य-पारुष्य |
| •दीर्णपरिमंडलानि | | | | | | | |
| *परुषाणि | पित्तेन | परुष | | | | वातपैत्तिक | गोजिह्वक |
| *अरुणवर्णानिवहि | | तनु | | | | पारुष्य | |
| *नीलपीतताम्रा पभासानि | | समुन्नतं | | | | वैवर्ण्य गौर वर्ण | |
| *आशुगतिसमुत्थानानि | | दाह | | | | | |
| *दाह | | रुक् | | | | | |
| पाकबहुलानि | | क्लेद | | | | क्लिक्लेद | |
| *शूकोपहतोपम वेदनानि | | पिटिकै-श्चितं | | | | | |
| *उत्सन्नमध्यानि | | | | | | | |
| *कर्कशपिडका-चितानि | | बहुक्रिम | | | | | |

विभिन्न मतानुसार पुण्डरीक कुष्ठस्य लक्षणानि—

| चरक | सुश्रुत | वाग्भट्ट | भावप्रकाश | माधवनिदान | योगरत्नाकर | काश्यप | हारीत |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| सश्वेतं | | अन्तरापांडु | श्वेतं | सश्वेतं | सुश्वेत | पुंडरीक | |
| —रक्तपर्यन्तं | | रक्तांतं | रक्तपर्यंतं | रक्तपर्यंतं | रक्तपर्यंतं | पलाशवर्णी | |
| पुंडरीक दलोपमं | पुंडरीक पत्र प्रकाशानि | पद्मपत्रमिव मणुभिः आचितं रक्तैः | पुंडरीक दलोपमं | पुंडरीक दलोपमं | पुंडरीकदलो-पम चितं पद्ममि-वाम्बुभिः | | |
| *पुंडरीक पलाशसङ्काशनि | | | | | | | |
| सोत्सेधम् | | सोत्सेधम् | सोत्सेधम् | | | उत्सेधजातम् | |
| सरागम् | | | सरागम् | सरागम | | | |
| *शुक्ल रक्ताव-भासानि | | कण्डू | कफोल्वणम | | कण्डूवाढ्यम् | [पित्तश्लैष्मिकं पौण्डरीक] | |

| चरक | सुश्रुत | वाग्भट | भावप्रकाश | माधव निदान | योगरत्नाकर | काश्यप | हारीत |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| *रक्तराजीसन्तत-स्त्रावि | | दाह | | | रक्तान्तर्दाह | महाशयम् | |
| *उत्सेधवन्ति | | रुजान्वितम् | | | | चिरादुभेदि | |
| *बहुबहलरक्त पूय लसीकानि | | घन | | | | | |
| *कण्डू, कृमि | | भूरि लसीका | | | | | |
| *दाह | | | | | | | |
| *पाकवन्ति | | सूक्ष्मप्रायपादम् | | | | | |
| *आशुगतिस-मुत्थानभेदीनि | | विभेदि | | | | | |

विभिन्न मतानुसार सिध्म कुष्ठस्य लक्षणानि —

| चरक | सुश्रुत | वाग्भट | भावप्रकाश | माधव निदान | योगरत्नाकर | काश्यप | हारीत |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| श्वेतम् | श्वेतम् | श्वेतम् | श्वेतम | श्वेतम् | सितम् | | |
| ताम्रम् | | ताम्रम् | ताम्रम् | ताम्रम् | ताम्रम् | | |
| –तनुम् | तनु अपाणि | तनुम् | तनुम् | तनुम् | तनुम् | | |
| रजो घृष्टम् | | घृष्टं रजः | रजोघृष्टं | रजोघृष्टं | रजोघृष्टं | रजोध्वस्तं | |
| विमुञ्चति | | किरेत् | विमुञ्चति | विमुञ्चति | विमुञ्चति | | |
| अलाबुपुष्प वर्णम् | | दौग्धिक पुष्पवत् | अलाबुकुसुमोपमं | अलाबुकुसुमोपमं | अलाबुकुसुमोपमं | अलाबुत्वारण पुष्पीपुष्प सदृश | |
| *अलाबुपुष्प प्रायेण चोरसि | प्रायश ऊर्ध्वकाये | प्रायेण चोर्ध्वकाये | प्रायः श्चोरसि | प्रायः श्चोरसि | प्राय श्चोरसि | | [विसर्पति यस्य नरस्य |
| *परुषाणि | | | | | | | |
| *विशीर्णबहि | कण्डूवान्वितं | | | | | पित्तश्लैष्मिक | रक्तं मुखानके वापि भवेच्च |
| *अन्तःस्निग्धानि | | | | | | | |
| *शुक्लरक्तावभासानि | | रूक्षं बहिः | | | | | |
| *बहूनि | | स्निग्धमन्त | | | | | सिध्मा] |
| *अल्पवेदना | | | | | | | |
| *अल्प कण्डूदाह पूय लसीकानि | | श्लक्ष्णस्पर्श | | | | | |
| *लघु समुत्थाना | | | | | | | |
| *अल्प भेदकृमिण्य | | | | | | | |
| काकणंतका वर्णम | काकणंतिका फल सदृशा | काकणन्ति-फलोपमं | काकणंतिका वर्णम् | काकणंतिका वर्णम् | काकणंति-फलोपम | | |

विभिन्न मतानुसार काकणक कुष्ठस्य लक्षणानि—

| चरक | सुश्रुत | वाग्भट | भावप्रकाश | माधव निदान | योगरत्नाकर | काश्यप | हारीत |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| *काकणन्तिका वर्णान्यादौ | अतीव रक्त कृष्णानि | पूर्वं रक्तं कृष्णं | | | पूर्वं रक्तं कृष्णं | रक्तरागः | |
| अपाकं | | | अपाकं | सपाकं | सपाकं | हस्तिचर्म सदृश चर्म | छिन्न |

| चरक | सुश्रुत | वाग्भट | भावप्रकाश | माधव निदान | योगरत्नाकर | काश्यप | हारीत |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| तीव्रवेदनं | | रुक् | तीव्रवेदनं | तीव्रवेदनं | तीव्रवेदन | रुजोपेत | |
| त्रिदोषलिगं | | कुष्ठलिगैर्युतां | त्रिदोषलिगं | त्रिदोषलिगं | त्रिदोषलिगं | सान्निपातिक | |
| पश्चात सर्व<br>कुष्ठलिग समन्वि-<br>तानि | | सर्वैर्नैकवर्णं | | | | व्याविद्धरुपं | |
| *पापीयसां<br>*सर्व कुष्ठलिग<br>सम्भवेनानेक-<br>वर्णानि | | तीव्रदाह | | | सदाहम्<br>स्पर्शसहम्<br>काकणन्तिका<br>वर्णम् | बहुस्फुटितां<br>परिस्राव<br>कृमि<br>दाह<br>शरीरावयव<br>पातन<br>अशुचि विगंधि<br>शोथ बहुलं<br>अनेकोपद्रवं | |

विभिन्न मतानुसार एककुष्ठस्य लक्षणानि—

| चरक | सुश्रुत | वाग्भट | भावप्रकाश | माधव निदान | योगरत्नाकर | काश्यप | हारीत |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अस्वेदनं | | अस्वेदनं | अस्वेदनं | अस्वेदनं | अस्वेदनं | | |
| महावास्तु | | महाश्रयम् | महावास्तु | महावास्तु | महावास्तु | | |
| मत्स्य शकलोपमं | | मत्स्यशकल<br>सन्निभ | मत्स्यशक-<br>लोपमं | मत्स्यशक-<br>लोपमं | मत्स्यशक-<br>लोपमं | | |
| | कृष्णारुणं<br>भवेत्<br>शरीरं | | | | | विसर्पोद्भवं<br>नित्यविसर्पि<br>स्राव<br>वेदना<br>क्रिमिं | |

विभिन्न मतानुसार हस्तिचर्म क्षुद्र कुष्ठस्य लक्षणानि—

| चरक | सुश्रुत | वाग्भट | भावप्रकाश | माधव निदान | योगरत्नाकर | काश्यप | हारीत |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| वहल<br>हस्तिचर्मवत् | | हस्तिचर्मखर<br>स्पर्शी चर्म | वहुलं<br>गजचर्मवत् | वहुलं<br>हस्तिचर्मवत् | वहुल<br>हस्तिचर्मवत् | हस्तिचर्म<br>सदृशं खर<br>[काकणक] | मातंगक<br>चर्म<br>तुल्य |

विभिन्न मतानुसार विपादिका क्षुद्र कुष्ठस्य लक्षणानि—

| चरक | सुश्रुत | वाग्भट | भावप्रकाश | माधव निदान | योगरत्नाकर | काश्यप | हारीत |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पाणिपाद<br>स्फुटनं | पादगतेय<br>मेव | पाणिपाद-<br>दार्यो: | पाणिपाद—<br>स्फुटनं | पाणिपाद<br>स्फुटनं | पाणिपाद<br>स्फुटनं | पाणिपा-<br>दांगुष्ठोष्ठ-<br>जङ्घादेह-<br>देशेपु स्फुटित | पादस्यमूलं<br>हस्ततलं<br>परिस्फुटं |
| तीव्रवेदनं | रुजोपपन्ना | तीव्रार्त्यो | तीव्रवेदनं | तीव्रवेदनं | तीव्रवेदनं | वेदनाव-<br>तीम् | सवेदना-<br>र्तस्य |
| | कण्डूमती<br>दाह | मन्दकण्ड्वश्च | | | | स्राव | |
| | | सरागपिटिका<br>चिताः | | | | अतिपा-<br>कनीम् | सरक्तवात<br>कुपितेन<br>जाता |

विभिन्न मतानुसार शतारु क्षुद्र कुष्ठस्य लक्षणानि—

| चरक | सुश्रुत | वाग्भट्ट | भावप्रकाश | माधव निदान | योगरत्नाकर | काश्यप | हारीत |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| रक्तं | | रक्तं | रक्तम् | रक्तम् | रक्तम् | | |
| श्यावं | | श्यावं | श्यावम् | श्यावम् | श्यावम् | | |
| सदाहं | | सदाहं | सदाहम् | सदाहम् | सदाहम् | | |
| अर्ति | | अर्ति | अर्ति | अर्ति | अर्ति | | |
| बहुव्रणं | | बहुव्रण | बहुव्रणम् | बहुव्रणम् | बहुव्रणम् | | |
| | | स्थूलमूलं | | | | नील लोहित | |
| | | क्लेद: | | | | भिन्न भ्रमिती | |
| | | जंतवाढ्यं | | | | अनेकरुदि: | |
| | | प्रायण: | | | | खरै: | |
| | | पूर्वजन्म | | | | स्राविभि | |
| | | | | | | उपद्रुतं | |

विभिन्न मतानुसार विचर्चिका क्षुद्र कुष्ठस्य लक्षणानि

| सकण्डूपिडका | अतिकण्डव: | सकण्डू पिटिका | सकण्डू पिडका | सकण्डू पिडका | सकण्डू पिडका | | कण्डू विचर्चिका |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| श्यावा | | श्यावा | श्यावा | श्यावा | श्यावा | श्यामं | |
| बहुस्रावा | | लसीकाढ्या | बहुस्रावा | बहुस्रावा | बहुस्रावा | स्रावं | |
| | अतिरुज: | | | | | लोहित | |
| | सरूक्षा | | | | | व्रण | |
| | भवन्ति- | | | | | वेदना | |
| | गात्रेषु | | | | | | |
| | राजी | | | | | पाकवती | |

विभिन्न मतानुसार चर्मदलस्य लक्षणानि—

| रक्तं | [तलेषु] | रक्तं | रक्तं | रक्तं | रक्तं | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| शूलं | व्यथन | तोद | सशूलं | सशूलं | सशूलं | | |
| कण्डूमत: | कण्डू | कण्डू | कण्डूमत् | कण्डूमत् | कण्डूमत् | | |
| सस्फोटं | | सस्फोटं | सस्फोट | सस्फोट | स्फोटं | | |
| दलन | | | दलन | दलन | दलन | | |
| संस्पर्शासहं | | स्पर्शसहं | स्पर्शस्या-सहनम् | सस्पर्शासह | स्पर्शसह | | |
| | ऊष्म | उषा | | | | | |
| | चोष | दाह | | | | वृद्धिमत् | |

विभिन्न मतानुसार किटिभस्य लक्षणानि—

| श्यावं | कृष्ण | असितं | श्यामं | श्यावं | श्याव | कृष्णं | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| किणखरस्पर्श | | किणखरस्पर्श | किणखरस्पर्श | किणखरस्पर्श | किणखरस्पर्श | खर | |
| परुषं | घन | परुषं | परुषं | परुष | परुषं | परुषं | |
| | स्रावं | | | | | स्रावं | |
| | विवृत्तं | | | | | वृद्धिमन्त: | |
| | उग्रकण्डू | कण्डू | | | | गुरुणि | |
| | स्निग्धं | | | | | प्रशान्तानि | |
| | | रूक्षं | | | | श्यावारुणं | |
| | | | | | | पुन: पुन: | |
| | | | | | | उत्पद्यन्ते | |

# कुष्ठ—पूर्वरूप, रूप एवं चिकित्सा

श्री दिनेश कुमार गुप्त
ललित हरि राजकीय आयुर्वेद कालेज,
पीलीभीत (उ० प्र०)

स्पर्शाज्ञत्वमतिस्वेदो न वा वैवर्ण्यमुन्नतिः ।
कोठानां लोमहर्षश्च कण्डूस्तोदः श्रमः क्लमः ॥
व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः ।
दाहः सुप्ताङ्गता चेति कुष्ठलक्षणमग्रजम् ॥

कुष्ठ के पूर्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है -

(१) त्वचा पर स्पर्श का ज्ञान न होना
(२) पसीना का अधिक या बिल्कुल ही नहीं आना
(३) त्वचा में विवर्णता का होना
(४) त्वचा पर कोठ (चकत्ते, ददोरे) उत्पन्न होना
(५) रोमाञ्च होना (६) श्रम हो जाना
(७) खुजली का होना
(८) तोद (सुई चुभोने की सी पीड़ा) का होना
(९) रक्त का वर्ण बदल जाना
(१०) थकावट का महसूस होना
(११) व्रण होना व उनमें असहनीय वेदना
(१२) व्रण शीघ्र उत्पन्न होना तथा चिकित्सा करने पर भी शीघ्र ठीक न होना
(१३) अङ्गों का सुन्न हो जाना ।

आधुनिकों के अनुसार कुष्ठ का पूर्वरूप एक या दो वर्ष तक रहता है एवं साधारणतया स्वास्थ्य हानि के साथ इन उपरोक्त लक्षणों की उत्पत्ति होती है ।

कुष्णाति वपुः इति कुष्ठम् ।

अर्थात १. खुजली, २. जलन, ३. पीड़ा, ४. लालिमा, ५. स्थान का उन्नत हो जाना, ६. रोम का अधिक हर्ष का हो जाना, ७. [illegible], ८. कठोरता, ९. निम्नता, १०. स्थिरता, ११. [illegible] १२. स्निग्ध, १३. त्वचा का [illegible] हो जाना, १४. त्वचा को खुजाने से चूर्ण का निकलना १५. त्वचा का संकोच, १६. त्वचा का आयाम १७. त्रिदोषों की प्रधानता का होना कुष्ठ के लक्षण हैं ।

## त्रिदोषज कुष्ठ की भूमिका -

(१) वातज कारण — कुष्ठों में रूक्षता, शोष, तोद, शूल, त्वचा में संकोच एवं आयाम, कठिनता, खुरदरापन, रोमाञ्च तथा कुष्ठ से प्रभावित स्थान में श्यावता या अरुण वर्ण का होना ये सभी लक्षण वात से कुपित कुष्ठ के उदाहरण हैं ।

(२) पित्तज कारण — कुष्ठों में यदि दाह, लालिमा, स्राव का होना, पकना, आमगन्ध का पाया जाना, क्लेद एवं अङ्गों का गल कर गिरना हो तो ये सब लक्षण पित्त दोष के कारण होते हैं ।

(३) कफज कारण — यदि कुष्ठों में श्वेतता, शीतलता, कण्डू, स्थिरता, ऊपर उठा होना, गुरुता, चिकनापन और कृमियों द्वारा भक्षण किया जाना तथा क्लेद की अधिकता । ये सब लक्षण कफ दोष के कारण होते हैं।

## सप्त धातुगत कुष्ठ—

त्वचागत — कुष्ठ के त्वचागत होने से वर्ण में परिवर्तन, त्वचा में रूक्षता, सुन्नता, रोमहर्ष तथा स्वेद की अधिक प्रवृत्ति होती है ।

रक्तगत — कुष्ठ के रक्तगत होने पर खुजली तथा कुष्ठ स्थान पर दुर्गन्धित पूय की अधिकता होती है ।

मांसगत — कुष्ठ के मांसगत होने पर स्थूलता, स्थिरता, मुख का सूखना, कर्कशता, पिडकाओं की उत्पत्ति, सुई चुभोने जैसी पीड़ा का होना, फोड़ों की उत्पत्ति तथा स्थिरता आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं ।

मेदगत—कुष्ठ के मेदगत होने पर अंगुलि आदि का गलकर गिरना, गति करने में असमर्थता, अङ्गों में पीड़ा-घाव आदि उत्पन्न होना मेदगत कुष्ठ के लक्षण हैं।

अस्थि एवं मज्जागत—आंखों में लाली का होना, नासिका बैठ जाना, मुखौटा डरावना होना, घावों का बन जाना एवं उनमें कीड़ों का पड़ जाना आदि लक्षण अस्थि व मज्जागत कुष्ठ के हैं।

**चिकित्सा—**

दोषानुसार (१) कुष्ठों की वात की प्रधानता होने पर रोगी को घृतपान कराना चाहिए।

(२) कुष्ठों में कफ की प्रधानता होने पर रोगी को वमन कराना चाहिए।

(३) कुष्ठों में पित्त की प्रधानता होने पर रक्तमोक्षण एवं विरेचन कराना चाहिए।

कुष्ठ में लेप का महत्व—

कुष्ठ रोग से पीड़ित जिन व्यक्तियों का वमन विरेचन एवं रक्तमोक्षण कर दिया गया है, ऐसे कुष्ठ रोगियों को कुष्ठ के स्थान पर जो लेप लगाये जाते हैं उन लेपों से कुष्ठ शीघ्र ही ठीक हो जाते हैं।

कुछ प्रमुख लेपों का वर्णन—

(१) बड़ी इलायची, कूठ, दारुहल्दी, सौंठ, चित्रक, वायविडङ्ग, रसौत व हरड़ को समान भाग जल में घिसकर लेप करें।

(२) चित्रक, बड़ी इलायची, चिम्बी, अडूसा, निशोथ की पत्ती एवं मूल, मदार की पत्ती, सौंठ का समान भाग में चूर्ण बनाकर गोमूत्र से छने हुए पलास के क्षार में ८ दिन तक भावना देने के बाद इस लेप का प्रयोग धूप में करें।

(३) रांगा, सीसा और लोहा इनके चूर्ण के लेप से मण्डल कुष्ठ नष्ट होता है।

(४) जटामांसी, मरिच, सेंधानमक, हल्दी, तगर, सेंहुड़ की छाल, गृहधूम पित्त, पलाश का क्षार को पीसकर लेप करने से कुष्ठ नष्ट हो जाता है।

(५) फल्गु, चित्रक, वनभंटा, सेंधानमक और देवदारु इनके समान भाग के चूर्ण को गोमूत्र और गोधा के मांसरस से पीसकर लेप करना चाहिए।

(६) सिरस की छाल का कल्क, मकोय की पत्ती का कल्क, कपास के फूल का कल्क, अमलतास की पत्ती का कल्क का अलग-२ प्रयोग।

(७) मालती फूल की पत्ती का कल्क, इन्द्र जौ का कल्क, धाय के फूल का कल्क, लोध्र का कल्क, करञ्ज की गुटी का कल्क का अलग अलग लेप करें।

(८) कूठ, करञ्ज व चकवड़ का बीज जल में पीसकर लेप करने से कुष्ठ ठीक होता है।

(९) केला, पलास, पाटला, चिचुक आदि द्रव्यों को स्वच्छ क्षार जल को मांस की सिद्धि में पिष्ट को पकाने में किण्व के निर्माण में जल के स्थान पर लेना चाहिए। मांस और चावल के आटे को केला आदि के स्वच्छ क्षार में सिद्ध रखा जाय। जब उससे मेदक तैयार हो जाय तो उसके किण्व का लेप करना उत्तम होता है। इस लेप को लगाकर धूप से सेकना चाहिए।

(१०) नागरमोथा, आंवला, मदनफल, हरड़, बहेड़ा, करञ्ज की पत्ती, अमलतास की पत्ती, इन्द्रयव, दारुहल्दी, छतिवन इन द्रव्यों से पकाये हुए जल से कुष्ठ के रोगी को स्नान कराना चाहिए।

तेल वर्ग का सेवन—

१. श्वेतकरवीरपल्लवाद्य तेल श्वेत कनेर की पत्ती का रस, गोमूत्र, सरसों का तेल इन्द्रयव वाय विडंग, कूठ, मदार का मूल, पीली सरसों, सहिजन की छाल कुटकी इन सबका कल्क तेल से चतुर्थांश मिलाकर तेल पाक कर लें और इसी का सेवन करें।

२. कुष्ठाद्य तेल—कूठ, मदार की मूल, तूतिया, कायफल, मूली बीज, हरड़, कुटकी, इन्द्र जौ, नील कमल, नागरमोथा, कनेर की मूल, कासीस, चकवड़ का बीज, नीम की छाल, पाठा, दुरालभा, चित्रकमूल, बायविडंग, कडुवी लौकी का बीज, कबीला, पीली सरसों, वचा, दारुहरिद्रा आदि के क्वाथ व कल्क द्वारा सिद्ध किये गये तिल तेल का प्रयोग करें।

३. तिक्तेक्ष्वाकादि तेल—तितलौकी का बीज, दोनों तूतिया, गोरोचन, हल्दी, दारुहल्दी, वनभंटा का फल, एरण्ड मूल, इन्द्रायण का फल, चित्रक मूर्वा, कासीस, हींग, सहिजन की छाल, सोंठ, मरिच, पीपर, देवदारु, तुम्बुरु, बायविडंग, कलिहारी का मूल, कुरैया की छाल, कुटकी इन सभी का कल्क आधा सेर, सरसों का तेल

२ सेर, गोमूत्र ८ सेर तैल पाक कर विधि प्रयोग करें।

४. सरसों, करञ्ज, कडुई तोरई, इंगुदी, खदिरसार आदि का तेल कुष्ठ में उपयोगी है।

५. जीवन्ती, मजीठ, दारुहल्दी, कमीला का क्वाथ और तूतिया कल्क देकर घृत और सरसों का तेल पकावें। जब स्नेह पक जाये तो सर्जरस और मोम छोड़ दें, सभी कुष्ठों में प्रयोग करें।

कुछ अन्य प्रयोग—

मुस्तादि चूर्ण— नागरमोथा, सोंठ, मरिच, पीपर, आंवला, हरड़, बहेड़ा, मजीठ, देवदारु, दोनों पंचमूल, छतिवन की छाल, इन्द्रायण का मूल, निशोथ का मूल, मूर्वा के समभाग का चूर्ण कर कपड़छन करें।

१ भाग चूर्ण एवं ६ भाग सत्तू यव को मधु के साथ रोगी को खिलावें।

२. त्रिफलादि चूर्ण—त्रिफला, अतीस, कुटकी, नीम की छाल, इन्द्रयव, वच मोथा, परवल की पत्ती, पीपर, हल्दी, पद्मकाठ, मूर्वा, इन्द्रायण का मूल, चिरायता, पलाश की छाल प्रत्येक २-२ पल, सफेद निशोथ ४ पल, ब्राह्मी का चूर्ण ८ पल को मिलाकर कपड़छन करें। ५ माशा मधु व घृत के साथ सेवन करें।

३. गन्धक + आंवला के स्वरस को मधु के साथ दें।

४. पारद भस्म व शिलाजीत का नित्य सेवन कुष्ठ में लाभदायक है।

५. मध्वासव— खदिर व देवदारु के सार को बराबर मात्रा में लेकर उसका क्वाथ बनावें और उसमें १ प्रस्थ मधु, लोहे की भस्म ८ पल, त्रिफला, इलायची बड़ी, दालचीनी, मरिच, तेजपत्ता, नागकेशर १-१ कर्ष इनका चूर्ण और मधु के बराबर चीनी डालकर एक तक लोहे के पात्र में १ महीने तक सन्धान कर रख छोड़ें। समयोपरान्त इसका प्रयोग कुष्ठ रोग में करें।

७. कनकबिन्द्वरिष्ट—खदिरसार का क्वाथ १ द्रोण को घृत भावित मिट्टी के घड़े में रखकर उसमें त्रिजात एवं त्रिफला, वायविडंग, हल्दी, नागरमोथा, अडूसा, इन्द्रयव, सौवर्चलवण, गुडूची इन सबके ६-६ पल चूर्ण लें एवं सन्धान कर एक महीने गाड़कर रखें।

१ से २ तोला की मात्रा जल के साथ प्रातःकालीन भोजन के बाद लें।

७. त्रिफला योग—हरड़, बहेड़ा, आंवला, आधा-आधा पल, परवल की पत्ती १/४ पल, कुटकी, नीम की छाल, मुलहठी, त्रायमाणा प्रत्येक १-१ कर्ष, मसूर की दाल २ पल सभी को १ आढ़क जल में क्वाथ करें। आठवां भाग शेष रहने पर ४ पल गोघृत मिला पकावें। ८ पल शेष रह जाय तो गुनगुना ही रोगी पिलावें।

८. तिक्तषट्पलक घृत—निम्ब की छाल, परवल की पत्ती, कुटकी, आंवला, हरड़, बहेड़ा का छिलका, दारुहल्दी, दुरालभा, पित्त पापड़ा और त्रायमाणा प्रत्येक द्रव्य आधा-आधा पल इन सबका १ आढ़क जल में क्वाथ करें। जब अष्टमांश शेष रहे तब उतारकर छान लें और लाल चन्दन, चिरायता, पीपर, त्रायमाणा, नागरमोथा, इन्द्रयव ये प्रत्येक द्रव्य आधा-आधा कर्ष लेकर कल्क बनायें। अब इस क्वाथ और कल्क के द्वारा नूतन गोघृत ६ पल का पाक करें। जब घृत मात्र शेष रह जाय तो छानकर रख लें। इसे रोगी को दें।

९. महातिक्तक घृत—छतिवन की छाल, अतीस, अमलतास की पत्ती, कुटकी, पाठा, नागरमोथा, खस, त्रिफला, परवल की पत्ती, नीम की छाल, पित्त पापड़ा, धमासा, लाल चन्दन, पीपर, पद्मकाठ, हल्दी, दारुहल्दी, वच, इन्द्रायण का फल, शतावर, अनन्तमूल, कचूरो, इन्द्रयव, यवासा, मूर्वा, गुडूची, चिरायता, मुलेठी, त्रायमाणा, इनका कल्क बनावें और गोघृत कल्क से चतुर्गुण, गोघृत से जल अष्टगुण और घृत से द्विगुण आंवले का स्वरस मिलाकर घृत का पाक सिद्ध करें। प्रातः एवं सायं सेवन करें।

१० कुष्ठनाशक अष्टकषाय—(१) दारु हरिद्रा के क्वाथ से निर्मित रसवत।

(२) अमलतास की पत्ती व कुरैया की छाल

(३) नीम और परोरा की पत्ती,

(४) खदिर का सार (५) छतिवन की छाल

(६) त्रिफला—इन सबका क्वाथ बनाकर पीवें।

(७) कनेर मूल कल्क कुष्ठ में लेपकर कनेर के मूल के चूर्ण से घर्षण और अवचूर्णन के लिए प्रयोग करें।

(८) तिमिश का क्वाथ स्नान के लिए एवं पीने के लिए करें।

*

# ॐ कुष्ठ रोग ॐ

डा० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी शास्त्री, के. १०/६ घासीटोला, वाराणसी (उ.प्र.)
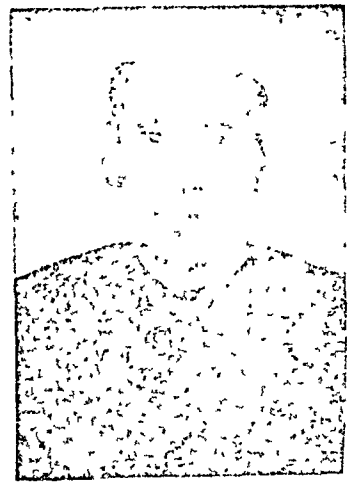
- ★ 'धन्वन्तरि' के पुराण प्रसिद्ध मान्य लेखक ।
- ★ अष्टाङ्ग आयुर्वेद के सिद्ध विद्वान वैद्य ।
- ★ संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित ।
- ★ अनेकों आयुर्वेदीय ग्रन्थों के रचयिता ।
- ★ भारतवर्ष के प्रतिभा सम्पन्न आयुर्वेदीय विद्वान ।
- ★ अनेकों मानद उपाधियों से अलंकृत ।
- ★ विभिन्न संस्थाओं से संलग्न ।
- ★ वाराणसी नगर के लोकमान्य पण्डित ।
- ★ भूतकालीन प्राचार्य, प्राध्यापक —आयुर्वेदिक कालेज ।

—वैद्य किरीट भाई पण्डया-विशेष सम्पादक ।

शब्द निरुक्ति—'कुष्णाति अंगम् अङ्गानि वा' अर्थात् जिस रोग में शरीर के अवयव फट जांय अथवा खींचने की जैसी जिसमें वेदना हो उसे कुष्ठ कहते हैं। इसमें 'कुष् निष्कर्षे' धातु से क्थन् प्रत्यय होकर इस शब्द की निरुक्ति होती है। जो रोग आक्रांत संस्थान को गला या सडा देता है, उसे भी कुष्ठ कहते है। यहां कुष्ठ शब्द की सभी व्युत्पत्तिया सहायक प्रतीत होती है।

कुष्ठ शारीर—शारंगधराचार्य ने शारंगधर संहिता पूर्व खंड के पांचवें अध्याय में त्वचा परिचय दिया है। यही कुष्ठ रोग का मूल अधिष्ठान है। यह रोग महाकुष्ठ और क्षुद्र कुष्ठ भेद से अठारह प्रकार का माना गया है। उक्त आचार्य ने अपनी दृष्टि से त्वचागत कुष्ठों का यहां विवरण दिया है। यथा—पहली या बाहर की त्वचा का नाम 'अवभासिनी' है। यह काला, गोरा, पीला और लाल वर्णों को अवभासित (प्रकट) करती है। सिध्म या सेहुआं नामक कुष्ठ इसी में होता है। दूसरी त्वचा का नाम 'लोहिता' है। रक्त केशिकायें यहां तक पहुँची रहती हैं। यह तिल और झाईं का स्थान है। तीसरी का नाम 'श्वेता' है। यह चर्मदल या चर्मदल कुष्ठ का स्थान है। चौथी त्वचा का नाम 'ताम्रा' है। यह किलास कुष्ठ (लाल वर्ण का श्वेत कुष्ठ) एवं श्वेत कुष्ठ या फुलवहरी का स्थान है। पांचवीं त्वचा का नाम 'वेदिनी' है। यहीं पर सब प्रकार के कुष्ठ होते है। विशेष परिचय प्राप्त करने के लिए देखें च. शा. अ. ७/४, च. चि. अ. ११/१७ तथा सु. शा. अ. ४/५ : इनमें त्वचाओं से सम्बन्धित विस्तृत परिचय आपको प्राप्त होगा।

विवादास्पद रोग -महर्षि चरक ने सभी कुष्ठों को पाप रोग कहा है। धार्मिक ग्रन्थों में पाप का निराकरण करने के लिए बड़े बड़े प्रायश्चित करने पड़ते हैं। यही स्थिति आयुर्वेदिक दृष्टि से कुष्ठ रोग की चिकित्सा की भी है। इसके आगे पुनः किलास कुष्ठ की उत्पत्ति का हेतु पूर्वजन्मकृत पापों को माना है। देखें—च. चि. अ. ७। महर्षि सुश्रुत इसे परम्परागत रोग स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता है, कि कुष्ठ रोग से युक्त स्त्री अथवा पुरुष के रजस् या वीर्य मे यदि कुष्ठ रोग का प्रभाव पड़ा हो और उससे सन्तानोत्पत्ति हुई हो तो वह सन्तान जन्म से अथवा कुछ समय बाद कुष्ठ रोग से युक्त हो जाती है। ध्यान रहे ये वचन महर्षि सुश्रुत के सप्त धातु का कुष्ठ निदान प्रकरण के हैं। देखें सु नि. अ. ५।

महर्षि चरक ने किलास कुष्ठ के भेदों में ही श्वित्र कुष्ठ को स्वीकार किया है। आचार्य भालुक ने अपने तन्त्र में लिखा है—'मेदाश्रितं भवेच्छ्वित्रम्' अर्थात् कुष्ठ का प्रभाव मेदो धातु पर पड़ता है तो सफेद या श्वेत कुष्ठ होता है। परन्तु महर्षि सुश्रुत ऐसा स्वीकार नहीं करते। देखें- सु. नि. ५। उपर्युक्त विवेचनों के अतिरिक्त श्वेत कुष्ठ जन्मजात भी देखा जाता है।

आयुर्वेद में वात, पित्त, कफ की दुष्टि निमित्त पर जैसे अपना मत स्थिर किया है, वैसे ही एलोपैथी कीटाणु की हिमायती है। आयुर्वेद में भी कुष्ठ रोग की उत्पत्ति के लिए क्रिमियों की सत्ता को स्वीकार किया है। देखें—चा. नि. अ. १४। इसके अतिरिक्त वंशज दोष, छूआछूत तथा उपदंश रोग की विकृति भी इस रोग को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं।

यद्यपि आज कुष्ठ को छूआछूत का या संसर्गज रोग नहीं मान रहे हैं, फिर भी कुछ प्राचीन डाक्टरों ने इसे स्वीकार किया है। उनका कथन है कि कुष्ठ या लिप्रोसी एक संसर्गज रोग है, जो हानसेन्स बेसीलाई या लेप्रा बेसीलाई के संक्रमण के कारण उत्पन्न होता है। इसी प्रकार की धारणा आज श्वेत कुष्ठ के सम्बन्ध में चल पड़ी है, अस्तु।

चर्म रोग में वृद्धि—कृषि रसायन, रासायनिक खादें, नायलोन आदि कृत्रिम धागों से निर्मित कपड़े, डिटरजेंट, अनेक प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधन, प्लास्टिक जूते, नायलोन के अण्डर वियर, बनियान, दस्ताने तथा मोजे या जुराब आदि कारणों से भारतवर्ष में प्रतिदिन चर्मरोग की घटनायें बढ़ती जा रही हैं, जिनके फलस्वरूप यहाँ कुष्ठ का प्रकोप दिनोंदिन बढ़ रहा है। इसके अतिरिक्त खान-पान की गड़बड़ियाँ भी जो होटलों के भोजन में या अमर्यादित भोजन से तथा संयम के अभाव में हो रही हैं, ये भी इसमें प्रधान कारण हैं।

दोष विचार—महर्षि वाग्भट्ट के अनुसार कुष्ठ रोग सात प्रकार का होता है—१. वातज २. पित्तज, ३. कफज, ४. त्रिदोषज ५. वात-कफज ६. पित्त कफज तथा सन्निपातज। उक्त भेद दोषों की विशेषता के कारण कहे गये हैं, फिर भी सभी कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं।

संक्रामक रोग—कुष्ठ, ज्वर, शोष (राजयक्ष्मा तपेदिक या टी० बी०), आँख आना (नेत्राभिष्यन्द), औपसर्गिक रोग (भूत-प्रेत बाधा आदि) ये एक से दूसरे में फैल जाते हैं। आजकल एड्स भी ऐसा ही औपसर्गिक रोग है, मसूरिका, लघु मसूरिका, ग्रन्थि, विसर्प, उपदंश (गर्मी-सुजाक), खुजली आदि भी इसी में आते हैं।

संक्रमण प्रकार—स्त्री सहवास करने से, परस्पर शरीर पर रगड़ लगने से, श्वास-उच्छ्वास के सम्पर्क से, एक ही साथ एक ही पात्र में भोजन करने से, एक ही बिस्तरे पर सोने से, दूसरे के पहने हुए वस्त्रों, जूते, चप्पल, मोजे आदि को धारण करने से, दूसरे के द्वारा धारण की हुई माला, चन्दन, क्रीम, पाउडर आदि लगाने से रोग का संक्रमण हो जाता है।

साध्यासाध्य भेद—त्वचा, रक्त, मांस में वात एवं कफ दोष की अधिकता से होने वाला कुष्ठ रोग साध्य होता है। मेदोगत कुष्ठ यदि दो दोषों के कारण हुआ हो तो याप्य (चिकित्सा द्वारा चलाने योग्य) होता है। मज्जा और अस्थिधातु में आश्रित कुष्ठ चिकित्सा करने योग्य नहीं होता, अतएव उसे त्याज्य कहा गया है। क्रिमि, प्यास, जलन, मन्दाग्नि आदि उपद्रवों से युक्त, सन्निपातज तथा जो फूट गया हो, जिसमें से स्राव निकल रहा हो, रोगी की आँखें लाल हो गई हों, आवाज बैठ गई हो, जिसमें पञ्चकर्म की चिकित्सा असफल हो गई हो, ऐसा कुष्ठ रोग असाध्य होता है।

किलास कुष्ठ में विचार—श्वेत कुष्ठ जिस स्थान पर हुआ हो उस स्थान के रोम यदि सफेद न हुए हों, वह अधिक फैला न हो, अनेक दाग होने पर भी एक दूसरे से मिले न हों, रोग नया हो तथा जो सफेद दाग आग से जलने के कारण पैदा न हुआ हो तो इसे साध्य समझें, इसके विपरीत असाध्य होता है। यदि किलास या श्वेतकुष्ठ लिंग, योनि, हाथ की हथेली तथा होठों पर नया भी उत्पन्न हुआ हो तो उसकी चिकित्सा न करें क्योंकि वह असाध्य होता है।

चिकित्स्य असाध्य—आयुर्वेद का सामान्य नियम है कि रोग के असाध्य लक्षणों को देखकर उसकी चिकित्सा न करें। यदि करनी भी हो तो रोगी के अभिभावकों को सावधान करके ही चिकित्सा करें, अन्यथा चिकित्सक अपयश का भागी होता है, किन्तु कुष्ठ-रोग में यह विशेषता है कि पूर्वजन्म के पाप कर्मों का क्षय हो जाने पर यह रोग स्वयं ही ठीक हो जाता है। देखें—

कर्मक्षयात् कर्मजाता दोषजा स्वशमैर्जः ।
कर्मदोषोद्भवा यान्ति कर्मदोषक्षयात् शमम् ॥

चिकित्सा—

ऊपर यहाँ बताये गए भेद में अठारह प्रकार के

कुष्ठों की चर्चा की गई है। हम यहां सामान्य दृष्टि से अपने चिरकालिक कुछ अनुभूत योगों का उल्लेख करेंगे जिसमें हमें सदा सफलता मिलती रही है। इस बात की चिकित्सा करने से पहले अवश्य ध्यान देना चाहिए कि रोगी में असाध्य लक्षणों की उत्पत्ति तो नहीं हो गई, यदि हो गई हो तो रोगी के परिजनों को उस असाध्य लक्षणों की सूचना अवश्य दे दें, जिससे आपकी योग्यता पर धब्बा न लगे।

प्रमुख निर्देश--कुष्ठ रोगी को नमक का सेवन सर्वदा छुड़ा दें। घी मिले हुए दूध का प्रयोग भोजन तथा पीने के रूप में अवश्य प्रतिदिन करायें।

कुष्ठ रोगनाशक उपाय--

क्वाथ--लघुमंजिष्ठादि क्वाथ तथा बृहन्मंजिष्ठादि क्वाथ का प्रयोग करायें।

चूर्ण--त्रिफला चूर्ण, त्र्यूषण चूर्ण, नारायण चूर्ण, हपुषादि चूर्ण, लवण भास्कर चूर्ण, पञ्चनिम्ब चूर्ण, चित्रकादि चूर्ण।

वटक, वटी, मोदक, गुग्गुलु--मण्डूरवटक, चन्द्रप्रभा वटी, त्रिफला मोदक अभयादि मोदक, योगराज गुग्गुलु, कैशोर गुग्गुलु, कांचनार गुग्गुलु।

घृत तेल--अमृता घृत, महापञ्चतिक्त घृत, कासीसादि घृत, षड्विन्दु घृत, पञ्चतिक्त घृत, वज्री तेल, अर्क तेल, मरिचादि तेल।

आसव-अरिष्ट--उशीरासव, लोहासव, खदिरारिष्ट, बब्बूलारिष्ट, देवदार्वादि अरिष्ट, दशमूलारिष्ट।

रस--उदयादित्य रस, कुष्ठकुठार रस, स्वर्णक्षीरी रस, कनकसुन्दर रस।

**प्रमुख कर्म--**

वमन, विरेचन, विरेचन नस्य, रक्तनिर्हरण या रक्तमोक्षण। इनकी विधि योग्य चिकित्सक से सीखें। ये सभी योग तथा विधियां योगतरंगिणी, भावप्रकाश, भैषज्य रत्नावली, शार्ङ्गधर संहिता आदि संग्रह ग्रन्थों में उपलब्ध हैं।

अनुभूत चिकित्सा--श्वेत कुष्ठ रोगी का निदान कर लेने पर जब असाध्य स्थिति न हो तो निम्नलिखित चिकित्सा करें--

उदयादित्य रस २-२ रत्ती की मात्रा बनाकर अमृता घृत में मिलाकर दिन में ३ बार लें। उसके तुरन्त बाद पटोलादि क्वाथ गुनगुना पीवें।

मरिचादि तेल की उस शरीरावयव पर दिन भर में अनेक बार मालिश करें।

श्वित्रहर लेप को सोते समय उस स्थान पर लेप करें। हो सके दिन में मालिश करने के बाद लेप लगायें। सूख जाने पर लेप को हटाकर फिर मरिचादि तेल लगाकर फिर लेप कर दें।

विशेष--ये सभी योग शार्ङ्गधर संहिता में दिये गये हैं। इनके निरन्तर सेवन करने से श्वित्र रोग दूर हो जाता है।

गलित कुष्ठ चिकित्सा--

यद्यपि ऐसे योगों को धन लोलुप चिकित्सक समाज प्रकाशित नहीं करता, जिससे आयुर्वेद की अवमानना होती है, किन्तु मैंने स्वर्गीय गुरुवर वैद्य लालचन्द्र जी की प्रेरणा से प्रेरित होकर कभी भी किसी उत्तम फलदायक योग को छिपाने का प्रयास नहीं किया। तदनुसार एक चिकित्सा विधि यहां प्रस्तुत है--

रसमाणिक्य, ताल सिंदुर, मल्ल सिंदूर प्रत्येक १-१ रत्ती, एक मात्रा। दिन भर में तीन बार। अनुपान--गुडूची घृत मधु से। सहपान--लघुमंजिष्ठादि क्वाथ।

निर्माण विधि--क्वाथ द्रव्यों को साफ करके १ पाव पानी में भिगा दें। १ घण्टे के बाद मिट्टी के पात्र में डालकर धीमी आंच पर पकावें, चतुर्थांश जल शेष रहने पर उतारकर छान लें, गुनगुना होने पर पीलें।

महातिक्त घृत--चाय की चम्मच से एक चम्मच लेकर प्रातः सायं इसका सेवन करें। इसके तुरन्त बाद गरम दूध में गाय का घी १ चम्मच और चीनी मिलाकर पीयें।

सोमराजी प्रयोग--जो कुष्ठ रोगी काली जीरी और काले तिलों को मिलाकर १२ (६+६=) की मात्रा में प्रतिदिन सेवन करता है उसका शरीर चन्द्रमा की कांति से भी अधिक सुन्दर हो जाता है।

कुष्ठ रोग में पथ्य--इसमें १५-१५ दिन पर वमन, १-१ महीने पर विरेचन, ३-३ दिन पर नस्य और ६-६ मास पर रक्तमोक्षण कराना चाहिये। खाने के लिए

--शेषांश पृष्ठ १०१ पर देखें।

# चम्बल (छाजन, पामा, एक्जीमा)

डा० जहान सिंह चौहान, ठठिया (फरुखाबाद) उ० प्र०।

आयुर्वेद में चम्बल (Eczema) को 'पामा' कहा गया प्रतीत होता है, जैसा कि सुश्रुत ने कहा है कि

स्राव, कण्डू एवं दाह से युक्त सूक्ष्म पिडिकायें हो जायें तो उसे पामा रोग समझना चाहिए।

—सु नि. ५/१२

सम्प्राप्ति—

देहाग्नि की मन्दता या अति तीव्रता अर्थात कफ वृद्धि और पित्त वृद्धि से शरीर में कुछ विष पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं अथवा उनमें से जब किसी एक की अथवा दोनों की वृद्धि होती है और उसे जब बाहरी त्वचा सहन नहीं कर पाती है और उससे वह विक्षुब्ध हो जाती है तब ऐसी स्थिति में स्वल्प से बाहरी विक्षोभक पदार्थ के द्वारा उस त्वचा में शोथ हो जाता है, इसे पामा कहा जाता है। इस प्रकार से शरीर में कफ की वृद्धि अथवा पित्त की वृद्धि से यह रोग होता है।

आधुनिक दृष्टिकोण से—

परिचय—वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय शिक्षा तथा समाज कल्याण मन्त्रालय, भारत सरकार के वृहत पारिभाषिक शब्द संग्रह के अन्तर्गत आधुनिक नाम एक्जीमा को ही छाजन, पामा माना गया है जो आयुर्वेद नाम चम्बल (छाजन, पामा, एक्जीमा) की पुष्टि करता है।

असंक्रामी (non-infective) प्रकार का त्वचा का ऐसा शोथज रोग है जिसमें कण्डू (itching), शल्कन (scaling), स्रवण (oozing) आदि अथवा किसी भीतरी कारण से उत्पन्न होते हैं। एक्जीमा कहलाता है। इस रोग से पीड़ित रोगी जनरल प्रैक्टिस में देखने में अधिक आते हैं। अतएव इनके निदान एवं चिकित्सा के विषय में जानना बहुत आवश्यक है। यह वास्तव में कोई विशेष रोग नहीं है, बल्कि त्वचा शोथ का एक रूप है।

रोग के सम्बन्ध में कुछ आधुनिक त्वचा विज्ञान साहित्य के लेखकों का विचार—

त्वचा विज्ञान प्रवेशिका के लेखक डा० अ० ध्य० सायजी भूतपूर्व विभाग प्रमुख त्वचा विज्ञान शासकीय मेयो जनरल हास्पीटल एवं कार्पोरेशन मेडिकल कालेज नागपुर ने पामा को स्केबीज (Scabies) नाम दिया है। उनका कहना है कि सामान्यतः किसी भी सार्वजनिक बाह्य रुग्णालय के चर्म विभाग में आने वाले रोगियों में दस प्रतिशत रोगी पामा के होते हैं। पामा का आघटन दर अत्यधिक प्रमाण में भयप्रद है। इस उपसर्ग का कारण तथा परिणाम उपचार ज्ञात होते हुए भी इसका आघटन इतने अधिक प्रमाण में होना निःसन्देह खेदजनक है। उन्होंने इस रोग की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में बताया है कि पामा के उपसर्ग में सरकोप्टिस स्केबाई (Sarcoptes scabic) नामक अष्टपाद से होता है।

इसी प्रकार से एलोपैथिक निदान और चिकित्सा के विद्वान लेखक डा० रतनलाल ३६५ जानी एम. डी., डा० भाटिया एवं विदय रिख ने आधुनिक नाम स्केबीज (Scabics) को पामा नाम दिया है।

इस प्रकार से यहां पामा रोग आधुनिक दृष्टिकोण से आयुर्वेदिक दृष्टिकोण भिन्न हो जाता है। यहां पर हम आयुर्वेदिक दृष्टिकोण एवं भारत सरकार की वैज्ञानिक तकनीकी शब्दावली आयोग के ही आधार

पर चम्बल (छाजन, पामा, एक्जीमा) का एक ही नाम मानकर वर्णन कर रहे हैं।

कारण—

आयुर्वेदिक दृष्टिकोण से इस रोग का कारण कफ वृद्धि अथवा पित्त की वृद्धि से माना जाता है।

आधुनिक दृष्टिकोण से इस रोग के दो प्रवर्तन पूर्व कारण माने जाते है—

१. स्थानीय प्रवर्तन पूर्व कारण

२. सार्वदैहिक कारण

१ स्थानीय प्रवर्तन पूर्व कारण—इसके अन्तर्गत निम्न अवस्थायें आती हैं—१. आयु, २. आनुवंशिकता, ३. एलर्जी, ४. स्व-विषाक्तता, ५. शर्करामेह, ६. चिरकारी वृक्क रोग, ७. क्षय आदि दुर्बलता उत्पन्न करने वाले रोग, ८. विक्षिप्ति (Psychoneurosis), ९. चिंता १०. अतिश्रम।

पाचन विकार, शारीरिक कमजोरी, वंशज प्रभाव, वृक्कशोथ मधुमेह, छोटे जोड़ों का दर्द एवं अन्य जोड़ों का दर्द, स्थानीय खराश, साबुन का अधिक प्रयोग, उदर कृमि, पसीने की अधिकता, चर्म से भूसी उतरना आदि कारण विशेष माने जाते हैं। दुर्भाग्यवश अभी तक बहुत से एक्जीमा में यह पता नहीं चलता है कि कारण क्या है। साधारणत: ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह एलर्जिक प्रतिक्रियाओं के कारण होता है।

प्रकार—

आधुनिक दृष्टिकोण से यह रोग दो प्रकार का होता है—

१. नया तीव्र (Acute)

२. पुराना क्रानिक (Chronic)

इनके भी निम्नलिखित कई प्रकार हैं—

(अ) एट्रोपी एक्जीमा (Atropic eczema)।

(आ) सस्पर्श एक्जीमा (Contact eczema)।

(इ) चक्राभ छाजन (Discaid eczema)।

(ई) रोमकूपी संक्रामी छाजन (Follucular infective eczema)।

(उ) आकुंचन संक्रामी छाजन (Flexular infective eczema)।

(ऊ) संक्रामी छाजन (Infective eczema)।

(ए) नाणकाभ छाजन (Nommular eczema)।

(ऐ) सौर छाजन (Solar eczema)।

(ओ) अपस्फीत छाजन (Varicose eczema)।

(औ) स्रावी या गीला छाजन (Wheeping eczema)।

(अं) स्थान के अनुसार जैसे–हथेली का एक्जीमा, करतल छाजन, गुदा स्थान का छाजन, योनि द्वार का एक्जीमा (Eczema vulvae) आदि।

(अ:) शुष्क छाजन—इसमें स्राव नहीं निकलता है।

सूक्ष्म जीवाणुजन्य-एक्जीमा

तीव्र एक्जीमा

एक बच्चे के मुख मण्डल का स्थायी एक्जीमा

की ऊपरी स्तर उतरने लगता है।

द्वितीयावस्था इस अवस्था में अधिक मात्रा में छोटे छोटे छाले उत्पन्न हो जाते हैं। उनके समीप-समीप होने के कारण एक बड़ा छाला बन जाता है।

तृतीयावस्था इस अवस्था मे वे छाले (विस्फोट) फट जाते हैं और उनसे गाढ़ा तरल बहता है। इसे स्रावी एक्जीमा (Wheeping eczema) कहते हैं।

चतुर्थावस्था ऐसी अवस्था मे स्राव कुछ तो निकल जाता है और कुछ वहां पर जम जाता है। वहां की त्वचा भी चिपक जाती है और खुरण्टों का रूप धारण कर लेती है।

रोग निदान—रोग का निदान निम्न बातों को देखकर करना चाहिए- १. स्थानीय लालिमा, २. निःस्राव, ३. कण्डू, ४. पपड़ी जमना, ५ त्वचा की स्थूलता (मोटापन), ६. त्वचा पर दरार पड़ना।

उपरोक्त के अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि एक्जीमा उन जगहों पर अधिक पाया जाता है जहां शरीर के दो भाग आपस मे रगड़ खाते हैं। जैसे-उरुसन्धि, बगल, कानों के पीछे अथवा लटकते हुए स्तनों के नीचे। इसके अतिरिक्त नि.स्राव पपड़ी के रूप मे क्षत पर एकत्रित होता रहता है। यहां तक कि रोगी के कपड़े तक को सख्त बना देता है।

**चिकित्सा सिद्धान्त—**

एक्जीमा की चिकित्सा इस आधार पर की जाती है कि यह किस अवस्था में है. इसके कारणों पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता नही है। चिकित्सा का प्रधान लक्ष्य बार-बार उठने वाली खुजली से रोगी को राहत दिलाना है।

रोगी को क्षोभक खाद्य पदार्थों एवं ऐसे भोजन से बचना चाहिए जिनके प्रति असात्म्यता हो।

किन्हीं कारणों से रोगी का स्वास्थ्य विकृत हो तो कारण को दूर करके उसका स्वास्थ्य सुधारना चाहिए।

मद्यपान का पूर्ण निषेध आवश्यक है। तेज चाय और कॉफी भी बहुत कम मात्रा मे लेनी चाहिए।

एक्जीमा के क्षतों को खरोंचना बिलकुल मना कर देना चाहिए। इससे द्वितीयक संक्रमण की पूर्ण सम्भावना रहती है।

प्रारम्भ में जब रोग तीव्र हो चिकनी मरहमों की अपेक्षा पानी वाले लोशन से चिकित्सा करें। जब तरल बन्द हो जाये तब धीरे-धीरे चिकने मरहमों का प्रयोग करें।

मानसिक तनाव की स्थिति, नमक का पानी, साबुन, तीव्र धूप, ठंडा, गर्म, तेज क्षोभक मरहम के उपयोग से बचना चाहिए। कुछ अवस्थाओं में कम नमक के खाद्य से भी लाभ हुआ है।

जल का प्रचुर मात्रा में सेवन किया जावे।

मलावरोध रोगी में न रहने दें, यदि हो तो उसकी उचित चिकित्सा करें।

**साध्यासाध्यता—**

एक्जीमा एक चिरकारी स्वरूप का रोग है। जब तक मूल कारण का पता नही लग जाता, इसको सदा के लिए ठीक कर पाना कठिन होता है। एक बार के आक्रमण को उचित चिकित्सा के द्वारा ठीक किया जा सकता है। प्रायः इसकी उत्पत्ति कुछ अन्तराल पर होती रहती है। चिकित्सा से ठीक होने पर यह पुनः-पुनः प्रकट होता रहता है।

**आधुनिक चिकित्सा—**

एक्जीमा की चिकित्सा के दो अङ्ग हैं—

(१) आन्तरिक चिकित्सा (२) स्थानीय चिकित्सा

१. आन्तरिक चिकित्सा—मुख द्वारा प्रयोग के लिए निम्न ओषधियां देनी चाहिए—टेबलेट प्रेडनीसोलोन ५ मि.ग्राम, मात्रा—२ टिकिया दिन में दो बार, १० दिन तक। तत्पश्चात १ टिकिया दिन में दो बार, १० दिन तक। इसके बाद १ टिकिया रोज अगले १० दिन तक। इस प्रकार से एक मास तक चिकित्सा की जाती है।

इसके साथ ही खुजली शान्त करने के लिए कैपसूल बैनाड्रिल २५ मि.ग्राम। मात्रा—१ कैपसूल दिन में ३-४ बार। लक्षणों के ठीक होने पर १-२ कैपसूल प्रतिदिन लक्षणों के ठीक होने तक। अथवा—

टेबलेट मैब्रिल (Tab. Mebryl)। मात्रा—१ टिकिया दिन में २ बार। अथवा

इन्जेक्शन बीटाकोर्टिल। मात्रा—१-२ मि.ली. दिन में ३-४ बार मांस में। अथवा

साईनिस्टेमीन (Synistamin) एस. गायगी।

मात्रा—२-४ मि. ली. मांस में १ या २ इन्जेक्शन

२. स्थानीय चिकित्सा—इसके लिए आर्द्र ड्रेसिंग विशेष लाभकारी होती है। सर्वप्रथम पोटेशियम परमैंगनेट अथवा नमक के घोल से पपड़ियों को हटा क्षतों को शुष्क कर निम्न मरहम लगावें—

बैटानोवेट मरहम—दिन में दो-तीन बार लगावें। अथवा साईनिस्टेमीन क्रीम—आक्रांत त्वचा पर दिन में २ बार लगावें। अथवा क्रोटोरिक्स मरहम—आक्रांत स्थान पर दिन में २-३ बार लगावें। अथवा कैलेड्रिल क्रीम व लोशन (पी डी)—एलर्जिक एक्जीमा को दिन में २-३ बार लगावें। यदि संक्रमण भी उपस्थित हो तो ओरियोमाइसिन मरहम लगाना चाहिए। यह बीटामीथासोन + क्लोर टैट्रासाइक्लिन का एक उत्तम योग है।

नोट—जब तक निःस्राव निकलता रहे तब तक ऊपर वर्णित आर्द्र ड्रेसिंग ही उपयोगी रहती है। मरहमों का प्रयोग निःस्राव बन्द होने के बाद करना चाहिए।

पुराने तथा सूखे एक्जीमा में लैसर्स पेस्ट या जिंक पेस्ट लगाने की सिफारिश की जाती है। यदि संक्रमण का संदेह हो तो वायोफार्म क्रीम या डर्मोविवीनोल आइन्टमेंट लगाना चाहिए।

### शास्त्रीय चिकित्सा—

शरीर में कफ-पित्त दोषों की शान्ति के लिए रोगी को लघु सुपाच्य आहार पर रखकर हरीतकी चूर्ण देकर एक हल्का सा विरेचन कराया जाता है। साथ ही 'आरोग्यवर्धिनी' की १ गोली दिन में ३ बार दी जानी चाहिए।

रोग की प्रथमावस्था में—शीत-रूक्ष लेप का प्रयोग विशेष लाभकारी होता है। माजूफल के क्वाथ में भीगे वस्त्र को दिन में कुछ देर के लिए ४-५ बार बांधने से शान्ति मिलती है।

शास्त्रोक्त 'जीरक तेल' अथवा 'जात्यादि तेल' का उपयोग शोथ की शान्ति में अच्छा रहता है।

नवीन तथा स्रावी एक्जीमा की चिकित्सा में—'सिन्दूरादि तेल' (भै. र.) अथवा 'दूर्वादि तेल' (भै. र.) के दिन में दो बार लगाने से पर्याप्त लाभ मिलता है।

जीर्ण अथवा शुष्क एक्जीमा की चिकित्सा में—निम्न तेलों में से किसी का उपयोग बाह्य चिकित्सा के रूप में सफलतापूर्वक किया जा सकता है—

१. सिन्दूरादि तेल द्वितीय (यो० र०), २. हरिद्रादि तेल (र० र०), ३. आदित्य पाक तेल (भै० र०), ४. मरिचादि तेल (शा० सं०), ५. गन्धक पिष्टी तेल (र. र० सं०), ६. श्वेत करवीरादि तेल (ग० नि०), ७. सिन्दूरादि लेप (ग० नि०)।

निम्न शास्त्रीय औषधियों का प्रयोग भी एक्जीमा में (बाह्य प्रयोगार्थ) लाभकारी होता है—

अर्कादि तेल, निशादि तेल, मनःशिलादि तेल, महासिन्दूर तेल, पंचतिक्त घृत, रस कर्पूरादि मलहम।

एक्जीमा की आभ्यन्तरिक औषधियां—

पंचतिक्त घन, किशोर वटी, गन्धक रसायन, महातिक्त घृत, रसाञ्जनादि वटी, बृहत मञ्जिष्ठादि क्वाथ, खदिराष्टक क्वाथ, खदिरारिष्ट, गन्धक रसायन, पंचनिम्ब चूर्ण, सारिवाद्यासव, सत्यानाशी अर्क, पटोलादि क्वाथ, रसमाणिक्य, शुद्ध गन्धक + प्रवाल पिष्टी (दोनों को मिलाकर)। *

---

पृष्ठ ९६ का शेषांश

---

पुराने जौ, गेहूं, शालिधान्य, मूंग, मसूर, अरहर, मधु, जांगल देशीय मृग पक्षियों का मांस, पलाश का फल, बेत का कोमल अग्रभाग, परवल, वनभंटा, मकोय, नीम के पत्ते, लहसुन, हुलहुल, पुनर्नवा, काकड़ासिंगी, चकवड़ के पत्ते, शुद्ध भिलावा, पका ताड़ का फल, खैरसार, चोता, त्रिफला, जायफल, नागकेशर, केसर, पुराना घी, कड़ुई तोरई, करञ्ज, सरसों और नीम का का तेल, हिंगोट का तेल, चीड़, देवदारु, शीशम, अगर, चालमोगरा तेल, गाय, गधा, ऊंट, घोड़ा तथा भैंस का मूत्र, कस्तूरी, शुद्ध गन्धक, तिक्त द्रव्य तथा क्षारकर्म।

अपथ्य—पापकर्म, कृतघ्नता, बड़ों की निन्दा और अपमान, विरुद्ध आहार, दिन में सोना, धूप, विषम भोजन, स्वेदन, मद्यपान, मल-मूत्र के वेगों को रोकना, गुड़, व्यायाम, खटाई, द्रव, गुरु, नवीन अन्न, विदाह और विष्टम्भकारी आहार, मूली, मछली, विन्ध्य की नदियों का जल, आनूप देश मृग-पक्षियों का मांस, दूध, दही, मद्य इनको कुष्ठ रोगी छोड़े। *

# कुष्ठ रोग के परिप्रेक्ष्य में कतिपय औषधियों का वैज्ञानिक निरूपण

वैद्य श्रीकांत इंगुलकर, एम. डी. (आयु०)
आश्रय प्लोट नं. ४०, शान्ति निकेतन कालोनी, राणा प्रताप नगर, नागपुर (महाराष्ट्र)

कुष्णाति नि.शेषेण कर्षति विलेखनं करोति अंग-प्रत्यंगानि धातूपधातूनीति कुष्ठ।

कुष निष्कर्ष धातु से कुष्ठ रोग बना है। क्थ प्रत्यय इसमें लगा है। क्थ प्रत्यय लगाने से निश्चित रूप से अंग-प्रत्यंग तथा धातु उपधातु को कर्षित व छिन्न-भिन्न कर दे ऐसा अर्थ होता है।

कुष्ठ एक खतज विकार है। सुश्रुत ने इसे औपसर्गिक रोग में गिना है। अ. सं. स्पर्शादि निदानों से विशेषतः नेत्र एवं त्वक् विकार का संचरण होता है, इस प्रकार बताया है।

त्वचा के सभी रोग आयुर्वेद में वर्णित कुष्ठ में लिये जा सकते हैं। इसीलिए सुश्रुत ने त्वगामय शब्द कुष्ठ के पर्याय रूप में स्वीकार किया है।

सम्प्राप्ति—

कुष्ठ की सम्प्राप्ति में तीनों दोषों की विकृति एवं त्वक् मांस रक्त, लसीका आदि चार दूष्य बताये हैं। (च. नि. ५)

सुश्रुतानुसार—

निदान सेवन से वातादि दोष प्रकुपित होते हैं और वह दोष तिर्यकगामी शिराओं में पहुँच कर त्वचा, लसीका, रक्त तथा मांस को शिथिल कर दूषित करके बाह्य रोग मार्ग में पहुँचते हैं और मण्डल उत्पन्न करते हैं। इस अवस्था में चिकित्सा न करने से अन्य धातुओं को दूषित करके शरीर के आभ्यन्तर विभाग में फैलता है और त्वचादि दूष्यों को दूषित कर कुष्ठ उत्पन्न करते हैं।

सम्प्राप्ति घटक —

दोष — त्रिदोष (वात, पित्त, कफ)
दूष्य — त्वचा मांस रक्त, लसीका
स्रोतस— रक्तवह स्रोतस
अधिष्ठान—त्वक, मांस

कुष्ठ की सम्प्राप्ति में तीनों दोषों की प्रधानता बताई गई है। दोष और दूष्य की सम्मूर्छना दूर करना ही चिकित्सा है। आयुर्वेद शास्त्र में कुष्ठनाशनार्थ कई औषधियों का वर्णन किया गया है। यह औषधियां अपने रस, गुण, वीर्य, विपाक से दोषों का शमन कर रोगनाशक कार्य करती हैं। इस लेख में कतिपय औषधियां अपने रसादि से किस प्रकार कुष्ठनाशक कार्य करती हैं। उस पर वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकाश डालेंगे।

| औषधि | लेटिन नाम | रस | गुण | वीर्य | विपाक |
|---|---|---|---|---|---|
| १–मंजिठा | Rubia cordifolia (Rubiaceae) | तिक्त-कषाय | गुरु-रूक्ष | उष्ण | कटु |
| २–चोपचीनी | Smilax china [Liliaceae] | तिक्त | लघु-रूक्ष | उष्ण | कटु |
| ३–बाकुची | Psoralia corylifolia [Papilionacae] | कटु-तिक्त | लघु-रूक्ष | उष्ण | कटु |
| ४–हरिद्रा | Curcuma longa [Zingiberaceae] | तिक्त-कटु | लघु-रूक्ष | उष्ण | कटु |
| ५–करवीर | Nerium indicum [Apocynaceae] | कटु-तिक्त | लघु-रूक्ष | उष्ण | कटु |
| ६–सप्तपर्ण | Alstonia scholaris [Apocynaceae] | तिक्त-कषाय | लघु | उष्ण | कटु |

यहां वर्णित सभी द्रव्यों के रस-गुण आदि समान हैं। तिक्त, कषाय, कटु रस और उष्णवीर्य पाचन कर । का नाश करते हैं।

तिक्त-कषाय रस—पित्त शमन
उष्णवीर्य वातशमन

तिक्त-कषाय रस, उष्णवीर्य, कटुविपाक कफशमन

तिक्त-कषाय रस रक्त प्रसादन होने से रक्तगत क्लेद, कफ-पित्त का शमन करते हैं।

तिक्त-कषाय, कटु रस, कटुविपाक रक्तगत क्लेद का शोषण कर मांस धातु शिथिलतानाशक है।

तिक्त-कषाय-कटु रस दाह पाक-क्लेद आदि लक्षणों पर कार्य कर उन उन लक्षणों का शमन करते हैं।

कुष्ठ रोग में त्वचा, रस, रक्त, यकृत्प्लीहा के कार्य भी विकृत हो जाते हैं। इससे पित्त की विकृति होकर अग्निमांद्य भी होता है।

तिक्त-कषाय-कटु रस, दीपन-पाचन होने से अग्नि प्रदीप्त कर आमाशय पक्वाशयगत क्लेद कफ का नाश करते हैं।

इस प्रकार औषधियां अपने रस गुण वीर्य विपाक से कार्य करके कुष्ठ रोग का शमन करती होंगी, यह हम मान सकते हैं। द्रव्यों की प्रबलता के अनुसार कोई द्रव्य रस से, कोई विपाक से, कोई वीर्य से और कोई प्रभाव से अपना कर्म कर तद् तद् रोगनाशक कार्य करते हैं।

संक्षेप में कुष्ठ रोग —

उष्ण वीर्य — पाचन + दोषोंका विशोधन
तिक्त—कटु रस →

शमनार्थ

तिक्त—कषाय रस पित्तदोषशमन
उष्णवीर्य → वातदोषशमन

तिक्त—कषाय रस उष्णवीर्य — कफ दोषशमन

↓ रक्तप्रसादन → रक्तगत क्लेदशमन

↓ दोषशमन

↓ स्थान संश्रयनाश

↓ संमूर्छनानाश

↓ लक्षणोपशमन

↓ रोगोपशमन

—०—४—०—

## त्वक् विकारों में चरक सुश्रुत का योगदान

★ चरक-सुश्रुत जैसे बड़े शास्त्रकारों ने चिकित्सा की श्रेष्ठता के लिए अपनी अति उपयोगी वनस्पतियों का समूह बताया है।

★ चरक महर्षि ने ५० व्याधियों के लिये ५० द्रव्य समूह को लेकर (प्रत्येक में १० द्रव्य सम्मिलित किये हैं) श्रेष्ठ दशेमानी बताये हैं, जो चिकित्सक पर निर्भर है।

★ ५० दशेमानी में त्वक् रोग के बारे में ४ दशेमानी हैं। वर्ण्य दशेमानी, कुष्ठघ्न दशेमानी, कण्डुघ्न दशेमानी कृमिघ्न दशेमानी।

★ सुश्रुत ने एक व्याधि समूह पर कार्य करने वाला 'वनस्पति का गण' निश्चित किया है। ऐसे '३७ गण समूह' हैं। चरक जैसे प्रत्येक श्रेष्ठ १० का समूह निश्चित नहीं है।

★ गणों में प्रायः वनस्पति द्रव्य हैं। कतिपय खनिज द्रव्य लिये हैं।

★ 'त्वक् रोग' के सम्बन्ध में सुश्रुत में वर्ण्य = अर्कादि गण, पिडिकाहर = पिप्पल्यादि गण, कोठहर = पिप्पली गण, वर्ण्य = पटोलादि गण का वर्णन है।

— विशेष सम्पादक।

# मण्डल कुष्ठ [PRORIASIS]

डा० डाह्या भाई के० पटेल डी. एस-सी. ए., एल. पी. ए. सी. (बम्बई)
'पुष्कर' बी-१५, पञ्चवटी सोसायटी, हाऊसिंग बोर्ड वसाहत के नजदीक, कालावड रोड, राजकोट (गुज.)

कुष्ठ के भेद—सात प्रकार का, अठारह प्रकार का या असंख्य प्रकार का होता है। क्योंकि भेदों से विभक्त किए गये दोष से असाध्य भाव के अतिरिक्त रोगों के भेद हो जाते हैं। कुष्ठ रोगों में से सात महाकुष्ठ तथा ग्यारह क्षुद्र कुष्ठ के नाम से जाने जाते हैं। चरक संहिता में सातों महाकुष्ठों को 'जन्तुमान' माना है। काश्यप और भेल संहिता ने कुष्ठ के प्रत्येक भेद के साथ जन्तुमान का वर्णन न करते हुए कतिपय कुष्ठों को ही कृमियुक्त माना है एवं इससे ग्रसित कुष्ठों को संक्रामक रोगों की श्रेणी में भी रखा है। 'सर्वाणी कुष्ठानि सवातानि सपित्तानि संक्रिमिणी च भवन्ति।

[सु. नि. ५]

मण्डल कुष्ठ सप्त कुष्ठों मे से एक है। चरक, वाग्भट, काश्यप, भावप्रकाश और भेल संहिता के आधार पर मण्डल कुष्ठ में कफ दोष की प्रधानता मानी गई है। सुश्रुत ने मण्डल कुष्ठ को नहीं लिखा है। शरीर मे सामान्यतः कफदोष व आमदोष की अधिकता से मण्डल कुष्ठ उत्पन्न होता है। साधारणतः पाये जाने वाला यह एक ऐसा चर्म रोग है जो शरीर के एक या एक से अधिक अङ्गों को प्रभावित करता है। मुख्यतः १० से ३० वर्ष की आयु में बालकों व नवयुवकों में शीत तथा आर्द्रकाल में अधिक पाया जाने वाला और ग्रीष्म एवं शुष्ककाल में शान्त हो जाने वाला यह सुलभ रोग है।

यह रोग स्त्री और पुरुष दोनों ही मे समान रूप से होता है। यह मण्डल कुष्ठ बार बार होने वाला एक बडा दुःसाध्य रोग है। चिकित्सा द्वारा या स्वतः शमन हो जाने पर भी बार-बार हो जाता है। सभी कुष्ठ त्रिदोषज है, एक ही दोष के प्रकुपित होने से कोई भी कुष्ठ उत्पन्न नही होता है। सामान्य दोष-प्रकृति वाले कुष्ठ में भी दोषों के अंशांश, विकल्प, अनुबन्ध और स्थान के अनुसार वेदना, वर्ण, संस्थान, प्रभाव, नाम चिकित्सा विशेष से भेद हो जाता है।

## निदान तथा सम्प्राप्ति

आयुर्वेद शास्त्र में जब कुष्ठ के कारणभूत विरोधी अन्नपान पापकर्मादि से ही तीन वातादि दोष और चार दूष्य दुष्ट होते हैं तब कुष्ठकारक होते हैं। मिथ्या आहार, विरुद्ध एवं विषम अन्नपान, द्रव, स्निग्ध गुरु अन्न पान, माष, पिष्टक, तिल, क्षीर, गुड़, दधि का, बहुतायत से सेवन, यव, कोदों, उडद, कुलत्थ, स्नेह के साथ सेवन, मधुफाणित, मत्स्य, मूली का अति मात्रा में व सतत सेवन, अजीर्ण, अध्यशन, सप्तपर्ण तथा भोज्य पदार्थों के परिवर्तन का विधि विपरीत सेवन, शीत-उष्ण का विपरीत सेवन, दिवास्वाप, पंचकर्म क्रियाओं में अतिरेक, वेग धारण आदि से तीनों दोष कुपित होकर त्वचा को आश्रय कर विकृति को उत्पन्न करते है। ये प्रकुपित दोष शरीरस्थ धातु यथा रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र तथा मल, मूत्र, स्वेद को दूषित करके जिस स्थान व आश्रय स्थान में विशेष आश्रित होकर स्थान संश्रय करते हैं वही पर तथा उसीके अनुरूप विविध मण्डलादि कुष्ठ रोगों की उत्पत्ति करते हैं। कुष्ठ रोग की उत्पत्ति में मिथ्याहार विहारादि से प्रकुपित तीनों दोष तथा प्रकुपित दोषों से दूषित त्वचा, मांस, रक्त एवं लसीका ये चारों धातु दूष्य माने गये हैं। प्रारम्भ मे तो सिर्फ त्वचा का आश्रय लेकर ही इन चारों धातुओं

को दुष्ट करते हैं, किन्तु धीरे-धीरे अन्य धातुओं को भी आक्रान्त कर देते हैं। मण्डल कुष्ठ का स्पष्ट कारण अभी तक ज्ञात नहीं है, परन्तु यह देखा जाता है कि आमवात तथा गठिया इत्यादि रोगों के उपद्रवस्वरूप यह मण्डल कुष्ठ हो जाता है। आभ्यन्तर विक्षोभक कारणों में से दांत, गले की गांठ [टॉन्सिलाइटिस] में से रक्त द्वारा उसके जीवाणु का संक्रमण हो जाना या किसी मानसिक आघात का पड़ना कहा जाता है, अन्यथा इस रोग का स्पष्ट कारण अभी तक ज्ञात नहीं है। इस रोग में अन्तःचर्म में विद्यमान रक्तवाहिनियां शिथिल होकर फैल जाती हैं, अर्थात् इनमें शोथ होता है। रक्तवाहिनियों के आसपास पोलिमोर्फो न्युक्लिअर (Polymorphonuclear) तथा मोनोन्युक्लिअर (Mononulear) नामक सेल अधिक संख्या में संचित होते हैं। अन्तश्चर्म में इस प्रकार श्लैष्मिक शोथ के रहने से बहिश्चर्म के श्लैष्मिक स्तर की तह भी मोटी हो जाती है, अर्थात् उसमें अति वृद्धि की प्रक्रिया हो जाती है। इसलिये इस रोग से युक्त प्रदेश का बहिश्चर्म स्थूल होता है, रोग रहित चर्म साधारणतः पतला ही रहता है। बाह्य स्तर या शुष्क स्तर के सेल भी ठीक ठीक नहीं बनते, बाहर के स्तर के सेल परस्पर एक दूसरे से चिपके रहते हैं। इस बाह्य स्तर के सेल बाहर की गर्मी से सूखकर सिकुड़ जाते हैं। यह मण्डल कुष्ठ त्वचा के साथ-साथ नखों में भी हो सकता है। नख में यह रोग दो-तीन रूपों में होता है। मण्डल कुष्ठ सामान्यतः घी, दूध, मिर्च, गरम मसाले के पदार्थ, मांसाहार, मदिरापान इत्यादि के अति सेवन से बढ़ जाता है।

**पूर्वरूप—**

स्वेद का अधिक आना या बिलकुल न आना, स्पर्शज्ञान का न होना, त्वचा में विवर्णता तथा कोठ का निकलना, कण्डू, रोमहर्ष, श्रम, क्लम, व्रणों का शीघ्र उत्पन्न होना तथा देर तक बने रहना, दाह, सुप्तता आदि ये लक्षण रोग होने के पहले पाये जाते हैं जो दीर्घ समय तक भी रह सकते हैं। कभी कभी ज्वर का वेग बार बार आना, स्वेदाधिक्य, क्षुधानाश तथा दुर्बलता पायी जाती है। इनकी उपेक्षा करने पर इनकी कुष्ठ रोग में परिणित कुष्ठ रोगों में ही हो जाती है।

प्रारम्भ में त्वचा पर श्वेत वर्ण के धब्बे निकलते हैं। बाद में इससे सम्बन्धित लक्षण उत्पन्न करता है।

**लक्षण—**

श्वेत रक्त वर्ण के स्थिर स्निग्ध परस्पर मिले हुए मण्डलाकार उत्सेध को मण्डल कुष्ठ कहते हैं

वाग्भट ने इसके भिन्न लक्षण माने हैं। उन्होंने विशेष रूप से इसमें अत्यधिक कण्डू स्राव कृमि का होना तथा स्निग्ध पीताभ मण्डल का होना बतलाया है। इसमें मुख्य रूप से कफदोष प्रधान होता है।

'स्निग्धानि गुरूणि उत्सेधवन्ति श्लक्ष्णस्थिर पीत-पर्यन्तानि श्वेत रक्तावभासानि शुक्ल रोमराजीसन्तानानि बहु-बहल शुक्ल पिच्छिलास्रावीणि बहु क्लेद कण्डू क्रिमीणि सक्तगति समुत्थान भेदीनि परिमण्डलानि मण्डल कुष्ठानि इति विद्यात् ॥
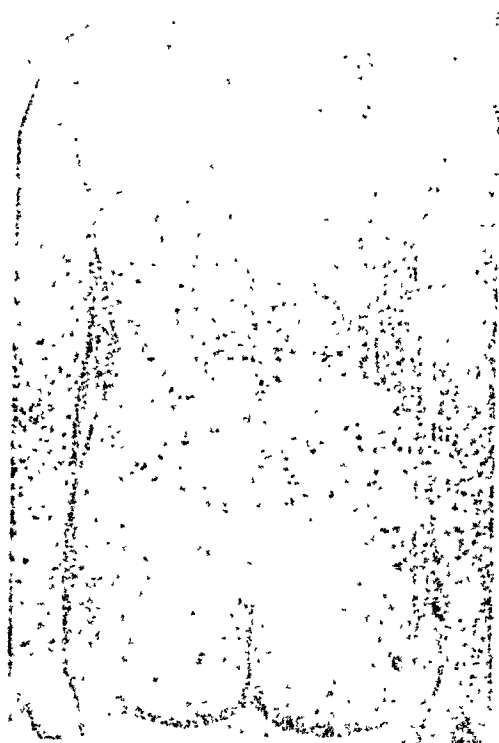
चरक चिकित्सा स्थान में बताया है कि--

श्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्न मण्डलम् ।
कृच्छ्रमन्योऽन्यसंसक्तं कुष्ठं मण्डलमुच्यते ।।

मण्डल कुष्ठ में स्निग्धता, गुरुता, उत्सेध श्लक्ष्णता, स्थिरता, शुक्ल वर्ण, रक्त वर्ण, शुक्ल रोमराजी, बहुलता, पिच्छिलस्राव, बहुक्लेद, कण्डू, कृमि ये सभी लक्षण कफ दोष के हैं । यहां वात पित्त के लक्षण दिये नहीं हैं, तथापि इसकी उत्पत्ति आशु होगी या धीरे से होगी । उस पर वात का दोष करना चाहिये और रक्तवर्ण पित्त का लक्षण करना चाहिये । तो संक्षेप में यह मण्डल कुष्ठ कफ दोष प्रधान के साथ पित्त और वात प्रकार का कुष्ठ है ।

मण्डल कुष्ठ के स्पष्ट लक्षण यह हैं कि इसमें त्वचा तथा शरीर के दूसरे भागो पर ददोरे निकल आते हैं । जिसमें अधिक संघर्ष में आने वाली त्वचा पर जैसे कोहनी, जानु, शाखाओं के बाह्य पृष्ठों तथा धड़ और पीठ पर उठा हुआ स्पष्ट किनारों वाला, छोटा सा पिन के सिरे जितना या मसूर के दाने जितना रक्त वर्ण शुष्क सा कोठ निकलता है, जिस पर श्वेत वर्ण का छिलका चिपका हुआ रहता है । यह रोग गोलाकृति होता है इसलिये इसे मण्डल कहते हैं। रोग बढ़ जाने पर और अधिक खुजलाने से इसमें से रक्तस्राव भी निकलता है। नाखून अधिकतर आक्रान्त होते हैं, जबकि शिश्न तथा ओष्ठ बहुत कम आक्रांत होते हैं । यह रोग शरदकाल में अधिक उग्रता दिखाते हैं। उष्णकाल में कभी-कभी अपने आप ठीक हो जाते है। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में मण्डल कुष्ठ की चार अवस्थायें बताई गई है। प्रथम रोग या त्वगीय उद्भेदों की शुरूआत बहुत सूक्ष्म बिन्दुयुक्त पिडका, दाने के रूप में, जिसके शिखर सिर पर एक बहुत सूक्ष्म शल्क रहता हैं जिसे सोरियासिस पंक्टाटा (*Psoriasis punctata*) या बिन्दुयुक्त मण्डल कहते हैं। जब यह रोग धीरे-धीरे बढ़ता है तो बढ़कर यह ग्रन्थित मण्डल बन जाता है जिसे सोरासिस गट्टाटा (Psoriasis guttata) कहते हैं और इससे बढ़कर प्रायः रुपया के आकार का हो जाता है तब टंकाश्मवत् मण्डल बन जाता है जिसे सोरायसिस नुमुलेरिस (Psoriasis nummularis) कहते हैं । यह रोग दीर्घ समय तक यथावत् स्थिर बना रह सकता है , बढ़ सकता है या धीरे धीरे अच्छा होने लगता है। कुछ अवस्था में यह रोग देखने पर वलयाकार या सर्पाकार सा दीखता है इसलिए सर्पिल मण्डल बन जाता है जिसे सोरायसिस सर्सिनाटा (Psoriasis circinata) कहते हैं। अन्य पांच प्रकार का मण्डल कहलाता है जो पूयजनित (Pustular) मण्डल पूययुक्त विकृति हथेली और तलुए पर दृष्टिगोचर होता है। मांसपेशियान्तर्गत (Flexular) मण्डल—इसमें संकोचक मांसपेशियां आक्रान्त होती है। संधिगत (Arthropthica) मण्डल—इसमें सन्धियां आक्रान्त होती हैं। विस्फोटक (Erythroderma) मण्डल—इसमें पूयजनित दानेदार सूजन के साथ रक्तवर्ण चकत्ता निकलता है। मण्डल रोग में अनेक मण्डल त्वचा पर निकलते हैं, समीप-समीप निकलकर एक-दूसरे से मिल जाते हैं। इस प्रकार शरीर के एक देश या सारे शरीर पर यह रोग छा सकता है और ये मण्डल शरीर के दोनों ओर आमने सामने निकला करते हैं। इस रोग में कण्डू, दाह, स्राव आदि

कष्ट नहीं होता है, परन्तु यह बड़ा चिरस्थायी रोग है तथा कुरूपता का कारण होता है। यह रोग प्रायः चेहरे पर नहीं होता।

**उपशय—**

सामान्यतया सर्व प्रथम आहार विहार सम्बन्धी दोषों को दूर करने के साथ साथ सदाचारों का उपदेश रुग्ण को बताना और इष्टदेव की आराधना-पूजादि सद्वृत्तों का आचरण जीवन में उतारने के लिए शुभादेश देना अत्यन्त आवश्यक माना जाता है। कुष्ठ में संशोधन आवश्यक उपक्रम है। इसमें जो दोष प्रबल हो उसे दृष्टिगत रखते हुए उसके निर्हरणार्थ उपक्रम करना चाहिए। वमन तथा विरेचनार्थ अल्प दोष होने पर या क्षुद्र कुष्ठ में पछना व महाकुष्ठ में शिराव्यध करना चाहिए। शृङ्ग अलाबू तथा जलौका द्वारा दुष्ट रक्त निवारण करें। आवश्यकतानुसार पंचकर्म का भी प्रयोग करे। वमन विरेचन के पश्चात् कुष्ठी को स्नेहपान कराना अभीष्ट है, क्योंकि निर्मल व्यक्ति के शुद्ध कोष्ठ में वायु शीघ्र ही प्रविष्ट हो जाती है। वातोल्बण रोगी के आस्थापन करायें। तत्पश्चात् अनुवासन करायें। कृमि तथा कफ दोष में शिरोविरेचनार्थ नस्य का प्रयोग करने का आचार्यों ने बतलाया है। शोधन के पश्चात् कुष्ठ रोगियों में वात प्रधान रोग में घृतपान, पित्त प्रधान रोग में रक्तमोक्षण एवं विरेचन और कफ प्रधान रोग में वमन कराने का विधान है।

सामान्यतः मानसिक उत्तेजनाओं से रुग्ण को दूर रहना चाहिए। रोगी को पथ्य भोजन और रहन सहन में पूर्ण स्वच्छता का व्यवहार करना चाहिए। पथ्यापथ्य को चिकित्सा पूर्व चिकित्सक द्वारा बराबर समझ लेना आवश्यक है।

**चिकित्सा—**

(१) मण्डलकुष्ठनाशक चूर्ण (स्वानुभूत)—आँवला, इन्द्रयव, इन्द्रायण फलमज्जा, कांचनारत्वक्, चिरात, खदिरत्वक्, पलाशबीज, पिप्पली, बड़ी कटेरी, विडंग, त्रिवी। सबको समान भाग वस्त्रपूत चूर्ण बनावें।

मात्रा—१ ग्राम दिन मे तीन समय उष्ण जल के साथ उदर सेवनार्थ।

(२) आरोग्यवर्धिनी २५० मिलीग्राम, कुटजघन वटी ५०० मिलीग्राम, कांचनार गुग्गुलु १२५ मि. ग्राम, एक मात्रा। एक-एक मात्रा दिन में तीन बार उष्ण जल के साथ सेवनार्थ।

(३) पंचतिक्त घृत गुग्गुलु, बृहद् मंजिष्ठादि क्वाथ १०-१० ग्राम मिलाकर प्रातः सायं उदर सेवनार्थ।

(४) डर्माफिक्स कैपसूल (वान मार्क)—प्रति कैपसूल २५० मिलीग्राम में—रक्तशोधन घन, गंधक रसायन १००-१०० मिलीग्राम, प्रवाल भस्म, बाकुची घन ५०-५० मिली ग्राम, चोपचीनी २० मिलीग्राम, रसमाणिक्य, शुद्ध शिलाजीत १५-१५ मि.ग्राम।

मात्रा— १-१ कैपसूल दिन में ३ बार और चिकित्सक की राय पर खदिरारिष्ट के साथ उदर सेवनार्थ।

(५) विलअर कैपसूल (बमु फार्मा)—प्रति कैपसूल में ४५० मि.ग्राम—कृमिघ्न चूर्ण, कृमिकुठार चूर्ण १५७॥-१५७॥ मि.ग्राम, पारसीक यवानी, कृष्ण जीरक, कर्कट शृंगी, कलौंजी प्रत्येक २२॥-२२॥ मि. ग्राम, हिंगुपत्री १८ मि. ग्राम, रस सिंदूर, कृमि मुद्गर रस, कृमि कुठार रस तीनों ६-६ मि.ग्राम।

मात्रा—दिन में एक से तीन बार १-१ कैपसूल जल के साथ उदर सेवनार्थ। बच्चों को मधु के साथ भी दिया जाता है।

(६) सोरा कैपसूल (साधु लैब)—प्रति कैपसूल मे १०० मि. ग्राम पंचतिक्त घृत गुग्गुलु, तुवरक तैल १० मि.ग्राम, निम्ब तैल १०० मि.ग्राम, नारायण तैल, बाकुची तैल २०-२० ग्राम। कुल ३०० मि.ग्राम

मात्रा—दिन मे दो या तीन बार १-१ कैपसूल सारिवाद्यासव के साथ उदर सेवनार्थ।

(७) मरिच्यादि तेल, गौ और अजा घृत १००-१०० ग्राम, करंज तेल, निम्ब तेल, तुवरक तेल, सोमराजी तेल, सोरा (Psora) आयन्टमेंट प्रत्येक २०-२० ग्राम। सम्यक् मिश्रण करके दिन में दो से तीन वार अभ्यंगार्थ।

(८) निम्ब तेल, षड्विन्दु तेल तथा महानारायण तेल समभाग मिश्रण करें। २-२ बूंदें प्रातःसायं नाक में डालें (नस्यार्थ)।

(९) तुवरक तेल ५ ग्राम, एरण्ड तेल, हरड़ क्वाथ २५-२५ ग्राम, शुण्ठी चूर्ण १ ग्राम। औषधों का मिश्रण प्रति सप्ताह में १-२ वार विरेचनार्थ आवश्यकतानुसार।

(१०) निम्ब पत्र और खदिरत्वक् पानी में उबाल कर प्रतिदिन स्नान करें।

(११) आवश्यकतानुसार चिकित्सा पूर्व पंचकर्म के लिए विद्वान चिकित्सक द्वारा परामर्श करावें।

(१२) मण्डल कुष्ठ (Psorisis) के शास्त्रोक्त योग—

१. त्रिजात्यादि चूर्ण [यो. चि]
२. मञ्जिष्ठादि क्वाथ [भा. प्र. मध्य]
३. पंचतिक्त घृत [भै.र./कुष्ठा.]
४. चित्रक गुटिका [ग. नि.]
५. त्रायमाणाद्य घृत [च. सं. भै. र.]
६. गण्डीरादि तेल [च.द./कुष्ठा.]
७. चित्रक [र. का. धे./कुष्ठा.]
८. मरिच्यादि तेल [यो. चि. अ. ६]
९. दरदादि लेप [यो. र./कुष्ठा.]
१०. गृहधूमादि लेप [ग. नि./कुष्ठा.]
११. चित्रकादि लेप [वृ. नि. र./त्वग्दोष]
१२. एडगजादि लेप [वं. से., ग. नि./कुष्ठा.]
१३. कुष्ठहर लेप [र. चि. म./स्त. ४]
१४. तालकेश्वरो रस [र. चि.म. कुष्ठा.]
१५. तालकेश्वरो रस [रसे चि. अ. ९]
१६. अर्केश्वर रस [र. रा. सु./कुष्ठा.]
१७. महासिद्धेश्वर रस [र. का. धे./कुष्ठा.]
१८. योगामृत रस [र. का. धे./कुष्ठा.]
१९. राजतालेश्वर रस [र. सा. सं./कुष्ठा]
२०. राज राजेश्वर रस [र. सा. सं./कुष्ठा.]
२१. लंकेश्वर रस (द्वितीय) [र. का. धे./कुष्ठा.]
२२. सर्वेश्वर रस [र. का. धे./कुष्ठा.]
२३. तालकेश्वर रस [भै. र./कुष्ठा.]

**मण्डल कुष्ठ की संक्रामकता—**

सुश्रुताचार्य ने कुष्ठ की गणना संक्रामक रोगों में की है। मण्डल कुष्ठ को वंश परम्परागत और संक्रामक नहीं बतलाया है किन्तु रोगी व्यक्ति के साथ भोजन करने, रहने, सोने व स्पर्शास्पर्श या उसके सम्पर्क में रहने से स्वस्थ व्यक्ति पर भी व्याधि का प्रकोप हो जाना सम्भव है। वाग्भट ने भी त्वक् रोगों को संक्रामक रोगों में गणना की है।

**साध्यासाध्यता—**

मण्डल कुष्ठ कष्ट साध्य और दुःसाध्य व्याधि माना जाता है। काश्यप और भेल संहिता ने मण्डल कुष्ठ को साध्य माना है। चरक और सुश्रुत ने सप्त-महाकुष्ठों को असाध्य माना है। एक दोषोक्त वात कफ प्रधान कुष्ठ साध्य तथा जिन कुष्ठों में कफ पित्त और वात पित्त बलवान हो उन्हें कृच्छ साध्य समझा है। रोगी यदि अपथ्य सेवन करता रहे, चिकित्सा की अपेक्षा रहे तो साध्यावस्था भी याप्य तथा असाध्यावस्था में परिवर्तन हो जाता है। इसके अतिरिक्त रोगी की मनःस्थिति का भी रोग ठीक होने में बड़ा महत्व होता है। साध्यासाध्यता दोष-दूष्य के साथ रोगी पादचतुष्टय पर भी निर्भर करती है।

डा० डाह्या भाई के० पटेल
डी.एस.सी.ए., एल.पी.ए.सी. (बम्बई)
पुष्कर बी-१५, पञ्चवटी सोसायटी,
हाउसिंग बार्ड वसाहत के नजदीक,
कालावड रोड, राजकोट (गुज.)

# लघु कुष्ठों का विस्तृत विवेचन

डा० एस० पी० गुप्ता बी.ए.एम.एस., डी.एचाई.एम. (सर्जरी)
धन्वन्तरि भवन, निकट नावल्टी टाकीज,
मस्जिद पठानी, पीलीभीत (उ० प्र०)
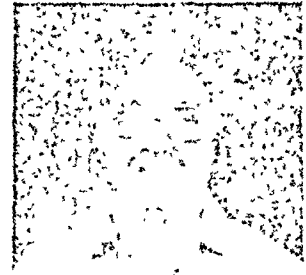
★ शल्य-शालाक्य-प्रवक्ता, ल. ह. राजकीय आयुर्वेद कालेज, पीलीभीत—१९६३ से।

★ भूतपूर्व प्रवक्ता - एन आर. एम. आयु. कालेज, बरेली।

★ लघु कुष्ठों पर आधुनिक समन्वयात्मक लेख मननीय एवं सराहनीय है। —वैद्य किरीट पण्ड्या [विशेष सम्पादक]

आयुर्वेद में त्वचागत रोगों का विस्तृत विवेचन मिलता है। कुष्ठ रोगों को प्राचीन साहित्यकारों ने अठारह भागों में विभाजित किया है। जिसमें सात महाकुष्ठ एवं ग्यारह लघु कुष्ठ है। इनमें से विषयानुसार ग्यारह लघु कुष्ठ रोगों का आयुर्वेद एवं आधुनिक मतानुसार विस्तृत विवेचन निम्नलिखित है -

कुष्ठ निदान—विरोधी अन्नपान का सेवन, द्रव, गुरु, स्निग्ध आहार का सेवन, वमन, मूत्र, मल आदि वेगों को रोकना, भोजन का अनियमित रूप से सेवन करना। जैसे—अत्यधिक भोजन या लंघन या पञ्चकर्म की व्यापत्ति होना आदि अथवा गरिष्ठ भोजन जैसे—अन्न, दही, मछली, नमक, खट्टी वस्तु का अधिक सेवन, उड़द, मूली, गुड़, दूध और तिल का अधिक मात्रा में सेवन। दिवास्वप्न, गुरु का तिरस्कार, अत्यधिक मैथुन एवं पापों का आचरण।

कुष्ठ के पूर्व रूप—त्वचा पर स्पर्श ज्ञान का न होना, पसीना अधिक आना या न निकलना, त्वचा में विवर्णता, त्वचा में चकत्ते, रोमांच, खुजली, तोद, श्रम, क्लम, व्रण होना, व्रणों का दर्द से भरना, दाह, अङ्गों का शून्य हो जाना, ये कुष्ठ के पूर्व रूप हैं।

सप्त महाकुष्ठ—१. कपाल, २. औदुम्बर, ३. मण्डल ४. ऋष्यजिह्व, ५. पुण्डरीक, ६. सिध्म, ७. काकणक।

एकादश लघु कुष्ठ का वर्णन—

| चरक | सुश्रुत | वाग्भट |
|---|---|---|
| १. एक कुष्ठ | एक कुष्ठ | एक कुष्ठ |
| २. चर्म कुष्ठ | स्थूलारुष्क | चर्म कुष्ठ |
| ३. किटिभ | किटिभ | किटिभ |
| ४. विपादिका | महाकुष्ठ | विपादिका |
| ५. अलसक | विसर्प | अलसक |
| ६. दद्रु | परिसर्प | सिध्म |
| ७. चर्मदल | चर्मदल | चर्मदल |
| ८. पामा, कच्छू | पामा | पामा |
| ९. विस्फोट | सिध्म | विस्फोट |
| १०. शतारु | रकसा | शतारु |
| ११ विचर्चिका | विचर्चिका | विचर्चिका |

१. एक कुष्ठ (Erythroderma or Exfoliative dermatitis)

जिस कुष्ठ में स्वेद न आवे, जो शरीर में विस्तृत रूप से फैला हुआ हो अर्थात् बड़े स्थानों में उत्पन्न हो एवं मछली की त्वचा के समान हो।

लक्षण—इसमें प्रथम एक स्थान पर त्वचा का विकार शुरू होता है, फिर त्वचा की शोथ एवं संवेदनशीलता के कारण अन्य स्थान पर फैलता जाता है। जिससे त्वचा का रङ्ग लाल एवं चिकनापन लिए हुए होता है। प्रायः त्वचा से पर्त छूटने लगती है जो कि मुड़ने वाले क्षेत्र में होती है। परन्तु अज्ञात कारण वाले इस रोग में त्वचा गाढ़ी भूरे रंग की चमकदार और कम पर्तों वाली होती है। इसके समस्त रूपों में अग्निक्षय अधिक होता है। अतः रोगी को परीक्षा के समय अधिक खुला न छोड़ें और बालों का इसमें अत्यधिक गिरना और नाखून का मोटा होना होता है। इस रोग के उपद्रव स्वरूप pemphigus follaiaceous नामक मारक त्वक् रोग उत्पन्न हो सकता है।

चिकित्सा—आधुनिक मतानुसार रोगी को तैलीय कैलामिना लोशन. जिक क्रीम लाभकारी हैं। रोगी को ठण्डक से बचायें एव शामक चिकित्सा दे। अभ्यंग के लिए नारियल तेल का प्रयोग करें। प्रेडनीसोलोन, विटामिन ई।

**२. चर्म कुष्ठ** (Xeroderma Pigmentosa) —

जिस कुष्ठ मे त्वचा हाथी के चर्म के समान मोटी हो जाय, उसे चर्म कुष्ठ कहते हैं। यह रोग वातकफ दोष के कारण उत्पन्न होता है। आधुनिक मतानुसार इसे Xeroderma Icthyosis or Pigmentosa कहते हैं। इसमे त्वचा शुष्क हो जाती है और स्वेदवाही ग्रन्थियो के अवरोध के कारण स्वेद भी कम आता है और प्रभावित त्वचा हाथी के चर्म जैसी मोटी हो जाती है। इसलिए इसे चर्मकुष्ठ कहते है।

निदान एव सम्प्राप्ति यह रोग प्रायः आनुवंशिक होता है और स्त्री पुरुष दोनो को होता है एव एक ही परिवार के कई सदस्य इससे ग्रसित होते है और यह कभी कभी तुरन्त जन्म के उपरान्त भी उत्पन्न होते है।

लक्षण—इसमे प्रारम्भिक अवस्था मे शरीर एव शाखाओं के प्रसारक तल की त्वचा शुष्क एवं रूक्ष होती है और कभी कभी हल्के से पत भी बने दिखाई पड़ते हैं। परन्तु प्रसारक तल पर रोम अधिक उभरे हुये होते हैं और इसमें बाल शुष्क, रूक्ष, चमकहीन एवं भगुर होते हैं। इस रोग की तीव्रावस्था में भूरे पर्त सम्पूर्ण शरीर में फैले होते है और मछली की भांति त्वचा का रंग दीखता है। इसमें कभी कभी त्वचा पर लाइनें बनी दिखाई देती है।

चिकित्सा—प्रतिदिन गर्म पानी से स्नान करना चाहिए। साबुन का प्रयोग स्नान में वर्जित है। साबुन के स्थान पर एमलसन या अधिक तेलयुक्त साबुन का प्रयोग करें। सार्वदैहिक चिकित्सा के रूप में थायरोयड एक्सट्रैक्ट एवं विटामिन ए का प्रयोग लाभकारी है।

**३. किटिभ** (Psoriasis) —

जो कुष्ठ वर्ण में श्याम, व्रण के स्थान के समान खुरदरे स्पर्श वाला और कठोर हो उसे किटिभ कुष्ठ कहते हैं। यह रोग वात कफ दोष की विकृति से होता है। आधुनिक मतानुसार यह रोग मुख्यतः जीर्णावस्था में Relapsing and Poppulo Squamous त्वक् रोग होता है। अर्थात् इसमें त्वचा पर ऊपर-ऊपर बिन्दुवत् पिडिका और बड़े चकत्ते जीर्ण संक्रमण से युक्त होते हैं। ये रोग २-४% तक सभी त्वक् रोगों मे मिलता है। यह स्त्री पुरुष की युवावस्था मे अधिक मिलता है।

निदान—इसका कारण अज्ञात है और १/३ रोगियों में आनुवंशिकता इसका मुख्य कारण है। यह रोग १०-५० वर्ष के बीच मे अधिक होता है। इसके अतिरिक्त यह दूसरे कारणों यथा स्थानीय आघात, औषधि प्रतिक्रियाजन्य अथवा मनोवैज्ञानिक कारणों से प्रभावित होकर पैदा हो सकता है।

लक्षण—यह रोग मन्दगति से शुरू हो जाता है। इस रोग की शान्ति एवं पुनरावृत्ति बार बार होती है। इस रोग मे प्रायः त्वचा पर लाल रंग के उभार दिखाई देते हैं। इसमें चमकदार पपड़ी भी दिखाई पड़ती हैं। कभी कभी खुजली भी तीव्र होती है और व्रण बिना व्रणवस्तु (Scar) के भी ठीक हो जाते हैं। सोरियासिस मुख्यतः शिर हाथ-पैरों के पश्चाद् भाग, नितम्ब के पश्च भाग, नाखून और भ्रू, कक्ष, नाभि और गुद भाग को ग्रसित करता है। इसमे नाखून प्रायः फंगल संक्रमण की तरह संक्रमित होते हैं। कुछ रोगियों में सोरियेटिक आर्थ्राइटिस अंगुलियों के जोड़ों में सन्धिशूल उत्पन्न हो जाता है।

चिकित्सा—आधुनिक मतानुसार इस रोग की अनेकों चिकित्सा का वर्णन है, किन्तु बहुत ही कम औषधियां रोग पर ठीक प्रकार से पथ्य चिकित्सा करने पर कुछ लाभकारी हुई हैं। इस रोग में सर्व प्रथम रोगी के चर्म की पपड़ियां प्रतिदिन पानी, साबुन और मुलायम ब्रुश से छुडाने चाहिए और तुरन्त कोई भी Keratolytic ointment लगाना चाहिये। कभी कभी Tropical Cortico steroid cream भी लाभकारी सिद्ध हुई हैं।

**४. विपादिका** (Rhagades or Chill Blain)—

तीव्र वेदनायुक्त हाथ एवं पैरों के फटने को विपादिका या वैपादिक कहते हैं। यह रोग वात कफ दोष से उत्पन्न होता है।

कारण एवं लक्षण—इसमें पैरों की त्वचा ठण्ड में

अधिक समय तक खुली रहने के कारण पैर या पैर की एड़ी में लाल नीलापन लिए हुए त्वचा का रंग हो जाता है। जिससे त्वचा में शोथ, खुजली एवं त्वचा का फटना उत्पन्न होता है। यह रोग मुख्यतः धमनी काठिन्यता (Arteri lar vascular spasm) से उत्पन्न होता है और प्रभावित क्षेत्रों में आक्सीजन एवं रक्त की कमी के कारण छोटी शिराएँ विस्फारित हो जाती हैं। जिसके कारण पैर या एड़ी में शोफ, कोषाणुओं का क्षय एवं त्वचा का रूक्ष तथा शुष्क होना शुरू होता है। इस रोग में ठण्ड के प्रभाव के कारण पैर के अन्तिम भाग (एड़ी), नाक, कान और हाथ की अंगुली आदि विकृत हो सकते हैं। परन्तु यह रोग पैर एवं पिण्डली का क्षेत्र अधिक प्रभावित करता है। यह रोग पुरुषों की अपेक्षा लड़की एवं युवतियों मे अधिक होता है। इस रोग में खुजली अधिक होती है और जब पैर में शोफ अधिक होता है तब छाले आदि पड़कर और त्वचा फटकर व्रण बन जाते हैं और हाथ पैरों में भी दरार बन जाते हैं जिससे जीवाणुओं का संक्रमण होकर Cellulitis भी उत्पन्न हो सकती है।

चिकित्सा समस्त शरीर को गरम कपड़ों से ढक कर रखना चाहिए। विपादिका को अचानक गर्म सिकाई से बचाना चाहिये। थायरोक्सिन हारमोन भी इसमें दे सकते हैं। परन्तु औषधियों को मुख द्वारा देने पर विशेष लाभ नहीं होता है। स्थानीय रूप में हाथ पैरों का रक्त संचार निकोटिनिक एसिड ५० मि.ग्राम देने से बढ़ाया जा सकता है। कैल्शियम योगों का प्रयोग भी इस रोग में लाभकारी है। विटामिन डी भी इस रोग में लाभकारी है। इन्फ्रारेड रेडियेशन भी लाभकारी है। इस रोग में दरारहीन त्वचा में कैलामिना लिनीमेंट लगा सकते हैं। परन्तु दरार उत्पन्न होने पर बुल एल्कोहल से बना मरहम लगायें और जीवाणुओं के संक्रमण को रोकने के लिये एण्टीबायोटिक्स दें।

५. अलसक (Lichen planus)—

यह कुष्ठ खुजली एवं रक्त वर्ण के फोड़ों से युक्त होता है। यह रोग वात कफ से होता है।

निदान—इसका कारण अज्ञात है। यह मनोविघात और कुछ विशिष्ट औषधियों जैसे आर्सेनिक बिस्मथ के कारण हो सकता है।

लक्षण—यह कण्डू शोथयुक्त एवं पुनरुत्पत्ति वाले उभारों से युक्त होता है और मुख की श्लैष्मिक कला में प्रायः करथई कालापन लिये हुये होते हैं। इस रोग का प्रारम्भ मंद गति से होता है और प्रारम्भिक अवस्था कई हफ्ते से कई महीने तक चलती है। बीच बीच में कई वर्षों के उपरांत पुनरुत्पत्ति भी होती है। इसकी प्रारम्भिक पिडिकायें २-४ मि.मी. व्यास के गोल किनारेदार रक्तवर्ण के होते हैं। ये प्रायः कलाई की संकोचक तल एवं पैर वक्ष एवं उदर के अग्र एवं पश्च भाग पर होते हैं तथा स्त्री पुरुष के गुप्तांग पर भी पाये होतें हैं। पैर के नीचे भाग में काफी बड़े होते हैं और इसमें कभी कभी छाले और अत्यधिक खुजली होती है। इस रोग में १०% रोगी त्वक् रोगों के साथ मुख रोगों से भी ग्रसित होते हैं। इसमें जीभ, गाल की श्लैष्मिक कला आदि ग्रसित होती हैं। इस रोग का सापेक्ष निदान सोरियासिस, औषधि प्रतिक्रियाजन्य ददोरों और सैकण्डरी सिफलिस से करना चाहिये।

चिकित्सा—इसमें कोई चिकित्सा लाभकारी सिद्ध नहीं हुई है। इसमें मुख्य रूप से Psycotherapy अर्थात् मानसिक तनाव, शोक, चिन्ता आदि को दूर करें और यदि किसी औषधि के कारण यह रोग हो तो उसका त्याग करें। सार्वदैहिक रूप में Trimeprazine नामक औषधि दिन में तीन बार कण्डूहर, निद्राजनक एवं मानसिक तनाव रोकने के लिये देनी चाहिए। Cipro Repatidine नामक औषधि भी अत्यधिक खुजली आदि को रोकती है। तीव्रावस्था में कोर्टिकोस्टेरोइड भी मुख से दे सकते हैं। अल्ट्रावायलट एवं एक्स-रे थैरापी इसमें लाभकारी है। मुख के व्रण में कोई भी संज्ञाहरण वाली गोली, मरहम या लोशन लगा सकते हैं और कोई भी क्षोभक पदार्थ जैसे अधिक गर्म भोजन एवं धूम्रपान वर्जित है। स्थानीय चिकित्सा प्रायः निष्फल होती हुई देखी गई है।

६. दद्रु (Ringworm or Tinea)—

खुजली सहित लाल वर्ण की पिडकाओं से युक्त उभरे मण्डल को दद्रु कहते हैं। यह कफ पित्त दोनों से होता है।

नाखून के जोड़ों पर संक्रमण

निदान एवं लक्षण—यह रोग फंगस श्रेणी के Acine द्वारा उत्पन्न होता है। प्रायः नाखून एवं केश मूल में अधिक होता है।

चिकित्सा—Grisofulvin नामक औषधि ५०० मि.ग्राम दिन में दो बार मुख द्वारा दें। परन्तु इस औषधि का प्रभाव सिध्म (Tinea vesicolor) पर नहीं है। इसमें सल्फर, सैलीसिलिक एसिड मलहम प्रयोग करें।

७. चर्मदल (Exfolliative dermatitis)—

यह रक्तवर्ण का शूल, खुजली तथा स्फोटों से युक्त चर्मदल नामक कुष्ठ होता है। अर्थात् जिसमें त्वचा वेदना के साथ फटती हो, जिस पर स्पर्श का सहन न हो सकता हो। यह कफ पित्त दोषज रोग है। एक कुष्ठ में जब हाथ एवं पैर के तलवों में खुजली, वेदना, दाह तथा चोष हो उसे चर्मदल कहते हैं। यह एक कुष्ठ की हाथ और पैरों की विकृतावस्था है।

८. (अ) पामा (Scabies)—

जो कुष्ठ श्वेत, अरुण या श्याम वर्ण की पिडकाओं से युक्त हो और उन पिडकाओं में खुजली अधिक हो उसे पामा कहते हैं। यह कफ पित्तजन्य व्याधि है। यह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में फैलने वाला लघु कुष्ठ रोग है जो कि त्वचा के ऊपर स्रावदार पर्त जैसा तथा तीव्र खुजली वाला एवं पूय के जीवाणुओं से सक्रमित शोथ है।

लक्षण—इसमें प्रायः रात को खुजली अधिक होती है। इसकी शोथ के व्रण अत्यधिक रूप से पुरुषों के गुप्तांग एवं हाथों की अंगुलियों के जोड़ों में, मणिबन्ध के संकोचक तल पर, कक्षा एवं कुहनी के फोल्ड्स में, स्त्रियों की स्तन के एरियोला पर और नितम्ब के नीचे के भाग पर होता है। इसमें चेहरा प्रभावित नहीं होता है। इस रोग का सापेक्ष निदान शीत पित्त, एग्जीमा एवं जीवाणुजन्य सक्रमण से करना चाहिए।

चिकित्सा—यह रोग साध्य है। इसमें रोगी को लम्बे समय तक गर्म जल से स्नान करायें और वस्त्रों को नियमित स्वच्छ रखें तथा गर्म जल से धोयें। स्थानीय रूप में बेन्जोएट इमलशन (स्केबियल लोशन) व्रणों पर लगायें। इसमें सल्फर के मलहम भी १०% या ५% की मात्रा में लाभकारी है और इसमें तीव्र

मुख मण्डल का तीव्र पामा (विसर्प)

संक्रमण को रोकने के लिए एण्टीबायोटिक्स दें।

८. (ब) कच्छू (Infective scabies)--

जब पिडिकायें तीव्र दाह युक्त फफोले के साथ हाथ एवं नितम्ब प्रदेश में होती हैं तब उसे कच्छू कहते हैं। यह भी कफ पित्तजन्य रोग है। जब स्केबीज में सेकेण्डरी या पूय जीवाणुओं का संक्रमण हो जाता है तब उसे कच्छू कहते हैं। इसका निदान लक्षण एव चिकित्सा पामा की भांति करें।

९. विचर्चिका (Eczema or Dermatitis) —

खुजली से युक्त श्याव वर्ण की स्राव वाली बहुत सी पिडिकाओं के मण्डल को विचर्चिका कहते हैं। इसकी उत्पत्ति कफ दोष से होती है। यह पामा का बढ़ा हुआ एक रूप है। इसको आधुनिक मतानुसार एक्जीमा या डर्मेटाइटिस के अन्तर्गत लेते हैं। यह तीव्र एवं जीर्ण दोनों ही तरह का त्वचा की ऊपरी सतह में होने वाला शोथ है। यह व्याधि मुख्यतः समस्त त्वक् रोगों की ३०% होती है।

इनकी चिकित्सा अन्य छाजनों की भांति करें।

←विचर्चिका

१०. शतारु (Erythemas)—

रक्त-श्याव वर्ण के दाहयुक्त एवं बहुत व्रण वाले कुष्ठ को शतारु कहते हैं। यह रोग कफपित्त दोष के कारण होता है। इस रोग में लाल एवं कत्थई वर्ण या गहरे रक्त वर्ण की त्वचा की लालामी होती है। आधुनिक मतानुसार शतारु रोग का समन्वय त्वक् रोग Erythema multiformis से कर सकते हैं। इस रोग में त्वचा पर अत्यधिक मात्रा में उभारों की पुनरावृत्ति होती है और ये स्पष्ट किनारों वाले रक्तिमायुक्त एवं मुख्यतः हाथ पैरों में होने वाले छोटे छोटे फोड़े एवं व्रण होते हैं।

कारण एवं सम्प्राप्ति—इस रोग में त्वचा में जीवाणुजन्य संक्रमण तथा औषधि विषमयता के कारण सम्वेदनशीलता एवं प्रतिक्रिया शुरू होती है। इस रोग से नवयुवक शीघ्र पीड़ित होते हैं। इस रोग की पुनरोत्पत्ति अधिक होती है। इस रोग में पैर का अन्तिम भाग एवं चेहरा अधिक ग्रसित होता है। इसके अतिरिक्त ओठ, मुख एवं गुप्तांग की श्लेष्मकला भी ग्रसित होती है। इसके व्रण प्रायः छालेयुक्त एवं रक्तस्रावयुक्त उभरे हुए अनेकों रूपों में होते हैं।

साध्यासाध्यता—इस रोग का आक्रमण दो-तीन सप्ताह बाद स्वयं समाप्त हो जाता है। परन्तु इसकी
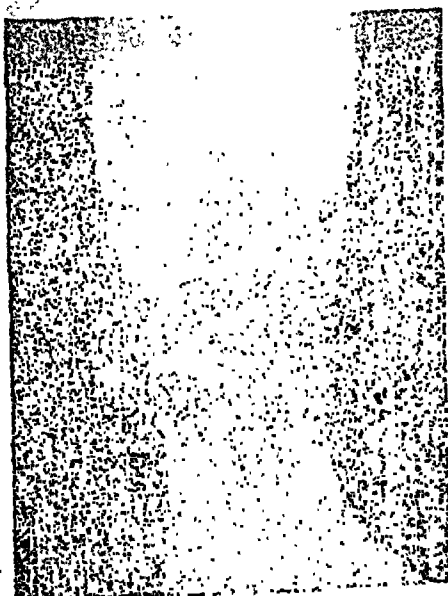
पुनरावृत्ति महीने या साल में अवश्य होती है। इसके हल्के आक्रमण से कोई उपद्रव नहीं होते। परन्तु इसकी तीव्रावस्था में रोगी की दृष्टि बहुत ही कम या समाप्त हो जाती है।

चिकित्सा--रोगी को आराम दें। स्थानीय चिकित्सा के रूप में कैलामिन लोशन, जिंक या सैलीसिलिक एसिड का बना विलयन प्रयोग में लायें। सार्वदैहिक रूप में एण्टी-हिस्टेमिनिक औषधियां दें।

**११.विस्फोट (Vesicles or Bullae)--**

श्याव या रक्त वर्ण के पतले त्वचायुक्त फफोलों को विस्फोट कहते हैं। यह कफ पित्तजन्य रोग है।

कारण एवं लक्षण--इस रोग में त्वचा की उपरिस्तर में द्रव का स्थानीय रूप में संचय हो जाता है और यह रोग त्वचा के प्रारम्भिक क्षोभ के कारण उत्पन्न होता है।

चिकित्सा--इस रोग के समस्त लक्षण एव उपद्रव कार्टिको स्टेरोयड थैरापी देने पर शीघ्र ही नियन्त्रित हो जाते हैं। अर्थात् १०० मि.ग्राम प्रेडनीसिलोन प्रतिदिन देना इस रोग में आवश्यक है। फिर मात्रा को कम करते हुए रोग समाप्ति तक उसे दें। प्रारम्भिक अवस्था में निदान होने पर रोगी को चिकित्सक की देखरेख में रखना अति आवश्यक है। स्थानीय चिकित्सा के रूप में पोटेशियम परमैंगनेट से सिकाई और स्नान लाभदायक हैं। इसके तुरन्त बाद छालों पर जैन्शियन वायलट १-२% का घोल लगाना अति आवश्यक है। संक्रमण रोकने के लिए सम्वेदनशील कीटाणुओं की जांच कर के एन्टीबायोटिक औषधि का प्रयोग करें।
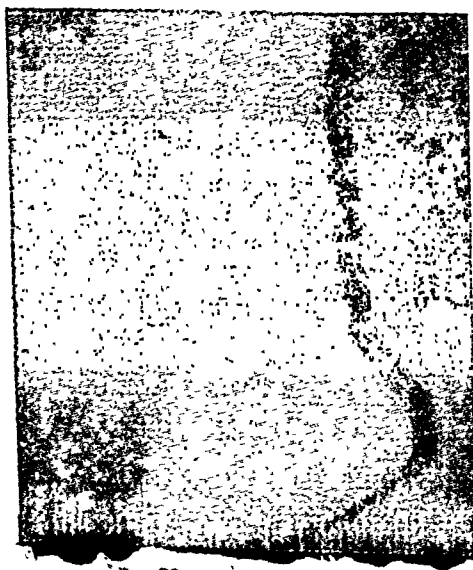
**सिध्म (Pityriasis Versicolor)—**

जो रोग शरीर के ऊर्ध्व भाग अर्थात् हाथ, छाती, मुख, ललाट आदि स्थानों पर प्रथम खुजली करके श्वेत रंग के चकत्ते बना दे, जिसका कोई कृमि न हो तथा चर्म की पर्त पतली हो, उसे सिध्म कहते हैं। यह वात कफज रोग है। इसको सुश्रुत ने क्षुद्र कुष्ठ माना है। इसका वर्णन दद्रु रोग के अन्तर्गत Tinea versicolor वर्ग में किया गया है।

कारण एवं लक्षण—इस रोग का मुख्य कारण Malassezia furfur है। इस रोग में त्वचा पर कत्थई एव हल्की scaby पर्त होती हैं। यदि त्वचा पर धूप पड़ती है तो इसका रंग पीला हो जाता है और स्वस्थ त्वचा का रंग सामान्य रहता है।

चिकित्सा - यह रोग प्रायः त्वचा में स्वेद के अवरोध के कारण उत्पन्न होता है। कपड़े अधिक दिन तक पहनते रहने से एवं गलत दिनचर्या के कारण यह रोग पैदा होता है। अतः इन कारणों को दूर करें और ३% सल्फर एवं सैलीसिलिक एसिड से बना मरहम प्रयोग में लायें और रोग के ठीक होने से दो हफ्ते अधिक दिन तक चिकित्सा करें और वस्त्रों को नियमित स्वच्छ रखें। इसमें Whit-field ointment भी अच्छा लाभ करता है।

## लघु कुष्ठ रोगों की आयुर्वेदिक चिकित्सा

सैद्धान्तिक चिकित्सा—[अ] (१) वातोल्वण लघु कुष्ठ में घी, तैल पीना या अभ्यंग कराना।

(२) कफोल्वण कुष्ठ में वमन कर्म

(३) पित्तोल्वण कुष्ठ में रक्तमोक्षण एवं विरेचन कर्म सर्वप्रथम कराना चाहिए।

[ब] क्षुद्र कुष्ठ रोग में पाछ लगवाना अर्थात् अलाबू, शृङ्ग एवं जलौका से रक्तमोक्षण कर्म दोषानुसार

करायें। परन्तु बड़े कुष्ठ रोगों में सिरावेधन कर्म कराना चाहिए।

सामान्य चिकित्सा—वमन, विरेचन द्वारा कोष्ठों की तथा रक्तमोक्षण द्वारा रक्त की शुद्धि हो जाने पर कुष्ठनाशक औषधियों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। इससे क्षुद्र कुष्ठ एवं महाकुष्ठ शीघ्र दूर होते हैं।

क्षुद्र कुष्ठघ्न लेप—

(१) मैनसिल, हरताल, कालीमिर्च, कटु तेल तथा मदार का दूध। इन को पीसकर लेप करने लघु कुष्ठ दूर होते हैं।

(२) करञ्ज के बीज, पवाड़ के बीज तथा कूठ इन सबको गोमूत्र में पीसकर लेप करने से भी लघु कुष्ठ दूर होते हैं।

(३) विडगादि लेप–वायविडंग, सेंधानमक, हुरड़, बाकुची के बीज और हल्दी इनको समान मात्रा में लेकर गोमूत्र में पीसकर लेप करने से सभी लघु कुष्ठ नष्ट होते हैं।

(४) पवाड़ के बीज, आमला, राल एवं सेहुड का दूध इनको कांजी में पीसकर लेप करने से दद्रु, किटिभ रोग दूर होते हैं।

(५) कासमर्द प्रलेप—कसौंदी के मूल को कांजी में पीसकर लेप करने से दद्रु (Tinea), किटिभ (Psoriasis) लघु कुष्ठ दूर होते हैं।

(६) हल्दी तथा मूली के बीज को अपामार्ग के स्वरस या केले के क्षारीय जल के साथ पीसकर लेप करने से सिध्म कुष्ठ दूर होता है।

(७) सर्ज रसादि प्रलेप - आमले का स्वरस, राल तथा जवाखार या विडनमक इनको कांजी से पीसकर तीन दिन तक कांजी में पड़ा रहने दें। इसके बाद उबटन करने से सिध्म दूर होता है और पुनः उत्पत्ति नहीं होती है।

(८) पवाड़ के बीज में थूहर के दूध की भावना देकर गोमूत्र में पीसकर सूर्य ताप द्वारा गर्म करके लेप करने से किटिभ कुष्ठ शीघ्र दूर होता है।

(९) अमलतास के पत्तों को कांजी द्वारा पीसकर लेप करने से दद्रु, किटिभ तथा सिध्म कुष्ठ दूर होते हैं।

(१०) मूली, सरसों के बीज, लाख, हल्दी, पवाड़ के बीज, गन्धा बिरोजा, त्रिकटु, वायविडंग, कूठ, इनके चूर्ण को गोमूत्र में पीसकर लेप करने से दद्रु, सिध्म, किटिभ, पामा आदि लघु कुष्ठ शीघ्र दूर होते हैं।

(११) विचर्चिकारि लेप—थूहर की शाखा के भीतर से गूदी निकाल कर उसके खाली स्थान में गृह धूम एवं सेंधानमक भरकर सम्पुट में रखकर पकाकर क्षार रूप में बदली औषधि को सरसों के तैल में फेंट कर लगाने से विचर्चिका नष्ट होती है।

(१२) धतूरे के बीज लेकर मानकन्द के क्षार जल में कटु तैल मिलाकर पकाया गया धतूर तैल लगाने से विपादिका दूर होती है।

(१३) राल, सेंधा नमक, गुड़, मधु, शुद्ध गूगल, गेरू, घी और मोम इनको एकत्र पकायें और इनका लेप करने से पैर का फटना (विपादिका)' निश्चित रूप से दूर होता है।

(१४) बाकुची, कसौंदी, चकवड़, हल्दी, सेंधानमक इनको दही के पानी या कांजी के साथ पीसकर लेप करने से भयंकर कच्छू एवं खुजली नष्ट होती है।

(१५) अडूसे के नवीन पत्र तथा हल्दी समान मात्रा में लेकर गोमूत्र में पीसकर तीन दिन तक लेप करने से कच्छू दूर होता है।

(१६) श्वेत करवीराद्य तैल के लगाने से चर्मदल, चर्म का मोटा पड़ना, exfolliative dermatitis, सिध्म, खाज, फफोले (विस्फोट), कृमि तथा किटिभ कुष्ठ नष्ट होते हैं। यह तैल श्वेत कनेर की जड़ तथा वत्सनाभ विष इनको समान भाग लेकर कल्क बनाकर गोमूत्र के साथ तैल सिद्ध करें।

(१७) महासिन्दूराद्य तैल के अभ्यंग से सर्वप्रकार के पामा, विचर्चिका कच्छू, विसर्प आदि दूर होते हैं।

(१८) सोमराजी तैल के लगाने से दूषित व्रण, १८ प्रकार के कुष्ठ, भयंकर वातरक्त, कण्डू, मसूरिका, कच्छू, पामा आदि अनेक रोग दूर होते हैं।

लघु कुष्ठ रोगों की सार्वदैहिक चिकित्सा

(१) गोमूत्र में पकाई हुई हरड का सेवन करने से शोथ, पाण्डु, गुल्म, प्रमेह कच्छू और पामा दूर होता है।

(२) २ तोले शुद्ध गन्धक के चूर्ण को सरसों के तैल में मिलाकर सूर्य की किरणो मे तीन दिन तपाकर ८ माशा प्रतिदिन जो पीता है एव शरीर पर लेप करता है तथा पथ्य मे दूध लेता है उसका शरीर स्वर्ण के समान कांतियुक्त हो जाता है। वर्तमान समय मे गन्धक की मात्रा ४ रत्ती से १ माशा प्रतिदिन मुख मे ली जाती है। इस योग से कच्छू पामा शीघ्र दूर होते हैं।

(३) वाकुची बायविडंग छोटी पीपल, चीता की जड, मण्डूर और आंवला इ के चूर्ण को सरसो के तैल के साथ चाटने से सभी प्रकार के कुष्ठ दूर होते हैं। इनकी मात्रा २-४ रत्ती है।

(४) नियमपूर्वक काले तिल के ३ माशे चूर्ण के साथ बाकुची के ३ माशे चूर्ण का सेवन करने से भयंकर क्षुद्र कुष्ठ दूर होकर शरीर चन्द्रमा की भांति कांतियुक्त हो जाता है।

(५) त्रिफला, पटोल पत्र, हल्दी मजीठ, कुटकी, वच, नीम की छाल इनका क्वाथ सेवन करने से कफ तथा पित्तजन्य कुष्ठ (दद्रु, शतारु, विस्फोट पामा तथा चर्मदल) दूर होते हैं।

(६) हरड़ तथा नीम के पत्र अथवा नीम की पत्तियां तथा आमले के चूर्ण को एक महीने तक जो व्यक्ति सेवन करता है, उसके लघु कुष्ठ निःसन्देह दूर हो जाते हैं। इसकी मात्रा २ माशे है।

(७) पंच निम्बादि चूर्ण -इस चूर्ण को ६ माशे से एक पल पर्यन्त मधु या तिक्त षट्पलादि घृत या खैर के काढ या केवल उष्ण जल के साथ धीरे-धीरे बढाकर सेवन करने से विचर्चिका, दद्रु, किटिभ, अलसक, शतारु, विस्फोट, विसर्प, पामा, किलास वातरक्त और सब प्रकार के प्रमेह एवं गर विष आदि दूर होते है तथा शरीर शुभ्र कांतिमान होकर दीर्घायु होता है।

(८) तिक्त षट्पल घृत—इस घृत के सेवन से महाकुष्ठ एव लघु कुष्ठ जैसे पामा, विसर्प, कण्डू आदि रोग दूर होते हैं। इसी तरह पञ्चतिक्त घृत का भी योग लघु कुष्ठ रोगों मे लाभकारी है।

अनुभूत योग

(१) क्षुद्र कुष्ठ से पीड़ित रोगी को नियमित रक्त शोधक एव रक्त प्रसादक औषधि दें। जैसे—आरोग्यवर्द्धनी २ गोली कैशोर गूगल २ गोली। ऐसी दो मात्रायें दिन में दो बार गर्म जल से प्रातः साय दें।

(२) खदिरारिष्ट या महामंजिष्ठारिष्ट ३० मिली. की मात्रा में समान जल मिलाकर दिन में दो बार भोजनोपरांत दें।

(३) सत गिलोय १ ग्राम, रसमाणिक्य २५० मिग्रा., गन्धक रसायन या शुद्ध गन्धक ५०० मिग्रा., सितोपलादि १ ५ ग्राम। इनको मिश्रित कर दो मात्रा प्रातः साय शहद या गर्म जल से दें।

यदि क्षुद्र कुष्ठ रोगो में खुजली अधिक हो तो स्वर्ण गैरिक ५०० मिग्रा., शुद्ध टंकण २५० मिग्रा., शुद्ध कांचो रस २५० मिग्रा.। उपरोक्त योग में मिलाकर दें।

(४) पञ्चनिम्बादि चूर्ण ३ ग्राम प्रातः साय गर्म जल से देना अति लाभकारी है।

(५) लघु कुष्ठ रोगो में महामरिच्यादि तैल का अभ्यंग अति लाभकारी है।

पथ्यापथ्य विवेचन—

अनियमित आहार विहार, पाप कर्म, अधिक धूप सेवन, विषम भोजन, स्वेदन कर्म, स्त्री संसर्ग, मलमूत्रादि वेगों का रोकना, अधिक मीठे खट्टे पदार्थ, तिल, उड़द, नवीन अन्न एवं विष्टम्भकारी पदार्थ, मूली आदि का सेवन, दही, दूध, शराब, गुड एवं आनूप देश के पशु पक्षी का मांस अपथ्य है।

पन्द्रह दिन पर वमन कर्म, प्रत्येक माह में विरेचन कर्म, तीसरे महीने नस्य कर्म और छठे महीने पर सिरावेधन कर्म कराने आवश्यक हैं। घृत सेवन, लेप, पुराना यव, गेहूँ, शाली चावल, मूंग, अरहर, मसूर, शहद, जांगल पशु पक्षी का मांस, ककडी, खीरे परवल, कटेरी के फल, मकोय, नीम के पत्ते, लहसुन, चकौड़े की पत्ती, पुनर्नवा, भिलावा, तांड़ के फल, कत्था, त्रिफला, जायफल, नागकेशर, केसर, पुराना घी, कड़वी तोरई, लौकी, तिल एवं सरसों का तैल, नीम का तैल, हल्का एवं सुपाच्य अन्न, कस्तूरी, गन्धक, तिक्त पदार्थ, क्षार कर्म ये सब कुष्ठ रोगों में दोषानुसार पथ्य हैं। ★

# —कुष्ठ रोग—

वैद्य ओ० पी० वर्मा आयु० बृह०, सरदारशहर (राजस्थान)

—०००:—

वैद्य ओ० पी० वर्मा भारतवर्ष के प्रसिद्ध आयुर्वेद विद्वानों में से एक हैं। आप वर्तमान में अखिल भारतीय चिकित्सक संघ के महामन्त्री हैं। आप आयुर्वेदाचार्य एवं आयुर्वेद बृहस्पति योग्यताधारी हैं। विभिन्न स्थानों पर आपने काय चिकित्सा तथा स्वस्थवृत्त का अध्ययन करवाया है। वर्तमान में आप बी.ए.एम.एस., एम.डी. तथा पी. एच-डी. के परीक्षक एवं निर्देशक हैं। आपके लेख प्रसिद्ध आयुर्वेदिक पत्र-पत्रिकाओं में नियमित प्रकाशित होते रहते हैं। पांच सौ से ज्यादा शोधयुक्त पत्र आपके अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी पांच पुस्तकें भी आयुर्वेद के विभिन्न विषयों पर प्रकाशित हो चुकी हैं। धन्वन्तरि एवं शुचि पत्रिका में आप साहित्य समीक्षक स्तम्भ को देखते हैं। आकाशवाणी एवं दूरदर्शन (जयपुर) से आपकी कई वार्तायें प्रकाशित हो चुकी हैं। आपने 'धन्वन्तरि' के वृहत् विशेषांक 'संक्रामक रोग चिकित्सा' का विशेष सम्पादन भी किया है। 'धन्वन्तरि' पर आपकी असीम कृपा है एवं आशा है कि पाठकों को इसी प्रकार आपकी लेखनी का प्रसाद मिलता रहेगा।

—विशेष सम्पादक।

---
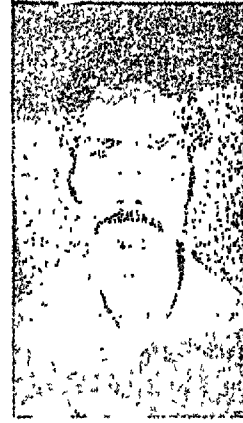
'कुष्णाति वपुः इति कुष्ठम्' अर्थात् देह को कल्पित (विकृत) करने वाले रोग को कुष्ठ कहा जाता है। इस रोग में त्वचा से लेकर धातुओं सहित मे विकृति उत्पन्न हो सकती है। जैसाकि वाग्भट्ट ने लिखा है—

त्वचः कुर्वन्ति वैवर्ण्यं दुष्टा कुष्णमुशन्तितम्।
कालेनोपेक्षितम् यस्मात्सर्वं कुष्णातितद्वपुः॥

आचार्य चरक, सुश्रुत, भेल तथा काश्यप ने भी कुष्ठ रोग को त्वचा को नष्ट करने वाला स्वीकार किया है और शरीर को विकृत करने वाला माना है।

इस रोग को अंग्रेजी में लेप्रोसी (Leprosy), हिन्दी में कोढ़ कहते हैं।

कुष्ठ का निदान—विरोधी अन्नपान सेवन, द्रव, स्निग्ध तथा गुरु आहार द्रव्यों का सेवन, आये हुए वमन के वेगों को तथा अन्य मल-मूत्रादि वेगों को रोकना, अधिक आहार करने के बाद व्यायाम, अधिक धूप या अग्नि का सेवन, शीत, उष्ण तथा लंघन (उपवास), भोजन। इनके क्रम को त्याग कर सेवन करना अर्थात् अविधि रूप से इनका सेवन करना, धूप, श्रम और भय से पीड़ित होकर शीघ्र ही शीतल जल का सेवन करना, भोजन के न पचने पर भी पुनः भोजन कर लेना, वमन विरेचन आदि पचकर्म में अपथ्य का हो जाना, नया अन्न, दही, मछली, नमक और खट्टे वस्तुओं का अधिक सेवन, उरद, मूली, पिष्टान्न (चावल का आटा), गुड़, दूध और तिल का अधिक मात्रा में सेवन, भोजन के न पचने पर मैथुन करना और दिन में सोना, विप्र, गुरु का तिरस्कार करना, अन्य पापों का आचरण करने वाले व्यक्तियों को कुष्ठ रोग होता है।

— चरक संहिता चिकित्सा स्थानम् ७/४-७

त्वचा, मांस रक्त और लसीका इन चारों में प्रविष्ट होकर उनकी क्रिया में शिथिलता उत्पन्न कर देते हैं।

कुष्ठ की सम्प्राप्ति—उपर्युक्त कारणों से कुपित हुए वात, पित्त कफ, त्वचा, रक्त, मांस, अम्बु (लसीका) को दूषित कर देते हैं। इस प्रकार कुष्ठ की उत्पत्ति में संक्षेप से ये सात द्रव्य कारण होते हैं। इन सात द्रव्यों के दूषित होने के बाद अठारह प्रकार के कुष्ठ

होते हैं। कोई भी कुष्ठ एक दोष से उत्पन्न नहीं होता है अर्थात् वह त्रिदोषज होते हैं।

—चरक संहिता, चिकित्सास्थानम् ७/९-१०

कुष्ठ के पूर्वरूप—

त्वचा पर स्पर्श से ज्ञान का न होना, पसीना का अधिक आना अथवा पसीना का सर्वथा न निकलना, त्वचा में विवर्णता त्वचा में कोठ होना, रोमांच, खुजली, तोद (सुई चुभोने की सी वेदना), श्रम, बिना परिश्रम के ही थकावट की अनुभूति, व्रण हो जाने पर अत्यधिक वेदना की उत्पत्ति, व्रणों का शीघ्र ही उत्पन्न होना और चिकित्सा करने पर भी अधिक काल तक बना रहना, दाह, अङ्गों का शून्य हो जाना—ये सब कुष्ठ के पूर्व लक्षण होते हैं।

--चरक संहिता, चिकित्सास्थानम् ७/११-१२

कुष्ठ के पूर्व रूप

| | चरक | सुश्रुत | काश्यप |
|---|---|---|---|
| १. अस्वेदनम् | + | + | × |
| २. अतिस्वेदनम् | + | + | + |
| ३. पारुष्यं | + | + | + |
| ४ अति श्लक्ष्णता | + | × | + |
| ५. वैवर्ण्य | + | × | + |
| ६. कण्डू | + | + | × |
| ७. निस्तोद | + | × | × |
| ८. सुप्तता | + | + | × |
| ९. परिदाह | + | × | × |
| १०. परिहर्ष | + | + | + |
| ११. लोमहर्ष | + | + | + |
| १२. खरत्व | + | × | + |
| १३. उष्मायणं | + | × | × |
| १४. गौरव | + | + | + |
| १५. श्वयथु | + | × | + |
| १६. विसर्पागमनम् | + | + | + |
| १७. कायछिद्रेषुउपदेह | + | + | + |
| १८. पक्वदग्ध दष्टक्षतभग्न | + | × | + |
| १९. क्षुद्र व्रणेषु दुष्टि | + | × | × |
| २०. असृज कृष्णता | + | + | × |
| २१. रौक्ष्य | × | × | + |
| २२. पिपासा | × | × | + |
| २३. दाह | × | × | + |
| २४. दौर्बल्यता | × | × | + |
| २५. पिडिका | × | × | + |
| २६. अति वेदना | × | × | + |

कुष्ठ और विसर्प सापेक्ष निदान—

कुष्ठ अनेक बताये गये कारणों से वात, पित्त और कफ तथा चार दूष्य (त्वचा, रक्त, मांस, लसीका) को दूषित कर कुष्ठ की उत्पत्ति करता है जबकि रक्त, लसिका, त्वचा और मांस में दुष्य तथा वात, पित्त और कफ ये तीनों दोष मिलकर सप्त धातुओं के द्वारा विसर्प की उत्पत्ति होती है। चार दूष्य तथा त्रिदोष विसर्प के कारण हैं।

| कुष्ठ | विसर्प |
|---|---|
| १—कुष्ठ चिरक्रिया वाले होते हैं। | १—विसर्प अचिरक्रिया वाले होते हैं। |
| २—स्थिर एवं निर्बल रक्त-पित्त वाले दोषों से हैं। | २—विसर्पण शील प्रबल रक्तपित्त वाले दोषों से होता है। |
| ३—कुष्ठ के हेतु गुरु की अवज्ञा तथा चोरी आदि कहे हैं। | ३—विसर्प के हेतुओं में ऐसा कथन नहीं है। |
| ४—कुष्ठ त्रिदोषज ही माना गया है। | ४—विसर्प एक-एक दोषज भी हो सकता है। |

भेद -

कुष्ठ के अठारह निम्नलिखित भेद माने हैं—

१. कपाल २. उदुम्बर ३. मण्डल ४. ऋष्यजिह्व ५. पुण्डरीक ६. सिध्म ७. काकणक ८. एक कुष्ठ ९. चर्माख्य १०. किटिभ ११. विपादिका १२. अलसक १३. दद्रु १४. चर्मदल १५. पामा १६. विस्फोटक १७. शतारु १८. विचर्चिका।

चरक के निदान स्थान में केवल सात महाकुष्ठों का वर्णन आता है। उपर्युक्त ७ भेद तक महाकुष्ठ तथा अन्य सभी ११ क्षुद्र कुष्ठ माने गये हैं। चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट्ट सभी ने कुष्ठ के १८ भेदों को स्वीकार किया है। तुलनात्मक दृष्टि से नामकरण निम्न प्रकार से है—

| | चरक | सुश्रुत | वाग्भट्ट |
|---|---|---|---|
| महाकुष्ठ | १-कपाल | कपाल | कापाल |
| | २-औदुम्बर | उदुम्बर | औदुम्बर |
| | ३-मण्डल | अरुण | मण्डल |
| | ४-ऋष्यजिह्व | ऋष्यजिह्व | ऋष्यजिह्व |
| | ५-पुण्डरीक | पुण्डरीक | पुण्डरीक |
| | ६-सिध्म | दद्रु | दद्रु |
| | ७ काकणक | काकणक | काकणक |

| | चरक | सुश्रुत | वाग्भट्ट |
|---|---|---|---|
| क्षुद्रकुष्ठ | १-एक कुष्ठ | एक कुष्ठ | एक कुष्ठ |
| | २-चर्मकुष्ठ | स्थूलारुष्क | चर्मकुष्ठ |
| | ३-किटिभ | किटिभ | किटिभ |
| | ४-विपादिका | महाकुष्ठ | विपादिका |
| | ५-अलसक | विसर्प | अलसक |
| | ६-दद्रु | परिसर्प | सिध्म |
| | ७-चर्मदल | चर्मदल | चर्मदल |
| | ८-पामा | पामा | पामा |
| | ९-विस्फोट | सिध्म | विस्फोट |
| | १०-शतारु | रकसा | शतारु |
| | ११-विचर्चिका | विचर्चिका | विचर्चिका |

चरक के अनुसार अष्टादश कुष्ठों के लक्षण—

(१) कपाल कुष्ठ लक्षण—काले अरुण रंग के कपाल के समान, कान्ति (लाली लिए हुए काले रंग) वाले, रूक्ष, कठोर, पतले, विषम रूप से फैलने वाले तथा जिस कुष्ठ में तोद अधिक होता हो उसे कपाल कुष्ठ कहते हैं।

(२) औदुम्बर कुष्ठ लक्षण—खुजली, जलन, पीड़ा और लालिमा से युक्त तथा उस कुष्ठ के अधिष्ठान के रोम कपिल वर्ण के हो गये हों तथा जिस कुष्ठ का रंग पके हुये गूलर के फल के समान हो उस को औदुम्बर कुष्ठ समझना चाहिये।

(३) मण्डल कुष्ठ लक्षण—

१. स्निग्ध—चिकना  २. गुरु—भारी

३. उत्सेध—ऊंचा उठाव युक्त

४. श्लक्ष्ण—जिसके किनारे चिकने हों

५ स्थिर स्थाई

६. शुक्लरक्तावभासी—श्वेताभ रक्तवर्ण

७. पीनपर्यन्त—मोटे

८. परिमण्डलवत—गोलाकृति युक्त

१०. सपयगति—शनैः शनैः फैलने वाला

११. कण्डूक्रिमिणी खाज और कृमियुक्त

१२. बहुक्लेद गीलापन युक्त

१३. शुक्लपिच्छिलस्राव - श्वेत चिपचिपा स्राव

१४. बहुल बहुल—अतीव घना

१५. शुक्लरोमराजी युक्त- श्वेत लोमों से व्याप्त

(४) ऋष्यजिह्व कुष्ठ लक्षण—कठोर, किनारों पर रक्तवर्ण अन्दर से श्याव, वेदनायुक्त तथा ऋष्य (हरिणविशेष जिसे रोझ भी कहते हैं अथवा भालू) की जिह्वा के समान आकार वाला कुष्ठ ऋष्यजिह्व कहा जाता है।

(५) पुण्डरीक कुष्ठ लक्षण—सफेद वर्णयुक्त, लाल किनारे वाला, रक्त कमल के सदृश, उन्नत और मध्य में लालिमा युक्त कुष्ठ को पुण्डरीक कहते हैं।

(६) सिध्म कुष्ठ लक्षण—

१. परुषरुक् बाह्य किनारे कठिन होते हैं।

२. अरुण वर्ण—अरुण वर्ण युक्त

३. विशीर्ण—खण्डित  ४. बहिस्तनु—पतले

५. अन्तःस्निग्ध—भीतर चिकनापन

६. शुक्ल रक्तावभासी—श्वेताभ रक्त कान्तियुक्त

७. बहु—बहुत

८. अल्पवेदना—थोड़ी वेदना (दर्द)

९. अल्प कण्डू—थोड़ी खुजली

१०. अल्पदाह—थोड़ी जलन

११. अल्प पूयलसीका स्रावी—पीप और लसीका स्राव

१२. लघु समुत्थान—कम उठने वाला

१३. अल्पभेदी—कम फटने वाला

१४. अल्प कृमि—कम कृमि युक्त

अलाबु पुष्पवत्—तुम्बीपुष्प सदृश।

(७) काकण कुष्ठ लक्षण जो कुष्ठ घुंघची के वर्ण का (मध्य में कृष्ण इधर-उधर लाल या मध्य में लाल और चारों तरफ काला) हो, जो पकता न हो, जिसमें तीव्र वेदना हो और जिसमें त्रिदोष के लक्षण पाये जाते हैं, उस को काकण कहते हैं।

उपर्युक्त इन सातों प्रकारों को महाकुष्ठ के अन्तर्गत माना गया है।

(८) एक कुष्ठ—जिस कुष्ठ में स्वेद नहीं

जाता है, अधिक स्थान में फैला हो एवं मछली की चर्म के समान काला, लाल हो को एक कुष्ठ कहते हैं।

(९) चर्म कुष्ठ लक्षण—इस कुष्ठ में रोगी जो हाथों के चमड़े के समान खर स्पर्श वाला और मोटा-स्थूल हो उसे चर्म कुष्ठ के नाम से पुकारते है।

(१०) किटिभ कुष्ठ—इसमें श्याम (काला) वर्ण का तथा भरे हुये व्रण स्थान सदृश, खर-कर्कश स्पर्श युक्त हो, उसे किटिभ कुष्ठ जाना जाता है।

(११) विपादिका कुष्ठ—इस में रोगी के हाथ-पांव की त्वचा फट जाती है और तीव्र दर्द होता हैं।

(१२) अलसक—कण्डूयुक्त लाल वर्ण आभा वाली ग्रन्थियों से युक्त होता है।

(१३) दद्रु—रोगी का चर्म खुजली युक्त लाल फुन्सियों से युक्त चिकना हो जाता है।

(१४) चर्मदल कुष्ठ लक्षण—यह कुष्ठ जिसमें रक्त वर्ण का, शूल, खुजली और स्फोटों से युक्त चर्मदल नामक फट जाता है और स्पर्श से इसमें अत्याधिक कष्ट होता है। को चर्मदल के नाम से जाना जाता है।

(१५) पामा कुष्ठ लक्षण—छोटी छोटी बहुत सी पिडकायें स्रावयुक्त और खुजली और जलन से युक्त होती हैं। इन पिडिकाओं में तीव्र दाह युक्त जलन युक्त फोड़ों के साथ साथ नितम्ब प्रदेश में हो तो ऐसे कुष्ठ को पामा कहते हैं।

(१६) विस्फोट कुष्ठ लक्षण—इसमें श्याव और रक्तवर्ण पतली त्वचा पर स्फोटों को विस्फोट कहते हैं।

(१७) शतारु कुष्ठ लक्षण—लाल, श्याव वर्ण के दाहयुक्त, बहुव्रणयुक्त लक्षण होते हैं।

(१८) विचर्चिका कुष्ठ लक्षण—इसमें खुजली और श्याव वर्ण, अधिक स्राव के साथ साथ पिडिका हों, उसे विचर्चिका कुष्ठ कहते हैं।

**चिकित्सा—**

कुष्ठ रोग का बलाबल देखकर सर्वप्रथम पञ्चकर्म द्वारा शरीर का शुद्धिकरण करना अनिवार्य होता है। अतः पञ्चकर्म में से जिसके द्वारा संशोधन अनिवार्य हो करके उसके बाद में चिकित्सा व्यवस्था करें।

सुबह शाम शहद से—रसमाणिक्य, शुद्ध गन्धक १२५-१२५ मि.ग्राम, हरताल भस्म ७५ मि.ग्राम। एक मात्रा। ऐसी १-१ मात्रा सुबह शाम शहद के साथ दें।

भोजन के बाद—महामंजिष्ठादि क्वाथ, खदिरारिष्ट ४-५ ढक्कन, एक मात्रा। समभाग जल से।

महामंजिष्ठादि क्वाथ बना लें या फिर बना हुआ क्वाथ भी प्रयुक्त किया जा सकता है। इसमें खदिरारिष्ट मिलाकर समभाग जल के साथ भोजन के बाद दोनों समय प्रयुक्त करना चाहिये।

रात्रि को सोते समय—कुष्ठहर रस आरोग्यवर्द्धनी वटी २-२ गोली एक मात्रा। रोगी को रात्रि को सोने से पूर्व दोनों औषधियों को खदिरारिष्ट के अनुपान से।

उपर्युक्त चिकित्साक्रम सभी प्रकार के कुष्ठ के लिए लाभकारी है। लेकिन उसके साथ साथ जरूरी है कि रोगी को धैर्यपूर्वक ये औषधियां, लम्बे समय तक प्रयुक्त करनी चाहिये।

अन्य उपयोगी औषधियां—निम्नलिखित औषधियों मे से एक या अधिक औषधियों का चयन चिकित्सक के परामर्श अनुसार करें—

१. महातिक्त घृत २. सर्वांगसुन्दरी गुटिका ३. हरताल भस्म ४ गलत्कुष्ठारि रस ५ महा तालकेश्वर रस ६. रसकर्पूर ७. कुष्ठहर रस ८. महामरिच्यादि तैल (अभ्यंग हेतु) ९. राजतालेश्वर रस १०. पञ्चनिम्बादि चूर्ण ११. मृगशृङ्ग १२. टंकण भस्म १३. चम्बलान्तक तैल १४. गन्धक रसायन १५. पञ्चनिम्ब घृत गुग्गुलु १६. अहिवध रस १७. दशांग लेप १८. चोपचीनी चूर्ण १९. नवकषाय गुग्गुलु २०. अमृतादि क्वाथ २१. सत्यानाशी जड चूर्ण २२. नीम की छाल / कडुवे परवल के पत्तों का क्वाथ २३. अन्तर्छाल क्वाथ २४. कुष्ठाद्य तैल २५. श्वेत करवीराद्य तैल २६. सिध्म लेप २७. विपादिकाहर घन २८ त्रिफला योग २९. तिक्तषट्पलक घृत ३०. बाकुची चूर्ण ३१. भुनी हल्दी चूर्ण।

पथ्य—रोगी को समय समय पर १०-१५ दिन के अन्तर से वमन, विरेचन कराना चाहिये। जौ, मूंग, अरहर, मसूर, करेला नीम, मकोय ककडी, खीरा, तिक्त पदार्थ, देवदारु, लाल चन्दन, इलायची, सिंघाड़ा, चना, चिरायता, कुटकी, परवल आदि।

अपथ्य—नमक, कटु पदार्थ, व्यायाम, मद्य, नशीले पदार्थ, दही, उष्ण पदार्थ मैथुन आदि। ✱
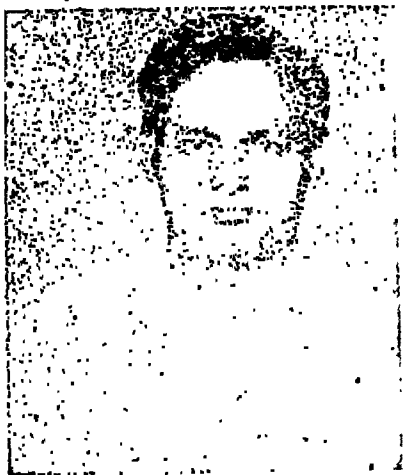
# दोषादि भेद से कुष्ठ विवेचन

डा० गिरीश कुमार सिंह बी. एस-सी., बी.ए.एम.एस.
डिप्लोमा इन योग (बी. एच. यू.)
पी-एच.डी. (स्का०) शरीर क्रिया विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री स्मारक
राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय
हंडिया [इलाहाबाद] उ० प्र०

—:०:—

कुष्ठ की गणना आचार्यों ने महारोगों में की है। यह एक त्रिदोषज व्याधि है। दूष्यों के आधार पर यह प्रमुख रूप से रक्तज विकार माना गया है। यह रोग संसर्ग या संक्रमण प्रकृति का होता है। यह तथ्य सदियों पूर्व आचार्य सुश्रुत ने अपनी वैज्ञानिक दृष्टि का परिचय देते हुए अपनी संहिता में स्पष्ट किया है। इसके स्वरूप आदि को दृष्टिगत कर इसे महागद भी कहा गया है। अष्टांग संग्रह में तो स्पर्श आदि से नेत्र और त्वक्विकार संक्रमित होते हैं ऐसा लिखा है (अ. सं. नि. १४)।

कुष्ठ रोग के असंख्य भेद हो सकते हैं (च. नि. ५/४)। चरकोक्त कुष्ठ रोग के कुछ भेदों को सुश्रुत तथा वाग्भट्ट ने क्षुद्र रोगों में गिना है। यथा—पामा, विचर्चिका आदि। आचार्यों के कुष्ठ सम्बन्धित वर्णन को देखते हुए यह प्रतीत होता है कि इन्होंने भ्रामक दृष्टिकोण से त्वचा में होने वाले सभी विकारों को कुष्ठ के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया है। यही कारण है कि आचार्य सुश्रुत ने कुष्ठ के लिए त्वगामय शब्द का भी प्रयोग किया है।

कुष्ठ रोग के प्रधानतया दो विभाग किये जाते हैं— (१) महाकुष्ठ (२) क्षुद्र कुष्ठ। महाकुष्ठ इसलिए कहते हैं कि इसमें बहुत लक्षण होते हैं। दोषों का प्रकोप बहुत होता है। वेदना बहुत होती है। शीघ्र उत्तरोत्तर धातुओं में गति करता है। कई प्रकार की चिकित्सा करनी पड़ती है तथा चिरकालीन एवं चिरकालानुबन्धि होने के कारण त्वचा में वैवर्ण्य अधिक होता है। क्षुद्र कुष्ठ इसके विपरीत होता है।

यद्यपि उपर्युक्त विवरणानुसार कुष्ठ को आचार्यों ने त्रिदोषज स्वीकार किया है तथा दूष्यों में रक्त, त्वक्, मांस एवं अम्बिका का परिगणन किया है तथापि दर्शन के व्यपदेश भाव के अनुसार इन कुष्ठ भेदों में जिस दोष का प्राबल्य होता है, उसी के अनुसार उसकी चिकित्सा की जाती है। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि न केवल दोष भेद के अनुसार चिकित्सा ही महत्वपूर्ण रहती है अपितु इनके निदान, लक्षण तथा सम्प्राप्ति भी दोषानुसार बनते हैं। यथा वात प्रधान कुष्ठ के निदानों में अधिकांश वात प्रकोपक कारण ही उत्तरदायी होते हैं तथा इनके पूर्वरूप एवं रूपों में खरता, तोद, शूल, संकोच, हर्ष, परुषता, श्याम या अरुण वर्ण तथा आयाम आदि वातिक लक्षणों का ही प्राधान्य होता है और पैत्तिक या श्लेष्म प्रधान कुष्ठों में तत्तद् दोषों की बहुलता दृष्टिगोचर होती है।

प्रस्तुत लेख में मुख्य रूप से कुष्ठ के दोषानुसार पञ्च निदानों तथा चिकित्सा विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है। इस विवरण से न केवल व्याधि की चिकित्सा में ही सहायता मिलेगी, अपितु उसके स्वरूप के स्पष्टीकरण तथा प्रतिबन्धन में भी योगदान प्रदान हो सकेगा।

निरुक्ति—कुष्ठ [illegible] की [illegible] विवेचना की जाय

तो ज्ञात होता है कि अग्निवेशादि ऋषियों ने कुष्ठ शब्द का व्यवहार व्यापक प्रसंग मे किया है। रोग वाचक कुष्ठ शब्द 'कुष निष्कर्ष' धातु से उत्पन्न हुआ है जिसकी निरुक्ति के अनुसार—'कुष्णाति अंगम् इति कुष्ठम्' अर्थात् यह शरीर के अंगों एवं अवयवों को कुष्णित कर देता है, विकृत कर देता है, फूटकर निकलता है।

कुष्ठ की उत्पत्ति में दोषों का कर्त्तव्य—

महर्षि चरक ने इन रोगों मे निम्न दोष-दूष्य का प्रतिपादन किया है —

वातादयस्त्रो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च।
दूष्यन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्य सग्रह.॥

— च. चि. ७/९

प्रकुपित हुए वात पित्त कफ तीनो दोष त्वचा, रक्त, मांस और लसिका को दूषित कर देते है। इस प्रकार कुष्ठ की उत्पत्ति में संक्षेपतः ये सात द्रव्य कारण होते हैं। चरक संहिता निदान स्थान ५/३ में इसका वर्णन किया गया है। कुष्ठ के कारण होते हैं। यथा-प्रकोपक कारणों से विकृत हुए तीनों दोष वात, पित्त, कफ के प्रकोप से विकृत हुए दूष्य रूपेण शरीर की धातुयें त्वक, मांस, रक्त और लसिका। इस प्रकार विकृत हुई इस सातों धातुओं का समूह (त्वग्विकाररूप) कुष्ठ को उत्पन्न करता है। यहां एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि—

न चैकं दोषजं किंचित् कुष्ठं समुपलभ्यते।

कोई भी कुष्ठ एक दोषज नही होता है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी कुष्ठ में तीनों दोषों का प्रकोप होता है। परन्तु उसमें भी किसी दोष विशेष के प्राधान्य से विशिष्ट प्रकार के कुष्ठ की उत्पत्ति होती है। महर्षि चरक के निम्न श्लोक से और स्पष्ट होता है -

न च किंचिदस्ति कुष्ठमेकदोषप्रकोपनिमित्तम्, अस्ति खलु समान प्रकृतीनामपि कुष्ठानां दोषांश-विकल्प स्थान विभागेन वेदनावर्णसंस्थानप्रभावनाम् चिकित्सित विशेषः। च. नि. ५/३।

एक ही दोष के प्रकुपित होने से कोई भी कुष्ठ उत्पन्न नहीं होता है। समान दोष, दूष्य प्रकृति वाले कुष्ठ में भी दोषों के अंशांश, विकल्प, अनुबन्ध और स्थान के अनुसार वेदना वर्ण, संस्थान, प्रभाव, नाम चिकित्सा विशेष से भेद होता है।

संहिताओं मे महा एवं क्षुद्र कुष्ठों में दोष प्राधान्य—

सभी प्रकार के त्वक् दोष (कुष्ठ) यद्यपि त्रिदोषज होते हैं परन्तु अंशांश एव विकल्प भेद से उनमें दोष प्राधान्य होता है। महाकुष्ठ में दोष प्राधान्य का विवरण सुश्रुत मतानुसार निम्नवत् है—

"तत्र वातेनारुणं पित्तेनोदुम्बरवर्ण्यं जिह्वकपाल-काकणकानि श्लेष्मणा पुण्डरीकं दद्रु कुष्ठं चेति।"

—सु. नि. ५/७

उन महाकुष्ठों में वायु की प्रधानता से अरुण, पित्त की प्रधानता से ऋष्य जिह्व, कपाल और काकण तथा श्लेष्मा की प्रधानता से पुण्डरीक एवं दद्रु कुष्ठ होता है।

क्षुद्र कुष्ठों में दोष प्राधान्य निम्नवत है—

अरु: ससिध्मं रकसा महच्चव,
यच्चैककुष्ठं कफजान्यमूनि।
वायोः प्रकोपाव् परिसर्पमेकं,
शेषाणि पित्त प्रभवाणि विद्यात्॥

—सु नि ५/१६

अरुंषक, सिध्म, रकसा, महाकुष्ठ और एक कुष्ठ ये कफज होते हैं। परिसर्प कुष्ठ वायु के प्रकोप से होता है तथा शेष (विसर्प किटिभ पामा, विचर्चिका, चर्मदल) कुष्ठादि की प्रधानता से होते हैं।

कुष्ठ के हेतु—

(१) शीत और उष्ण का बिना क्रम के सेवन करना, शीत के बाद सहसा उष्ण या उष्ण के बाद सहसा शीत सेवन।

(२) संतर्पण तथा अपतर्पण करने वाले आहारों का बिना क्रम के एक के बाद दूसरे का सेवन करना।

(३) मधु, फाणित, मछली, मूली तथा मकोय का बार-२ अधिक मात्रा और अजीर्णावस्था में सेवन करना।

(४) चिलचिम नामक मछली का दूध के साथ सेवन करना।

(५) हायनक, यवक, चीनक, उद्दालक आदि अन्नों को दूध, दही, छाछ, कुलत्थ, उड़द, अतसी तथा कुसुंभ तेल के साथ खाना।

(६) पूर्वोक्त पदार्थों को तृप्तिपूर्वक खाकर मैथुन, व्यायाम तथा आतप का सेवन करना।

(७) भय, श्रम तथा आतप से पीड़ित व्यक्ति द्वारा सहसा शीतल जल से स्नान करना।

(८) विदग्ध आहार को वमन से बाहर निकाले बिना विदाही अन्न का सेवन करना।

(९) छर्दि के वेग को रोकना तथा अधिक स्नेहपान करना।

(१०) अजीर्ण में भोजन, अति भोजन के बाद व्यायाम या आतप सेवन करना।

(११) पञ्चकर्मों को ठीक तरह से न करना।

(१२) दिवास्वप्न।

(१३) स्नेहपान तथा वमन के बाद व्यायाम करना

(१४) विद्वान ब्राह्मण तथा गुरु का अपमान एवं साधुओं की निन्दा तथा वध करना।

(१५) इस जन्म या अगले जन्म के पाप कर्म से।

कुष्ठ के उपर्युक्त हेतुओं को देखते हुये यह प्रतीत होता है कि यह मुख्य रूप से त्रिदोष प्रकोपक है। सामान्य तौर पर यह कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि इनमें प्रमुखतया मिथ्या आहार एवं मिथ्या विहार का ही प्रमुख कर्तव्य होता है। मिथ्या आहार में भी विरुद्ध आहार अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इससे यह प्रतीत होता है कि उक्त निदान सेवन से प्रथम आमोत्पत्ति होती है तथा यह सर्व मान्य सिद्धान्त है कि आमोत्पत्ति त्रिदोष प्रकोपक होती है।

## सम्प्राप्ति—

पूर्वोक्त निदानों के सेवन से तीनों दोष प्रकुपित होते हैं। ये दोष प्रसरावस्था में त्वचा, रक्त तथा मांस को शिथिल करके दूषित करते हैं। इसके बाद ये दोष त्वचा में स्थान संश्रय करते हैं और वहाँ एक प्रकार का मंडल बनाते हैं। इस अवस्था में चिकित्सा न करने से ये दोष अन्य धातुओं को दूषित करके शरीर के आभ्यन्तर भाग में जाते हैं और त्वचा, रक्त, मांस, लसिका इनको दुष्ट करके कुष्ठ रोग उत्पन्न करते हैं। ऐसा सुश्रुत का मत है।

आचार्य चरक ने निदानों से प्रकुपित तीनों दोषों का त्वचा, मांस, रक्त तथा लसिका को दुष्ट करके त्वचा में अधिष्ठान करके कुष्ठ रोग उत्पन्न करने का वर्णन किया है। कुष्ठ में निम्नलिखित सम्प्राप्ति घटक होते हैं —

१. दोष त्रिदोष

२. दूष्य रक्त, त्वक्, मांस लसिका

३. स्रोतस—रक्तवह ४. अधिष्ठान त्वक, मांस

५. चिरकालीन व्याधि है।

कुष्ठ को रक्तज विकारों में गिना जाता है। इसका अधिष्ठान त्वक और मांस है। प्रकुपित वात, पित्त, कफ सर्व प्रथम रक्त को दूषित करते हैं और त्वचा में स्थान संश्रय करते हैं। त्वचा रोम कूपों का अधिष्ठान है जिससे स्वेद बाहर निकलता है। अतः कुष्ठ की पूर्वरूपावस्था में अति स्वेद या स्वेदाभाव हो सकता है। पश्चात कोठ की उत्पत्ति होती है जो प्रथम मन, नितम्ब, पाद तथा बाहु पर होती है। इस कोठ के
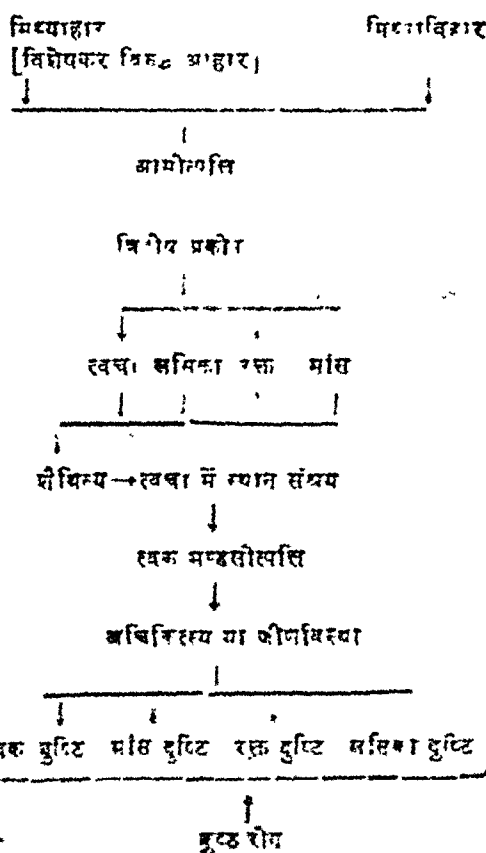
चारों ओर विवर्णता आ जाती है। लोमहर्ष भी होता है। कभी-कभी कोठ शांत हो जाता है और दूसरा कोठ उत्पन्न होता है। जब यह कोठ पकता है तब कण्डू, तोद तथा शूल उत्पन्न होते हैं। पाक की अवस्था में मांस दुष्टि भी हो जाती है। त्वचा स्पर्शेन्द्रिय है। अतः त्वचा की विकृति से सुप्तता या स्पर्शाज्ञता उत्पन्न होते हैं। स्पर्शाज्ञता त्वचा की अधिक एवं विशिष्ट विकृति पर ही निर्भर करती है। उदक जब त्वचा से बाहर (क्षतावस्था में) निकलता है, तब लसिका कहलाता है। कुष्ठ पीड़ित रोगी की त्वचा में क्षत हो जाता है। परिणामतः लसिका की भी दुष्टि हो जाती है

**दोषानुसार कुष्ठ के पूर्वरूप—**

[क] वातिक—१. त्वचा परुष, २. सुई चुभने की सी पीड़ा, ३. झनझनाहट, ४. लोमहर्ष, त्वचा कुछ कठिन हो जाती है। ६. स्पर्श ज्ञान कम हो जाता है। ७. त्वक् वैवर्ण्य ८. व्रण में अधिक पीड़ा होना ९. व्रण रोपण के बाद भी वह स्थान रूक्ष रहता है और थोड़ा कारण मिलने पर कोथ उत्पन्न होता है। १०. जलने से, अस्थि भग्न से, दुष्ट व्रण से, कुष्ठ के भावी स्थान में अधिक पीड़ा होती है।

[ख] पैत्तिक—१. स्वेदाधिक्य, २ दाह
३. रक्त काला पड़ जाता है।

[ग] कफज—१. कण्डू
२. शरीर के छिद्रों में चिकनापन
३. व्रण रोपण ठीक नहीं होता
४. श्रम ५. स्वेदाभाव ६. श्लक्ष्ण।

कुष्ठ के भेद –

कुष्ठ के भेद अपरिसंख्येय हो सकते हैं। परन्तु कुष्ठ मुख्यतः दो भागों में विभक्त है—

(१) महाकुष्ठ (२) क्षुद्र कुष्ठ।

१. महाकुष्ठ में—(i) कपाल कुष्ठ (ii) औदुम्बर (iii) मण्डल (iv) ऋष्यजिह्व (v) पुण्डरीक (vi) सिध्म (vii) काकणक।

२. क्षुद्र कुष्ठ में—(i) एक कुष्ठ (ii) किटिभ (iii) अलस (iv) चर्मदल (v) विस्फोटक (vi) विचर्चिका (vii) चर्माख्य (viii) विपादिका (ix) दद्रु (x) पामा (xi) शतारु।

पूर्वोक्त नाम आचार्य चरक के अनुसार हैं। सुश्रुत के अनुसार निम्न प्रकार से नाम दिये हैं –

महाकुष्ठ– अरुण, उदुम्बर, ऋष्यजिह्व, कपाल, काकणक, पुण्डरीक, दद्रु।

क्षुद्र कुष्ठ स्थूलारुष्क, महाकुष्ठ, एक कुष्ठ, चर्मदल, विसर्प, परिसर्प, सिध्म, विचर्चिका, पामा, किटिभ, रकसा।

कुष्ठ रोग भेदों में दोष प्राधान्य—

१. वायु की अधिकता से कपाल कुष्ठ
२. पित्त की अधिकता से औदुम्बर
३. कफ की अधिकता से मण्डल
४. वात-पित्त की अधिकता से ऋष्यजिह्व
५. पित्त-कफ की अधिकता से पुण्डरीक
६. कफ-वात की अधिकता से सिध्म
७. तीनों दोषों की अधिकता से काकणक।

क्षुद्र कुष्ठों में दोष प्राधान्य निम्नवत है—

—चर्माख्य, एक कुष्ठ, किटिभ, विपादिका, अलसक
—वात + कफ से।
—पामा, शतारु, विस्फोटक, दद्रु, चर्मदल
– पित्त + कफ से।
—विचर्चिका कफ की अधिकता से होता है।

**कुष्ठ में दोषानुसार लक्षण—**

| वातिक लक्षण | पैत्तिक लक्षण | कफज लक्षण |
|---|---|---|
| १. रूक्षता, खरता | दाह | श्वेतता |
| २. शोष | रक्तिमा | शीतता, स्निग्धता |
| ३. तोद, शूल | परिस्रव | कण्डू |
| ४. संकोच, हर्ष | पाक | स्थिरता |
| ५. आयास | क्लेद | उत्सेध |
| ६. परुषता | आमगन्धि | गौरव |
| ७. श्याम या अरुण वर्ण | अंगपतन | कृमि द्वारा खाया जा रहा हो ऐसी प्रतीति। |

साध्यासाध्यत्व—

१. जो कुष्ठ पित्तज, द्वन्द्वज, रक्त तथा मांसगत

हो उसे कृच्छ्रसाध्य मानना चाहिए। जो कुष्ठ वात-कफाधिक्य वाला हो, त्वग्गत हो या एक दोषज हो उसे साध्य समझना चाहिए।

२. पथ्य पर रहने वाले व्यक्ति के त्वचा, रक्त और मांसगत कुष्ठ साध्य होते हैं।

३. मेदोगत कुष्ठ याप्य है।

४. अस्थि, मज्जा तथा शुक्रगत कुष्ठ असाध्य होते हैं (सु. नि. ५)।

५. जिस कुष्ठ में त्वचा फट गई हो, जिसमें स्राव होता हो, आँख लाल हो गई हो, स्वर बैठ गया हो, जिसमें पञ्चकर्म से भी कोई लाभ न होता हो, उसे असाध्य (मृत्युकारक) समझना चाहिये (सु. सू. ३३)।

चिकित्सा सिद्धान्त --

रोग मात्र दोषों के वैषम्य से होता है और दोष प्रत्यनीक उपचारों से ही उसकी निवृत्ति होती है—यह आयुर्वेद का मूल सिद्धान्त है। किन्तु कभी-कभी व्यवहार में यह सिद्धान्त फलीभूत नहीं होता है -- विशेषतः त्वग्विकारों में। वहां दूष्य चिकित्सा विशेषतः रक्तावसेचन कराने से त्वरित लाभ होता है। इसका कारण यही है कि उनमें रस-रक्त की दुष्टि होने से रक्त निर्हरण के पश्चात् रोगोपशमन हो जाता है। अर्थात् त्वग्दोष में दोष प्रकार के बलाबल तथा दूष्य की स्थिति को ध्यान में रखते हुए उपचार का निर्णय करना चाहिए। कोई भी त्वग्विकार हो, उसमें उत्पन्न हुए लक्षण दोष विशेष का संकेत अवश्य करते हैं। उन लक्षणों के आधार पर यदि दोष शमन या दोष निर्हरण का उपाय किया जाय तो उत्तम होगा।

[१] कुष्ठ त्रिदोषज होता है परन्तु जो दोष प्रबल हो उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

[२] स्वच्छ वायु और प्रकाश युक्त स्थान में निवास तथा उपयुक्त आहार विहार का प्रयोग करें।

[३] वातोल्वण कुष्ठ में सर्वप्रथम घृतपान करायें।

[४] पित्तोल्वण में विरेचन तथा रक्तमोक्षण करें।

[५] कफोल्वण में वमन कराना चाहिए।

[६] क्षुद्र कुष्ठ में प्रच्छान्न द्वारा रक्तमोक्षण कराना चाहिए।

[७] महाकुष्ठ में सिरावेध करना चाहिए।

[८] संशोधन की प्रक्रिया में वात प्रकोप होने का सन्देह होता है। अतः संशोधन के बाद स्नेहपान करायें।

[९] स्थिर तथा कठिन कुष्ठ में स्वेदन भी करा सकते हैं।

[१०] आमलसार गन्धक को १-८ रत्ती तक की मात्रा में चमेली के रस या मधु के साथ दें।

[११] गोमूत्र के साथ शिलाजतु का प्रयोग करना चाहिये। वज्र भस्म का शिलाजतु के साथ मिलाकर प्रयोग करायें।

[१२] लेपों में--एलाद्य लेपन, मास्यादि लेप, कुष्ठादि लेप, करञ्जादि लेप, एडगजादि लेप। इनमें से किसी एक लेप का प्रयोग करना चाहिये।

[१३] चक्रमर्द के बीज, सैंधव, रसाञ्जन, लोध्र, इनको मिलाकर लेप बनाकर प्रयोग करें।

[१४] मुस्तादि चूर्ण, त्रिफलादि चूर्ण, पटोलादि चूर्ण, मध्वासव, कनक बिन्द्वारिष्ट, इनमें से एक का प्रयोग करें।

[१५] बाह्य प्रयोगार्थ श्वेत करवीराद्य तैल, कनकक्षीरी तैल, तिक्त षट्पल घृत, महातिक्त घृत, महाखदिर घृत का प्रयोग करना चाहिये।

[१६] बाकुची तैल, निम्ब तैल, अर्क तैल का बाह्य प्रयोग करें।

[१७] रसमाणिक्य १ रत्ती, खदिरादि कषाय २ तोला के साथ दिन में एक बार।

[१८] बाकुची चूर्ण, खदिर चूर्ण, कुष्ठ चूर्ण; शुद्ध गन्धक प्रत्येक ६००-६०० मिग्राम। १ × ३ खदिर कषाय के साथ।

[१९] खदिर, गन्धक और बाकुची कुष्ठ की श्रेष्ठ औषधि है।

सन्दर्भ ग्रन्थ—१. चरक संहिता, २. सुश्रुत संहिता, ३. अष्टांग हृदय, ४. अष्टांग संग्रह, ५. चक्रदत्त, ६. माधव निदान, ७. भिषक् कर्म सिद्धि, ८. काय चिकित्सा—डा० शिवचरण ध्यानी।

—★—★—★—

# कुष्ठों की स्वानुभूत चिकित्सा

वैद्य मोहरसिंह आर्य मिसरी—१२३३०६ जिला (भिवानी) हरयाणा

१—एक-कुष्ठ निवारण—

अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्स्य शकलोपमम् ।
तदेक कुष्ठ......

अर्थात् जिसमें स्वेद न आए, जो बहुत बड़े स्थान में हो और जो मछली की त्वचा के सदृश हो, उसे एक-कुष्ठ समझें ।

एक कुष्ठ को Erythro-dermias कहते हैं। इसमें शरीर का चर्म काला, लाल हो जाता है। यह गात्र प्रदेश के एक अथवा अनेक स्थानों पर उदय होता है। एक-कुष्ठ धीरे-धीरे आकार में बढ़ता जाता है। रोग पुराना होने पर प्रभावित स्थान पर खुरंड से जम जाते हैं। यह खुरंड धीरे-धीरे कठिन, स्थूल तथा मछली की त्वचा के सदृश चिकने तथा चमकीले दिखाई देने लगते हैं चिकित्सा न करने पर यह दाग शरीर के सम्पूर्ण भागों मे परिसर्पण कर जाते हैं । इस रोग में साधारण खुजली, छेद और स्थानीय रूक्षता एवं विवर्णता आदि लक्षण पाये जाते हैं।

चिकित्सा सूत्र—१. स्थानीय क्षेत्र को स्वेदित करें।
२. स्थूल कठिन मत्स्यवत् चर्म पर लेप करें।
३. यदि रोग आरम्भ सिर हो, तो शिरोवस्ति का प्रयोग करें।

स्थानीय स्वेदन कर्म—गो मूत्र एक लीटर लें। एक मिट्टी के पात्र में डालें, पात्र के मुख पर एक छिद्र-युक्त ढक्कन रख, चारों ओर से संधि कपड़-मिट्टी कर दें। ढक्कन के छिद्र में एक नलकी लगावें। पात्र को आंच पर रखें। नलकी द्वारा आक्रान्त स्थान पर वाष्प दें। ध्यान रहे वाष्प तीव्र न हो। इससे स्थूलता एवं कठोरता दूर होती है।

स्वेदनोपरान्त—मयूर तुत्थ ५ ग्राम को उष्णोदक २०० मि.ली. में मिलाकर घोल प्रस्तुत करें। इस घोल में स्वच्छ मोटा वस्त्र भिगोकर रुग्ण स्थल पर रखें। जब वस्त्र शुष्क हो जाए तो पुनः भिगोकर रख दें। इस प्रकार २४ घण्टे करें। इससे मृत त्वचा (अथवा मत्स्य शकल) मृदु होकर उतरने लगती है। तत्पश्चात् रुग्ण स्थान को स्वच्छ करें। यदि खुरंड शेष रह रहे हों तो पुनः इस घोल का पूर्ववत् प्रयोग करें। जब रुग्ण स्थान में सूचीतोदन अनुभव होने लगे तो तुत्थ घोल लगाना बन्द कर दें। तदोपरान्त—

१-हिंगुल ४ भाग, रस सिंदूर २ भाग सब्बीर १ भाग रसकपूर २ भाग गन्धक ४ भाग लेकर सूक्ष्म पीस मलमल के वस्त्र से छान लें। यह चूर्ण १ भाग, शतधौत गो घृत १० भाग मिलाकर रुग्ण स्थान पर नित्य प्रति एक बार लेप करें। दूसरे दिन चने के आटे से रुग्ण स्थान को रगड़कर स्वच्छ करें और पुनः लेप लगावें। यह चण्डमारुतम योग है।

२-स्वर्णक्षीरी बीज २० ग्राम, जयपाल बीज मज्जा ४० ग्राम, भल्लातक ४० ग्राम, हरताल पत्रक ५ ग्राम, मैन-सिल ५ ग्राम लें। पाताल यन्त्र विधि से तेल प्राप्त करें। इस तेल को रुग्ण-स्थल पर लगावें। इससे शिरः स्थानीय एक-कुष्ठ में तुरन्त लाभ होता है। यह तेल दाद में भी लाभप्रद है।

३—चण्डमारुतम २ से ४ चावल तक मधु तथा त्रिकुटा चूर्ण के साथ दें।

४—आरोग्यवर्द्धिनी वटी १ से ४ गोली तक महा-मंजिष्ठादि क्वाथ से दें। इस प्रकार औषधि व्यवस्था से रोगी रोग-मुक्त हो जाता है।

२—चर्मकुष्ठ (Xerodermia Pigmentosa)

"चर्माख्यं बहलं हस्तिचर्मवत्"

जिसमें त्वचा हाथी के चर्म के समान, मोटी हो जाये उसे चर्मकुष्ठ कहते हैं।

यह कुष्ठ पांव की उपरि त्वचा पिण्डली पर विशेष रूप से उदय होता है। शरीर के अन्य भागों पर होता है। इसमें कण्डू होती है। इस रोग में रुग्ण का चर्म हाथी की त्वचा सदृश कालर, कृष्णाभ धूसर होता है। रोग की उग्रावस्था में त्वचा काली, मोटी तथा खुरदरी हो जाती है। कण्डू से अति कष्ट होता है। हस्तपादतल में दाह

होता है। कण्डू के कारण निद्रा दुर्लभ हो जाती है।

चिकित्सा सूत्र -

एककुष्ठवत् । स्थानीय स्वेदन कर्म एककुष्ठवत् ।

चिकित्सा—(१) कण्डू नाशक तेल पारद और द्विगुण गन्धक मिलाकर की हुई कज्जली २४० ग्राम, नीले थोथे का फूला १२ ग्राम, काली मिर्च का कल्क ४८० ग्राम, सरसों का तेल २ लीटर और धतूरे का रस २ लीटर लेवें। सबको मिलाकर मन्दाग्नि पर चढ़ाकर तेल पाक करें। धतूरे का रस जल जाने पर ऊपर से तेल निकाल लें। फिर खरल या किसी दूसरे पात्र में तल भाग में बचे हुए द्रव्यों के किट्ट का मर्दन करें। पश्चात् उसमें थोड़ा-थोड़ा तैल मिलाकर सबको एक-सा बनाकर छानकर बोतलों में भर लें।

इस तेल का उपयोग करने के समय बोतलों को हिलाकर थोड़ा तेल कटोरी में निकाल लें। उसमें से मालिश करने से एक सप्ताह में असाध्य गजचर्म, चर्मदल, कण्डू, दाद, कुष्ठ, रान्धिवात आदि विकार नष्ट हो जाते हैं। त्वचा कोमल बन जाती है।

सूचना – रोगी को तेल लगाने के पश्चात् निर्वात स्थान में बैठाकर स्वेद देवें। त्रिफला, वायविडङ्ग और अजवायन डालकर उबाले हुए जल की वाष्प स्थानीय दें। स्वेद आ जाने के आधे घण्टे बाद साबुन लगा कोष्ण जल से स्नान करें।

(२) सत्यानाशी तैल, स्वर्णक्षीरी के बीजों को कोल्हू में पेलकर तैल निकलवा लें। इस तेल की मालिश रुग्ण स्थल पर दिन में ३-४ बार करें।

(३) भल्लातक तेल, अशुद्ध भल्लातक, अशुद्ध गुग्गुल तथा बाकुची तीनों को समभाग लें सावधानी से कूट कर एक हाण्डी में भरकर मुख पर छलनी की जाली लगाकर पाताल यन्त्र विधि से तेल निकालें। इस तेल को लगावें तथा कवच में भरकर दें। इससे चर्मकुष्ठ, श्वित्र कुष्ठ नष्ट हो जाता है।

(४) रसमाणिक्य महामंजिष्ठादि क्वाथ के साथ दें।

३—किटिभ कुष्ठ—

'श्यावं किण खरस्पर्शं परुषं किटिभं स्मृतम्'

जो स्निग्ध कृष्ण वर्ण का व्रण स्थान के समान खुरदरे स्पर्श वाला और कठोर होता है, वह किटिभ

← किटिभ कुष्ठ (Psoriasis)

कहलाता है। आधुनिक विद्वान Psoriasis कहते हैं।

इस रोग का प्रकोप हाथों पर स्कन्ध तक और पांवों पर कटि स्थान पर्यन्त देखा जाता है। पीड़ित स्थान नुकीले अंकुरों के स्पर्शयुक्त, परुष तथा श्याव वर्ण का होता है। आक्रान्त स्थान की त्वचा मोटी हो जाती है, खुजली बनी रहती है।

उपर्युक्त तीनों कुष्ठों के उत्पादक दोष-दूष्य समान हैं

चिकित्सा सूत्र – (१) स्वच्छता रखें (२) रोगी को मानसिक उत्तेजनाओं से बचाएं।

औषधि व्यवस्था—(१) मनःशिलादि लेप या चण्डमारुतम् लगावें।

चण्डमारुतम्—शुद्ध हिंगुल ४ भाग शुद्ध रसकर्पूर २ भाग, शुद्ध सङ्खीर १ भाग, शुद्ध गन्धक १ भाग, रस सिंदूर १ भाग से सूक्ष्म-सूक्ष्म श्लक्ष्ण वस्त्रपूत चूर्ण बना लें।

प्रयोग विधि—चण्डमारुतम् १ भाग, शतधौत गव्य घृत दस भाग मिला लें। उसका लेप एक बार निर्दिष्ट रुग्ण स्थल पर लगावें, दूसरे दिन चणक (चना) के आटे से आक्रान्त स्थान को रगड़कर स्वच्छ करें और पुनः लेप लगावें। साबुन न लगावें।

अन्त: प्रयोज्य भेषज—गन्धक रसायन १ भाग, करञ्ज बीज मज्जा चूर्ण १ भाग लें। दोनों को एकत्र खरल कर मधु से दिन में दो बार दें।

यह योग सचित्र आयुर्वेद में वैद्य वासुदेव द्वारा लिखा गया है। हमने इस योग का चर्म रोगों पर बिपुल प्रयोग कर सदैव सफलता प्राप्त की है। इससे फिरंगोपदंश तक को नष्ट किया है। यह उत्तम उदर शोधक भी है, विषघ्न है। कृमि-नाशक है। इस योग की आभ्यन्तर प्रयोगार्थ मात्रा १२५ मि. ग्राम है। सब्बीर बनाने की विधि सिद्ध योग संग्रह में देखो।

४—विपादिका कुष्ठ—

'वैपादिकं पाणिपादस्फुटनं तीव्र वेदनम्'

तीव्र वेदना युक्त हाथ तथा पांवों के फटने को विपादिका कहते हैं। इसको Rhagades और बिवाई कहते हैं। विपादिका में असह्य वेदना होती है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है—जा के पांव फटी न बिवाई। वह क्या जाने पीर पराई॥ यह रोग शरद् ऋतु में होता है। इसमे पांव की एड़ियां फट जाती हैं। फटे हुए स्थानों से रक्त टपकता रहता है।

(१) विपादिका चिकित्सा सूत्र—

१. हाथों में दस्ताने तथा पांव में जुराब पहनें। २. आघात से बचायें।

चिकित्सा—१. एक ईंट को आंच में तपाकर लाल करें फिर ईंट को आक्रान्त भाग के नीचे रखें और पीड़ित हाथ या पांव पर वस्त्र ओढ़ावें। वस्त्र इतना बड़ा हो कि चारों ओर से भूमि पर टिक जाए। अब ईंट पर थोड़ा-थोड़ा गो मूत्र डालते रहें। यदि ईंट ठण्डी हो जाए तो दूसरी तैयार रखें। इस प्रकार एक लीटर गो मूत्र समाप्त करें। पीड़ित स्थान से स्वेद निकलेगा। इस स्वेद को सावधानी से स्वच्छ करते रहें। तत्पश्चात्—

२. विपादिकाहर मलहर—जीवन्ती (डोडीशाक) के पुष्प, मजीठ, दारुहल्दी, कमीला प्रत्येक १६० ग्राम तथा नीलाथोथा ४० ग्राम मिला जल में पीसकर कल्क बनावें। फिर कल्क, गोमूत्र १२८० ग्राम, गोदुग्ध २५६० मि.ली. और जल १०२४० मि.ली. मिलाकर मन्दाग्नि पर पाक करें। फिर स्नेह को वस्त्र से छानकर पुनः आंच पर पाक करें तथा राल एवं मोम प्रत्येक ३२० ग्राम मिला मलहर बना रखना। इस मलहर को लगाते रहने से बिपादिका, चर्म-कुष्ठ, एक कुष्ठ, किटिभ तथा अलसक आदि कुष्ठ नष्ट होते हैं। इस मलहर को १०० बार जल से धोकर अग्निदग्ध, व्रण, कण्डू, पामा तथा अर्शांकुर पर लगावें। यह वेदना शामक तथा व्रण रोपक है।

३. राल, मधु, सिद्ध तैल, इनको पीसकर लेप करें।

४. जायफल जल में घिसकर लेप करें।

५—अलसककुष्ठ —

"कण्डूमद्भिः सरागैश्च गण्डैरलसकं चितम्"

खुजलीयुक्त रक्तवर्ण के फोड़ों से युक्त अलसक कुष्ठ होता है।

चिकित्सा—विपादिकावत् करें। इसे Lichen कहते हैं।

६—दद्रु (Ringworm)—

"सकण्डूरागपिडकं दद्रुमण्डलमुद्गतम्"

खुजलीयुक्त रक्त वर्ण की पिड़का को दद्रु कहते हैं

सुश्रुत ने दद्रु का वर्णन महाकुष्ठों में किया है। और चरक ने क्षुद्र कुष्ठों में उल्लेख किया है।

दद्रु के दो भेद देखे जाते हैं—एक श्वेत-सित तथा दूसरा कृष्ण-असित। कृष्ण या असित दद्रु को ही काला दाद कहते हैं। यह कष्ट साध्य होता है।

दद्रु कुष्ठ अलसी पुष्प के सदृश अथवा ताम्र वर्णवत्, फैलने वाली छोटी-छोटी पिडकाओं से युक्त होता है। (सु.)

उभार, घेरा, खुजली तथा देर में उत्पन्न होना ये दद्रु के सामान्य लक्षण हैं।

दाद शरीर पर कहीं भी उत्पन्न हो सकता है। परन्तु जननेन्द्रिय, अण्डकोष तथा जंघा-रान की भीतर की ओर पेट एवं पेड़ू स्थान पर होने वाला दाद अत्यन्त कष्टप्रद होता है। इसके किनारे उभरे हुए एवं शोथ युक्त होते हैं। थोड़ा पसीना आते ही तीव्र खुजली होती है।

चिकित्सा सूत्र—१. शरीर का शोधन करावें। २. दद्रु स्थान को रगड़कर लेप लगावें। ३. विरेचन कराना श्रेष्ठ है।

योग—(१) दद्रुघ्नी वटी—राल, गन्धक, सुहागा

पोंकिया, कपूर देशी, चकवड और अजवायन खुरासानी समभाग लेकर सबका पृथक्-पृथक् वस्त्रपूत चूर्ण कर फिर नवनीत गोघृत में घोटकर २-२ ग्राम की गोलियां बना लें। दाद को समुद्रफेन या कपड़े से खुजला कर इस वटी को गोमूत्र या नींबू के रस में घोलकर लेप करें। लेप दिन में तीन बार करें। इससे सद्यः लाभ होगा।

(२) एडगजादि लेप चकवड बीज, सेंधव लवण, सर्षप, वायविडंग, बावची करंज बीज मज्जा समभाग लेकर वस्त्रपूत चूर्ण कर मट्ठा में घोटकर लेप करने से दाद, कृमि-युक्त कुष्ठ एवं मण्डल कुष्ठ नष्ट होते हैं।

(३) चण्डमारुतम् का प्रयोग करें।

(४) जंगली अंजीर का दूध दाद पर ३ बार लगाएं।

अन्तः प्रयोज्य भेषज

१– चण्डमारुतम् का सेवन करावें।

२– दद्रुहर मिश्रण—आरोग्यवर्धिनी १६ ग्राम, अष्टामृत पर्पटी १२ ग्राम, कैशोर गूगल २५ ग्राम, गन्धक रसायन १२ ग्राम, रसमाणिक्य १२ ग्राम। सबको एकत्र खरल कर ६४ मात्राएं बना लें। एक-एक मात्रा प्रातः सायं दूध या जल से दें। यह दाद पामा तथा त्वचा विकार नाशक है।

७—चर्मदल (Excoriation)—

१. रक्तं सशूल कण्डूयत् सस्फोट यद्गलत्यपि।
तच्चर्मदलमाख्यातं संस्पर्शासहमुच्यते ॥—च.

रक्त वर्ण का, शूल, खुजली तथा स्फोटों से युक्त फटने वाला तथा वस्त्रादि के स्पर्श से इसमें अत्यधिक कष्ट होता है।

२. चर्मदलारि तैल—शीशम की पकी लकड़ी जो भीतर से काली हो उसका बुरादा ३ किलोग्राम, नारियल का कपाल (खोपड़े के ऊपर का कठोर छिलका), बावची का बीज, भिलावा ये तीनों १-१ किलोग्राम, चिरमिट मूल की छाल, नौसादर, चोक (सत्यानाशी की जड़) ये तीनों ५००-५०० ग्राम, गन्धक तथा मैनसिल (मनःशिला) २५०-२५० ग्राम लें। इन सब द्रव्यों का एक साथ चूर्ण कर पाताल यन्त्र विधि से तैल निकाल लेवें। इस प्रकार निकाला हुआ तैल १ लीटर लें। फिर संखिया, नीलाथोथा, दाल चिकना ये तीनों ६०-६० ग्राम लें, पीसकर इस १२० मि.ली. तैल में मिलाकर मर्दन करें। तत्पश्चात् शेष तैल में इसे मिला लें। इस तैल का प्रयोग करने के समय बोतल को हिला लेवें। फिर फोड़ा निकाल कर पीड़ित स्थान पर मर्दन करें। इस तरह दिन में ५-६ बार मर्दन करते रहने से भयंकर चर्मदल का भी विनाश हो जाता है।

सूचना—चर्मदल अधिक मोटा हो जाने से उस स्थान के रोम कूप बहुधा कार्य करने में असमर्थ हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में औषधि का बाह्य प्रयोग विशेष लाभ नहीं पहुंचा सकता। अतः पहले ७-८ दिन तक ईसबगोल की पुल्टिस बांधकर उस स्थान को मृदु बना लेवें फिर इस तैल का प्रयोग करें।

३. गन्धक रसायन मंजिष्ठादि क्वाथ के साथ दें।

८—पामा तथा कच्छू—

छोटी-छोटी बहुत सी पिडकाएं जिनसे स्राव निकलता रहता है, खुजली एवं जलन से युक्त होती हैं उन्हें पामा कहते हैं। (च.)

ये पिडकाएं ही जब तीव्रदाह युक्त फोड़ा-फुंसियों के समान हाथ (हाथ की अंगुलियों के मध्य) तथा नितम्ब प्रदेश पर होती हैं, तो उसे कच्छू कहते हैं।

(मा. नि.)

सुश्रुत ने भी पामा का ही भेद कच्छू कहा है। चरक तथा वाग्भट ने कच्छू का उल्लेख नहीं किया है।
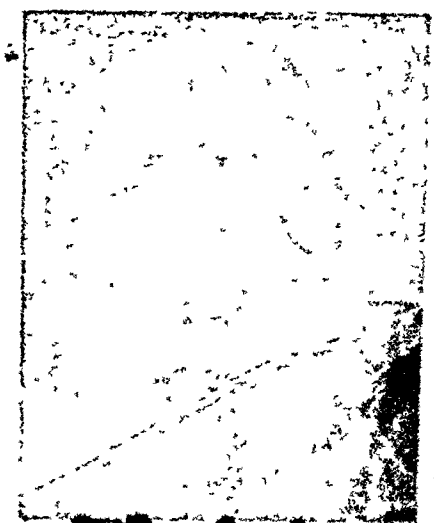
ऊपर—अंगुलियों के बीच में खरवा।
नीचे—स्त्रैणिक कक्षा का खरवा।

पामा नामक कुष्ठ मे असख्य पिडिकायें-फुन्सिया होती हैं। इनमे अतिशय कण्डू, क्लेद, आर्द्रता तथा वेदना अधिक होती है। ये पिडकायें छोटी-छोटी श्याव-अरुण वर्ण की बहुत सी होती हैं। प्रायः गुह्य अवयव, चूतड़, हाथ तथा कुहनियो पर होती है। (व०)

आजकल जिस रोग को खुजली कहते हैं, वह सुश्रुतोक्त पामा तथा कच्छू के साथ समानता रखती है। जैसाकि सुश्रुत ने कहा है—पामा कुष्ठ में छोटी-छोटी बारीक पिडकायें उत्पन्न होती हैं। इन पिडकाओं से स्राव बहता रहता है। इनमें खुजली और जलन होती है। जिस समय यह पामा निम्न हाथ तथा पांव में हो जाए और इनमें फुंसियां काले रंग की उत्पन्न हो जायें, इनमें जलन एवं खुजली हो, तो इसको कच्छू कहते हैं। (सु०)

पामा की पिडकाओं को खुजलाने से पूयोत्पत्ति होती है।

भेद क्रियाक्रम मे देखते हैं। खुजली दो प्रकार की होती हैं।

१. कफज कण्डू—रात्रि में खुजली विशेष होती है।

२. पित्तज कण्डू इसमें दिन में विशेष खुजली होती है।

चिकित्सा सूत्र—

[१] स्वच्छता का विशेष ध्यान रखें।
[२] रोगी के सोते समय उष्णोदक से स्नान करावें।
[३] वस्त्रों को साबुन से धोकर धूप में डालें।
[४] शरीर को साबुन लगाकर स्वच्छ करें।
[५] इस रोग में विरेचन विशेष लाभप्रद है।

चिकित्सा योग—

१. रसादि लेप—पारद, गन्धक, जीरा, काला जीरा, हल्दी, दारुहल्दी, कालीमिर्च, सिन्दूर तथा मैनसिल समभाग लें। शुद्ध पारद गन्धक की कज्जली बनावें। शेष द्रव्यों का वस्त्रपूत चूर्ण बना सबको एकत्र मिला, शतधौत गोघृत चूर्ण से तिगुना [illegible] घोट लें। एक सप्ताह रखकर फिर लगाने से विशेष [illegible] करता है। यह पामा, कच्छू के लिये परमौषधि है। इसमें समभाग चकबड़ बीज तथा बावची बीज और मिलाने से विशेष लाभप्रद होता है।

२. पामारि लेप—पारद, गन्धक, मनःशिला, ताल पत्रक, हिंगुल, मुर्दारसंग, तूतिया, बाकुची तथा काली मिर्च सम भाग लें। सबको कूटपीस शतधौत गव्य घृत ८ गुना में मिला लेप करने से पामा-कच्छू शान्त होता है।

३. गन्धक द्रव—गन्धक तथा चूना कलई १-१ भाग, जल १६ भाग मिलाकर एक मिट्टी के पात्र मे डालकर पकावें। आधा जल शेष रहे, उतारकर छान लें। पामा तथा चर्म विकार पर लगावें।

४. खुजली गन्धक, आंवलासार (आंवले के रस में शोधित), शुद्ध सोना गेरू, काली जीरी तीनों समभाग लें, पृथक् पृथक् कूटपीसकर कपड़छन कर लें। फिर इसकी तीन पुड़िया बना लें।

प्रयोग विधि एक पुड़िया प्रातःकाल दही के साथ खा लें। दूसरी पुड़िया को शुद्ध सरसों के तैल ६० मि. ली. में मिलाकर सम्पूर्ण शरीर पर अभ्यङ्ग करें और धूप में बैठ जांय। तीसरी पुड़िया प्रथम मात्रा से ३ घण्टे के पश्चात दही के साथ लें।

पथ्य—दिन भर दही पीते रहें। दही अम्ल न हो, सायंकाल चावल दही तथा शरबत खस मिलाकर खायें।

इस प्रयोग से एक दिन में ही हर प्रकार की खुजली नष्ट हो जाती है। शरद ऋतु में संभाल कर प्रयोग करें। यह योग सरदी कर सकता है।

५. चमत्कारी योग-शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, कालीमिर्च, मुर्दासंग, तूतिया, हल्दी, कबीला, तथा बावची ६-६ ग्राम लें। पारद गन्धक की कज्जली करें, शेष द्रव्यों को कपड़छन कर चूर्ण कर लें। मुर्गी का एक अण्डा लेकर उसकी श्लेष्मा-सफेदी निकाल लें। कज्जली तथा चूर्ण एकत्र खरल कर अण्डे में डालकर बोतल में मिला दें। फिर अण्डे का मुंह दूसरे अण्डों के खोल से बन्दकर उड़द के आटे का दो अंगुल मोटा लेप कर दें। फिर निर्धूम अंगारों में रखकर पकावें। अंडे को उलट-पलट करते रहें। जब लेप का आटा लाल हो जाय तो निकाल लें। शीतल होने पर औषधि निकाल खरल कर लें।

प्रयोग विधि-६ ग्राम औषधि लेकर शतधौत गो घृत में मिलाकर केवल हाथों पर मलकर आग पर सेकें।

इससे गीली या सूखी, नवीन अथवा पुरानी कण्डू,

कच्छ २-३ बार केवल हाथों पर मल कर सेकने से समस्त शरीर की खुजली दूर हो जाती है। सम्पूर्ण शरीर पर औषधि लगाने की आवश्यकता नहीं।

६. एक लोहे की कढ़ाई में सरसों का तैल १२० मिली. डालकर आंच पर पकाकर गरम करें। जब तैल खूब गरम हो जाये तो कढ़ाई को आंच से उतार कर तत्काल ही मैनसिल का चूर्ण २५ ग्राम डाल दें। शीतल होने पर मिट्टी की कोरी हांडी पानी से भरकर उसमें तैल डाल, ढक कर रख दें। रात भर रखने के पश्चात प्रातःकाल पानी पर तैरते औषधि को हाथ से निकाल रख लें। खुजली पर लगाने से एक ही दिन में दूर हो जाती है। दो-तीन दिन लगाना ठीक है।

९. विस्फोटक कुष्ठ

श्याव या रक्तवर्ण युक्त पतली त्वचा युक्त स्फोटों को विस्फोट कहते हैं।

चिकित्सा—(१) मेंहदी पत्र या बीज, पपड़िया कत्था समभाग लेकर कपड़छन चूर्ण बना लें। चूर्ण से चार गुना चमेली का तैल मिला घोट लें। इसे विस्फोट पर लगावें।

(२) बृहद् मरिच्यादि तैल लगावें।

१०. शतारु कुष्ठ—

रक्त श्याव वर्ण के दाहयुक्त बहुत व्रण वाले कुष्ठ को शतारु कहते हैं।

चिकित्सा—दुग्ध पाषाण चूर्ण को गुलाब जल में घोटकर उसका चतुर्थांश प्रत्येक कपूर, मुर्दासंग तथा पुष्पांजन के कपड़छन चूर्ण बना, सबसे चौगुना शतधौत घृत मिला, एकत्र घोटकर दिन में ३ बार लगावें।

पञ्चगुण तैल लगावें।

# विचर्चिका

विचर्चिका एक दुःखदायी, दुराग्राही तथा जटिल रोग है। आयुर्वेद शास्त्र में इस रोग का वर्णन एकादश कुष्ठों में किया गया है। परन्तु आचार्यों में मतभेद दीखता है। यथा—पादतल में चीर पड़ना तथा कण्डू आदि लक्षण होना विपादिका कहा है। वैसे लक्षण हस्ततल में होना विचर्चिका बताया है। यह सुश्रुत (निदान स्थान ५/१३) का मत है।

हस्ततल के अतिरिक्त शरीर के अन्य अवयवों पर होने वाले चीर आदि को भी विचर्चिका कहते हैं।

चरक में कण्डूयुक्त श्याव वर्ण, अतिस्राव वाली पिडकाओं को विचर्चिका कहा है।

भोज कहते हैं—हाथ में उत्पन्न हुई पिडकायें विचर्चिका कहाती हैं और पांव में त्वचा फट जाती है तो उसे विपादिका कहते हैं।

चरक तथा सुश्रुत में वर्णित लक्षणों का साम्य नवीनों के वीपिंग (Weeping), वेट (Wet) एक्जीमा (Eczema) से स्पष्ट प्रकट है।

भेद—विचर्चिका दो प्रकार का होता है—१. शुष्क विचर्चिका २. स्रावी विचर्चिका।

(१) शुष्क विचर्चिका—इसमें कोई स्राव नहीं होता, भूसी सी उतरती रहती है। खुजलाने पर केंचुलीवत पपड़ी सी उतरती है। पपड़ी तथा भूसी के नीचे त्वचा लाल निकलती है। दूसरे ही दिन वही लाल त्वचा शुष्क होकर पपड़ी बन जाती है। यह रोग मण्डलवत चारों ओर बढ़ता है। इसमें तीव्र कण्डू होती है।

(२) स्रावी विचर्चिका - इसमें त्वचा पर छोटे-छोटे दाने निकलते हैं। इन दानों का वर्ण गहरा भूरा रक्ताभ होता है। इन दानों से फूटने पर पूय निकलती है। दाने खुजलाने से फूट जाते हैं। इसमें दाह एवं खुजली बहुत होती है। स्राव, घाव के बढ़ते चारों ओर बढ़ते रहते हैं। जिस स्वस्थ स्थान पर भी पीप लग जायेगी वहीं उसी तरह बन जायेगा। पीप सूखकर पपड़ी खुरंट बनकर चिपक जाती है। पपड़ी के नीचे जल सदृश पूय संचित हो जाता है, जो बहता रहता है। पपड़ी (खुरण्ट) के नीचे त्वचा लाल होती है। रोग पुराना होने पर स्राव स्थल काला पड़ जाता है।

चिकित्सा सूत्र—स्वच्छता का पूर्ण ध्यान रखें।

सिद्ध योग--(१) नीला थोथा, कबीला, बावची, मुर्दासंग ताल पत्रक प्रत्येक ३०-३० ग्राम, नारियल का छिलका २ किलो ग्राम लें।

सब द्रव्यों को यवकुट कर लें। फिर एक तांबे की देगची लें। उसमें एक ईंट रखें। ईंट के चारों ओर द्रव्य चूर्ण बिछा दें। देगची के मुंह पर पीतल का पात्र रखें।

—शेषांश पृष्ठ १३४ पर देखें।

कुष्ठ और चर्म रोगों की सफल दवा—

# चालमूगरा (तुवरक तैल)

डा० रामचन्द्र शाकल्य डी.ए.एम एस., डी एस-सी.ए.,
आयुर्वेद चिकित्सा अधिकारी -शासकीय आयुर्वेद औषधालय. रूपादेह (होशंगाबाद) म० प्र० ।

चालमूगरा का तेल और बीज हजारों वर्षों से कुष्ठ रोग को दूर करने के लिए प्रयोग किये जा रहे है। चालमूगरा का वृक्ष ४० से ५० फुट तक लम्बा बड़े-बड़े ऊंचे पहाडो मे पैदा होता है। तुवरक का वैज्ञानिक नाम हिडनोकार्पस वाइटिआना (Hydnocarpus Wightiana) है। यह विक्सिनी (Bixinae) वर्ग का पौधा है। इसी वर्ग का एक दूसरा वृक्ष टरेक्टोजीनस कुर्झाई (Taraktogenous Kurzii) है। जिसे चालमूगरा कहते हैं। यह पौधा पूर्व बंगाल, आसाम प्रान्तों में बहुतायत से होता है। इसके फल नारंगी के बराबर बड़े होते हैं। प्रत्येक फल मे से असंख्य बीज निकलते है। इन बीजो के पेरने से जो तेल प्राप्त होता है वही चालमूगरा (तुवरक) तेल कहलाता है। इसकी गिरी बाहर से काली और अन्दर से सफेद होती है। एक सेर बीजों से २० तोला तेल निकलता है। पुराने बीजों का तेल लाभप्रद नही होता। दवा मे इसके बीज या बीजों का तेल प्रयोग किया जाता है।

हिडनोकार्पस वाइटियाना का दूसरा नाम जंगली बादाम भी है। यह दक्षिणी भारत के कोंकण प्रदेश में उगता है। इसके फल सेव के बराबर बड़े होते हैं. उनसे पौन इन्च लम्बे १५ से २० बीज निकलते हैं। जिनसे तेल निकाला जाता है। दक्षिण में इसे कूटी कहते हैं, जो इसके कुष्ठनाशक होने का प्रमाण भी है।

हिडनोकार्पस वाइटियाना जितना सुगमता से उपलब्ध होता है उतना टरेक्टोजीनस कुर्झाई नही, अतः प्रथम का ही विशेष प्रयोग किया जाता है।

एलोपैथिक डाक्टर इसका तेल और सत अधिकता से प्रयोग कर रहे है। इस दवा का होम्योपैथिक टिंचर बिना कष्ट रोगी को पानी में मिलाकर दे सकते हैं। उससे कै या जी मिचलाने का कष्ट नहीं होता।

चालमूगरा का तेल श्वेताभ पीत या रक्ताभ कपिश वर्ण का होता है। इसका स्वाद तीक्ष्ण एवं कटुवम्ल होता है। जो तेल जीर्ण बीजों से ग्रहण किया जाता है वह काला या गहरा कपिश वर्ण का होता है। अतः व्यवहार करने के पूर्व देखकर लेना चाहिए। क्योंकि यह विघटित स्वरूप का और औषधि गुणहीन होती है।

चालमूगरा तेल में हिडनोकार्पिकाम्ल ($C_{16}H_{28}O_2$) तथा चौलमुग्रिकाम्ल ($C_{18}H_{32}O_2$) तथा कुछ पामीटिकाम्ल पाये जाते है।

गाइनोकार्डिया तेल (Gynocardia oil) नाम से जो तेल बिकता है वह चालमूगरा तेल नहीं है, न उसमें कुष्ठनाशक गुण ही है। ध्यान रखना चाहिए।

यह तेल शरीर पर मलने से चर्म में उत्तेजना पैदा करता और त्वचा में रक्त का संचार बढ़ाता है। यदि इसकी अधिक जोर से लम्बे समय तक मालिश की जाय तो उस भाग में लाली आ जाती है। हजारों वर्ष पूर्व के बौद्ध ग्रन्थों में लिखा है कि कई कोढ़ के रोगी चालमूगरा के बीज खाकर स्वस्थ हो जाते हैं।

आयुर्वेद तुवरक तेल (चालमूगरा) का बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों प्रकार का उपयोग बतलाता है।
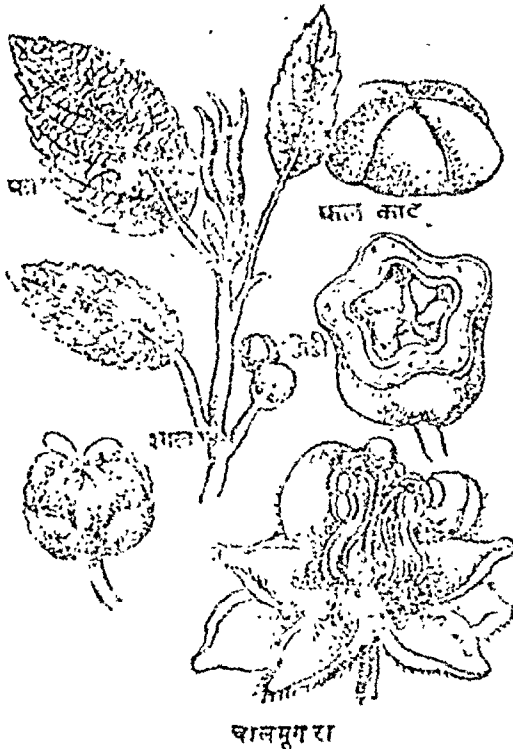
चालमूगरा

आज भी वही चलता है। बाह्य प्रयोग उपत्वक्वेध (Subcutaneous Injection) से और आभ्यन्तर प्रयोग अन्तर्पेशीवेध (Intramuscular) से करते हैं, पर चूंकि यह बहुत अधिक प्रक्षोभक होता है। अतः तेल से निर्मित लवणों का या उसके (Esters) का प्रयोग किया जाता है। सोडियाई चालमुग्रास या सोडियाई हिडनोकार्पस के लवण तथा ईथाइलिस चालमुग्रास या मुग्रोल एक ईस्टर आजकल प्रयुक्त किये जाते हैं।

इसके बीज २ रत्ती पीसकर गोली बनाकर दिन में तीन बार खिलाई जाती है और धीरे धीरे मात्रा बढ़ाई जाती है। यहां तक कि जी मिचलाने या कै आने लगे। फिर कुछ समय तक दवा बन्द कर दी जाती है।

इसका तेल ५ से १० बूंद से आरम्भ करके धीरे-धीरे ६० बूंद तक दे सकते हैं। यह तेल दूध या काडलीवर आयल या मक्खन में मिलाकर देते हैं। अथवा कैपसूल में बन्द करके खिलाया जाता है। क्योंकि इसका आभ्यन्तर प्रयोग करना साधारणतः कठिन है। यह प्रक्षोभक है। शरीर में इस तेल के पहुँचने पर एक अष्ठीलीय बृहत् श्वेत कणों Large mononeuclear Leucocytes) की वृद्धि होती है वे अपने साथ साथ इस तेल के सूक्ष्मातिसूक्ष्म बिन्दुओं को ढोकर कुष्ठ के जीवाणु जहां अपना आसन जमाये बैठे होते हैं वहां ले जाते हैं। इसके सेवन से शरीर में एक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, ज्वर भी आता है, रक्त में मेदोविश्लेषक पदार्थ (Lipase) बढ़ता है। यह कुष्ठ स्थलियों में प्रवेश करता है और कुष्ठ जीवाणुओं के ऊपर छाये मेदसावरण को नष्ट करके तेल का उन पर घातक प्रभाव होने देता है। कुछ का मत है कि इस तेल में अतृप्त मेदसाम्ल (Unsaturated fatty acids) रहते हैं, जो विशेषतः जीवाणुनाशक प्रवृत्ति रखते हैं और उसी के कारण कुष्ठ का नाश होता है।

इसको हमेशा भोजन के बाद प्रयोग करायें। चिकित्सा समय गरम मसाले वाले भोजन, गर्म, खट्टे और मांस से परहेज रखें। रोगी को घी अधिक मात्रा में दें। इस प्रकार घी तथा चिकनाई अधिक मात्रा में दी जाती है। आरम्भ में यह दवा रोगियों को अनुकूल नहीं आती। परन्तु धीरे-धीरे रोगी इसको सहन करने लग जाता है।

इस तेल में इसके बराबर नीम का तेल मिलाकर कोढ़ के घाव पर लगाते हैं। चालमुगरा का तेल सभी तरह के चर्म रोगों एवं कोढ़ के लिए लाभदायक है। पीड़ित भागों पर मालिश करते हैं। इस प्रकार से इसका तेल बाह्य और पीने दोनों ही कामों में लिया जाता है। इसकी अस्वादिष्ट और असह्य गन्ध को दूर करने के लिए रोगी को निम्बु चूसने की सम्मति दे सकते हैं।

तुवरक तेल (चालमुगरा) से लाभ तो होता है। परन्तु जब निश्चित मात्रा से अधिक इसका सेवन कर लिया जाय तो हानियां भी दिखाई देने लगती हैं। जैसे–चक्कर आना, वमन, पेट में शूल और दम का घुटा-सा रहना, आंखों के सामने अंधेरा आदि प्रतिक्रियात्मक लक्षण होते हैं।

म्योर नामक विद्वान् के एक निबन्ध का चोट

उल्लेख करने लायक है, जिसमें १ मिलीलीटर ईथाइल चालमुग्रा, उतना ही दो बार विस्नुत किया जल, १ ग्राम कर्पूर, २। मिली. जैतून का तेल एक साथ मिला रहता है। इसको २५ मिली सप्ताह में दो बार अन्तःपेशीवेध द्वारा देने से और २-५ मिली. तब तक बढ़ायें जब तक ज्वर या अन्य रोग या स्थानिक प्रतिक्रिया न हो ६ मास में गलित्कुष्ठ के सभी स्थल स्वस्थ हो लेते हैं।

कहा जाता है कि भारत में इसका तेल पतला रहता है। परन्तु इग्लैंड में यह तेल जम जाता है। यदि रोगी का आमाशय यह तेल सहन न कर सके तो उसे बन्द कर दिया जाय। डाक्टर घोष ने इसे ५ बूंद से आरम्भ करके धीरे-धीरे १० बूंद तक पिलाया है। फिर भी आमाशय में कोई विकार नहीं हुआ।

तुवरक तेल प्रयोग की सर्वाधिक प्रशस्त विधि कुष्ठग्रस्त त्वचा में सूची द्वारा स्थानिक उपस्त्वक्वेधनी है। एक स्थान पर थोड़ा मिश्रण प्रविष्ट करके पुनः थोड़ा दूसरे स्थल पर और फिर उसी प्रकार गोलाई में सूची घुमाते हुए सभी भाग में थोड़ा-थोड़ा तेल या उसका मिश्रण प्रविष्ट कर देते हैं। त्वचा के नीचे के भाग मे देने से वह नष्ट होती है। यदि अधिक मात्रा में प्रयोग करना है तो नितम्ब में पेशीवेध द्वारा दें।

जिस स्थान पर तुवरक तेल का इन्जेक्शन दिया जाता है वहां काठिन्य, विद्रधि की उत्पत्ति तथा कभी कभी ममीपस्थ लसीका ग्रन्थियों में वृद्धि आदि देखी जाती है। साधारण रूप से ज्वर, जी मिचलाना, क्षुधानाश, उदरशूल और शरीर के अन्दर दाह मिल सकते हैं मूत्र में श्वुविल की उपस्थिति या वृक्क शोथ तक देखा जा सकता है। कभी-कभी इस तेल के प्रयोग के पश्चात जीवाणुओं द्वारा प्रतिक्रिया होती है। इसके परिणामस्वरूप ज्वर, त्वचा में चकत्तों की उपस्थिति, नाडी शोथ, सन्धिशोथ, नेत्राभिष्यन्द आदि लक्षण भी देखने को मिल सकते हैं।

चाल्मूगरा कुष्ठ (कोढ़), एक्जीमा, ल्यूपस (चर्म क्षय), कण्ठमाला, राजयक्ष्मा (तपेदिक), जोड़ों का दर्द इत्यादि में (तेल) सफल औषधि है। ★

---

कुष्ठों की स्वानुभूत चिकित्सा पृष्ठ १३१ का शेषांश

फिर गेहूं के आटे से दोनों की सन्धि बन्द कर दें। पात्र को चूल्हे पर चढ़ाकर नीचे बेरी की लकड़ी जला, मध्यम आंच दें। ऊपर वाले पात्र में जल भर दें। अब पानी गरम हो जाये तो उसे बदल कर ठण्डा पानी भर दें। ४ घण्टे आंच दे कर बन्द कर दें। फिर शीतल होने पर सावधानी से सन्धि खोलकर प्याला निकाल लें। प्याला तैल से भरा मिलेगा।

प्रयोग विधि—विचर्चिका, चम्बल को पहले साबुन से साफ करें। पपड़ी या खुरण्ट को दूर करें। फिर, रूई की फुरेरी से तैल लगावें। कुछ दिन के लगाने से पुराना दाद, चम्बल, विचर्चिका नष्ट हो जाता है।

लेप—लोध्र पठानी, फिटकरी, मुर्दासंग, तूतिया और जायफल समभाग लेकर वस्त्रपूत चूर्ण बना तीन गुने भेड़ के घी में खूब घोटें। इसको विचर्चिका, अपरस, उकौता तथा विपादिका में लगावें।

(२) बरगद के फल को पीसकर लेप करें।

(३) चण्डमारुतम् का लेप करें।

(४) स्वर्णक्षीरी बीज पीसकर लेप करें।

(५) अलकतरा १० ग्राम, सरसों का तैल, मिट्टी का तैल १०-१० मिली., फिटकिरी ५ ग्राम, सुहागा, कालीमिर्च, कपूर देशी, मुर्दासंग ५-५ ग्राम ले, कपड़छन चूर्ण बना, नीम के डण्डे से घोटे। यदि तैल कम पड़े तो तीनों को समभाग में मिलाकर यथावश्यक और डाले। यदि विचर्चिका मुंह पर हो तो मिट्टी के तैल के स्थान पर चूने का पानी मिलावें। यह मलहम दोनों प्रकार के विचर्चिका को नष्ट करती है।

(६) सेंहुड़ के डण्डे का खोल बनाकर इसमें सरसों पीसकर भर दें। आंच पर पकालें। फिर सरसों निकाल लेपवत प्रयोग करें।

(७) सर्षप तैल २५० मिली. को गरम कर उसमें मोम देशी ३० ग्राम छोड़ कर गलावें। तदनन्तर गूगल १२ ग्राम छोड़ कर गलावें। फिर तूतिया, मैनसिल सिन्दूर १०-१२ ग्राम पीसकर डालें। पीछे घोटकर रख ले। लेप करें।

# कुष्ठ रोग निदान, सम्प्राप्ति, एवं सफल चिकित्सा

वैद्य पं० नारायण शर्मा कौशिक
सारड़ा बाजार, मेड़ता सिटी-३४१५१० राज.)

- ★ राजस्थानी परम्परा के विद्वान वैद्य
- ★ विद्वान ज्योतिष शास्त्री
- ★ सालासर पंचांग निर्माता
- ★ वेदांग ज्योति पत्रिका के प्रधान सम्पादक
- ★ ५४ से अधिक मानद उपाधियों से अलंकृत
- ★ धार्मिक, आध्यात्मिक एवं ज्योतिष ग्रन्थों के लेखक
- ★ ज्योतिष की अनेकों भारतीय संस्थाओं से संलग्न
- ★ धन्वन्तरि के अर्श भगंदर लघु विशेषांक का सम्पादन
- ★ सुप्रसिद्ध आयुर्वेद लेखक

— वैद्य अशोक भाई तलाविया भारद्वाज।

---

कुष्ठ के पर्याय १ संस्कृत-कुष्ठ २. हिन्दी-कोढ़ ३. अरबी-जजाम ४. अंग्रेजी-लेप्रोसी (Leprosy) ५. सुश्रुत-त्वग्दोष (Skin disease)

कुष्ठ शब्दोत्पत्ति—क्र्यादि गण के "कुष निष्कर्षे।" (निष्कर्षो बहिः निःसरण— बाहर निकल जाना) इस धातु से 'कुष्णाति' इति कुष्ठं—इस व्युत्पत्ति से कुष्ठ शब्द बनता है। 'कुष' का अर्थ शरीर के धातुओं में कोष की उत्पत्ति होती है। कोष कुष्ठ का प्रधान (पर्याय) लक्षण माना गया है।

कुष्ठ शब्द का सरल अर्थ—पहले जो कुष का अर्थ कहा है, उसे ही कुष्ठ मानना चाहिए। अर्थात कुष्ठ का सामान्य अर्थ शरीर को फाड़ने वाले रोग से है। कहा भी है कि 'कुष्णात्यङ्गं इति कुष्ठम्।' कुष्ठ शरीर के अवयवों पर फूटकर निकलता है। शरीर को विकृत कर देता है। शरीर को फाड़ देता है। इसलिए इस रोग को कुष्ठ कहते हैं। श्री टोडर भी कहते हैं— "कुष्णाति कुत्सितं करोति।" अर्थात् कुष्ठ से त्वचा कुत्सित (कोढ़ स्वरूप में उभर कर बाहर की ओर कुत्सित होना) होती है। अन्य विद्वान भी अपनी व्याख्या में कुष्ठ के बारे में कहते हैं कि - 'कुत्सितं करोति वपुः।' इति कुष्ठं। अर्थात् यह रोग देह को कुत्सित (कुरूप-खराब) कद्रूप (स्वरूप में परिवर्तन) कर देता है। अतः इसको कुष्ठ कहते हैं। कुष्णाति वा: इति 'कुष्ठम्।' यानि शरीर को विकृत करने वाली व्याधि (रोग) को कुष्ठ (कोढ़) कहते हैं।

कुष्ठ एक रोग नहीं अपितु त्वचा में उत्पन्न होने वाले रोग का एक वर्ग है। सभी प्राचीन आचार्यों ने कुष्ठ रोग त्वचा को नष्ट करने वाला कहा है। कुष्ठ संज्ञा में कोढ़ जैसे दारुण रोग से लेकर कण्डू खुजली जैसे क्षुद्र रोग तक सम्मिलित हैं। सुश्रुत ने अनेक बार कुष्ठ के लिए त्वग्दोष का प्रयोग किया है। यथा— "पाप क्रिया पुराकृतकर्मयोगाच्च त्वग्दोषा भवन्ति।" तत्र त्वग्दोषी ···। आंग्ल भाषा में इसका अर्थ— Disease of the skin or Dermatoses किया जा सकता है। चिकित्सा की दृष्टि से कुष्ठ के दो भेद महाकुष्ठ तथा क्षुद्र कुष्ठ बताये हैं। महाकुष्ठ को लेप्रोसी कहते हैं। (च. नि. अ. ५/दाद प्रकाश अ. ११०)

कुष्ठ की सम्प्राप्ति—

सप्त द्रव्याणि कुष्ठानां प्रकृति-विकृतिमापन्नानि भवन्ति ···· शरीरमुपतपन्ति।

अर्थात् कुष्ठ को उत्पन्न करने वाले हेतुओं के सेवन करने से प्रकुपित वात-पित्त तथा कफ में तीनों दोष और प्रकुपित दोषों से विकृत त्वचा, मांस, रक्त लसीका ये चार धातु (दूष्य) सातों मिलकर कुष्ठ रोग के कारण बनते हैं। यानि इन सात धातुओं की विकृति से कुष्ठ उत्पन्न होकर समस्त शरीर में पीड़ा पहुचाता है।

चरक महर्षि ने—इस सम्प्राप्ति में त्रिदोष तथा त्वगादि चार धातुओं के बराबर दूषित होने पर कुष्ठ की उत्पत्ति कही है। सुश्रुत कहते हैं कि त्रिदोष प्रथम त्वचा को दूषित करते हैं, फिर क्रम से रक्तादि धातु दूषित होते हैं। अतः कुष्ठ त्वक् रोग में विशेष रूप से खराब वर्ग माना गया है।

संख्या (भेद)--

यह कुष्ठ सात प्रकार का, ग्यारह प्रकार का तथा असंख्य भी माना गया है।

महाकुष्ठ के भेद (ऋषियों के अनुसार)

| चरक | सुश्रुत | काश्यप |
|---|---|---|
| १. कपाल | अरुण | सिध्म |
| २. औदुम्बर | औदुम्बर | विचर्चिका |
| ३. मण्डल | ऋष्यजिह्व | पामा |
| ४. ऋष्यजिह्व | कपाल | दद्रु |
| ५. पुण्डरीक | काकणक | किटिभ |
| ६. सिध्म | पुण्डरीक | कपाल |
| ७. काकणक | द्रदु | स्थूलारुक |

क्षुद्र कुष्ठ के भेद (इन्हीं ऋषियों के अनुसार)

| चरक | सुश्रुत | काश्यप |
|---|---|---|
| १. एक कुष्ठ | स्थूलारुक | मण्डल |
| २. चर्म कुष्ठ | महाकुष्ठ | विपज |
| ३ किटिभ | एक कुष्ठ | पौण्डरीक |
| ४. विपादिका | चर्म दल | श्विप |
| ५. अलसक | विसर्प | ऋष्यजिह्व |
| ६. द्रदु | परिसर्प | शतारुष्प |
| ७. पामा | सिध्म | औदुम्बर |
| ८. विस्फोटक | विचर्चिका | काकणक |
| ९. शतारु | किटिभ | चर्म दल |
| १०. विचर्चिका | पामा | एक कुष्ठ |
| ११. चर्म दल | रकसा | विपादिका |

विशेष ज्ञातव्य- प्राचीन ऋषियों ने कुष्ठ के १८ भेद कहे हैं। इसमें ७ महाकुष्ठ तथा ११ क्षुद्र कुष्ठ बताये हैं। वर्तमान में क्षुद्र कुष्ठ को त्वग्रोग (Disease of the skin) और महाकुष्ठ को लेप्रोसी (Leprosy) कहते हैं।

सफल चिकित्सा व्यवस्था—

जैसा कि कुष्ठ रोग से काफी लोग घबराते हैं कि अब यह रोग ठीक होने वाला नहीं ऐसी बात नहीं, प्रत्येक समस्या रोग निदान अवश्य है. पर हमें उस निदान का सही प्रयोग करना आवश्यक होगा तभी सफलता मिलेगी। उदाहरणार्थ नेत्र दर्द में सिर पर बाम मलने से नेत्र विकार दूर नहीं होगा। सही निदान को ज्ञात करके कुष्ठ रोग के निवारण में निम्न प्रक्रिया करें—

[१] क प्रातःकाल—महातिक्त घृत २५ ग्राम की मात्रा में बृहत्मंजिष्ठादि क्वाथ के अनुपान से देना चाहिए।

ख- मध्याह्न—राजतालेश्वर रस २५ मि ग्राम, रस माणिक्य १२५ मि ग्रा दोनों को मिलाकर एक मात्रा बनायें और पञ्चतिक्त घृत के अनुपान से देवें।

ग- सायंकाल-- बृहत् पञ्चनिम्बादि चूर्ण ६ ग्राम को बृहन्मजिष्ठादि क्वाथ के अनुपान में देना चाहिए।

घ सोने समय—आरोग्यवर्द्धिनी वटी २ गोली को उष्णोदक के अनुपान से देना चाहिए एवं भोजनोपरान्त खदिरारिष्ट ३० मि ली. समभाग जल मिलाकर देना चाहिए। त्वक् रोग कीटाणुओं को नष्ट करता है।

[२] लेप—रस कपूर, कम्पिल्लक, कर्पूर, मृद्दारसंग, संगजराहत, कत्था, सफेदा काशगरी, मुर्गागा भुना, फिटकरी फूला, गन्धक प्रत्येक २०-२० ग्राम, शतधौत गोघृत २०० ग्राम। चूर्ण द्रव्यों का वस्त्रपूत चूर्ण कर (कपडछन कर) सभी को गोघृत में मिलाकर मलहम बना लें तथा लेप करें।

[३] अभ्यङ्ग—महामजिष्ठादि तैलम्। अथवा महातिक्त घृत गुग्गुल २५ ग्राम को उष्ण गोदुग्ध के अनुपान से अभ्यङ्ग करना चाहिए। (प्रातः काल में) मध्याह्न में—अहिवध रस १२५ मि. ग्राम को पञ्चतिक्त घृत के अनुपान से अभ्यङ्ग करना चाहिए। सायंकाल —

कुष्ट हर रस २ गोली को खदिरारिष्ट या महामंजिष्ठादि क्वाथ के अनुपान से प्रयोग करना चाहिए। सोते समय—आरोग्य वर्द्धिनी रस २ गोली को गर्म (गुनगुना) जल के अनुपान से तथा भोजनोपरान्त—खदिरारिष्ट २० मि.ली. समभाग जल से मिलाकर देवें।

दोषानुसार सफल चिकित्सा (उपचार) —

कुष्ठ वात-पित्त-कफ प्रकृति का होता है। अतः लक्षण एवं सही निदान की जानकारी कर उक्त दोषानुसार उपचार करना हितकर होगा। जनहितार्थ कुष्ठ रोग दोषानुसार उत्पत्ति का उपचार प्रस्तुत है :—

[१] वातोल्वण कुष्ठ—इस प्रकार के कुष्ठ रोग में—

प्रातःकाल—आरोग्य वर्द्धिनी वटी २ गोली उष्णोदक के अनुपान से देवें।

मध्याह्न—पञ्चतिक्त घृत गुग्गुल १० ग्राम को बृहद् मंजिष्ठादि क्वाथ के अनुपान से प्रयोग करें।

सायंकाल—महातालेश्वर रस २५० मि.ग्रा. को खदिरारिष्ट २० मि.ली. के अनुपान से सेवन करावें।

सोते समय—आरोग्यवर्द्धिनी वटी १ गोली उष्णोदक के अनुपान से सेवन करें।

भोजनोपरान्त—खदिरारिष्ट २० मि.ली. समभाग जल मिलाकर लेवें।

[२] पित्तोल्वण कुष्ठ—इस प्रकार के कुष्ठ रोग की स्थिति में उपचार। प्रातःकाल—महातिक्त घृत २५ ग्राम को मंजिष्ठादि क्वाथ के अनुपान से प्रयोग में लेवें। मध्याह्न—बृहत् पञ्चनिम्बादि चूर्ण ६ ग्राम को जल के अनुपान से प्रयोग में लेवें। सायंकाल—आरोग्यवर्द्धिनी वटी २ गोली को सारिवाद्यारिष्ट २० मि. ली. के अनुपान से प्रयोग में लेवें।

[३] कफोल्वण कुष्ठ—इस प्रकार के कुष्ठ रोग की स्थिति में उपचार। प्रातःकाल—सर्वांग सुन्दरी गुटिका ३ ग्राम को पटोलमूलादि क्वाथ के अनुपान से प्रयोग करना चाहिए। मध्याह्न—महातालेश्वर रस २५० मि ग्राम, रसमाणिक्य १२५ मि ग्रा दोनों मिलाकर सारिवादि क्वाथ के साथ देना चाहिए। सायंकाल—आरोग्य वर्धिनी वटी २ गोली उष्णोदक के अनुपान से देनी चाहिए। औषधि देते समय रोगी की स्थिति भी देखें।

[४] गलितकुष्ठ गलितकुष्ठ सबसे बिगड़ा हुआ स्वरूप होता है। इसमें रोगी की स्थिति भी बड़ी पेचीदा होती है। इस कुष्ठ में भी निदानोपरान्त उपचार निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

प्रातःकाल—महापञ्चतिक्त घृत २५ ग्राम को गौदुग्ध के अनुपान से प्रयोग करें। मध्याह्न—गलितकुष्ठारि रस आधा ग्राम को खदिरारिष्ट ३० मि.ली के अनुपान से मिलाकर देना चाहिए। सायंकाल—महातालेश्वर रस १२५ मिग्रा., रसमाणिक्य १२५ मिग्रा. दोनों मिलाकर मधु (शहद) या चाल मोगरा तेल के अनुपान से प्रयोग करना चाहिए। सोते समय—आरोग्य वर्द्धिनी वटी २ गोली को जल के अनुपान से प्रयोग करना चाहिए। भोजनोपरान्त—खदिरारिष्ट १० मि.ली समजल मिलाकर प्रयोग करना चाहिए।

नोट—कुष्ठ रोग का पूर्ण निदान समझकर फिर उपचार अच्छे अनुभवी वैद्य की देख-रेख में रोगी को करावें।

अनुभूत प्रयोग महामृत्युंजय जप सवा लाख जप से भी इस रोग का निवारण होता है। दशांश हवन तथा धर्मादि आचरण से लाभ होता है।

संदर्भ ग्रन्थ—चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, भाव प्रकाश, सचित्र आयुर्वेद, आरोग्य सन्देश, धन्वन्तरि पत्रिका, कुष्ठ रोगांक, ज्योतिष एवं रोग, महामृत्युंजय जप विधि आदि। ★

★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★

**कुष्ठ रोग पर**

रसमाणिक्य, आरोग्यवर्द्धनी वटी, गन्धक रसायन प्रत्येक २-२ रत्ती। घृत (गोघृत) ६ माशा, शहद ३ माशा के साथ मिलाकर सुबह शाम चाटें। तथा भोजनोपरांत खदिराद्यारिष्ट २॥ तोला समान जल से पीवें।

उपयोग—गलित कुष्ठ, अन्यथा में परीक्षित योग है। पथ्य-परहेज से रहें।

—श्री भोलीराम शर्मा, रतनपुर बाजार, बिशुनपुरी बैरिया (गोण्डा) उ.प्र.

★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★

# कुष्ठ — सामुद्र लवण अपथ्य सैन्धव लवण पथ्य

वैद्या नीला ठाकर एम. डी. (अन्तिम वर्ष)
कौमार भृत्य विभाग, आई. पी. जी. टी. एण्ड आर, जामनगर–८ गुजरात।

महर्षि चरक एवं महर्षि सुश्रुत ने अष्ट महागद में इसे गिना है। ऐसा कुष्ठ रोग कष्टसाध्य होने से चिकित्सा के समय ज्यादा सावधानियों की अपेक्षा करता है। मिथ्या आहार-विहारजन्य तथा पापजन्य इन दोनों प्रकारों के कारणों से होने कुष्ठ रोग की चिकित्सा के समय सभी चिकित्सकों का ध्यान सर्व प्रथम लवण के प्रति केन्द्रित होता है और तुरन्त इसका वर्णन कर देते हैं। परन्तु लवण शरीर के लिए अतीव आवश्यक द्रव्य है तो इसका वर्जन कितने अंश तक योग्य है और यदि वर्जन अयोग्य है तो लवण के इतने प्रकार में से कौन सा लवण ऐसा है जो कुष्ठ को नुकसान नहीं करता है तथा लवण के गुण भी प्रदान करता है।

व्यवहार में सामुद्र एवं सैन्धव ये दोनों लवण ही ज्यादा से ज्यादा प्रचलित हैं, अतः हम ये दोनों पर ही विचार करेंगे।

कुष्ठ रोग त्रिदोषज है, परन्तु पारम्परिक वैद्य इसमें प्रधान दोष पित्त और प्रधान दूष्य रक्त को मानकर ही चिकित्सा करते हैं तथा दोष-दूष्य दोनों की दृष्टि से लवण रस को वर्ज्य बताते हैं। परन्तु च. चि. ७ में एवं सु. चि. दोनों में जो कुष्ठ रोग के चिकित्सा सूत्र दर्शाये हैं उनमें लवण रस के वर्जन का कोई विधान नहीं है। परन्तु लवण रस को अग्नि के समान आग्नेय गुण प्रधान होने से पित्त-रक्त प्रकोप मानते हैं और सामुद्र लवण के सेवन से रोग में प्रत्यक्षतः वृद्धि भी देखी जाती है। तथा दूसरी ओर देखें तो, लवण रस के शरीर के अन्दर इतने आवश्यक कार्य हैं कि इसका वर्जन रोगी को हानि ही करता है। क्योंकि च. सू. २७/३०२ के अनुसार—

> रोचनं लवणं सर्वं पाकि स्रंसिनिलापहम्।

लवण रस वर्जन से ये सब कार्य मन्द हो जाते हैं। क्योंकि कुष्ठ के सभी निदान प्रायः आहार के साथ सम्बन्धित हैं। जिससे विबन्ध तो होना ही है तथा लवण इसके पाकी गुण से आहार का पाचन कराता है। वह मन्द हो जाता है जो अयोग्य है। इसी तरह रोगावस्था में रोगी की मनःस्थिति भी आहार के प्रति निर्बल बन जाती है और जिस गुण का कहीं पर विकल्प नहीं है ऐसे रोचन के अभाव से ज्यादा निर्बल होती है तथा दौर्बल्यता, धातुक्षय आदि की वृद्धि होती है। तीसरा गुण है स्रंसी–कुष्ठ रोग का विरेचन तो श्रेष्ठ चिकित्सा बतलाई ही है। इस स्रंसी गुण के कारण लवण रस स्वतः ही मल का विबन्ध नहीं होने देता है जो अतीव फायदेमन्द है। चौथा कर्म है अनिलापह-वातहर। यूं तो सभी रोगों में वात का कार्मुकत्व है मगर सभी आचार्यों ने कुष्ठ में विशेषतः दर्शाया है तथा सुश्रुताचार्य ने तो वात को प्रधान दोष ही माना है। और सब गुण देखकर ही आचार्यों ने लवण रस का वर्जन अयोग्य माना है।

साथ में लवण रस आग्नेय प्रकृति वाला है तथा रक्त को दुष्ट करने में लवण को महत्वपूर्ण माना है। अतीव एवं अकेले लवण रस के सेवन से शोथ, उदर्द, कण्डू आदि लक्षण बताये हैं वह कुष्ठ के भी हैं। अतः कुष्ठ में रक्त का भी उतना ही कार्मुकत्व सिद्ध होता है। जैसे धातुयें तो पहले से दूषित हैं और रक्त का मल है पित्त, कुष्ठ रोग का अधिष्ठान है त्वचा तथा रक्त का स्थान है त्वचा के नीचे की वाहिनियां। इस तरह यह सब एक दूसरे से गहनता से सम्बन्धित हैं। एव सु सु. २१/२४ में जो रक्त दुष्टि के कारण दर्शाये हैं वह कुष्ठ के निदान से साम्यता वाले हैं तथा रक्त दुष्टिजन्य रोगों में पहला है कुष्ठ। इस तरह हम भी निदान, चिकित्सा आदि में रक्तदुष्टि मानकर ही लवण के बारे में सोचेंगे।

—शेषांश पृष्ठ १४७ पर।

# कुष्ठ की वनस्पति एवं रसौषधि चिकित्सा

डा० मुकेश मालवीय बी. एस. सी., बी ए एम. एस. (द्रव्य गुण विभाग)
डा० गिरेन्द्रसिंह तोमर बी ए. एम. एस., एम डी (आयु.) पी. एच. डी. (बी एच यू)
राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय एवं चिकित्सालय, हंडिया (इलाहाबाद)।

कुष्ठ को आचार्यों ने महारोगों के अन्तर्गत परिगणित किया है। इनके विवेचन पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि कुष्ठ से आचार्यों ने समस्त त्वक् विकारों का ग्रहण किया है। इसी कारण आचार्य सुश्रुत ने कुष्ठ को त्वग्दोष तथा कुष्ठी को त्वग्दोषी भी कहा है। आधुनिक चिकित्सा जगत में अनेकानेक अनुसंधानों के फलस्वरूप यद्यपि कुछ त्वक् विकारों का समुचित समाधान सामने आया है तथापि अधिकांश व्याधियों, जीर्णता तथा पुनरावर्तक स्वरूप की होने से अपना समाधान नहीं प्राप्त कर सकी है। आयुर्वेद चिकित्सा में औषधि चिकित्सा के साथ साथ रोगी के अन्तः एवं बहिः परिमार्जन पर अधिक बल दिया गया है। फलतः रोग समूल नष्ट हो जाता है।

प्रस्तुत लेख में लेखकों ने अपने चिकित्सा-जन्य अनुभव की दृष्टि से अनेक वनौषधियों एवं रसौषधियों की कार्यकारिता पर प्रकाश डाला है। लेख में शास्त्रों एवं चिकित्सा की पुष्टि हेतु वनौषधियों तथा रसौषधियों का विस्तृत परिचय भी प्रस्तुत किया जा रहा है।

## कुष्ठघ्न वनौषधियाँ—

सारिणी सं. १ में कुष्ठघ्न वनौषधों के लैटिन नाम, कुल, सामान्य परिचय पर्याय, प्रयोज्य अंग का उल्लेख किया गया है। साथ ही सं. सारिणी सं. २ में कुष्ठघ्न द्रव्यों का गुणात्मक विश्लेषण करते हुए उनके गुण, रस विपाक, वीर्य प्रभाव व प्रयोज्य अंग पर प्रकाश डाला गया है।

सारिणी संख्या—१

| क्र. सं. | औषधि का नाम | लैटिन नाम | पर्याय | स्वरूप | प्रयोज्य अंग |
|---|---|---|---|---|---|
| १. | खदिर | Acacia catechu | खैर | वृक्ष (मध्यम प्रमाण) | त्वक् खदिरसार (कत्था) |
| २. | हरिद्रा | Curcuma longa | हल्दी, हरदी | क्षुप-बहुवर्षायु | कन्द |
| ३. | वनहरिद्रा | Curcuma aromatica | अंग्रेजी वाइल्ड टर्मेरिका | क्षुप-कन्द में कपूर जैसी गन्ध | — |
| ४. | आम्रगन्धि हरिद्रा | Curcuma amada | आमा हल्दी | क्षुप | — |
| ५. | भल्लातक | Semicarpus anacardium | भिलावा | वृक्ष २५-४० फीट ऊंचा | फल |
| ६. | आरग्वध | Cassia fistula | अमलतास | वृक्ष २५-[illegible] फीट ऊंचा | फलमज्जा, मूलत्वक, पुष्प, पत्र |
| ७. | तुवरक | Hydnocarpus laurifolia | चालमोगरा | वृक्ष ५० फीट ऊंचा | बीज, बीज तैल |
| ८. | बाकुची | Psoralia cordifolia | बाकची, बावची | क्षुप २-३ फीट ऊंचा, वर्षायु | बीज, बीज तैल |

| क्र. सं. | औषधि का नाम | लैटिन नाम | पर्याय | स्वरूप | प्रयोज्य अंग |
|---|---|---|---|---|---|
| ९. | जाती | Jasminum officinale | चमेली | गुल्म-प्रतानिनी या वल्ली के रूप में | पत्र, मूल, पुष्प |
| १०. | मदयन्तिका | Lowsomia Inermis | मेंहदी | गुल्म | पुष्प, पत्र, बीज |
| ११. | काकोदुम्बर | Ficus hispida | कठूमर | गुल्म या छोटा वृक्ष | मूलत्वक, फल, क्षीर |
| १२. | सैरेयक | Barberia prionitis | कटसरैया, | गुल्म २-५ फीट ऊंचा | पंचांग, विशेषत: पत्र |
| १३. | चक्रमर्द | Cassia tora | चकवड़, पवाड़ा | क्षुप १-५ फीट ऊंचा, वर्षायु | बीज, पत्र |
| १४. | यूथिपर्णी | Rhinacanthus nasuta | पालकजुही | गुल्म ४-५ फीट ऊंचा | पत्र, मूल, बीज |

सारिणी संख्या—२

| क्र. सं. | औषधि का नाम | गुण | रस | विपाक | वीर्य | प्रभाव एवं मुख्य कार्य | विशिष्ट योग |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १. | खदिर | लघु, रूक्ष | तिक्त, कषाय | कटु | शीत | कुष्ठघ्न | खदिरारिष्ट, खदिरादि क्वाथ, खदिराष्टक, खदिरादि वटी |
| २. | हरिद्रा | रूक्ष, लघु | तिक्त, कटु | कटु | उष्ण | ,, | हरिद्राखण्ड। |
| ३. | वन हरिद्रा | रूक्ष, लघु | तिक्त, कटु | कटु | उष्ण | ,, | — |
| ४. | आम्रगन्धि हरिद्रा | रूक्ष, लघु | तिक्त, कटु | कटु | उष्ण | ,, | — |
| ५. | भल्लातक | लघु स्निग्ध तीक्ष्ण | कटु, तिक्त कषाय | मधुर | उष्ण | , | भल्लातक तैल, अमृत भल्लातक, तिलारुष्कर योग |
| ६. | आरग्वध | गुरु, मृदु, स्निग्ध | मधुर | मधुर | शीत | ,, | आरग्वधादि तैल आरग्वधादि लेह, आरग्वधारिष्ट |
| ७. | तुवरक | तीक्ष्ण, स्निग्ध | कटु, तिक्त | कटु | उष्ण | ,, | तुवरकादि तैल। |
| ८. | बाकुची | लघु, रूक्ष | कटु, तिक्त | कटु | उष्ण | ,, | — |
| ९. | जाती | लघु, स्निग्ध, मृदु | तिक्त, कषाय | कटु | उष्ण | ,, | जात्यादि तैल, जात्याद्यघृत, जात्यादि वर्ति। |
| १०. | मदयन्तिका | रूक्ष, लघु | तिक्त, कषाय | कटु | शीत | ,, | मदयन्त्यादि चूर्ण |
| ११. | काकोदुम्बर | रूक्ष, लघु | तिक्त, कषाय | कटु | शीत | , | — |
| १२. | सैरेयक | लघु | तिक्त, मधुर | कटु | उष्ण | ,, | — |
| १३. | चक्रमर्द | लघु, रूक्ष | कटु | कटु | उष्ण | ,, | दद्रुघ्नी वटी |
| १४. | यूथिपर्णी | लघु रूक्ष | कटु, तिक्त | कटु | उष्ण | ,, | — |

कुष्ठघ्न रसौषधियां —

उपरिलिखित वनौषधियों के साथ-साथ कुष्ठ की चिकित्सार्थ अनेक रसौषधियों का प्रयोग भी किया जाता है। अध्ययन की सुविधा हेतु इनका उल्लेख निम्नानुसार किया जा सकता है—

| रस औषधियां | संदर्भ ग्रन्थ एवं अधिकार |
|---|---|
| श्वेतारि रस | भैषज्य रत्नावली कुष्ठाधिकार |
| महातालकेश्वर रस | ,, |
| उदयभास्कर रस | ,, |
| माणिक्य रस | ,, |
| पारिभद्र रस | ,, |
| लङ्केश्वर रस | ,, |
| कुष्ठारि रस | ,, |
| कुष्ठनाशनी रस | ,, |
| कुष्ठकुठार रस | ,, |
| अर्केश्वर रस | ,, |
| कुष्ठकालानल रस | ,, |
| ब्रह्म रस | ,, |
| गलत्कुष्ठारि रस | ,, |
| चन्द्राननी रस | ,, |
| सर्वेश्वरी रस | ,, |
| कुष्ठहारितालेश्वर रस | ,, |
| ज्योतिष्मान रस | ,, |
| सिद्धतालेश्वर रस | रस चिकित्सा (कुष्ठाधिकार) |
| सड्कोच रस | ,, |
| विजयभैरव रस | ,, |
| कुष्ठहरितालेश्वरी रस | ,, |
| चन्द्रकान्त रस | ,, |
| रसतालेश्वर रस | ,, |
| भूतभैरवी रस | ,, |
| कुष्ठदलनी रस | ,, |
| कुष्ठकालाग्नि रुद्ररस | ,, |
| ब्रह्म रस | ,, |
| मदनानल रस | रस रत्न समुच्चय (कुष्ठाधिकार) |
| बालकसङ्कोच रस | ,, |
| कुष्ठान्तकी रस | ,, |
| लंकाधिपेश्वरी रस | ,, |
| विजयेश्वरी रस | योग रत्नाकर (कुष्ठाधिकार) |

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची —१. चरक संहिता, २ सुश्रुत संहिता, ३. द्रव्य गुण विज्ञान—आचार्य प्रियव्रत शर्मा, ४ भैषज्य रत्नावली, ५ रस चिकित्सा, ६. रस रत्न समुच्चय, ७ योग रत्नाकर।

★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★

"धन्वन्तरि निघंटु" में त्वक् रोगोपयोगी वनस्पति वर्गीकरण —

आपको ज्ञात होगा कि आयुर्वेद में बहुत सारे निघंटुकार वनस्पति विशेषज्ञ के स्वरूप में उपलब्ध हैं जैसे कि राज, मदनपाल, भावप्रकाश, कैयदेव इ०।

धन्वन्तरि निघंटुकार प्राचीन वैद्य थे जिन्होंने ज्यादा वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखा है—एक वनस्पति-द्रव्य एक ही गण में है दूसरे में नहीं—इसी वजह से हमें इनके प्रति और आकर्षण होता है।

पामा विचर्चिका दद्रु कण्डू कुष्ठादि पर चन्दनादि वर्ग —

१. मनःशिला, २. गोदन्ती, ३ शंख, ४. सिन्दूर, ५. गन्धक, ६. सिक्थ, ७. सर्जरस, ८. कासीस, ९. गुग्गुल, १०. कुन्दरू, ११. सल्लकी, १२. श्रीवेष्टक, १३. कम्पिल्लक, १४. कंकुष्ठ।

दद्रु-मण्डल-किटिभ इत्यादि रोगों के लिए करवीरादि वर्ग—

१. करवीर, २. चक्रमर्द, ३. धत्तूर, ४. लाङ्गली, ५. भृंगराज, ६. अर्क, ७. वक, ८. काकमाची, ९. गुजघन, १०. शिग्रु, ११. [illegible], १२. [illegible], १३. तुलसी १४. जम्बीर १५. [illegible], १६. [illegible], १७ आसुरी।

★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★ ★

अनुभूतात्मक विश्लेषण—
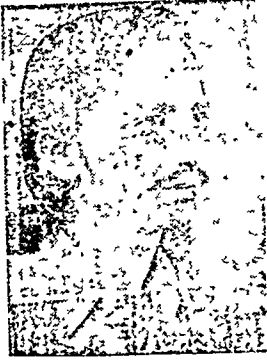
# ★★★★ विचर्चिका ★★★★

वैद्य अशोक भाई तलाविया भारद्वाज, आयुर्वेदाचार्य
बी. एस. ए. एम., आयुर्वेद मार्तण्ड, आचार्य मनोचिकित्सा शास्त्र
भारद्वाज औषधालय, स्वामी नारायण मन्दिर,
सावर कुण्डला-३६४५१५ (भावनगर) गुजरात।

—:०※०:—

आयुर्वेदीय संहिता ग्रन्थो में त्वचा जन्य रोगों का विस्तृत विश्लेषण देखने को मिलता है। कुष्ठ रोगाधिकार में अठारह प्रकार के कुष्ठ रोग का वर्णन है, इसमे सात प्रकार के महाकुष्ठ और ग्यारह प्रकार के लघुकुष्ठ का वर्णन है। इसके अलावा अन्य त्वक् रोगों का वर्णन क्षुद्र रोगाधिकार में है। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आचार्यों ने सूक्ष्म दृष्टिकोण से सभी प्रकार के त्वक् रोगों का वर्णन किया है। उनमें सफेद दाग का समावेश न कर श्वित्र रोग का अलग अध्याय लिख कर वर्णन किया है।

विचर्चिका महत्व का त्वक् रोग है। कुछ विद्वान इसे महाकुष्ठ कहते हैं और कुछ विद्वान लघु कुष्ठ मानते हैं। कोई उसे रक्तजन्य दुष्टि मानकर रक्त दुष्टि मानते हैं।

आचार्यों ने सभी अठारह प्रकार के कुष्ठ रोग के निदान व कारण सम्यक् बताया है; अतः विचर्चिका का निदान अलग नहीं दिया है। निदान निम्नोक्त हैं—

१. विरोधीन्यन्नपानानि—विरुद्ध अन्नपान का सेवन यथा दूध तथा मछली का सेवन करना एवं दही और दूध आदि परस्पर विरोधी अन्नपान सेवन करना। मछलियों को दूध के साथ न खायें, क्योंकि दुग्ध शीत-वीर्य है और मछली उष्णवीर्य है, अतः दोनों वीर्य में विरुद्ध है। विरुद्ध वीर्य होने से रक्त को दूषित करते हैं। रक्तदुष्टि से कुष्ठ उत्पन्न होता है।

२. द्रवस्निग्ध गुरूणि—द्रव और स्नेह बहुल गरिष्ठ पदार्थों के सेवन करने से।

३. आगत वेग—आगत वमन एवं अन्य अधारणीय वेगो (मल-मूत्रादि वेग) को रोकना।

४. अतिभुक्त्वा व्यायाम—अधिक मात्रा में भोजन करने के पश्चात् व्यायाम करना।

५. सन्तापति सेवा—अत्यन्त सन्ताप सेवन करने से यथा धूप का अति सेवन, अग्नि का अति सेवन से।

६. घर्माश्रमभयार्तानां—धूप, परिश्रम तथा भय से पीड़ितावस्था मे जल्दी से ठण्डा पानी पीने से। 'द्रुतं शीताम्बुसेविनाम्'।

७. भुक्तेऽजीर्णं भुक्तान्—पूर्व खाये हुये भोजन के न पचने पर भी और भोजन करने से।

८. अध्यशिनां—अत्यधिक भोजन करने से।

९. पञ्चकर्मापचारिणाम्—पञ्चकर्म में कुपथ्य करने से।

१०. माषमूलकपिष्टान्नतिलक्षीरगुडाशिनाम्—उड़द, मूली, पिट्ठी के बने पदार्थ तिल, दूध एवं गुड़ आदि का सेवन एक साथ करने से।

११. नवान्नदधिमत्स्यातिलवणाम्लनिषेविणाम्—नवीन अन्न, दही, मछली, लवण एवं अत्यन्त खट्टे पदार्थों के अति सेवन से।

१२. व्यवायमित्यादि—भोजन का परिपाक न होने पर भी मैथुन करने से।

१३. निद्रां च भजतां दिवा—दिन में सोने से।

१४. विप्रान गुरुन् धर्षतां—विप्र, गुरु, माता-पिता, आचार्य का तिरस्कार करने से।

१५ पापं कर्म—नीच कर्म करने से।

१६. कुष्ठं पापजन्यम्- पापकर्म करने से।

१७. वातादयस्त्रयो—वातादि तीनों दोष कुपित

हैं, त्वचा, रक्त, मांस और लसीका धातु को दूषित कर देते हैं। यही सब कुष्ठों के उत्पादक हेतु हैं।

इस तरह सभी कुष्ठों के कारण समान हैं और दोष भेद, धातु भेद और स्थान भेद से अलग अलग कुष्ठ रोग उत्पन्न होते हैं।

सम्प्राप्ति घटक—

नाम—विचर्चिका-कुष्ठ रोग का एक प्रकार।

आंग्ल नाम—एक्जीमा (Eczema)

लोक बोली—खरजवा, उकवत

दोष—त्रिदोष-कफ, पित्त वात

दूष्य—रस, रक्त, मांस, लसीका

स्थान—त्वचा

स्रोतस—रक्तवह, मांसवह स्रोतस

मार्ग—बाह्य रोग मार्ग

विचर्चिका के उत्पादक निदानों का सेवन करने से तीनों दोषों की विशेषत: कफ की विकृति होती है तथा चारों दूष्य दूषित होते हैं। आचार्य भोज ने रक्त और मांस को ही दूष्य के रूप में स्वीकार किया है तथा इसी में विकृति होना बताया है। प्रकुपित दोष एवं शरीर में विचरण करते हुए जब उपयुक्त खवैगुण्य हुए स्थान पर पहुँचते हैं, तब विचर्चिका के लक्षणों को उत्पन्न करते हैं। सामान्य रूप से विचर्चिका कफ दृष्टि से अधिक होता है और वर्षा ऋतु एवं शीत ऋतु में अधिक प्रकोप होता है। स्थान दृष्टि से देखें तो सम्पूर्ण शरीर में होता है, फिर भी हस्त, पिण्डिका, गुल्फ सन्धि, कपाल, गर्दन अंगुली आदि स्थान में विशेष रूप से विचर्चिका का प्रकोप होता है।

दोषादि भेद से प्रकार—

१. वात जन्य विचर्चिका २. पित्त जन्य विचर्चिका

३. कफ जन्य विचर्चिका ४. त्रिदोषज विचर्चिका

विकृति भेद से—

१. स्रावी विचर्चिका—स्रावी विचर्चिका में पित्त एवं कफ का प्रकोप होता है।

२. शुष्क (सूखा) विचर्चिका—शुष्क विचर्चिका में वात का प्रकोप होता है।

लक्षण—

सकण्डू पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका।

—चरक चिकित्सा
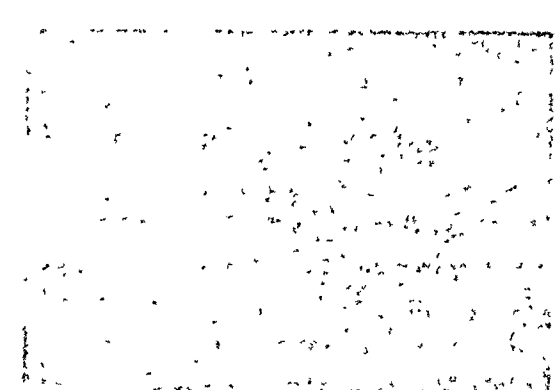
विचर्चिका में कण्डूयुक्त श्याम वर्ण की छोटी-छोटी पिडिकायें होती हैं, जिनमें से हमेशा स्राव होता रहता है।

इन्हीं लक्षणों को आचार्य चरक के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने भी स्वीकार किया है। ये ही लक्षण विचर्चिका के कफ प्रधान त्रिदोषज होने की पुष्टि करते हैं। यथा—इसमें श्यामता वात के कारण, बहुस्राव होना पित्त के कारण तथा कण्डू कफ-दोष की विकृति के कारण होता है।

शुष्क विचर्चिका के लक्षण—त्वचा अत्यन्त कठोर एवं रूक्ष होती है। अत्यन्त खुजली होती है, खुजलाने से मधुर आनन्द मिलता है, अत्यन्त खुजलाने से रक्त-स्राव होता है, तब दाह होता है। शुष्क विचर्चिका अनेक वर्षों तक स्थायी रूप में रहता है, बाद में स्रावी हो जाता है।

स्रावी विचर्चिका के लक्षण—त्वचा में पिडका उत्पन्न होती है, पकती है, तब उसमें से जल-मिश्रित पूय स्राव होता है, अत्यन्त खुजली आती है, दाह होता है, वेदना होती है तथा अत्यन्त प्रकोपावस्था में सूजन भी आ जाती है, ज्वर आता है, स्रावी विचर्चिका चेपी होता है। एक स्थान से दूसरे स्थान तक फैलता है। कभी-कभी तो यह रोग समग्र शरीर में व्याप्त हो जाता है।

चिकित्सा—

सैद्धान्तिक चिकित्सा—

शोधन कर्म, पञ्चकर्म, वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण आदि। पञ्चकर्म से विकृत दोष का शरीर में से निर्हरण हो जाता है। शरीर की संशुद्धि होकर दूसरी बार

रोग नहीं होता। पंचकर्म चिकित्सा हमेशा पंचकर्म निष्णात वैद्य से करानी जरूरी है।

शमन चिकित्सा -

१. आभ्यन्तर औषध योजना  २. बाह्योपचार

लङ्घन—

शमन चिकित्सा से पहले तीन दिन तक लङ्घन कराने से प्रकुपित दोष शान्त हो जाता है। लङ्घन के समय सिर्फ शुंठीयुक्त उष्ण जलपान करना जरूरी है। बाद में आभ्यन्तर औषध प्रयोग करना चाहिए। हम स्रावी विचर्चिका में सफलतापूर्वक लङ्घन कराके निम्नोक्त योग देते हैं।

अनुभूतात्मक योग—

१—आरोग्यवर्धनी रस, वंग भस्म, गन्धक रसायन २-२ रत्ती, त्रिफला चूर्ण, मञ्जिष्ठादि चूर्ण १-१ माशा, मात्रावत् पुड़िया बनाकर १-१ तीन बार जल से।

२—पंचनिम्बादि चूर्ण १ माशा, चोपचिन्यादि चूर्ण ४ रत्ती, रस माणिक्य २ रत्ती, गिलोय सत्व २ रत्ती, त्रिफला चूर्ण १ माशा। मात्रावत् पुड़िया बनाकर १-१ तीन बार शहद से।

दोनों योग सद्यः फलप्रद हैं, किसी एक को उपयोग में लेना चाहिए। इसके साथ—

१. त्रिफला गुग्गुलु—२ गोली तीन बार जल से।

२. कैशोर गुग्गुलु—१ गोली तीन बार जल से।

३. महामंजिष्ठादि क्वाथ उबालकर दो बार।

बाह्योपचार—

१. नीम तैल, करंज तैल तथा महामरिच्यादि तैल उपयुक्त होता है।

२. करंजादि मलहम, गन्धक मलहम आदि लगाने से लाभ मिलता है।

३. अर्क तैल, विचर्चिकारी तैल, कच्छू तैल, सिन्दुराद्य तैल आदि का प्रयोग होता है।

अन्य औषध प्रयोग —

१. गिलोय स्वरस पीने से लाभ मिलता है, क्योंकि गिलोय त्रिदोषघ्नी एवं कुष्ठघ्नी है।

२. त्रिफला चूर्ण शहद से लेना।

३. नीम की अन्तर छाल का क्वाथ लेने से कुष्ठ नष्ट होता है।

४. निर्गुंडी पत्र क्वाथ लेना।

५. निर्गुण्डी तैल लगाना।

६. रसायन चूर्ण और हल्दी चूर्ण मिलाकर लेना।

७ पुनर्नवा गुग्गुलु, अमृतादि गुग्गुलु कांचनार गुग्गुल, खदिरारिष्ट, रक्तदोषान्तक, रक्तशुद्धि चूर्ण आदि उपयुक्त होता है।

उपद्रवजन्य विचर्चिका—

१ अम्लपित्त के उपद्रवस्वरूप भी विचर्चिका रोग होते देखा जाता है, उस समय अम्लपित्त की चिकित्सा के साथ गन्धक रसायन, गिलोय सत्व, कैशोर गुग्गुलु आदि देने से लाभ हो जाता है।

२. श्वास और प्रतिश्याय के उपद्रव स्वरूप भी विचर्चिकादि त्वक् रोग होता है, उस समय कफनाशक औषध प्रयोग के साथ आरोग्यवर्धनी रस तथा महामंजिष्ठादि क्वाथ उपयुक्त होता है।

३. मेदोरोगजन्य विचर्चिका रोग होता है। उसमें आरोग्यवर्धनी रस, महामंजिष्ठादि क्वाथ, कैशोर गुग्गुलु, त्रिफला गुग्गुलु और सप्ताह में दो दिन लंघन से लाभ मिलता है।

४. औषधि प्रतिक्रिया—आधुनिक औषध से प्रतिक्रिया होती है, फलस्वरूप विचर्चिका रोग हो जाता है। उस समय लंघन कराना अत्यावश्यक है। गिलोय स्वरस, नीम की अन्तरछाल का क्वाथ, द्राक्ष का पानी, हरा नारियल का पानी और सूतशेखर रस, गन्धक रसायन, वंग भस्म, मंजिष्ठादि चूर्ण और आरोग्यवर्धनी रस प्रयोग करने से लाभ मिलता है।

पथ्यापथ्य व्यवस्था--

अपथ्य--आगे जो निदान व कारण बताये गये हैं उनसे दूर रहना- दही, लाल मिर्च, अत्यधिक तैलयुक्त पदार्थ, घी, मिष्ठान्न, गुड़, बैंगन, लहसुन, प्याज, बटाटा, अण्डा, मांस, मदिरा, शीत जलपान, ठंडा आहार, ठंडा शर्बत, फरसाण, दिवास्वाप, रात्रिजागरण आदि अपथ्य हैं।

पथ्य—चावल, मूंग, मेथीदाना, दूधी, तुरई, करेला, भाजी, गेहूं, हरी हरिद्रा, कोबीज, द्राक्ष, शिग्रु, गिलोय, परवल, ककोड़ा आदि पथ्य हैं। ★

# क्षुद्र कुष्ठ—विचर्चिका

वैद्य डी० एल० दीक्षित ए. एम. बी. एस., एच.पी.ए.
अध्यक्ष तथा फिजीशियन—पंचकर्म विभाग,
तख्तेश्वरी राजकीय आयुर्वेदिक अस्पताल, भावनगर— ३६४००१, गुजरात।

★ पञ्चकर्म विशेषज्ञ ★ आयुर्वेदीय लेखक • अनुसन्धानकर्ता
★ आयुर्वेद विवेचक ★ विद्वान प्राध्यापक। —वैद्य अशोक भाई तलाविया भावनगर।

'शरीरं कुष्णाति कुत्सितं करोतीति कुष्ठ'

इसी भाव को व्यक्त करने वाला एक वाक्य अष्टांग हृदय में निम्न रूप में उपलब्ध होता है—

कालेनोपेक्षितं यस्मात्सर्वं कुष्णाति तद्वपुः ।
— अ. हृ. नि. १४-४

अर्थात् उपेक्षा करने पर कालान्तर में सर्व शरीर को कुत्सित अथवा कुरूप बना देने के कारण इसे कुष्ठ कहते हैं।

क्षुद्र शब्द का अर्थ—यद्यपि क्षुद्र के अनेक अर्थ हो सकते हैं किन्तु कुष्ठ के संदर्भ में क्षुद्र का अर्थ निम्न अथवा 'नीच स्वभाव युक्त' ग्रहण करना उपयुक्त प्रतीत होता है। क्योंकि यदि क्षुद्र कुष्ठ वर्ग में कथित व्याधियों में से एक भी व्याधि किसी व्यक्ति को हो जाय तो अनेक उपाय करने पर भी सरलता से उससे मुक्ति नहीं मिल पाती। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में क्षुद्र कुष्ठ का तुल्यार्थक शब्द 'Diseases of the skin' हमें उपलब्ध होता है। एवं विचर्चिका के लक्षण एक्जिमा (Eczema) के समान होते हैं। अतः इस लेख में लिखित विचर्चिका की चिकित्सा को एक्जिमा की ही चिकित्सा समझना चाहिए।

## निदान एवं सम्प्राप्ति—

सभी कुष्ठों के सामान्य निदान एवं सम्प्राप्ति भी कुष्ठ (समग्र) के समान ही समझना चाहिए। यथा निम्न वचनों से स्पष्ट है—

विरोधीन्यन्नपानानि ···· निचितकुष्ठं समुपाश्नुते।
—च. चि. ७/४ से ८ तक।

अर्थात् विरोधी अन्नपान (यथा सम प्रमाण में मधु और घृत अथवा मत्स्य एवं दुग्ध का एक साथ सेवन), द्रव, स्निग्ध एवं गुरु भोजन का अधिक मात्रा में सेवन, उपस्थित वमन अथवा मलमूत्रादि वेगों का विधारण, अधिक भोजन के पश्चात व्यायाम अथवा सन्ताप का अत्यधिक सेवन, शीत उष्ण एवं लंघन का भोजन का क्रम त्याग कर सेवन करना (यथा सहसा शीत से उष्ण या उष्ण से शीत एवं लंघनान्तर पूर्ण मात्रा में भोजन या सहसा भरपेट भोजन के पश्चात सहसा लंघन अथवा अनशन), सूर्यताप, श्रम, भय से पीड़ित पुरुष को शीघ्र शीतल जल पीना, अजीर्ण होने पर भी भोजन करना, असम्यक् पञ्चकर्म का होना, नवीन अन्न, दधि, मत्स्य, लवण एवं अम्ल पदार्थों का अति सेवन, उड़द, मूली, पिष्टान्न, गुड़, दुग्ध, तिल, इनका अत्यधिक सेवन, भोजन पाचन होने से पूर्व मैथुन, दिवास्वप्न, ब्राह्मण और गुरु का अपमान करना, अन्य पाप कर्म।

इन हेतुओं का निरन्तर सेवन करने वाले में वातादि तीनों दोष दुष्ट होकर त्वचा, रक्त, मांस, शरीरस्थ जलीय भाग (लसीका) को दूषित कर देते हैं। ये संक्षेप में कुष्ठ के उत्पादक सात द्रव्य हैं। इनसे १८ प्रकार के कुष्ठ उत्पन्न होते हैं। कोई भी कुष्ठ एक दोषज नहीं होता अर्थात् सभी कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं।

विरोधी अन्नपान के परिणामस्वरूप अनूर्जता (Allergy) उत्पन्न हो सकती है। सन्तापादि सेवन से स्थानिक विक्षोभ (Local Irritation) हो सकता है। अजीर्ण होने पर भी भोजन करने से आम विष की उत्पत्ति हो सकती है एवं इसके द्वारा भी अनूर्जता उत्पन्न हो सकती है।

मद्य का अति सेवन करके ब्राह्मण गुरु, पूज्यों का अपमान एवं अन्य पापकर्म भी कार सकता है।

## पूर्वरूप—

पृथक से इसके पूर्वरूप का वर्णन नहीं मिलता। इस रोग के रूप वर्णन का ग्रहण इसके पूर्वरूप में भी कर सकते हैं।

रूप—

चरक मतानुसार –

सकण्डूः पिडिकाश्यावा बहुस्रावा विचर्चिका ।

—च. चि ७-२५

अर्थात् श्याव वर्ण पिडिका जिसमें कण्डू, अत्यधिक स्राव हो उसे विचर्चिका कहते है ।

सुश्रुत मतानुसार—

राज्योऽति कण्डूर्वति रुज. सरुक्षा
भवन्ति गात्रेषु विचर्चिकायाम् ।
कण्डूमती दाहरुजोपपन्ना
विपादिका पादगतेयमेव ॥

—सु. नि. अ. ५-१३

अर्थात् विचर्चिका रोग में गात्र (शरीर) पर राजि (बाह्य त्वचा के स्फुटन से उत्पन्न विदार अथवा रेखायें) उत्पन्न हो जाती हैं । अति कण्डू, रुजा का अनुभव होता है एवं त्वचा में रूक्षता आ जाती है । जिस समय यह लक्षण पाद में हो तो उसे विपादिका कहेंगे । यहां पाद शब्द से पादतल का ग्रहण करना उचित होगा ।

वाग्भट मतानुसार

सकंडू पिडिकाश्यावा लसिकाढ्या विचर्चिका ।

—अ. हृ नि १४-१४

अर्थात् सकंडू श्याववर्णयुक्त एवं लसीका बहुल पिडिका को विचर्चिका कहते हैं ।

उपरोक्त वृहद्त्रयी के पृथक् पृथक् मतों का पठन करने के पश्चात चरक, अष्टांग हृदय का मत तो पर्याप्त साम्यतायुक्त प्रतीत होता है । किन्तु सुश्रुत का मत इन दोनों से पूर्णतः विपरीत होना है । क्योंकि चरक और वाग्भट के मतानुसार विचर्चिका में अति स्राव होना आवश्यक है किन्तु सुश्रुत के सरुक्षा शब्द से यह प्रकट होता है कि या तो स्राव होता ही नहीं, इस कारण त्वचा रूक्ष रहती है अथवा प्रथम अवस्था में जो स्राव हुआ हो वह इस अवस्था में शुष्क हो जाता हो, इसी कारण से वह प्रदेश रूक्ष हो जाता है । शुष्क होने के परिणामस्वरूप राजि प्रतीत होती हैं । सरुक्षा से ईषत् रूक्ष अर्थ भी ग्रहण कर सकते हैं ।

अतः हम या तो सस्रावा, सरुक्षा को विचर्चिका की अवस्थायें मानें अथवा अवस्थानुसार ही पृथक् भेद मान लें ।

१. सरूक्षा विचर्चिका (Dry Eczema)

२. सस्रावा अथवा लसीकाढ्या विचर्चिका (Weeping or wet Eczema)

मैं चरक, सुश्रुत दोनों के मतों को उचित समझता हूँ । क्योंकि चरक के चिकित्साभ्यास काल में स्रावयुक्त विचर्चिका के ही रोगी अधिक संख्या में आये होंगे एवं सुश्रुत के चिकित्साभ्यास काल मे रूक्ष विचर्चिका के रोगी अधिक आये होंगे । इसी कारण दोनों महानुभावों ने जैसा प्रत्यक्ष किया होगा, उसी के आधार पर लिखा होगा । प्रायः प्रथम अवस्था में स्राव नहीं होता । केवल पूयजनक जीवाणुओं के द्वितीयक उपसर्ग (secondary infection) के कारण स्राव भी हो सकता है ।

चिकित्सा —

वस्तुतः वृहत्त्रयी में इस रोग की चिकित्सा से सम्बन्धित साहित्य अत्यल्प अथवा नगण्य रूप में ही प्राप्त होता है । अतः मैं यहां विशेष शास्त्र चर्चा न करके केवल स्वकीय अनुभव के आधार पर ही संक्षेप में चिकित्सा विषयक सामग्री प्रस्तुत कर रहा हूं ।

(१) आभ्यन्तर चिकित्सा—१. आरोग्यवर्धिनी वटी, बंग भस्म, गन्धक रसायन २-२ रत्ती, त्रिफला १ माशा × ३ बार जल से ।

२ महामञ्जिष्ठादि क्वाथ २ तोला × २ बार प्रातः सायं ।

(२) बाह्य चिकित्सा—[अ] (प्रक्षालन)–

१. निम्बपत्र क्वाथ से (जब दुर्गन्धित स्राव हो)

२. दारु हरिद्रा क्वाथ से अभावे रसाञ्जन क्वाथ से

३. महानिम्ब पत्र क्वाथ से (जब कंडू अधिक हो)

[आ] तैल और मलहम—

१. शिंशिपा काष्ठ तैल

(पाताल यन्त्र से निष्काषित)

२. दमनकादि मलहम (स्वानुभूत)

विशेष—शिंशिपा काष्ठ तैल से भी लाभ होता है किन्तु इसके द्वारा चिकित्सित रोगियों में रोगों का पुनरावर्तन देखा गया है किन्तु दमनकादि मलहम द्वारा

चिकित्सित रोगियों में स्थायी लाभ हुआ तथा पिडिकाओं का पुनर्भव नहीं हुआ।

दमनकादि मलहम निर्माण विषयक विवेचन--

आवश्यक द्रव्य --

| | |
|---|---|
| १. दमनक पत्रमंजरी सहित (हरिताद्रया) | २५० ग्राम |
| २. कम्पिल्लक | २५ ,, |
| ३ गन्धक (नेनुआं) चूर्ण | ५० ,, |
| ४. सर्षप तैल | १२५ ,, |
| ५. मधूच्छिष्ट [wax] | २५ ,, |

निर्माण विधि —सर्व प्रथम उक्त मात्रा में दमनक पत्रों को लेकर सर्षप तैल में इतना भर्जित करें जिससे कि पत्रों की लुगदी बन जाय। फिर मधूच्छिष्ट को डालकर पिघलायें, तत्पश्चात तैल, कम्पिल्लक एवं गन्धक चूर्ण को डालकर कलछी से सब द्रव्यों को एक में मिला लें। दमनक का पाठ भाव प्रकाश के पुष्पादि वर्ग में हुआ है। वनस्पति विज्ञान के अनुसार यह compositae वर्ग का द्रव्य है। इसका लैटिन नाम Artimesia siversiana है।

चिकित्सा में विशेष ध्यान में रखने योग्य बातें—

यह क्षुद्र नामधारी विचर्चिका रोग जीर्ण तथा गम्भीरस्थ धातुओं में स्थित हो जाने के पश्चात जल्दी पीछा नहीं छोड़ता। ऐसी अवस्था में त्रिफला घृत अथवा पंचतिक्त घृत से आवश्यकतानुसार स्नेहनोपरांत वमन तथा विरेचन कराना चाहिए। अनेक रोगियों में रक्तमोक्षण से भी अद्‌भुत लाभ देखा गया है।

पथ्यापथ्य -शालि, यव, गोधूम, कोद्रव, प्रियंगु, मुद्ग, मसुर, आढकी, तिक्त शाक यथा मरीका, कारवेल्लकादि, जांगल मांस, खदिर, पटोल, त्रिफला, निम्ब भल्लातक। कटु, अम्ल, लवण, रसयुक्त द्रव्य, दधि-आनूप-मांस साबुन, अल्प सेवन। ★

★ कुष्ठ—सामुद्र लवण अपथ्य, सैंधव लवण पथ्य → पृष्ठ १३८ का शेषांश ★

इस तरह लवण कुष्ठ में उपयोगी होने से हमारे बुद्धिमान पूर्वाचार्यों ने इसको अपथ्य नहीं माना है, मगर व्यवहार में देखा जाता है कि लवण, (सामुद्र लवण) सेवन से रोग वृद्धि भी होती है। अतः प्रतिदिन व्यवहार में उपयोगी सामुद्र लवण के विकल्प का हम विचार करें और वह विकल्प है सैन्धव लवण।

इसको विस्तृतया देखें तो —

(१) सु. सू. ४६ में 'सैंधवं लवणे' करके लवणों में श्रेष्ठ दर्शाया है।

(२) सामुद्र लवण के शास्त्रोक्त गुण देखें —

सामुद्रं मधुरं पाके नाति उष्णं अविदाही च।

— सु सू ४६/३१२

भेदनं स्निग्धं ईषद् च शूलघ्नं नाति पित्तलम्॥

सैन्धव लवण के शास्त्रोक्त गुण देखें —

दीपनं रोचनं वृष्यं चक्षुष्यं अविदाहि च।

त्रिदोषघ्नं समधुरं सैन्धवं लवणोत्तमम्॥

— च. सू २७/३००

शीतं स्निग्धं लघु स्वाद्वनुवासि हृद्यं वृष्यं।

रोचनं दीपनं चक्षुष्यं त्रिदोषघ्नं। — सु. सू. ४६/३१४

इदं कफविलयनं कफच्छेदन च करोति।

— अ सं. सू. ११/१२

इस तरह दोनों में मधुरपाकि और अविदाही गुण समान रूप से है और असमान में हैं--

| सामुद्र लवण | सैन्धव लवण |
|---|---|
| नातिउष्णम्, ईषद् स्निग्ध, नाति पित्तलम्, शूलघ्न। | शीतं, त्रिदोषघ्नं, स्निग्धं, चक्षुष्य, दीपनं, हृद्यं, वृष्यं, लघु। |

इस तरह गुणों में सैन्धव लवण सामुद्र से आगे है। इन दोनों लवणों का रासायनिक विश्लेषण करके देखें तो क्योंकि सामुद्र और सैन्धव दोनों में Nacl, $CaSO_4$ $MgSO_4$ $MgCl_2$। ये समान रूप से हैं। मगर सामुद्र का अतिरिक्त द्रव्य KCl मन्द विषाक्तता वाला है। (सन्दर्भ वेल्थ आफ इण्डिया, भाग—२)

इस तरह सैन्धव लवण ही उत्तम है। अब ये विचार भी सामने आता है कि यदि आचार्यों ने लवण को अपथ्य नहीं माना है तो लवण लेने से व्याधि वृद्धि क्यों होती है? इसका कारण यह है कि जब ये शुरु किया गया तब सैन्धव लवण ही रोज के व्यवहार में आता था सामुद्रादि अन्य लवण नहीं। और आज सर्वत्र उससे विपरीत सामुद्र लवण रोज के व्यवहार में आता है जिसके कारण यह विवेचना की गई है। ★

# विचर्चिका में जलौकावचारण

वैद्य (प्रा०) सुरेशचन्द्र एल. पण्डया बी.एस.ए.एम.
प्राचार्य — शल्य-शालाक्य विभाग
शासकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, आजवा रोड, वडोदरा (गुज.)

—*❁*—

★ विशेष कार्य —अग्निकर्म, जलौकावचारण, कर्ण सन्धान कर्म, क्षार सूत्र।

★ अण्डर ग्रेज्युएट टीचर्स ट्रेनिंग प्रोग्राम, मिनिस्ट्री आफ हैल्थ एण्ड फेमीली वेलफेयर, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया, न्यू दिल्ली द्वारा —सरकारी आयु० कालेज, त्रिवेन्द्रम-केरला राज्य के सान्निध्य में Restorative therapy for prevention of Timir इस विषय में थीसिस तैयार किया है।

— वैद्य किरीट बी० पण्डया।

---

आजकल समाज में त्वक् रोग से पीड़ित ज्यादा लोग दिखाई पड़ते हैं। क्योंकि दिन-प्रतिदिन आहार-विहार में विषमता देखी जाती है। विरुद्ध आहार जैसे-मांस और दूध, अण्डे और दूध, फल के साथ दूध, लवण के साथ दूध। इस तरह विरुद्ध आहार की वजह से साथ-साथ तेल भरा मसाला लवण का अति प्रयोग से भी त्वक् विकार में हेतुभूत है।

त्वक् रोग शाखागत व्याधियों में आते हैं। शास्त्र में कहा है कि 'शाखाः रक्तादय त्वक् च।' अर्थात् शाखा शब्द से रक्तादि धातु और त्वक् का उल्लेख होता है। शाखागत सभी व्याधियां धातुगत होने की वजह से दोष उनमें लीन हो जाने से बहुत देरी से व्याधियों का प्रशमन होता है, अर्थात् याप्य भी हो जाते हैं।

उपरोक्त त्वक्गत व्याधियों में हमने रुग्णालय के बाह्यगत विभाग में काफी रुग्णों के ऊपर शोधन कर्म किया है। शोधन कर्म में हमने जलौकावचारण का प्रयोग किया। जलौका द्वारा दूषित रक्त को आचूषण करके विचर्चिका रोग में ज्यादा लाभ मिला है।

विचर्चिका क्या है ?

विचर्चिका प्रथम शरीर में कण्डू से शुरू होती है, कण्डू आने का हेतु कफ दोष होता है। शास्त्र में कहा है कि 'न कफात् विना कंडू' जल महाभूत और आकाश की विकृति के आधार से बाद में शरीर पर श्याव वर्ण की छोटी-छोटी पिडिका उत्पन्न होती हैं। पिडिका के साथ कंडू और त्वक् वैवर्ण्य; बाद में उनमें से स्राव होता है। उसमें स्राव दूषित कफ और जल का होता है। ये सब लक्षण प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं। महर्षि चरक ने कहा है कि—

स कंडू पिडकाः श्यावा बहुस्रावा विचर्चिकाः।

अर्थात कंडू के साथ पिडिका में स्राव होता है।

भोज ने विचर्चिका की सम्प्राप्ति के लक्षणों के उल्लेख में दाह लक्षण का विशेष स्थान बताया है।
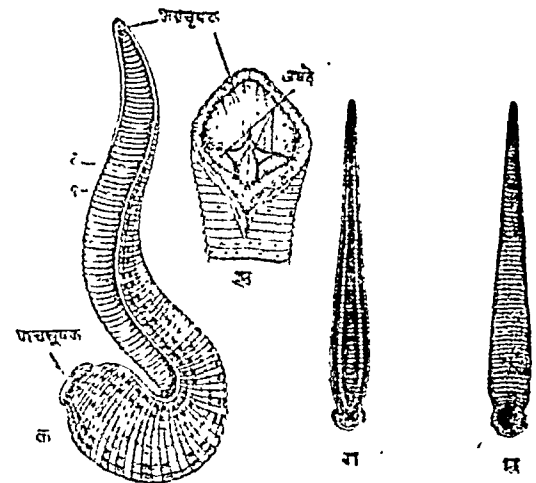
(क) हिरुडिनेरिया ग्रेनूलोसा, (भारतीय भैषज जौंक)
(ख) जौंक का खुला हुआ अग्र चूषक, तीन जबड़े दर्शाते हुए
(ग) पृष्ठीय चित्र (घ) अधरीय चित्र

दोषाः प्रदुष्य त्वक् मांस पाणिपाद समाश्रिताः।
पिडिका जनयन्त्याशु दाह कण्डू समन्वितात्॥

हमने जो विचर्चिका के रुग्ण देखे हैं उनमें अधिक स्राव और कंडू वाले देखे थे। इसलिए शोधन कर्म में जलौका द्वारा दूषित रक्त निकालने का प्रयोग किया है।

उपरोक्त कंडू और स्राव के साथ निम्नोक्त लक्षण भी मिलते थे। त्वचा पर छोटे-छोटे गहरे भूरे रंग वर्ण के दाने और उसे खुजलाने से स्राव निकलता था। कभी-कभी दाह एवं कंडू अधिक होती है। प्रायः शीत ऋतु में होता है। काफी रुग्णों में त्वक् वैवर्ण्य मिलता है।

जलौका बारह प्रकार की होती है, उनमें छः सविष और छः निर्विष उनमें से हमने निर्विष जलौका का रक्तावसेचन के लिए प्रयोग किया।

निम्न लक्षण वाली निर्विष जलौका प्रयोग की—

१. शीघ्र चलने वाली
२. यकृत के समान काले या बैंगनी रंग वाली
३. रक्त को शीघ्र आचूषण करने वाली
४. दीर्घ और तीक्ष्ण मुख वाली
५. गहरे और सुगन्धित पानी में रहने वाली

ऐसी जलौका को लाकर नवीन मिट्टी के घड़े में या शुद्ध कांच की बोतल में रखते थे। विचर्चिका से दूषित स्थान पर हम जलौका लगाने से पहले इस स्थान पर शस्त्र द्वारा लेखन कर्म करके थोड़ा रक्त को निकाल कर जलौका को हाथ से पकड़कर रक्त चूसने के लिए लगाते थे। पश्चात पतले और गीले सफेद कपड़ा (प्लोत) से जलौका को ढक देते थे (किन्तु उसके मुख को न ढके)। जब जलौका दूषित स्थान पर चिपक जाती है तब वह घोड़े के खुर के समान मुख को करके तथा स्कंध को ऊंचा उठाकर रक्त पीने लगती है।

अशुद्ध रक्त पीने का परीक्षण—

जलौका जब अशुद्ध रक्त का पान करती है तब दूषित स्थान पर किसी प्रकार की वेदना या कंडू नहीं होती है। केवल रक्त के आचूषण का भान होता है। यदि जलौका अशुद्ध रक्त पीने के बाद अतृप्ति की वजह से शुद्ध रक्त पीने लगती है तब उस स्थान पर सुची-वत् वेदना और कंडू होती है। तब हम जलौका के मुख पर सैन्धव या हरिद्रा डालकर जलौका को निकाल देते थे। बाद में जलौका को पूंछ से पकड़कर दूसरे हाथ से अनुलोम रूप से निचोड़ लेते थे जिससे पीया हुआ दूषित श्याव वर्ण का अशुद्ध रक्त वमन कर देती थी। ठीक इसी तरह वमन कराई हुई जलौका जल के पात्र में डाल देते थे। बाद में दूषित रक्त निकाले स्थान पर रक्त स्तम्भक औषधि लोध्र आदि से व्रणोपचार करके पट्ट बन्धन कर देते थे।

सरकारी आयुर्वेद रुग्णालय, बड़ौदा के बहिःरंग विभाग के रुग्णों की निम्नोक्त प्रकार से चिकित्सा की—

| नं. | रुग्ण का नाम | आयु | व्याधि नाम | केस नं | स्थान | रक्त चूषण प्रमाण | अवधि | परिणाम |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १— | गौतमकुमार बारैया | ३६ | दुष्टव्रण | ३०२<br>६-२-८७ | वामपाद जंघास्थि | ४० मिली. | सात बार | सम्पूर्ण प्रशमन |
| २— | हरि भाई गोविंद भाई | ५६ | विचर्चिका | ७५४<br>१२-३-८७ | द. पाद पार्श्व प्रदेश | ५० मिली. | पांच बार | ,, |
| ३ | प्रफुल्ला बेन टक्कर | ३० | विचर्चिका | १४२<br>११-३-८७ | द. पाद गुल्फ प्रदेश | ३० मिली. | दो बार | ,, |
| ४— | संजयकुमार अंबालाल पटेल | १२ | विचर्चिका | १३७३<br>७-१०-८७ | वाम पाद जानु से नीचे | २० मिली. | तीन बार | ,, |
| ५— | आलोक पर्वत | २२ | विचर्चिका | ११९२<br>२१-१२-८८ | द. पाद गुल्फ प्रदेश | ४० मिली. | चार बार | ,, |
| ६— | बी. एम. पटेल | २५ | विचर्चिका | १३-१-९० | द. पाद जंघास्थि | ६० मिली. | छः बार | ,, |

—**—

विचर्चिका के विशेष सन्दर्भ में

# * त्वग्रोगों में जलौकावचारण *

डा० ओमप्रकाश पी० दवे बी ए एम.एस , एम.डी. (आयु०
व्याख्याता शल्य शालक्य विभाग
स्नातकोत्तर प्रशिक्षण व अनुसन्धान संस्थान,
गुजरात आयुर्वेद यूनिवर्सिटी, जामनगर ३६१००८ (गुज )

*:०:*
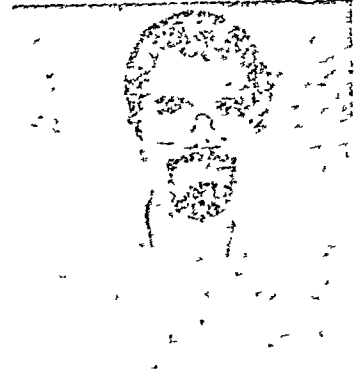
* उदयपुर [राज ] से प्रथम श्रेणी में बी ए एम एस. ।
* शल्य विभाग में कैंसर पर विशिष्ट कार्य कर प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण।
* इसी विषय पर पी-एच डी. में अध्ययन रत।

—वैद्य अशोक भाई तलाविया ।

---

त्वचा एक जटिल रचना है, जो अक्षत अवस्था में प्रकृति प्रदत्त श्रेष्ठ जीवाणु एवं व्याधि अवरोधक बेरियर) मानी गई है। त्वचा रोगों को आठ महारोगों में समाहित कर आचार्यो ने इसके महत्व को और भी बढ़ा दिया है। 'त्वच् संवरणे धातु' (शब्द स्तोम महानिधि) द्वारा निर्मित त्वचा शब्द आवरण के अर्थ में ग्रहीत होता है। इसे स्पर्शनेन्द्रिय स्थान भ्राजक पित्त एव वायु महाभूत का अधिष्ठान माना गया है। सुश्रुत में इसकी सात एवं चरक में इसकी छः परतें (लेयर्स) बताई गई हैं। इसमें सुश्रुतोक्त नामकरण अधिक पारिभाषिक एवं स्पष्ट है। यथा-अवभासिनी, लोहिता, श्वेता, ताम्रा, वेदिनी, रोहिणी एवं मांसधरा। आचार्य गदाधर ने अपनी टीका में चरकोक्त तीसरी परत के उत्तान एवं गम्भीर दो प्रभेद करके उत्तान को श्वेता तथा गम्भीर को ताम्रा के समतुल्य मानकर सुश्रुत और चरक के विचारों को समान बताने का प्रयत्न किया है।

त्वचा के रोगों में पित्त एवं रक्त की दुष्टि का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। अतः त्वचा रोगों में सर्वाधिक व्यापक विचर्चिका पर रक्तमोक्षण (जलौकावचारण के माध्यम से) की कार्मुकता का अध्ययन करना प्रस्तुत आलेख का प्रधान उद्देश्य है।

विचर्चिका की परिभाषा एवं लक्षणों के सम्बन्ध में सभी आचार्य एकमत नहीं हैं। फिर भी एक सामान्य परिभाषा इस प्रकार से बनाई जा सकती है कि हाथ एवं पैरों पर विशिष्ट रूप से होने वाला स्मरणहीन, विदार, पिटिका, कण्डू, स्रावादि लक्षणों युक्त अनियमित आकृति वाला यह जीर्ण रोग है, जो पुनः पुनः अपनी अनुकूल परिस्थितियों में प्रकट होता रहता है। असात्म्य एवं मिथ्याहार, पापकर्म, शोक, भय, चिन्ता तथा उपसर्ग को आचार्यों ने इसके निदानों के रूप में वर्णित किया है। कुष्ठ के सामान्य पूर्वरूप यथा राग, वैवर्ण्यता, दाह आदि को ही इसके पूर्वरूप की संज्ञा दे सकते हैं। लक्षणों की दृष्टि से आचार्य चरक ने कण्डु, श्यावता, पिडिका एवं बहुस्राव, सुश्रुत के राजी, अति कण्ड, अरति, रुजा, रूक्षता, वाग्भट्ट ने सकण्डू, पिटिका, श्याव, अति लसिका स्राव को विचर्चिका के लक्षण रूप में वर्णित किया है। (सारणी पृष्ठ १५१ पर)

सुश्रुत मे इसे पित्त प्रधान एवं चरक ने कफ प्रधान व्याधि मानी है। वाग्भट्ट, भावप्रकाश, शारंगधर ने भी इसे कफ प्रधान माना है।

सम्प्राप्ति घटक -

१. दोष—कफ (चरक), पित्त (सुश्रुत)।
२. दूष्य त्वचा, रक्त, मांस, अम्बु (लसिका)
३. स्रोतस—रसवह, रक्तवह, मांसवह।
४ अग्नि—मन्द एवं विषम।
५. स्रोतोदुष्टि—संग, सिरा ग्रन्थि।
६. रोगमार्ग—बाह्य।
७. अधिष्ठान चतुर्थी एवं पंचमी परत (सुश्रुत)।
— चतुर्थी परत (चरक)
८. [illegible] पिडिका श्यावा बहु स्राव

शास्त्रोक्त विचर्चिका के लक्षणों का तुलनात्मक अध्ययन

सारणी नं० १

| प्रधान लक्षण | | संहिताएँ | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | | सु० | च० | अस० | अहृ० | [illegible] | [illegible]नि. | का० | भे० | हा० |
| १—स्वप्रत्यय लक्षण | अतिरुजा | - | — | — | — | [illegible] | [illegible] | — | — | — |
| विविध वेदनास्वरूप | व्रणवत वेदना | + | — | — | - | [illegible] | [illegible] | — | — | — |
| | कण्डू | + | + | + | + | [illegible] | [illegible] | + | | — |
| २—परप्रत्यय चिन्ह | क्षुद्र | · | + | + | + | [illegible] | [illegible] | — | — | — |
| [अ] पिडिका आकृति | सूक्ष्म | — | -- | — | | — | — | — | - | + |
| | पटलानि | — | — | - | | — | -- | - | -- | + |
| | दद्वाभि | -- | — | - | | -- | — | + | — | — |
| | मांसोपचित | | — | | . | | -- | — | + | — |
| [ब] पिडिका वर्ण | श्याव | — | + | + | + | + | + | -- | + | — |
| | रक्त | — | — | - | - | --- | - | — | + | — |
| | श्वेत | — | — | - | — | — | — | — | — | + |
| [स] व्रण प्रकार | राज्योति | + | — | — | -- | — | - | — | — | — |
| | श्यामल | — | -- | — | — | — | — | + | — | — |
| | विसर्पण | — | — | — | — | — | — | — | — | + |
| [द] स्राव प्रकार— | बहुस्राव | — | + | | — | + | + | + | + | — |
| | प्रक्लिन्न | — | — | | | -- | | - | + | — |
| | लसिकाधिक्य | — | -- | + | + | — | — | — | — | — |
| | रूक्ष (अस्राव) | + | - | - | — | — | — | — | — | — |

सु० = सुश्रुत, च० = चरक, अस० = अष्टांगसंग्रह, अहृ० = अष्टांगहृदय, भाव० = भावप्रकाश, मानि० = माधवनिदान, का० = काश्यप, भे० = भेल, हा० = हारीत।

## चिकित्सा—

आयुर्वेद शास्त्रों के अध्ययन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि दुष्ट रक्त का संशोधन करना इस रोग की चिकित्सा का प्रथम सोपान है। यद्यपि आचार्यों ने इस व्याधि को एकाधिक उपक्रमों से चिकित्सा करने का सुझाव दिया है। फिर भी प्रस्तुत अध्ययन में रोगी को पथ्यापथ्य के निर्देश के साथ सिर्फ जलौकावचारण द्वारा रोग मुक्त करने का उद्देश्य रखा गया तथा आतुरीय अध्ययन से यह स्पष्ट भी हो गया कि पथ्यपालन के साथ जलौकावचारण द्वारा कृत रक्तमोक्षण इस व्याधि से रोगी को मुक्त करने में समर्थ है।

जलौका (जल + आयु तथा + ओक)। इन दो शब्दों युक्त (अर्थात् जिस प्राणी का जल ही आयु है तथा जिस प्राणी का निवास सिर्फ जल ही है)। शब्दों के संयोग से इस प्राणी की विशिष्टता का सुगम बोध हो जाता है। सविष एवं निर्विष भेद पर पुनः प्रत्येक के षड्विध भेदों का विस्तृत वर्णन शास्त्रकारों ने किया है।

सभी प्रकार की जलौकायें रुधिर निकालने के लिए उपयुक्त नहीं होतीं हैं क्योंकि इन्द्रधनुष की तरह पीठ पर धारियों वाली, धीरे-धीरे गति करने वाली, बीच में मोटी और बहुत विस्तृत जलौकायें जहरीली होती हैं। भूल से इनका प्रयोग हो जाने पर सूजन, खुजली, ज्वर,
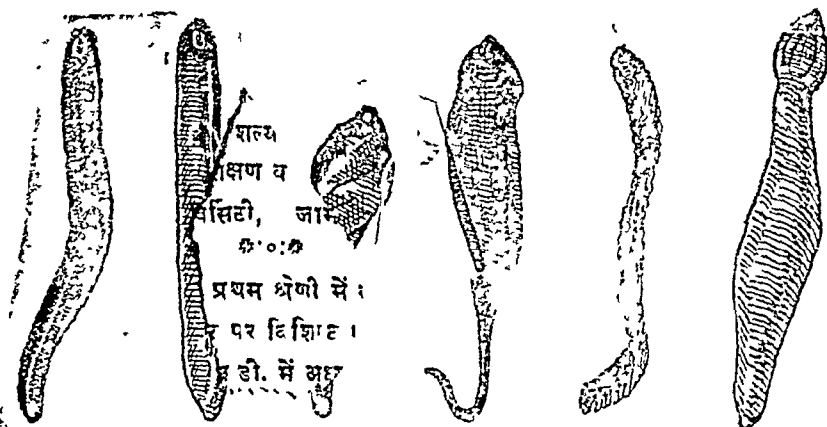
← छः प्रकार की निर्विष जलौकायें

छर्दि, मद, बेहोशी आदि हो जाते हैं। अतः उन्ही जलौकाओं का रुधिर विस्रावण के लिए प्रयोग करना चाहिए जो स्वच्छ जलाशयों मे पाई जावें तथा जो ५-६ अंगुल से अधिक लम्बी न हों।

कपिला, पिंगला, पुंडरीक मुखी आदि छः प्रकार की जलौकायें निर्विष तथा इन्द्रायुधा, सामुद्रिका, गोचन्दन आदि छः प्रकार की सविष होती है।

जलौकाओं का संग्रह तथा संरक्षण अत्यन्त ही आसान है। गुजरात में बड़ौदा शहर में स्थित पड़ते एण्टर प्राइजेज, १२/८ प्रतापगंज, स्टेशन रोड, बड़ौदा-२ में इसका व्यापारिक स्तर पर संग्रहण एवं विक्रय होता है। प्रस्तुत अध्ययन के लिए वहीं से जलौकाओं का क्रय किया गया तथा रोगियों पर प्रयोग किया गया। ये सभी जलौकायें निर्विष एवं शास्त्रोक्त थी। कांच के चौड़े मुंह के पात्र में इन्हें रखकर नियमित रूप से पानी बदलते रहें। प्लास्टिक के ढक्कन में छोटे-छोटे छिद्र कर दिये गये, ताकि वायु का आदान-प्रदान होता रहे। खाने के लिए मछलियों को दिया जाने वाला आहार अत्यल्प प्रमाण में पानी में डालते रहते थे। अंग्रेजी में निर्विष चिकित्सकोपयोगी जलौका को हिरूडो मेडीसिनेलिस कहा जाता है। तथा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के प्रारम्भिक काल में इनका प्रचलन काफी था। एवं आज भी इनका प्रयोग किया जाता है।

जलौकावचारण विधि —

रुग्ण का परीक्षण कर उसके जलौकावचारण के उपयुक्त होने पर विचर्चिका युक्त स्थान का रूक्ष चूर्णों द्वारा (यथा गोबर, हरिद्रा आदि) सम्यक् शोधन करने के उपरांत स्थानीय रूप से अल्प स्वेदन करना चाहिए, जिससे रक्तप्रवाहण सम्यक्रीतया हो जाये (यदि विचर्चिका में विदार या व्रण है तो गोबर, मिट्टी आदि से घर्षण न किया जावे)। दूसरी तरफ बोतल में से आवश्यकतानुसार जलौकाओं को निकालकर हरिद्रा चूर्ण मिश्रित शुद्ध जल में न्यूनतम एक मिनिट तक रखना चाहिए तथा अंगुलियों की सहायता से जलौकाओं की थोड़ी सी मालिश भी कर लेनी चाहिए, ताकि वे चंचल तथा रक्त पीने को उद्यत हो जावें। तत्पश्चात स्वच्छ एवं आर्द्र वस्त्र खण्ड (कवलिका-गोज पीस) द्वारा उसकी पूंछ को पकड़कर रोगग्रस्त स्थान पर उसके मुंह को लगा दें। एक-दो बार देखने से जलौका के मुंह तथा पूंछ में अन्तर मालूम हो जाया करता है। कुछ देर प्रयत्न करने पर जलौका विकृत स्थान से लग जाया करती है तथा रक्त पीना प्रारम्भ कर देती है। ज्योंही जलौका रक्तचूषण प्रारम्भ करती है रुग्ण को चुमचुमायन (एक विशिष्ट प्रतीति) होने लगती है तथा रोगी स्वयं यह कहने लगता है कि जलौका ने अब रक्त पीना शुरू कर दिया है। दूसरा लक्षण यह है कि जलौका का मुंह थोड़ा टेढ़ा एवं ऊंचा हो जाया करता है तथा

एक विशिष्ट स्पन्दन जलौका के मुंह से लेकर उदर तक हमें स्पष्ट दिखाई देने लगता है। शास्त्रों में जलौका के रक्ताचूषण प्रारम्भ करते समय मुंह की उपमा को अश्व खुरवत बताया है। जब तक जलौका रक्ताचूषण करती है, उसके शरीर पर पानी का छिड़काव करते रहना चाहिये अथवा आर्द्र वस्त्र (पटतिका) को उसके ऊपर रख देना चाहिए। ऐसा उल्लेख है कि जलौका सर्वप्रथम अशुद्ध रक्त का आचूषण करती है। अशुद्ध रक्त का सम्पूर्ण आचूषण करने के उपरान्त शुद्ध रक्त को आचूषण करती है, परन्तु पैथोलोजीकल लेबोरेट्रीज में इसे सिद्ध कर पाना मेरे लिये सम्भव नहीं हो पाया। यद्यपि आयुर्वेद दृष्टया अशुद्ध रक्त के जो लक्षण बताये गये हैं, अधिकांशतः वे लक्षण आचूषण करने में उपलब्ध थे। जब तक अशुद्ध रक्त को जलौका आचूषण करती है, तब तक रुग्ण को वेदनाधिक्यता नहीं होती है। जब जलौका शुद्ध रक्त का सेवन करना प्रारम्भ कर दे या जलौका को त्वचा से हटाना हो तो जलौका के मुंह पर लवण या हरिद्रा चूर्ण का प्रक्षेप करना चाहिए। इससे जलौका शीघ्र ही त्वचा से पृथक होकर नीचे गिर जाती है। सामान्यतया जब तक जलौका रक्तपान से तृप्त नहीं होती, त्वचा पर लगी रहती है और पूर्ण तृप्ति होने पर स्वयमेव नीचे गिर जाती है। अशुद्ध रक्त की उपस्थिति या विकार के ठीक न होने तक प्रति सप्ताह एक बार एवं विचर्चिकाग्रस्त स्थान के प्रसार (व्यापकता) के अनुसार जलौका की संख्या का निर्धारण कर अवचारण करते रहना चाहिये। सामान्यतया ४-५ जलौकाओं का प्रयोग एक साथ किया जाता है। जलौकाओं के अभीष्ट स्थान पर न लगने पर दूध, घी या रक्त की बूंद को विचर्चिका युक्त स्थान पर लगाना चाहिए या दूसरी जलौका को लेकर उसका प्रयोग करना चाहिए। जब जलौका नीचे गिर जावे तो आचूषित रक्त को निकालने के लिए उसके मुंह पर हरिद्रा चूर्ण का लेप करना चाहिए या छिड़काव कर देवें। इसीसे काफी मात्रा में रक्त बूंदों के रूप में निकल आया करता है। तत्पश्चात उसकी पूंछ अंगुली व अंगूठे से पकड़कर पूंछ से मर्दन करते हुए मुंह की ओर लाते हुये सामान्य दबाव के साथ जलौका के साथ को निचोड़ देवें, जिससे समस्त आचूषित रक्त का वमन हो जावे, अन्यथा आचूषित रक्त के जलौका के अन्दर ही रहने से जलौका मस्त (मदयुक्त) हो जाया करती है। सम्यक् वमनोपरान्त जलौका पुनर्नवा होकर पानी में तेजी से घूमती है। एक सप्ताह पश्चात इन जलौकाओं का पुनः प्रयोग किया जा सकता है। जलौकावचारणोपरान्त विकार ग्रस्त अवयव (विचर्चिका स्थान) पर शतधौत घृत का पिचु रख व्रणोपचार कर देवे।

आतुरीय अध्ययन स्नातकोत्तर संस्थान के शल्य शालाक्य विभाग के बहिरंग तथा अन्तरंग कक्ष के रुग्णों पर किया एवं एक विशिष्ट प्रपत्र पर रुग्णों का इतिवृत्त, मूल्यांकन किया गया। सामान्य रक्त परीक्षण, चिकित्सा पूर्व तथा पश्चात करवाये गये। कुल ३५ रुग्णों पर यह प्रयोग किया गया। रुग्णों का चयन बिना किसी भेदभाव के (उम्र व्यवसाय लिंग व्याधि, जीर्णता) किया गया तथा मूल्यांकन हेतु निम्न नियम बनाया गया—

पूर्ण लाभ—१००% लक्षणों/चिन्हों की समाप्ति।

उल्लेखनीय लाभ—लक्षणों/चिन्हों में ७०% (या इससे अधिक) लाभ होना।

अल्प लाभ—२५-५९% लाभ होना।

अलाभ—१५% से कम लाभ होना या रोग का पुनरुद्भव होना।

सामान्य रूप से पांच बार जलौकावचारण प्रत्येक रुग्ण में किया गया तथा औसतन ३-७ जलौकाओं का प्रयोग किया गया। इस अवधि में यदि लाभ दृष्टिगोचर नहीं हुआ तो उस रुग्ण को लाभ के प्रतिशत के अनुसार वर्गीकृत कर यह निष्कर्ष निकाला गया कि रोग बल अधिक था, जिससे जलौकावचारण प्रभावी नहीं हो सका तथा पांच सप्ताह के इस प्रयोग (प्रति सप्ताह एक बार जलौकावचारण के सामान्य नियम) के उपरांत भी यह प्रयोग निरन्तर रखा जाय। चिकित्सा पूर्ण होने उपरांत भी एक वर्ष तक रोगियों को आतुरालय में आने के लिए अध्ययन हेतु बुलाया जाता रहा। प्राप्त परिणामों का प्रस्तुतिकरण निम्न है—

सारणी १—वयानुसार विचर्चिका रुग्ण

| आयु वर्ग | १०-२० | २१-३० | ३१-४० | ४१-५० | ५१-६० | ६१-७० |
|---|---|---|---|---|---|---|
| रुग्ण संख्या | ४ | ७ | ९ | ६ | ३ | ६ |

सारणी २—लिंगानुसार विचर्चिका रुग्ण

| | |
|---|---|
| पुरुष | २३ |
| स्त्री | १२ |

सारणी ३—व्यवसायानुसार विचर्चिका रुग्ण

| व्यवसाय | आफिस कार्य | कृषि कार्य | फैक्ट्री नौकर | गृह कार्य | अध्ययन कार्य | अन्य कार्य |
|---|---|---|---|---|---|---|
| रुग्ण संख्या | ४ | १० | ११ | ५ | ३ | १ |

सारणी ४ पारिवारिक

| इतिवृत्त | संख्या | इतिवृत्त | | | संख्या |
|---|---|---|---|---|---|
| (अ) प्राप्त | ८ | (ब) उच्च आर्थिक सामाजिक | | | ४ |
| अप्राप्त | २७ | मध्यम | ,, | ,, | ९ |
| | | निम्न | ,, | ,, | २२ |

सारणी ५—विचर्चिका का पूर्व व्याधि वृत्त

| | |
|---|---|
| प्राप्त | २६ |
| अप्राप्त | ९ |

सारणी ६—आहार वृत

| रस-आहार | मधुर प्रधान | अम्ल प्रधान | लवण प्रधान | कटु प्रधान | तिक्त प्रधान | कषाय प्रधान |
|---|---|---|---|---|---|---|
| रुग्ण संख्या | ४ | १२ | ६ | ११ | १ | १ |

सारणी ७—विचर्चिका व्याधि जीर्णता [महीनों में]

| मास | ६ मास से कम | ६-१२ मास | १३-१८ मास | १९-२४ मास | २५-३० मास | ३१ मास से अधिक |
|---|---|---|---|---|---|---|
| रुग्ण सं. | ८ | ११ | ३ | ५ | ३ | ५ |

सारणी ८—प्रकृति अनुसार रुग्ण तालिका

| प्रकृति | वात प्रधान | पित्त प्रधान | कफ प्रधान |
|---|---|---|---|
| रुग्ण संख्या | १४ | १३ | ८ |

सारणी ९—लक्षणानुसार विचर्चिका [चिकित्सा पूर्व]

| लक्षण | प्रवर | मध्यम | अवर | अनुपस्थित | कुल उपस्थित |
|---|---|---|---|---|---|
| कण्डू | ६ | १९ | १० | — | ३५ |
| बहुस्राव | ६ | १२ | ७ | ७ | २८ |
| पिडिका | ८ | १६ | ७ | ४ | ३५ |
| वेदना | १ | २ | २४ | ८ | २७ |
| दाह | ४ | २१ | १० | — | ३५ |
| रूक्षता | १ | ३ | ३ | २८ | ७ |
| क्लिन्नता | ९ | १२ | ७ | ७ | २८ |
| विसर्पणता | ६ | १९ | १० | — | ३५ |
| त्वक् वैवर्ण्यता | ११ | १४ | ६ | ४ | ३५ |
| शोथ | ७ | १८ | १० | | ३५ |

सारणी १०—चिकित्सा पश्चात लक्षण उपस्थिति

| लक्षण | प्रवर | मध्यम | अवर | अनुपस्थित | कुल उपस्थित |
|---|---|---|---|---|---|
| कण्डू | — | १ | ३ | ३१ | ४ |
| बहुस्राव | — | १ | — | २७ | १ |
| पिडिका | | १ | २ | ३२ | ३ |
| वेदना | — | १ | ३ | २३ | ४ |
| दाह | — | १ | ३ | ३१ | ४ |
| रूक्षता | — | — | — | ७ | — |
| क्लिन्नता | — | १ | — | २७ | १ |
| विसर्पणता | — | २ | २ | ३१ | ४ |
| त्वक् वैवर्ण्यता | — | १ | ७ | २७ | ८ |
| शोथ | — | २ | २ | ३१ | ४ |

सारणी ११—विचर्चिका स्थानानुसार तालिका

| स्थान | हस्त | पाद | अन्य |
|---|---|---|---|
| रुग्ण संख्या | १५ | १८ | २ |

सारणी १२ विचर्चिका का विस्तार (चिकित्सा पूर्व)

| एक मण्डल का विस्तार (सेमी. | –१ सेमी. | २-३ सेमी. | ४-५ सेमी. | ६-७ सेमी. | ८– सेमी. |
|---|---|---|---|---|---|
| रुग्ण संख्या | ३ | १० | १३ | ५ | ४ |

सारणी १३—विचर्चिका के लक्षणों में तीव्रता कालांश

| समय | प्रातःकाल | मध्याह्न | सायंकाल | रात्रिकाल |
|---|---|---|---|---|
| रुग्ण संख्या | ८ | १४ | ७ | ६ |

सारणी १४—जलौका प्रयोग संख्या (औसत)
[प्रति सप्ताह—एक बार]

| जलौका सं. (औसत) | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ७ से अधिक |
|---|---|---|---|---|---|---|
| रुग्ण संख्या | ४ | ९ | ११ | ६ | ४ | १ |

# विचर्चिका — एक समन्वयात्मक अध्ययन

डा० राजेश कोटेचा, अध्येता एम. डी. काय चिकित्सा विभाग
स्नातकोत्तर शिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान, गुज. आयु. युनि., जामनगर (गुजरात)।
डा० एम. एस. बघेल, व्याख्याता-काय चिकित्सा विभाग
स्नातकोत्तर शिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान, गुज आयु. युनि., जामनगर (गुजरात)।

अपने-अपने विभिन्न प्रकार के प्रादुर्भाव और विविध लक्षणों के कारण सभी त्वक् रोगों का पृथक वर्णन कठिन है, परन्तु उनका वर्गीकरण और पहचान दोष-दृष्टि के आधार पर हो सकती है। इसी को ध्यान में रखके आयुर्वेद में त्वक् रोगों का वर्णन कुष्ठ व्याधि शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है। यद्यपि क्षुद्र रोग और विसर्प की भी त्वक् रोगों में गणना हो सकती है, तथापि अधिकांश त्वचा के रोगों का समावेश कुष्ठ में हो जाता है। विचर्चिका भी अठारह प्रकार के कुष्ठों में से एक प्रकार का कुष्ठ रोग है, अर्थात विविध लक्षणों एवं प्रादुर्भाव वाला, परन्तु प्रत्यात्म लक्षण और दोष के आधार पर जिनकी पहचान हो सके ऐसा एक त्वक् रोग है।

**विचर्चिका—एक क्षुद्र कुष्ठ के रूप में—**

आयुर्वेद में क्षुद्र कुष्ठ और महाकुष्ठ के बीच कोई स्पष्ट भेद अंकित नहीं किया है। चरक ने तो निदान स्थान में क्षुद्र कुष्ठ का वर्णन आवश्यक नहीं समझा। चरक संहिता में स्पष्टीकरण करते हुए समझाया गया है कि तीनों दोष एवं त्वक्, मांस रक्त और लसिका ये चार दृष्य मिला के सप्त दृष्य का परस्पर प्रभाव और आपस में असंख्य प्रकार का संयोजन बन सकता है, तथा उस प्रकार अनेक प्रकार की कुष्ठ व्याधि होते हैं, तथापि मोटे तौर पर विभागीकरण करके सात प्रकार के कुष्ठ बताये हैं। (च. नि. ५/२)। इस प्रकार निदान स्थान में मोटे तौर पर त्वक् रोग के प्रकार दिये गये हैं, परन्तु जब कुष्ठ रोगों में संप्राप्ति घटकों के अल्प सम्मिलित होने से दोष-दृष्य संमूर्च्छना जब अपेक्षया कम प्रमाण में होती है, ऐसी स्थिति को दर्शाने के लिये पीछे से चिकित्सा स्थान में ११ प्रकार के क्षुद्र कुष्ठ का वर्णन किया गया है। (चक्रपाणि: च. नि. ५:४ पर)। उक्त विवरण के आधार पर स्वयं में दिया हुआ होने से उसमें महाकुष्ठों की अपेक्षा तीनों दोषों का प्रकोप और चार प्रकार के दृष्यों की दुष्टि कम हुई होती है। प्रत्यक्ष व्यवहार में भी विचर्चिका कभी मारक रूप धारण नहीं करता, परन्तु व्याधि का चिरकारित्व एवं कष्ट साध्यत्व हमेशा रुग्ण को मानसिक रूप से कष्टित करता रहता है।

**आयुर्वेद के आधार पर विचर्चिका का स्वरूप—**

सभी संहिताओं ने अन्य प्रकारों के बारे में भिन्न मत होते हुए भी विचर्चिका का समावेश एकमत से क्षुद्रकुष्ठ में किया है। विचर्चिका के शास्त्रीय लक्षण समुच्चय पर दृष्टिपात करने से यह बात ध्यान में आती है कि प्रायः सभी शास्त्रकारों ने विचर्चिका का अलग-अलग स्वरूप बताया है। प्रस्तुत विधान के समर्थन में विवरण रूप तथ्य निम्न है—

चरक संहिता अनुसार—

सकण्डूः पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका।
—च. चि. ७ : २६

अर्थात् कण्डू से युक्त, श्याववर्ण की बहुस्राव वाली पिडकाओं के मण्डलों को विचर्चिका कहते हैं। माधव निदान और भावप्रकाश ने भी चरक का अनुसरण किया है।

सुश्रुतसंहिता अनुसार—

राज्योऽति कण्डूवर्तिरुजः सरूक्षाभवन्ति गात्रेषु विचर्चिकायाम्।

कण्डूमती दाहरुजोपपन्नाविपादिका पादगतेयमेव॥
—सु. नि. ५/१२

अर्थात विचर्चिका रोग में हाथ पैरों में (बाह्य त्वचा) के फूटने से रेखायें उत्पन्न हो जाती हैं। अति कण्डू, पीड़ा एवं रूक्षता होती है। कण्डू, दाह और पीड़ा से युक्त जब यह पैरों में होती है तब उसे विपादिका

वाग्भट्ट अनुसार—
सकण्डू पिटिका श्यावा लसीकाढ्या विचर्चिका ।
— अ. ह. नि. २४/१८

वाग्भट्ट ने उक्त विवरण में चरक का अनुसरण करते हुए विशेष रूप में स्राव का स्वरूप लसीका जैसा बताया है ।

काश्यप अनुसार —
श्यामलोहित व्रणवेदनाराव पाकवती विचर्चिका ।
शूल के साथ श्यामलोहित वर्ण के व्रणवत् स्फोट को विचर्चिका कहते हैं ।

भोज के अनुसार—
दोषाः प्रदुष्य त्वक् मांस पाणिपादतलाश्रिताः ।
पिडका जनयन्त्याशु दाहकण्डू समन्तिताः ।।
दाल्यते त्वक् परा रुक्षा पाण्योर्ज्ञेया विचर्चिका ।
पादे विपादिका ज्ञेया स्थानान्यत्वादि विचर्चिका ।।
—सु. नि. ५/१६ पर डल्हण से उद्धृत

अर्थात् हाथ और पैर तल के त्वचा और मांस में आश्रित प्रदूषित दोष दाह और कण्डू के साथ पिडका उत्पन्न करके रूक्ष और खर हुई त्वचा का विदारण करते है । पैर में उत्पन्न ऐसी स्थिति को विपादिका तथा शेष शरीर में स्थित ऐसी व्याधि को विचर्चिका कहते हैं । डल्हण ने उक्त विवरण को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यद्यपि विचर्चिका और विपादिका में कोई भेद नहीं है, परन्तु कण्डू, रुजा एवं रौक्ष्ययुक्त विचर्चिका पैर में हो तो उसे विपादिका कहते हैं ।

विविध ग्रन्थो मे वर्णित विचर्चिका के उक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि अनेक प्रकार के लक्षणों का प्रादुर्भाव विचर्चिका मे होता है । कुछ विसंगति भी दिखाई देती है । उक्त लक्षणो को एक साथ संकलित करने का प्रयास यहा पर निम्न तालिका मे किया है । यहा साथ में तथाकथित लक्षणों में प्रत्येक के कारणभूत दोष भी दर्शाया गया है ।

विभिन्न ग्रन्थों मे वर्णित विचर्चिका के लक्षण :

| क्रम | दोषोल्वणता | लक्षण नाम | चरक | सुश्रुत | वाग्भट्ट | काश्यप | भोज |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १. | कफ | कण्डू | + | + | + | — | + |
| २. | कफ | पिडका | + | — | + | — | + |
| ३. | पित्त | बहुस्राव | + | — | + | + | — |
| ४. | वात | श्याव वर्णता | + | — | + | + | + |
| ५. | वातपित्त | श्यामलोहित वर्ण | — | — | — | + | — |
| ६ | वात | त्वक्रौक्ष्य | — | + | — | — | + |
| ७ | वात | रुजा | — | + | — | + | + |
| ८. | पित्त | दाह | — | + | — | — | + |
| ९. | कफ | लसिकावत् स्राव | — | — | + | — | — |
| १०. | वात | त्वक् विदार | — | + | — | — | + |
| ११. | पित्त | व्रणवत स्फोट | — | | | + | — |

तालिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि —
(१) तीनों दोषो के लक्षण विचर्चिका मे मिलते है ।
(२) चरक एवं वाग्भट्ट ने विचर्चिका को बहुस्रावी अर्थात् क्लेदयुक्त बताया है । (कफ बहुल)
(३) सुश्रुत और भोज ने विचर्चिका को रूक्ष बताया है ।

उक्त स्रावी और रूक्ष लक्षणों के बारे में यह स्पष्टीकरण कर सकते है कि जब कफ दोष का आधिक्य रहता है, तब क्लेदयुक्त और जब पित्त और वात का बाहुल्य होता है तब दाह और रूक्षतायुक्त विचर्चिका होती है ।

विचर्चिका के निदान, सम्प्राप्ति, पथ्यापथ्य आदि पृथक न देते हुए आयुर्वेद वाङ्मय ने कुष्ठ व्याधि के साथ ही दिया गया है ।

द्रष्टव्य :

एक्जिमा (Eczema) का आधुनिक विज्ञानोक्त वर्णन नीचे संक्षेप में दिया गया है। विचर्चिका और एक्जिमा की तुलना भी उसके पश्चात करने का प्रयत्न किया गया है। समग्रतया देखने से आश्चर्य के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि आज से सहस्रों वर्षों पूर्व आयुर्वेद का विकास कितने उच्च शिखरों तक पहुँचा था।

## विचर्चिका और एक्जिमा—

विचर्चिका तथा एक्जिमा के समन्वयात्मक पहलु दर्शाने से पूर्व आधुनिक मतानुसार एक्जिमा क्या है, वह संक्षेप में देखना चाहिए।

एक्जिमा (Eczema)—एक्जिमा और डर्मेटाईटीस (Dermatitis) शब्दों का परस्पर पर्याय के रूप में उपयोग किया जाता है। वह त्वक के असंसर्गज शोफ, विहार, स्राव और पिडिका से जाना जाता है। यह अनूर्जता से उत्पन्न विशेष प्रकार की एन्टीजन–एन्टीबोडी प्रतिक्रिया है।

## प्रकार—

इसके विविध प्रकार के वर्गीकरण किये गये हैं जैसे कि—

(अ) व्याधि प्रकृति अनुसार—स्रावी (wet), रूक्ष (dry)

(ब) व्याधि अवस्था अनुसार—उग्र (acute), मध्यम (sub-acute), जीर्ण (chronic)

(स) निदानानुसार—फोटो डर्मेटाईटीस, कोन्टेक्ट डर्मेटाईटीस, ईन्फटाईल डर्मेटाईटीस

(द) व्याधि के प्रमुख प्रत्यात्म लक्षणानुसार—पिडकायुक्त स्रावी, स्फोटयुक्त दि.

## व्याधि निदान—

यह व्याधि अनूर्जता (allergy) से उत्पन्न होती है। अनूर्जता बाह्य अथवा आभ्यन्तर कारणों से हो सकती है। तीसरा कारण त्वचा की उत्स्फूर्त संवेदनशीलता (hyper-sensitiveness) अथवा बढ़ी हुई ग्राहकता को गिना जाता है। सब व्याधि उत्पादक और कारण कारणों को ध्यान में रखकर निम्न रूप में एक्जिमा के निदान बता सकते हैं—

(१) भौतिक—रासायनिक या विद्युतकीय उत्तेजकों (irritants)।

(२) विविध वनस्पति, प्रसाधन, कपड़े और विशिष्ट व्यावसायिक स्थितिजन्य अनूर्जता।

(३) बाह्य और आभ्यन्तर जीवाणुजन्य कारण।

(४) मानसिक कारण मानसिक तनावयुक्त स्थिति

(५) अपोषणजन्य स्थिति।

(६) वातावरण—उष्णतामान

(७) कुलज प्रवृत्ति—

उक्त विविध कारण अकेले या परस्पर संयोग से एक या दूसरे प्रकार की एक्जिमा के निमित्त रूप होते हैं।

## व्याधि निश्चिति (Diagnosis)—

बाह्य रूप दर्शन से एक्जिमा का निदान आसान है। पिडका, स्फोट, शोथ, स्राव, श्याव वर्णता से एक्जिमा की निश्चिति की जाती है।

## व्याधि लक्षण के आधार पर विचर्चिका एवं एक्जिमा की तुलना

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में एक्जिमा और डर्मेटाईटीस को परस्पर पर्याय के रूप में दिया है। यह एक त्वचा का असंसर्गज शोफ है जिसको पिड़का शोथ एवं स्राव से पहचान सकते हैं। (भेल १६८२)

उक्त विवरण से ऐसा लगता है, जैसे विचर्चिका प्रकरण में वर्णित श्लोकों का एक्जिमा के विवरण में भावानुवाद कर दिया गया है।

## निदान के आधार पर एक्जिमा एवं विचर्चिका की तुलना—

आयुर्वेद में विचर्चिका की उत्पत्ति में कारणभूत निदानों को पृथक् न बताते हुए समग्र कुष्ठरोग के निदानों को संयुक्त रूप में बताया है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने एक्जिमा के निदानों के बारे में अनेक परिकल्पनाएं (Hypothesis) प्रस्तुत की है। उनके अनुसार यह व्याधि प्रधान रूप से अनूर्जताजन्य है। आयुर्वेद वर्णित कुष्ठ निदानों में असात्म्य आहार-विहार को कुष्ठकारक बताया है। —च.नि.५/२

विरुद्धाहार—असात्म्य आहार-विहार अनूर्जता को उत्पन्न करते हैं।

मूलोच्छेदन पूर्वक व्याधि निवृत्ति देखी गई है।

(२) आधुनिक चिकित्सोक्त स्टीरोईडस जैसे कई औषधों का शरीर के ऊपर हानिकारक प्रभाव होता है। जबकि आयुर्वेदीय औषध नितांत निरापद है।

(३) विशाल आयुर्वेदीय वाङ्मय में अकेले विचर्चिका के लिये भी अनेकों योगों द्वारा विभिन्न द्रव्यों से चिकित्सा का विकल्प दिया गया है जिनका आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में अभाव है। यथा--

चरक में अकेले विचर्चिकाहर सात प्रकार के लेप बताये हैं।

जिसमें विचर्चिका का समावेश होता है ऐसी कुष्ठ चिकित्सा का विशाल फलक सबको ज्ञात है ही।

विभिन्न शास्त्रों में विचर्चिका के उपाय के रूप में शोधन चिकित्सा एवं अनेक योगों के रूप में संशमन चिकित्सा दी गई है। विचर्चिका की चिकित्सा के परिप्रेक्ष्य में स्नातकोत्तर शिक्षण एवं अनुसन्धान संस्थान–जामनगर में कुछ योगों के ऊपर चिकित्सकीय परीक्षण किया गया है। संक्षेप में उनका विवरण निम्न है—

(१) गंधक द्रुति–वाह्य प्रयोगार्थ और उनके साथ आरोग्यवर्धिनी, शुद्ध गंधक, वंग भस्म, आभ्यंतर प्रयोगार्थ दिया गया। [के. पी. सींघ, १९६५]

(२) गंधक द्रुति एवं मरिचादि तैल वाह्य प्रयोगार्थ तथा उनके साथ आरोग्यवर्धिनी, शुद्ध गंधक वंग भस्म आभ्यंतर प्रयोगार्थ दिया गया।

[डी यु. पटेल, १९६९]

(३) निम्बादि क्वाथ - आभ्यंतर प्रयोगार्थ

[एम. केशवन् १९७८]

(४) चक्रमर्द बीज चूर्ण – वाह्य एवं आभ्यंतर प्रयोगार्थ [कु. एल. डी. शाह, १९७५ एवं ए. बी. जोनपे, १९७८]

(५) मरिच्यादि तैल – बाह्य प्रयोगार्थ एवं उनके साथ महामञ्जिष्ठादि क्वाथ आभ्यंतर प्रयोगार्थ।

[एस जी. भाडलिया, १९७९]

(६) जलौकावचरण एवं सिराव्यध दोनों में अपेक्षया सिराव्यध विचर्चिका के ऊपर अधिक फलप्रद है। [सी. बी. भूयन, १९८१]

(७) अन्य औषध प्रयोगों की अपेक्षा ओटो हीमोथेरेपी का प्रयोग विचर्चिका में लाभप्रद है ऐसा सिद्ध किया गया। [ए. आर. वैद्य, १९८४]

(८) रसकर्पूर वाह्य प्रतिसारण के रूप में अन्य कोई हानिकारक दुष्प्रभाव उत्पन्न किये बिना ही लाभप्रद है। [एच. वेरीस्वामी, १९८४]

(९) रससिंदूर को बनाने में लगते समय के आधार पर इस कूपीपक्व रसायन को बनाने के लिये जिसमें ज्यादा समय लिया गया, वह विचर्चिका एवं अन्य कुष्ठों पर अधिक लाभप्रद सिद्ध हुआ।

[कि. स्वयं प्रकाश, १९८६]

(१०) बाह्य प्रयोगार्थ तुत्थ चिचालेप (स्वामी आत्मदेवानंद जी वानप्रस्थ द्वारा बोधित अनुभूत योग) लेपनार्थ दो या तीन दिन लगाने के पश्चात निम्ब करवीर मलहर का प्रयोग एवं आभ्यंतर प्रयोगार्थ मञ्जिष्ठादि तालसिंदूर का प्रयोग किया गया। उक्त शमन चिकित्सा उपरांत कुछ अन्य रुग्णों को शोधन चिकित्सा के रूप में शास्त्रोक्त पद्धति से विरेचन कराया गया। दोनों प्रयोग यद्यपि विचर्चिका पर लाभप्रद हैं, लेकिन शोधन पूर्वक शमन प्रयोग अधिक लाभप्रद सिद्ध हुआ।

[मिश्रा एस. के., १९८८]

प्रस्तुत लेख में विचर्चिका और एक्जिमा के तुलनात्मक वर्णन के पश्चात निष्कर्ष प्राप्त होता है कि एक्जिमा रोग का सर्वतोभावेन विचर्चिका रोग में समावेश होता है। तथा वैज्ञानिक आधार पर विचर्चिका का एक्जिमा की अपेक्षा स्पष्ट एवं विशद वर्णन आयुर्वेद में उपलब्ध है। विभिन्न अनुसंधान कार्यों द्वारा प्राप्त परिणामों के आधार पर कुछ योग जो विचर्चिका की चिकित्सा में लाभप्रद है का भी वर्णन दिया गया है। परन्तु यह भी निष्कर्ष इन अनुसंधान कार्यों से ज्ञात होता है कि इस रोग में शोधन चिकित्सा का अत्यन्त महत्व है।

संदर्भ ग्रन्थ—

(१) अष्टांग हृदयम् : अरुणदत्त रचित सर्वाङ्ग सुन्दर व्याख्या एवं हेमाद्रि प्रणीत आयुर्वेद रसायन व्याख्या सहित : चौखम्भा ओरियन्टालिया सप्तमावृत्ति १९८२। — शेषांश पृष्ठ १९४ पर देखें।

रोग के कारण

(१) विचर्चिका मे औपसर्गिकता पाई जाती है। रोगी के सम्पर्क में आने से इस रोग के प्रसार में सहायता मिलती है।

(२) शुक्र-शोणित की विकृति से त्वक रोगों की उत्पत्ति होती है। जोकि जन्मबल प्रवृत्त मानी जाती है।

(३) जन्म बलप्रवृत्त व ऋतुकालिक विर्चचिका छोटे शिशुओं मे देखी जाती है। छोटे बच्चों के कपाल, कपोल, नासा, वर्त्म, मुख, वक्ष एवं हस्तपाद में विकृति होती है। उष्ण एवं शीत ऋतु में त्वचा मे उत्तेजना होकर लालिमा प्रारम्भ होकर पिडिका उत्पन्न होकर वे स्रावी होती हैं तथा बाद मे खुरण्ड बनते हैं जोकि आर्द्र एवं शुष्क अवस्था को पैदा करते है।

(४) व्यावसायिक मिलो मे काम करने वाले मैकेनिक, सीमेन्ट, लोहा, नमक, चीनी के कारखानों में काम करने वाले व्यक्तियो मे इस रोग का प्रसार विशेष रूप से मिलता है।

(५) संसर्गज, उपदश, दूषीविष, प्रकृति विरुद्ध औषध अन्नपान के सेवन से त्वक् रोगों का पुनर्भव देखा गया है।

(६) स्वेद ग्रन्थियों की क्रिया का अभाव, स्वेद के क्षय एव वृद्धि के कारण, त्वचा मे आर्द्रता का अभाव, त्वक् शुष्कता, त्वक् वैवर्ण्यता, त्वचा का पहले रक्तवर्ण का होना, बाद मे काला होना आदि लक्षणो का होना।

(७) इसके अतिरिक्त दूषित जल एवं मानसिक कारणों से भी यह रोग होते देखा गया है।

## दोष-दूष्य एवं अधिष्ठान—

शास्त्रकारों ने विर्चचिका आदि रोगों को त्रिदोषज माना है। किन्तु इसमें वात एवं कफ की प्रधानता देखी गई है। वातप्रधान विर्चचिका में रूक्षता, श्यावता, कण्डू, खरत्व, तोद एवं सकोच अधिक होता है। कफ प्रधान विर्चचिका में उत्सेध, गौरव स्नेहाधिक्य एवं पित्त की प्रधानता पर दाह, पाक परिस्राव एवं गन्ध होती है। त्वचा, लसीका, स्वेद ग्रन्थियां, रक्त एवं मांस इन रोगों के दूष्य हैं। दोष एवं दूष्यो की अवस्थानुसार विशेष प्रकार की विकृति एवं फंगस भाग लेते है। जिनमें निम्न मुख्य लक्षण प्राप्त होते हैं।

मुख्य लक्षण :—लालिमा, कण्डू अरुण एवं श्याम वर्ण की पिडिकाओं का बनना, स्राव, खुरण्ड पड़ना, त्वक् सकोच, दाह, वेदना, व्रणचिह्न या दाग बनना, आदि लक्षण अवस्थानुसार रोगियों मे देखने को मिलते हैं। अवस्था भेद से विचर्चिका (एक्जिमा) को दो भागों मे विभक्त किया गया है। प्रथमावस्था में त्वचा के विशेष भाग में कण्डू लालिमा एव पिडिकायें बनती हैं। त्वचा पर तेज खुजली होती है। द्वितीयावस्था में त्वचा मे विकृति दाह, कण्डू एव पूय पड़कर व्रण का स्वरूप बन जाता है।

| | विर्चचिका | विपादिका | चर्मदल |
|---|---|---|---|
| १. | सकण्डू पिडिकाश्यावा बहुस्रावा विर्चचिका | वैपादिके पाणिपाद स्फुटन तीव्रवेदनम्। | चर्मदल की उत्पत्ति प्रथम सूक्ष्म बिन्दु सदृश पिडिकाओं के रूप में होती है। |
| २. | यह घुटने से नीचे कुहनी तक हस्त-पाद एवं मुख पर होता है। | अधिकांश पांव की एड़ी, हाथो की अंगुलियों पर होता है। | कोहनी घुटनों के नीचे हाथ पैरों में अधिक। |
| ३. | वेदना कम होती है। | तीव्र वेदना होती है। | जलन होती है। |
| ४. | इसमें खुजली अधिक एवं पिडिकायें | खुजली कम, पिडिकायें नहीं होतीं। | खुजली अधिक। |
| ५. | किसी भी ऋतु में पाया जाता है। | अधिकतर शीत ऋतु में | वर्षा एवं ग्रीष्म ऋतु में अधिक। |
| ६. | पीप से परिस्रुत | इसमें नहीं। | त्वचा पर ताम्र वर्ण के धब्बे। |
| ७. | औपसर्गिक होता है। | नहीं। | संक्रमण से होता है। |

उपरोक्त काष्ठादि औषधि द्रव्यों के क्वाथ एवं घनसत्वों के परिणाम त्वक् रोगों में उत्साहजनक देखे गये हैं। हरिद्रा खण्ड का प्रयोग शीतपित्त एवं कोढ़, अपची में उत्साहजनक पाये गये हैं। गोमूत्र का बाह्य एवं आभ्यन्तरिक प्रयोग चर्मगत विकारों में अवस्थानुसार करने से लाभ देखा गया है। प्राय: गोमूत्र कफ प्रकृति के रोगियों में विशेष लाभ करता है।

चिकित्सा की दृष्टि से संशोधन एवं संशमन चिकित्सा, कषाय प्रधान औषध एवं आहार लाभदायक हैं। रोगी की प्रथमावस्था में पशद-गन्धक प्रलेप, तुत्थ-गन्धक प्रलेप एवं मरिच्यादि तैल का बाह्य प्रयोग लाभ करता है। आभ्यन्तर प्रयोग में मञ्जिष्ठाघनसार एवं क्वाथ का प्रयोग कारगर है। रोग की उग्रावस्था में निम्बादि तैल, पंचनिम्ब चूर्ण तथा कैशोर गुग्गुलु, कांचनार गुग्गुलु, आरोग्यवर्धिनी, रसमाणिक्य, शुद्ध गन्धक, गोमूत्र, निम्ब साधित अन्नपान लाभ करता है। सारिवादि घन वटी एवं सारिवाद्यासव, खदिरारिष्ट, बाकुची तैल, तुवरक तैल अवस्थानुसार लाभ करता है।

भोजन में लघु अन्न आहार विशेष लाभ करता है। निम्बादि तैल पामा, चर्मदल, एक्जीमा आदि त्वक् विकारों में लाभप्रद है। लवण एवं मधुर वर्जित है।

---

विचर्चिका—एक समन्वयात्मक अध्ययन :: पृष्ठ १६० का शेषांश

(२) अतुल डाकर : विभिन्न माध्यम से निर्मित कम्पिल्लक मलहर एवं चूर्ण का त्वक विकारों में बाह्य एवं आभ्यंतर परीक्षणात्मक अध्ययन : एम डी (आयु.) महानिबंध, स्नातकोत्तर शिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान, जामनगर १९८५।

(३) ओलीवर एस. ओर्मस्ली और हेमिल्टन मोन्टगोमरी डीसीर्ज़ज ओफ द स्किन : ली एण्ड फेबीजर पब्लीकेशन्स फिलाडेल्फिया अष्टमावृत्ति १९५५।

(४) काश्यप संहिता : विद्योतिनी हिन्दी टीका एवं पण्डित हेमराज शर्मा के उपोद्‌घात समेत, काशी संस्कृत सीरीज : १५४ : चौखम्बा संस्कृत सीरीज ओफिस १९५३।

(५) जोर्डन डी. सावर : मेन्युअल ओफ स्कीन डीसीजीज : जे. बी. लीपीनकोट कुं. फिलाडेल्फीया। चतुर्थावृत्ति : १९८०।

(६) चरक संहिता : चक्रपाणिकृत टीका समेत एवं यादव जी त्रिकम जी आचार्य संपादित निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई।

(७) भेल : प्रेक्टीस ओफ डर्मेटोलोजी, एलाइड बुक एजेन्सी कलकत्ता १९८२।

(८) वर्टन जे. एल. : एसेन्सियल्स ओफ डर्मेटोलोजी, चर्चिल लीवींग्स्टोन, एडीनबर्ग : १९८५।

(९) भावप्रकाश : विद्योतिनी हिन्दी टीका समेत; काशी संस्कृत सीरीज, १३० : चौखम्बा संस्कृत सीरीज ओफीस, १९४९।

(१०) माधव निदान : मधुकोष एवं विद्योतिनी टीका समेत : चौखम्बा संस्कृत सीरीज ओफिस वाराणसी।

(११) शर्मा सतीश : ए स्टडी ओन सिलेक्टेड हेविंग ओक्युपेशनल इटीयोलोजी एण्ड प्रिन्सीपल्स ओफ इट्स मेनेजमेन्ट बाय आयुर्वेदिक मिक्षर्स एम. डी. (आयु.) थीसिस जामनगर, १९८७।

(१२) सोमेन्द्र के. मिश्रा : ए क्लिनीकल स्टडी ओन दी रोल ओफ शोधन थेरेपी इन दी मेनेजमेन्ट ओफ विचर्चिका : एम. डी. (आयु) थीसिस, स्नातकोत्तर शिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान, जामनगर १९८८।

(१३) सुश्रुत संहिता : डल्हणाचार्य विरचित निबंध संग्रह व्याख्या एवं निदान स्थानं गयदास कृत न्यायचन्द्रिका टीका समेत, यादव जी त्रिकम जी आचार्य संपादित चौखम्बा ओरियन्तालिया, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण १९८०।

(१४) एच. वेरीस्वामी : दी प्रिपरेशन ओफ रसकर्पूर एण्ड इटस एफिकसी इन स्किन डिस्ओर्डर्स विद् स्पेशल रेफरन्स टु विचर्चिका : एम. डी (आयु) थीसिस, स्नातकोत्तर शिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान, जामनगर १९८९।

सोरियासिस के परिप्रेक्ष्य में —

# एक कुष्ठ

डा० अशोककुमार अवस्थी बी.एस् सी., बी.ए.एम.एस. (लखनऊ)
एम डी. (आयु०) अध्येता
रोग एवं विकृति विज्ञान विभाग,
राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर।
निवास–शंकर क्लिनिक शंकर नगर पुलिया, जयपुर–३०२००२।

आयुर्वेद वांगमय में व्यापक दृष्टिकोण से प्रायः समस्त त्वक् विकारों को कुष्ठ में समाहित कर वर्णन किया गया है। इसीलिए महर्षि सुश्रुत ने कुष्ठ के लिए त्वगामय संज्ञा भी निर्दिष्ट की है। इसी तथ्य को कुष्ठ की निम्न निरुक्ति में भी उल्लिखित किया गया है—

१. कुष्णाति वपुः इति कुष्ठम्।

२. त्वचः कुर्वन्ति वैवर्ण्यं दुष्टाः कुष्ठमुशन्ति तत्।
कालेनोपेक्षितं यस्मात्सर्वं कुष्णाति तद्वपुः॥
मा. नि. १४

कुष्ठ रोग को महागद, औपसर्गिक रोग एवं रक्तज विकार भी कहा गया है। यद्यपि कुष्ठ के अनन्त भेदों की कल्पना की गयी है (च. नि. ५/४)। परन्तु कुष्ठ भेदों को एक निश्चित संख्या में सीमित करते हुये— सप्तमहा कुष्ठों एवं एकादश क्षुद्र कुष्ठों (अष्टादश कुष्ठ भेद) का भी निर्देश किया गया है—

अत ऊर्ध्वमष्टादशानां कुष्ठानां कपालोदुम्बरमण्डलर्ष्यजिह्व पुण्डरीकसिध्मकाकणकैककुष्ठ चर्माख्य किटिभ विपादिकालसक दद्रु, चर्मदल पामाविस्फोटक शतारु विचर्चिकानां लक्षणान्युपदेक्ष्यामः॥

— च. चि. ७/१३

उपर्युक्त कुष्ठ भेदों में वर्गीकरण का आधार दोषांश विकल्पविभाग, वेदना वर्ण संस्थान प्रभाव, धातुगतता, दीर्घ कालानुबन्धित्व, चिकित्सा की दुष्करता आदि है।

उपर्युक्त कुष्ठ भेदों के क्षुद्र कुष्ठों के भेदों में से प्रथम भेद—'एक कुष्ठ' का वर्णन करते हुए आचार्य चरक ने लिखा है—

अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्स्यशकलोपमम्।
तदेककुष्ठं ..... ॥ च. चि. ७/२१

अर्थात् 'एक कुष्ठ' एक विशेष प्रकार का कुष्ठ (त्वगामय) है, जो—

(१) बहुत बड़े स्थान में होता है।

(२) स्वेद रहित होता है।

(३) मत्स्य शकल (मछली की शल्क) के समान होता है।

यहां पर यह भी ज्ञातव्य है कि आधुनिक चिकित्साविदों द्वारा सोरियासिस नाम से कथित एक त्वगामय (त्वक् रोग) है, जिसमें त्वक् पे उत्पन्न विकृति परक रक्ताभ मस्से (Papules), पीत, शुष्क, चमकदार शल्कों से अव्यभिचारी रूप से ढके रहते हैं। इन शल्कों को बलपूर्वक हटाने से रक्तस्राव होना, रोग का दीर्घकाली, पुनरावर्तक एवं कष्टसाध्य होना भी सोरियासिस का प्रधान लक्षण होता है। ये शल्क (Scales) मत्स्य शल्कवत् ही दिखाई पड़ते हैं।

सोरियासिस नामक यह त्वक् रोग 'एक कुष्ठ' सदृश से इतना अधिक मिलता है कि सोरियासिस एवं कुष्ठ को लगभग एक ही रोग कह सकते हैं। यद्यपि सोरियासिस को कुछ विद्वान कुष्ठ भेदों यथा—किटिभ, चर्मदल आदि में भी गृहीत करते हैं।

## निदान —

आधुनिक विज्ञान में सोरियासिस का उत्पादक हेतु अभी अज्ञात है, यद्यपि वैज्ञानिक इसमें आनुवंशिकता

की कल्पना करते हैं। सोरियासिस स्त्री और पुरुषों में समान रूप से पाया जाता है। रोगी की वय कुछ माह से लेकर ७० वर्ष तक हो सकती है। लगभग ०.२५ से १.५ प्रतिशत मानव जाति सोरियासिस से पीड़ित है। सोरियासिस कृष्ण वर्णी मानवों में कम पाया जाता है। पश्चिमी योरोप में अधिक पाया जाता है। तीव्र मानसिक तनाव से लगभग ४०% रोगियों में रोग की वृद्धि होते देखी गयी है। ३०% रोगियों में शोक के कारण सोरियासिस अधिक भयंकर हो जाता है।

आयुर्वेद में एक कुष्ठ के निदान प्रसंग में कुष्ठ के सामान्य निदानों का ग्रहण करना ही समीचीन होगा। वे निदान प्रधानत: मिथ्या आहार विहार, विरुद्ध आहार-विहार एवं अधार्मिक कृत्यों या पापकर्मों में समाविष्ट किये जा सकते हैं। वे निदान हैं -

(१) आहारज निदान -

१. शीत-उष्ण, संतर्पण-अपतर्पण, गुरु-लघु आदि द्वन्द्वज गुण युक्त द्रव्यों का व्यतिक्रम अर्थात् बिना क्रम एक के बाद दूसरे का सेवन।

२. मत्स्य, मूली, लवण, मधु, फाणित का बार-बार अधिक मात्रा में सेवन।

३. परस्पर विरोधी द्रव्यों यथा—चिलचिम नामक मत्स्य का दुग्ध के साथ सेवन, हायनक, यवक, चीनक, उद्दालक आदि अन्नों को दुग्ध, दधि, छाछ, कुलत्थ, माष, अतसी, एरण्ड, कुसुम्भ तैल के साथ सेवन।

(२) विहारज-निदान—

१. भोजनोपरांत व्यायाम या आतप सेवन।

२. दिवास्वाप

३. भय, श्रम, सन्ताप पीड़ित व्यक्ति द्वारा सहसा शीतल जल में स्नान।

४. तृप्तिपूर्वक भोजन करने के बाद मैथुन, व्यायाम तथा आतप सेवन।

५. स्नेहपान तथा वमन के बाद व्यायाम।

६. दूषित स्त्री से सम्पर्क। ७. छर्दि निग्रहण।

(३) पापकर्म—

ब्राह्मण तथा गुरुजनों का अपमान, साधुओं की निन्दा, हवन-सामग्री का भक्षण, इस या पूर्व जन्म में कृत पापकर्म।

(४) चिकित्सा विभ्रम—

१. पञ्चकर्म ठीक से न करना।

२. अन्य चिकित्सा विभ्रम या चिकित्सा जन्य दुष्परिणाम।

(५) कृमि-उपसर्ग

१. कुष्ठ की उत्पत्ति में रक्तज-कृमि को कारण माना गया है (अ. हृ. नि. १४/४२)।

२. उपसर्गज रोगों में कुष्ठ की भी गणना की गई है—

प्रसंगाद् ··· ·· ···संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥

- सु. नि. ५/३३-३४

(६) वंश-परम्परा —

कुष्ठ वंश-परम्परागत रोगों में से एक है। ऐसा उल्लेख आयुर्वेद शास्त्र में भी मिलता है —

दम्पत्योः कुष्ठबाहुल्याद् दुष्ट शोणित शुक्रयोः।
तदपत्यं तयोर्जातं ज्ञेयं तदपि कुष्ठितम् ॥

—सु. नि. ५/२७

(७) मानसिक हेतु—

मानसिक तनाव, चिन्ता, क्रोध, भय, शोक आदि मनोभावों से रोग-वृद्धि प्रत्यक्षत: देखी जाती है।

सम्प्राप्ति—

१. सामान्य सम्प्राप्ति—एक कुष्ठ की आयुर्वेदोक्त सामान्य सम्प्राप्ति को निम्न रूप से समझ सकते हैं—

निदान सेवन

↓

त्रिदोष-प्रकोप

↓

त्रिदोष द्वारा प्रसरावस्था में त्वक्, लसीका, रक्त तथा मांस को शिथिल करना

↓

स्थान संश्रयावस्था में त्वक् में स्थान संश्रय एवं त्वक्-दुष्टि

↓

उत्तरोत्तर क्रमशः अन्य धातुओं रक्त, मांस, लसीका की दुष्टि

↓

'एक कुष्ठ' की व्यक्ति
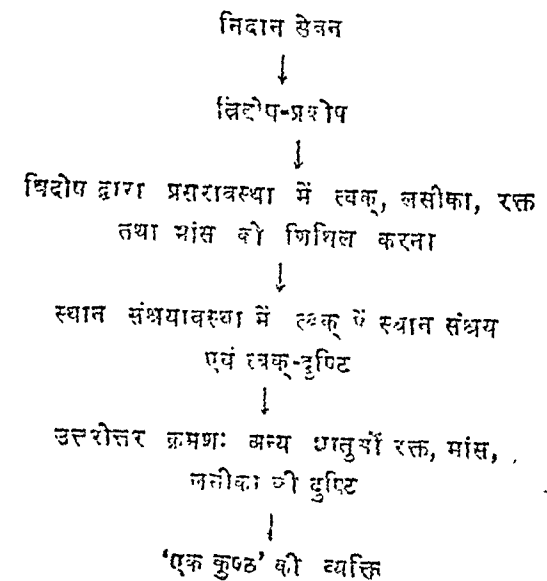
श्वेत चांदी के समान, अनियमित आकार के पिडिका (Lesion) के रूप में मिलता है। इसके खुजलाने पर मत्स्य के समान शल्क भी बार बार निकलता है। शल्क सूखे, चमकीले एव श्वेत होते है। यह प्रायः सिर पर प्रारम्भ होते हैं और हथेली, तलवों, कुहनी एव घुटनों के प्रसारयुक्त सतह, कक्षा, मुख, पृष्ठ, गुह्य अङ्गो, नितम्ब पर भी दिखाई पड़ते हैं। सोरियासिस का पुनरावर्तन एवं चिरकालीन होना भी एक प्रमुख लक्षण है। सोरियासिस के त्वक् विकार में शल्क हटाने पर (बलपूर्वक, रक्तस्राव होना (Pinpoint-Bleeding) भी एक प्रधान लक्षण है। इसे आस्पिटज का चिन्ह (Auspitz Sign) कहते हैं। रोग से प्रभावित विशिष्ट शारीरिक अवयव या विभाग के अनुसार भी कुछ लक्षण वैशिष्टय मिलता है, यथा—

[१] त्वक् या सन्धियों पर सुस्पष्ट किनारो से युक्त दाग युक्त चकत्ते (eryt ma) के रूप में होने पर इरिथ्रोडर्मिस सोरियासिस कहते है।

[२] पूययुक्त पिडिका के रूप में हस्त, पाद या सर्व शरीर की त्वक् पर रोग व्याप्ति होने पर पूय युक्त सोरियासिस कहते हैं।

[३] शिश्नाग्र पर रोग व्याप्ति श्वेत शल्क रूप में या अरुणाभ मंण्डल के रूप मे होती है।

[४] नख में रोग व्याप्ति होने पर नख के ऊपर गड्ढा जैसा हो जाता है, नख टूट भी सकता है।

[५] सिर की सोरियासिस में रोग व्याप्ति Papular Patch के रूप में होती है। कभी-कभी रोग व्याप्ति अग्रकेशरेखा या सिर के पश्च भाग में बड़े मण्डल के रूप में भी हो सकती है।

[६] चेहरे पर सोरियासिस मुख्यतः गटेट प्रकार की रोग व्याप्ति के रूप में होती है।

[७] हथेली और तलवों पर रोग व्याप्ति बिखरे हुए रक्ताभ मण्डल, शुष्क, श्वेत शल्क या परिवृत्त युक्त त्वक् मण्डल रूप में होती है। कभी कभी हथेली या तलवे के मध्य में पूय पिटिका भी पाई जा सकती हैं।

[८] कभी कभी रोग व्याप्ति मुख, जिह्वा, ओष्ठ आदि की श्लैष्मल-कला पर भी देखी जाती है।

[९] प्रौढ़ रोगियों में रोग व्याप्ति सन्धियों पर होने पर सोरियासिक आर्थोपैथी उत्पन्न करती है।

चिकित्सा

एक कुष्ठ (या सोरियासिस) भी अन्य कुष्ठ भेदों के समान त्रिदोषज रोग ही है। यह वात कफोल्वण होता है। इसमें दोषों की अंशांश कल्पना कर प्रथम उल्वण दोष की, फिर अनुबन्ध दोष की चिकित्सा करायें।

एक कुष्ठ मे संशोधन चिकित्सा लाभप्रद है, परन्तु संशोधन रोगी के बल प्रमाण के अनुसार ही करायें।

रोगी को सर्वप्रथम कुष्ठघ्न औषधियों से सिद्ध घृत यथा पंचतिक्त घृत या महातिक्त घृत का पान कराना चाहिये। सम्यक् स्नेहन के पश्चात् मदनफल चूर्ण, इन्द्रयव चूर्ण एव मधुयष्टी के कल्क का रोगी को सेवन कराकर वमन कराना चाहिये। वमनोपरांत त्रिफला चूर्ण आदि विरेचक द्रव्यों से रोगी का सम्यक् विरेचन करायें।

दोषों की धातुओं मे प्रवेश्यता के आधार पर भी चिकित्सा क्रम का निर्धारण किया जा सकता है, जैसे दोष त्वग्गत होने पर शोधन और लेपन, रक्तगत होने पर संशोधन, रक्तमोक्षण, भल्लातक, शिलाजतु, खदिर आदि किसी का चिरकाल तक सेवन करायें।

संशमन चिकित्सा के अन्तर्गत महापंचनिम्बादि, सोमराजी चूर्ण, अमृता गुग्गुलु, आरोग्यवर्धिनी बटी, वृ. हरिद्रा खण्ड, महातिक्त घृत, पंचतिक्त घृत, वंग भस्म, ताम्र भस्म, रसमाणिक्य रस, उदयभास्कर रस, अमृता सत्व मञ्जिष्ठादि क्वाथ खदिर क्वाथ, सारिवाद्यासव, खदिरारिष्ट आदि योगों का आभ्यन्तर प्रयोग तथा मनःशिलादि लेप, चक्रमर्द बीजादि तैल, तुवरक आदि का बाह्य प्रयोग एक कुष्ठ में लाभकारी होता है।

एक कुष्ठ (सोरियासिस) की चिकित्सा में निम्न चिकित्सा व्यवस्था अति लाभप्रद पाई गई है—

[१] रसमाणिक्य रस २ ग्रेन., अमृता सत्व ५ ग्रेन. । १×३ मात्रा।

[२] वृ. पंचनिम्बादि चूर्ण— १ग्रा.×२ मात्रा।

[३] आरोग्यवर्धिनी वटी— २ वटी×२ मात्रा।

[४] महातिक्त घृत ३ ग्रा.×२ मात्रा।

[५] खदिरारिष्ट २० मिली. अश्वगन्धारिष्ट १० मिली। १×२ मात्रा समभाग जल से।

*

# दद्रु — प्रचलित त्वचा रोग

वैद्य अशोक भाई हलाणिया भारद्वाज आयुर्वेदाचार्य बी.ए.एम.एस.
आयु. मार्तण्ड आचार्य [illegible] चिकित्सा [illegible] ।
विशेष सम्पादक- धन्वन्तरि हृदय रोग चिकित्सा
,, धन्वन्तरि मूत्र निदान चिकित्सा
,, धन्वन्तरि आयु० गुप्त रहस्यांक
परामर्शदाता एवं सम्पादक सदस्य- वेदान्त ज्योति
भारद्वाज औषधालय, स्वामीनारायण मन्दिर, सावरकुण्डला (भावनगर) गुज०

## निदान—

उष्ण, गुरु, मधुर भोजन अधिक करने से, तैलयुक्त तले हुए पदार्थ अधिक लेने से, लवण रस अधिक लेने से, स्नान नहीं करने से, गन्दे और मैलयुक्त कपड़े पहनने से, त्वचा रोग वालों से स्पर्श हो जाने से, अत्यधिक स्वेद होने से, विदग्ध हो जाने से, शीत प्रदेश में रहने से वर्षा ऋतु से, दिवास्वाप से, रात्रि जागरण करने से, मिर्च-मसालेदार आहार लेने से, फ्रिज में रखे हुए पदार्थ खाने से, एयर कण्डीशन में रहने से, गुरु माता-पिता तथा पण्डितों को दुःख देने से, पापकर्म करने से, तथा श्वास रोग, अम्लपित्त एवं प्रतिश्याय आदि रोग के उपद्रव स्वरूप दद्रु रोग हो जाता है ।

## सम्प्राप्ति घटक—

नाम—दद्रु । लोक बोली- दाद, दाधर । अंग्रेज नाम- रिंग-वर्म ।

दोष—कफ, पित्त, वात ।

दूष्य—रक्त, मांस, लसिका ।

स्रोतस—रक्तवह, मांसवह स्रोतस ।

स्रोतस दुष्टि—संग । स्थान—त्वचा ।

व्यक्ति त्वचा । मार्ग—बाह्य रोग मार्ग ।

उपरोक्त सभी कारणों से वात, पित्त एवं कफ ये तीनों दोष कुपित होकर त्वचा रक्त, मांस और शरीरस्थ लसीका धातुओं को दूषित कर सात महाकुष्ठ और ग्यारह लघु कुष्ठों को उत्पन्न कर देते हैं । उसमें दाद (दद्रु) भी एक है ।

## लक्षण—

सकण्डूरागपिडकं दद्रुमण्डलमुद्गतम् ।

अर्थात् खुजली सहित रक्त वर्ण की पिडिकाओं से युक्त उभरे हुए मण्डल को दद्रु कहते हैं ।

दीर्घप्रतानो दूर्वावदतसीकुसुमच्छविः ।
उत्सन्नमण्डला दद्रुः कण्डूमत्यनुषङ्गिणी ॥

अर्थात् दद्रु की जड़ें दूब घास के समान लम्बी होती हैं । वर्ण अलसी पुष्प के समान होता है, चकत्ते उभरे हुए होते हैं, कण्डू अर्थात् खाज होती रहती है, तथा जीवन भर चली रहती है अथवा बीच बीच में शांत होकर पुनः होती रहती है ।

प्रायः दाद वर्षा ऋतु में अधिक लोगों को होती है। अन्य ऋतुओं में भी कई लोगों में देखी गई है । यह रोग कटि प्रदेश, गुप्तांग, गाल, उदर प्रदेश इत्यादि में विशेष रूप से देखा गया है । कभी कभी सम्पूर्ण शरीर में कहीं भी हो जाता है ।

## प्रकार—

विशेषतः पित्तजनित और कफ जनित दाद होती है । सूखा दाद और गीली दाद भी होता है ।

व्यवहार में ऐसा देखा गया है कि दाद बार बार होती है, खुजली अधिक आती है और दाह भी होता है । कष्टता से यह रोग मिटता है । अत्यधिक पुरानी दाद को मिटाने के लिए अधिक समय लग जाता है ।

## चिकित्सा

कुष्ठ रोगाधिकार में कुष्ठ रोग की विस्तृत चिकित्सा लिखी है, जिसमें संशोधन (पंचकर्म) चिकित्सा का महत्व बताया है । लेकिन व्यवहार में सभी लोग संशोधन हेतु तैयार नहीं होते हैं अतः शमन चिकित्सा पर जोर देना पड़ता है ।

[illegible] — दद्रु [illegible]

को दूर करना जरूरी है। पथ्य एवं सात्म्य आहार-विहार का सेवन करना जरूरी है।

आभ्यन्तर औषध योजना (स्वानुभूत)—

१. आरोग्यवर्धनी रस, वंग भस्म २-२ रत्ती, त्रिफला चूर्ण, मंजिष्ठादि चूर्ण १-१ माशा, गन्धक रसायन २ रत्ती। मात्रावत् पुड़िया बनाकर १-१ पुड़िया तीन बार शहद से दें।

२. किशोर गुग्गुलु—२ गोली तीन बार जल से।

३. महामंजिष्ठादि काढ़ा—२ चम्मच तीन बार जल से।

४. वाह्योपचार—१ महामरिच्यादि तैल—मालिश हेतु।

२. गन्धक मलहम—लगाने हेतु।

३ वरंजादि मलहम—लगाने हेतु।

शास्त्रीय प्रयोग—

१. चकवड (चक्रमर्द) के बीज को छाछ (तक्र) में घोटकर लेप तैयार करें। यह लेप दाद पर लगावें।

२. नीम बीज मज्जा तथा एरण्ड बीज मज्जा को नीम तेल मे घोटकर लेप तैयार कर दाद पर लगावें।

३ सिर्फ नीम तेल से मालिश करें।

४ अर्क तेल लगावें।

५. कच्छु राक्षस तेल से मालिश करें।

इसके अलावा कांचनार गुग्गुल, चन्द्रप्रभा वटी, त्रिफला गुग्गुलु, मंजिष्ठादि घन वटी, चोपचीन्यादि चूर्ण, सारिवाद्यारिष्ट, तालकेश्वर रस, त्रिवंग भस्म इत्यादि औषधियां दोष भेदानुसार उपयुक्त होती हैं।

—※—

## ※ दद्रु पर उपयोगी मलहम ※

[ दाद, खाज, खुजली, फुंसी रोगाधिकार ]

घटक—राल, गन्धक, नीला थोथा, कपूर, सफेद कत्था, मोम सफेद प्रत्येक १०-१० ग्राम। सरसों का तेल ५० ग्राम। नीम के पत्तों को पीसकर टिकिया बनाना २ इन्च के आकार के बराबर। एक सूत मोटी।

प्रथम कलईदार बर्तन में सरसों के तेल में चार गुना पानी (२०० ग्राम) मिलाकर उक्त नीम की टिकिया को तेल में डालकर मन्द-मन्द आंच पर उबालें। तेल मात्र शेष रह जाय, नीम की टिकिया को तेल में से निकाल कर साफ कपड़े में लेकर उसे और निचोड लिया जावे ताकि उसका तेल भी निकल जावे। पश्चात् प्रथम कपूर को बारीक करके तेल में मिला लें। अगर बराबर नही मिले तो तेल को अग्नि पर चढ़ा दें, घुल जावेगा। नीचे उतार लें। उसके बाद सफेद मोम के अलावा सभी औषधियों को पूर्व मे जोकि बारीक कूट पीसकर कपड़छन की हुई हों, मिला दे। फिर सबके बाद में सफेद मोम को मिलावें और अग्नि पर रखें, कुछ आंच लगावें, उसको थोड़ा-२ किसी से हिलाते रहें, उसमे उफान आवेगा इसलिये सचेत रहें, कि बर्तन से मलहम बाहर न निकल जावे। प्रथम उफान आने पर उस बर्तन को अग्नि पर से उतार लें। उफान शांत होने पर पुनः दूसरा उफान आने तक अग्नि पर रखें। दूसरा उफान आने के बाद उसे अग्नि से उतार कर शांत होने दें। बस मलहम काले भूरे रंग का तैयार होगा या। बाद मे जिस चौड़े मुंह की शीशी में उसे भरकर रखना हो उसमें भर कर रख दें। ठण्डा होने पर जम जावेगा। शीशी का ढक्कन ठण्डा होने पर लगावें।

गुण—यह मलहम सभी प्रकार के दाद, खाज, खुजली (सूखी, गीली), बच्चों के सिर पर फोड़ा-फुन्सी को चन्द रोज में चमत्कार के साथ ठीक करता है। यह मलहम मेरा कई बार का परीक्षित है।

हर गृहस्थ में इस मलहम को बनाकर घर में रखना चाहिये अति उत्तम है।

नोट—नीला थोथा पकाकर (भस्म करके) या कच्चा ही जैसा उचित समझें डालें। मैं कच्चा ही डालता हूं।

—श्री भवानीराम प्रजापति आयु० विशारद,
झालरापाटन सिटी—३२६०२३ (झालावाड़) राज०

# दद्रु में मेरे चिकित्सानुभव

वैद्य बनवारी लाल आयुर्वेद भिषक्,
अशोक-भैषज्य भवन, फतेहगढ़ (उ० प्र०)

—:०:—
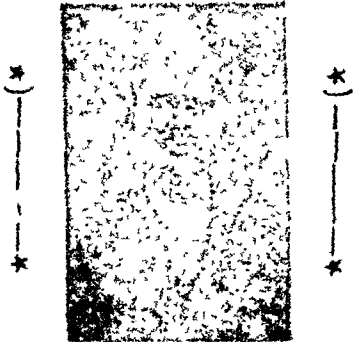
दद्रु मण्डल, कुष्ठ या दाद के लक्षण—

सकण्डु राग पिटिकं दद्रु मण्डलमुद्गतम् ।

—योग रत्नाकर कुष्ठाधिकार

अर्थात् खुजली से युक्त रंग वाली पिटिकायें ऊपर की त्वचा में निकली हुई मण्डल बनायें उसे दद्रु मण्डल कुष्ठ या दाद कहते हैं ।

जब तक कोई व्यक्ति दाद से सुरक्षित रहता यानी उसको दाद नहीं होता तब तक ठीक है । परन्तु जब एक बार दाद हो जाता है तो जल्दी ठीक नहीं होता है । जाड़े के दिनों में और गर्मियों में प्रायः दाद अपने आप ठीक हो जाता है । परन्तु बरसात में फिर उभर आता है और कष्ट पहुँचाता है ।

चिकित्सा –

(१) संखिया १ तोला, मदार का दूध ५ तोला, गोमूत्र १० तोला लेकर पहले संखिया मदार दुग्ध में इस प्रकार खरल करें कि दूध उसमें बिल्कुल मिल जाय । फिर गौमूत्र मिलाकर घोट लें । दाद साबुन से धोकर सुखा लें फिर सलाई से दवा लगायें । इससे १०-१२ साल पुराना दाद २-४ दिन में दूर हो जाता है ।

(२) पारा, गन्धक, रसौत, मुर्दासंग, बावची सुहागा, शिगरफ, नीला थोथा समान भाग लेकर एक दिन सत्यानाशी स्वरस में, दूसरे दिन [illegible] के स्वरस में [illegible] में । गोली घिसकर दाद पर लगायें तो दाद, पामा, छाजन, विपर्चिका ठीक होगा ।

(३) नौनिया गन्धक, पारा, राल, तूतिया, मिर्च काली १-१ तोला, आमा हल्दी, मोम ५-५ तोला, सुहागा नौसादर, कपूर ६-६ माशा, हरताल तबकी, मनशिल, शिगरफ (हिंगुल), रस कपूर ३-३ माशा, तिली का तेल २० तोला लेकर पारा, गन्धक को घोटकर कज्जली बना लें । तेल तथा मोम को छोड़कर शेष का कपड़छन चूर्ण बना लें । फिर तेल को आग पर गर्म करें और उसमें मोम डाल दें । जब मोम गल जाय तो उसमें कज्जली व सब पदार्थों का चूर्ण मिला दें । बस दाद, खाज, छाजन नामक मरहम तैयार हो गया । इसको लगाने से दाद-खाज, छाजन जड़ से नष्ट हो जाता है ।

(४) तूतिया, गन्धक, सोहागा समान भाग लें । कपड़छन चूर्ण बना घी में मिलाकर लगाने से दाद बहुत जल्द ठीक हो जाता है ।

(५) रस कपूर व तूतिया समान भाग लें । मिट्टी के तेल में मिलाकर लगाने से पुराना दाद ठीक हो जाता है ।

(६) फिटकरी, मैनसिल, तूतिया, जंगार प्रत्येक वस्तु १-१ भाग लेकर वैसलीन ६ भाग में मिलाकर लगाने से पुराने से पुराना दाद, छाजन, खाज-खुजली, पामा ठीक हो जाती है ।

(७) एसिटिक एसिड में बत्तीसवाँ भाग फिटकरी मिला दाद को खुजलाकर रुई से लगा दें । १०-१५ मिनट तक जलन रहेगी परन्तु दाद जड़ से नष्ट हो जायेगा ।

(८) पारा, गन्धक, नौसादर, सुहागा की खील, रसौत, काली मिर्च, कपूर समान भाग लें । कपड़छन चूर्ण कर २१ बार धुले घी में मिला लगायें । दाद, खाज, पामा, कण्डु नष्ट होगी । ।

(९) कार्बोलिक एसिड १ भाग, ग्लिसरीन ५ भाग मिलाकर लगाने से दाद, छाजन, खाज, खुजली नष्ट होती है ।

(१०) टिंचर आयोडीन लगाने से दाद, छाजन ठीक हो जाता है ।

(११) गन्धक, मैनसिल, हरताल, तूतिया, मुर्दासंग [illegible] तोला, कपूर ६ माशा, सिन्दूर सुहागा १-१ [illegible]

लगाने से यह दाद, छाजन को नष्ट करने में चमत्कारी लाभ करता है ।

(१२) तूतिया, चौकिया सुहागा, गन्धक, कलमी शोरा, हरताल तबकी, कज्जली समभाग लें। इसे पानी में घिसकर लगायें । इससे भयंकर से भयंकर दाद मिट जाता है ।

(१४) रस कपूर, कपूर, इवीला, काली मिर्च, मुर्दाशंख, तूतिया, वत्सनाभ, मैनसिल, हरताल तबकी, पारा, मोम देशी १-१ तोला घी १६ तोला, गन्धक नैनिया २ तोला । निर्माण विधि– प्रथम पारा, गन्धक की कज्जली बनायें। फिर घी मोम आग पर पिघला कर उसमें कज्जली व शेष द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण मिला मलहम बना दाद, छाजन, खाज पर लगायें तो ये रोग जड़ से नष्ट हो जाते हैं ।

(१५) सुहागा, गन्धक नैनिया, तूतिया १-१ तोला, काली मिर्च ६ माशा, नीबू के रस में घोट गोली बना सुखा पानी में घिसकर लगाने से दाद छाजन, खाज, खुजली ठीक हो जाती है ।

(१६) यदि दाद छाजन, खुजली बहुत पुरानी है और लगाने वाली दवाओं से पूरा लाभ न हो या ठीक होकर फिर हो जाती हो तो उसमें खून साफ करने वाली दवायें भी प्रयोग करानी चाहिये । इसके लिए प्रातः सायं रस माणिक्य १ रत्ती, गन्धक-रसायन ४ रत्ती मिलाकर विषम भाग घी शहद के साथ चटाना चाहिए। और ऊपर से महामंजिष्ठादि क्वाथ पिलाना चाहिये । क्वाथ बनाने की झंझट से बचने के लिये महामंजिष्ठाद्यरिष्ट पिलायें या सारिवाद्यारिष्ट व खदिरारिष्ट मिला कर पिलायें । वैसे अब महामंजिष्ठादि क्वाथ भी प्रवाही सार के रूप में फार्मेसियां बनाने लगी हैं उसी को प्रयोग में लें । लगाने के लिए रिंग कटर लगाना काफी होगा । दवा प्रयोग कराने से पहले इच्छा भेदी रस की १ गोली ठंडे पानी से प्रातःकाल खिलाकर पेट साफ करा देना चाहिये। एक गोली से ४-५ दस्त आ जाते हैं। यदि ज्यादा दस्त आयें और बन्द करना चाहो तो गरम पानी पिला दें इससे दस्त बन्द हो जाते हैं । हर हफ्ते १ गोली खिला कर पेट साफ करा देना चाहिए । तो बहुत जल्द लाभ होता है । इन्ही दवाओं से सन १९४२ में मैंने एक रोगिणी का छाजन ठीक किया था । यह मेरा प्रथम प्रयास था । उसको लगभग १५ साल से रोग था और सभी दवायें डाक्टरी, होम्योपैथी, यूनानी, आयुर्वेदिक कराके निराश हो गई थी । शरीर के बहुत से स्थानों में छाजन के चकत्ते थे जिनमें खुजली बहुत होती थी और उनसे पानी भी रिसता था । यदि थोड़ी भी आम की खटाई खा लेती तो कष्ट अधिक बढ़ जाता था । इसके ठीक होने पर कई रोगी इस रोग के आये सभी ठीक हुये । और अब भी ठीक होते हैं । दाद और छाजन का इलाज एक-सा है ।

अपथ्य इसमें लाल मिर्च, हरी मिर्च, आम की खटाई, सरसों का तेल, खट्टा दही, उरद के बने हुये पदार्थों का प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

*०***०*

## श्वित्र में उपयोगी द्रव्य

बाकुची बीज, खदिर, कूठ, कासीस,
विडंग, नील कमल, सीसम, काकोदुम्बर,
तिनिश, छिक्किका, सुरसा,
भल्लातक, सर्षप ।

—वैद्य किरीट वी० पण्ड्या (विशेषः सम्पादक)

फेफड़े, हृदय आंत, गुर्दा, मस्तिष्क आदि पर अपना प्रभाव जमाकर नाना प्रकार के जटिल रोगों की सृष्टि करती है।

आप पूछेंगे कि किस यंत्र पर इसका प्रभाव होगा। इसका उत्तर एक ही है जो यंत्र अपेक्षाकृत अन्य यन्त्रों से दुर्बल होगा। रस्सी उसी जगह से टूटती है जो स्थान कमजोर होता है। खैर कहने का अभिप्राय यही है कि चर्म रोग पर बाहरी दवा का प्रयोग न करे। सफाई की दृष्टिकोण से सफाई रखें। विशेष आगे लिखेंगे।

**चिकित्सा—**

एक्जीमा की होमियोपैथिक चिकित्सा करने के पूर्व निम्न बातों का ध्यान रखना अनिवार्य है। वैसे यह नियम सभी प्रकार के चर्म रोगों मे लागू होते हैं।

किसी भी चर्म रोग में बाहरी प्रयोग की मरहम आदि लगाकर चर्म रोग को दबाना रोगी के साथ अन्याय करना है। चर्म रोग को तेज मरहम आदि से दबाने के बाद किस प्रकार के जटिल रोग उत्पन्न होते है। यह प्राय: सभी होमियोपैथ अपने चिकित्साकाल में इस प्रकार के जटिल रोगी देखते हैं जिनके रोग का कारण चर्म रोग का दबाया जाना है। आगे हम संक्षेप में एक चार्ट दे रहे हैं। उसमें यही बतायेंगे कि चर्म रोग दबाने पर क्या-२ रोग होते हैं और उनकी प्रायः क्या-२ दवा है। वैसे तो दवा निर्वाचन का एक ही नियम है कि रोगी के सर्वांगिक, शारीरिक एव मानसिक लक्षण समष्टि में अनुसार दवा निर्वाचन करना—

कृपया होमियो चिकित्सा करने वाले सज्जन इस चार्ट से लाभ उठावेंगे।

चर्म रोग दबने के बाद उदरामय—मेड़ोरिनम्, मेजेरियम, सल्फर, ग्रेफाइटिस सोरिनम, ब्रायोनिया, डलकामारा, हीपर सल्फ, लाईकोपोडियम, आर्टिका इयूरेन्स।

चर्म रोग दब कर अङ्ग-प्रत्यंगों में आक्षेप—कुप्रम-मेट कास्टीकम, जिंकम मेट।

हाम (मिझल्स) दबकर मेनिनजाईटिस—एपिसमे, ब्रायोनिया, जिंकम।

चर्म रोग दबकर हाईड्रोसील एब्रोटेनम।

हाम (मिझल्स, दबकर शोथ—एपिस, जिंकम, हेलीबोरस।

चर्म रोग दबकर उन्माद—कास्टीक, सोरिनम, सल्फर, कुप्रम मेट।

चर्म रोग दबावे देने पर दमा—एपिस, आर्सेनिक, कार्बोभेज, डलकामारा, इपीकाक, सोरीनम, पल्सेटिला, सल्फर।

चर्म रोग दबकर ब्रोंकाइटिस—मेड़ोरिनम, सलफर

चर्म रोग दबकर पक्षाघात—जिंकम, कुप्रम कास्टीकम।

चर्म रोग दबकर अण्डकोष प्रदाह—एब्रोटेनम, कल्केरिया कार्ब।

चर्म रोग दबकर मृगी—एगरिकस, कुप्रम जिंकम मेट।

उपरोक्त रोगों के अतिरिक्त चर्म रोग दबकर कोई भी रोग हो सकता है। रोग के विष की जो गति बाहर की तरफ होती है उसको तेज दवा, मरहम आदि या विसदृश्य दवा का प्रयोग करने से बाहर से साफ होकर वह अन्दर के किसी भी अङ्ग पर अधिकार जमाती है। यह उसी चर्म रोग का रूपान्तर मात्र है। चिकित्सा काल में प्रायः इस प्रकार के रोगी आते हैं जिनको चर्म रोग, गनोरिया, सिफलिस, वात आदि दबकर अन्य दूसरे रोग पैदा होते हैं। अत: किसी भी रोग को विसदृश्य दवा से दबा देना उचित नहीं है। चिकित्सा करने में जो दवा लक्षण समष्टी से पूर्ण रखती होवे वही दवा लाभ करेगी और वह दबाया गया रोग पुनः बाहर आवेगा और वर्तमान रोग आरोग्य हो जावेगा। उपरोक्त बात हमने बार बार लिखी है। इसका कारण है विशेष सावधान करना।

**उदाहरण—**

गत वर्ष रामगोपाल अग्रवाल उम्र ४५ साल, पेट दर्द की बीमारी की चिकित्सा के लिए आया। खाली पेट में दर्द ज्यादा होता था, खाने पर उपशम हो जाता था।

नाक ओठ आदि लाल रहते हैं। रोगी गन्दा रहता है, सफाई की तरफ ध्यान नही रखता। उसका सभी काम अव्यवस्थित रहता है। हाथ पैर के तलवे, सर के ऊपर जलन अनुभव करता है। वैसे तो रोगी को सभी जगह जलन होती है। रात मे पैरों को ठंडा रखने के लिए बिस्तर से बाहर निकालता है। सभी समय ठंडी जगह चाहता है। ठंड से सभी रोगों मे आराम मिलता है पर ठंडे-पानी से स्नान करने पर रोग लक्षण बढ़ जाते हैं, रोगी के सभी स्रावो से खट्टी बदबू आती है। त्वचा सूखी खुरदरी छिछड़ेदार होती है। भयंकर खुजली होती है। खुजलाने के बाद जलन होती हे।

सलफर का एक्जीमा प्रायः सूखा रहता है। उसमें पस नही रहता है। छिलके उतरते है। सलफर का प्रयोग २०० या १००० शक्ति मे बार बार नही करना चाहिये। दवा देने के बाद रोग बढ़ने पर घबराना नही चाहिए।

रस वेनेनैटा-६०,३०,२००

डा क्लार्क लिखते है कि किसी प्रकार के एक्जीमा मे यह अत्यन्त उपयोगी औषधि है। रसटक्स का भी त्वचा पर बहुत प्रभाव है। त्वचा पर दानेदार फुन्सियां हो जाती हैं जिनमें तीव्र खुजली दर्द रहता है। फुन्सियों मे पानी रहता है। यह सब लक्षण रसटक्स से रस वेनेनैटा मे बहुत ज्यादा रूप से देखे जाते है। रसटक्स के प्रयोग से लाभ न होने पर रस वेनेनैटा २०० या 1 M का प्रयोग करना चाहिए। दवा २०० प्रति सप्ताह एव IM प्रति मास देना चाहिए।

एल्युमिना ३०,२००,I M

खुश्की एल्यूमिना का प्रधान लक्षण है। रोगी मे कब्ज रहती है। त्वचा भी सूखी रहती है और उसमें भयंकर खुजली चलती है और उसमें दरारे पड़ जाती हैं। त्वचा मोटी हो जाती है। खुजलाने के बाद वहां फुन्सियां हो जाती हैं। खुजलाते खुजलाते रक्त निकल आता है। सर्दी के दिनों में रोगी के शरीर में दाद की तरह के एक प्रकार के उद्‌भेद निकलते हैं, जो बहुत ही खुजलाते हैं। इनके साथ यदि रोगी अनुभव करे कि उसके चेहरे अण्डे की लसी-सी लगी हैं या दाढ़ी में मकड़ी का जाला लगा है। यह सिर्फ अनुभूति मात्र है तो इस एक विचित्र लक्षण मिलने पर आप एल्युमिना का प्रयोग अवश्य करें। गर्मी से एवं रात में खुजली ज्यादा होती है।

एपिस मेल ३०,२००

एग्जीमा ग्रस्त स्थान पर सूजन रहती है। उस स्थान पर डंक मारने की तरह से वेदना होती है एवं जलन रहती है। रोगी ठंडी जगह पसन्द करता है एवं एग्जीमा पर भी ठंडे प्रयोग से आराम मिलता है। पीले रंग की फुन्सियां रहती है। एपिस का अनुपूरक सम्बन्ध है।

आर्सेनिक एल्ब ३०,२००,१०००

यह भी दीर्घ क्रियाशील दवा है, प्रायः पुराने एग्जीमा मे ही इसका प्रयोग होता है, चर्म सूखा होता एवं खुरदरा जिसके ऊपर पपड़ी जमती है. भयंकर खुजली खुजलाने पर जलन होती है। याद रखियेगा—इसका विशेष लक्षण है रोगी गरम पसन्द करता है एवं रोग स्थान पर भी गरम प्रयोग से आराम मिलता है॥ यह रोग शरीर में किसी भी स्थान पर हो सकता है॥

आरम मेटालिकम ३०,२००,I M

इस दवा का निर्माण स्वर्ण से होता है, यह एन्टी-सिफलीटिक एवं एन्टी पारद विष है। सिफलीटिक एवं पारद विष नाशक है। जिन व्यक्तियों में उपरोक्त दोष होवे उनके चर्म रोग में लाभप्रद है। चर्म ताम्र वर्ण गर्मी से खुजली में वृद्धि होती है। रोगी के मानसिक लक्षणों, आत्महत्या की इच्छा इसका विशेष लक्षण है। इस दवा के बाद सिफलीनम लाभप्रद है।

आर्सेनिक आयोडेटम २००,I M

इस दवा का निर्माण आर्सेनिक और आयोडेटम से हुआ है। इसमें आर्सेनिक के सभी लक्षण रहते हैं, साथ ही आयोडियम के भी लक्षण मिलते हैं, कभी गरम से उपशम कभी ठंडा से उपशम, रोगी खूब खाता है फिर भी सूखता जाता है। अति दुर्बलता रहती है. रोगी क्षय रोग की तरफ अग्रसर होता है। अस्थिरता, बेचैनी, घबराहट रहती है। आर्सेनिक की अपेक्षा इसमें एग्जीमा मे छिलके ज्यादा उतरते हैं। जलन, खुजली आदि

आर्सेनिक की तरह से ही होते हैं। शय रोगग्रस्त एक रोगी को पुराना चर्म रोग भी था। सभी लक्षणों का सादृश्य देखकर उक्त दवा से रोगी पूर्ण आरोग्य हो गया।

बैराइटा कार्ब २००, १०००

छोटे बच्चों का सर का एक्जीमा में यह लाभ करता है। यदि रोगी में इस दवा के प्रधान प्रधान लक्षण होवे, जैसे बच्चा बुद्धि से और शरीर से बौना होता है। चलना, बोलना, सीखने में देर होती है। सर्दी बर्दास्त नहीं होती है, जरा सर्दी लगते ही टान्सिल (गले की गांठें) फूल जाता है।

सोरिनम २००, १ एम, १० एम

यह एक नोसोड (रोगज) दवा है। चर्म रोग में इसका स्थान सर्वोपरि है। यह सलफर की अनुपूरक दवा है। इसके प्रधान प्रधान लक्षण हैं। यह सभी प्रकार के चर्म रोगों में लाभप्रद है। जब रोगी को सर्दी बर्दास्त नहीं होती, शीतकाल में चर्म रोग बढ़ जाता है। एग्जीमा से पस निकलता है, उसमें बदबू रहती है और वह पपड़ी की तरह जम जाता है, उसके नीचे पस रहता है। रोगी के सभी स्रावों में बदबू रहती है। वह पाखाना, पेसाब, पसीना, पस सभी बदबूदार रहते हैं। खुजली और जलन तो प्रायः सभी एग्जीमा में रहता है। गरमी के मौसम में प्रायः स्वतः ही एग्जीमा कम हो जाता है। रोगी को बराबर ही चर्म रोग होता ही रहता है। सर्दी सहन न होने के कारण जरा सर्दी लगते ही टान्सिल आदि फूल जाते हैं, स्नान सहन नहीं होता है। शरीर से दुर्गन्ध निकलती है।

ग्रेफाइटिस ३०,२००,१०००

यह एग्जीमा की प्रसिद्ध दवा है। नये छात्र प्रायः सर्वप्रथम इसका प्रयोग कर देते हैं। लक्षण सादृश्य अति आवश्यक है। रोगी मोटा-मोटा थुलथुला होता है। चर्म पर पसीना नहीं रहता है। एग्जीमा जहां होता है वहां का चमड़ा मोटा और फटा-२ होता है, उसमे जो पस निकलता है वह चिपचिपा होता है। सर्दी में रोग बढ़ता है, पस में दुर्गन्ध भी रहती है।

पेट्रोलियम ३०,२०० ,१०००

इसका एग्जीमा सूखा होता है, पस बिलकुल नहीं रहता है, खुजलाने पर चमड़े के छिलके से उतरते हैं, चर्म फट जाता है और उसमें रक्त निकलता है। इस दवा का सबसे बड़ा लक्षण सर्दी का मौसम आते ही चर्म रोग प्रकट हो जाता है और गर्मी के मौसम में बिना दवा के गायब हो जाता है।

मेजेरियम ६,३०,२००

यह सर के एग्जीमा में लाभप्रद है। सर के एग्जीमा में मोटी पपड़ी जम जाती है। उस पपड़ी के नीचे पस रहता है। किसी-२ रोगी को तो उस पस में कृमि (कीड़े) भी पड़ जाते हैं। बाल सट चिपककर सर पर जैसे सफेद-२ कोई चीज लगी है। पस में बदबू रहती है।

टेलूरियम ६,३०

कान के पीछे या बारबर्स इच (नाई के उस्तरे से होने वाले चर्म रोग में) एवं दाद में या जो एग्जीमा गोल १ अंगूठी की तरह जगह-२ होता है, लाभप्रद है।

कल्केरिया सल्फ ३×६×१२

बच्चों को सर पर पीली-२ फुन्सियां हो जाती हैं, उसमें पीला, गाढ़ा पस होता है। वह अपहार छिलके और छिलके की तरह हो जाता है। उससे खुजलाहट होती है।

बोविस्टा ३,६,३०

जो स्त्रियां मासिक धर्म के समय पाती हैं उनके एग्जीमा में विशेष मददगार है। पुरुष के मोह में सर एग्जीमा जो पूर्णमासी पर बढ़ता है।

उपरोक्त दवाइयों के अलावा लक्षणों का सादृश्य होने पर बहुत सी दवाइयां हैं जो लाभप्रद हैं। प्रधान बात है लक्षणों का सादृश्य अवश्य होवे।

—०—

# पाददारी एवं विपादिका

वैद्या श्रीमती नलिनी पी. राठोड़ डी. एस-सी. ए.
रीडर : शेठ जी० प्र. सरकारी आयुर्वेद कालिज, भावनगर (गुजरात)
१४६७, A-२/१, कृष्ण नगर, रूपाणी सर्कल भावनगर, गुजरात-३६४००१ ।

त्वक् रोगो मे विदार प्रधान जिन रोगों का वर्णन आयुर्वेद साहित्य में मिलता है उसमे पाददारी भी एक रोग है । इसकी गणना क्षुद्र रोगों में की गई मिलती है । आधुनिक दृष्टि से इसको रागेड्स (Rhagades) इन फुट कहा जाता है । सामान्य लोक व्यवहार में इसके लिये बिवाई शब्द का प्रयोग होता रहा है । कवियों ने इसका प्रयोग श्रम के अतिरेक की तुलना के लिये किया है क्योंकि यह मूलतः अति मार्ग गमन जन्य रोग है । तुलसी का यह कथन है कि—'फटी न जिनके पाव बिवाई । सो का जानहिं पीर पराई ।' इसका अनुमोदन करता है । यह एक प्रकार से त्वक् दारण जन्य अवस्था विशेष है ।

## हेतु—

(क) आहार—यद्यपि उसका वर्णन नहीं है तथापि निम्न आहार उसका निदान माना जा सकता है —

१. रूक्ष आहार का अतिसेवन

२. वायु प्रकोपक आहार सेवन

(ख) विहार—विहार सम्बन्धी कारणों में जिनको उसका कारण माना जा सकता है वे निम्नानुसार हैं—

(१) परिक्रमण शीलता—पैर चलने का अतिरेक या व्यवसाय उसका प्रमुख कारण माना जाता है। इसीका उल्लेख इसके निदान के रूप मे किया गया है। परिक्रमण से पाद विहरण पैर चलना ही अर्थ आचार्यो ने किया है ।

(२) व्यवसाय का अतिरेक—यद्यपि इसका उल्लेख निदान में नहीं है तथा रूक्षता उत्पादक हेतु के रूप में इसका अप्रत्यक्ष रूप से ग्रहण करना अनुचित न होगा ।

(३) असम्यक निद्रा -विशेषतः अनिद्रा भी वायु कोपक निदान होने से इसका हेतु माना जा सकता है ।

(ग) अन्य कारण—व्यवहार में कतिपय रोगों की अनुबद्धता इस रोग में स्पष्ट रूप में पाई गई है उन्हें धातु रूप एवं तज्जन्य रूक्षताकारक हेतु के रूप में देखा जा सकता है । यथा —ग्रहणी विकार, अम्लपित्त, कृमि विकार, अर्श, पांडु ।

## लक्षण एव स्वरूप —

परिक्रमण शीलस्य वायुरत्यर्थ रूक्षयो: ।
पादयो: कुरुते दारीं पाददारी तमादिशेत् ।।

· सु नि. १३१

अत्यधिक पाद विहार करने के कारण जब अत्यधिक प्रकुपित वायु जब रूक्ष (पैरों) में दरार (बिवाई) उत्पन्न कर देता है तब उसको पाददारी कहते हैं । यहां 'वायु कोप' एवं 'देह (पाद)' की रूक्षता कारणात्मक वार्ते हैं ।

## चिकित्सा—

(१) स्नेहन, स्वेदन पूर्वक रक्तमोक्षण (सिरावेध) ।

(२) विदार चिकित्सार्थ—विभिन्न विदार पूरक लेप यथा—

१- मोम, वसा, मज्जा, राल, यवक्षार, गेरु कृत लेप ।

२- जात्यादि मलहर, श्वेत मलहर, घृत, टंकण, आदि अनुभूत लाभकर रहा है ।

(३) औषधि —यद्यपि इसकी कोई अन्य औषधि नहीं कही गई है तथापि वैद्यकीय व्यवसाय में निम्न औषधि उपयोगी एवं लाभकर मानी गई है—

१- दशमूल क्वाथ ।

२- धात्रीलोह, कामदुधा, प्रवाल, मिश्रण ४ रत्ती, २ वार मधु से (कृमि के अनुबंध होने पर कृमिकुठार भी मिलाये) ।

३- शतावरी घृत या सामान्य घृत दुध के साथ ।

# वैपादिक या विपादिका

यह भी एक विदार प्रधान रोग है जिसकी गणना क्षुद्र कुष्ठाधिकार में की गई है । इसका वर्णन निम्नानुसार मिलता है—

'वैपादिकं पाणिपादस्फुटनं तीव्रवेदनम् ।  च. चि.

अर्थात् हाथ पैर के फटने एवं तीव्रवेदना युक्त होने पर इसे वैपादिका कहते हैं ।

यह पाददारी से निम्न रूप में भिन्न मानी जा सकती है—

१– यह हाथ और पैर दोनों में हो सकता है जबकि पाददारी पाद (पैर) में उत्पन्न विकार है ।

२– यह क्षुद्र कुष्ठ विशेष है जिसमें पिडिका भी मिल सकती है (विपादिका कुष्ठं तु पिडिका सविदार- णेति भेदः (मधु.) ।

३– यह मुख्यतया रक्त दुष्टि-जन्य एवं कुष्ठ के कतिपय कारणों से उत्पन्न अवस्था है ।

४–इसे भी विदार' युक्त होने से Rhagades ही कहते हैं ? परन्तु यह विचारणीय अवश्य है ।

५– विपादिका एक वात कफ प्रधान क्षुद्र कुष्ठ है ।
—च. नि ७/२८

६– यह एक साध्य रोग है ।  —च. नि. ७/२६

**चिकित्सा—**

कुष्ठ के सामान्य चिकित्सा सूत्रों का उपयोग करते हुए निम्नलिखित उपचार उपयोगी माने जा सकते हैं -

१. शोधन या सम्पूर्ण पंचकर्म चिकित्सा एवं रक्त मोक्षण ।

२. तदनन्तर शमनार्थ कषाय, लेप आदि प्रयोग ।

नित्य प्रति के चिकित्सा व्यवसाय में इस प्रकार के अनेक रोगी देखने में आते हैं कि जिनके हाथ और पैरों में विदार होते हैं। कई बार पिडिकायें नहीं मिलती है परन्तु मंद वेदना मिलती है । इन रोगों में शमन चिकित्सा कुछ समय के लिये लाभकर होती है परन्तु कालान्तर में रोग फिर उदित हो जाता है । अतः शोधन पूर्वक की गई चिकित्सा ही उपयोगी हो सकती है ।

भैषज्यरत्नावलीकार ने पाददारी एवं विपादिका को संयुक्त चिकित्सा के लिये निम्नलिखित कल्प प्रस्तुत किये हैं —

१. पानी युक्त नारियल के छिद्र निकालें में छिद्र बना के कच्चे चावल उनमें भर दें फिर मिट्टी से मुख बंद कर एकांत में रख दें । सड़ने की गंध आने पर चावल निकाल गरम कर विपादिका पर लेप करें ।
(भै. र. ५४/३८)

२. जिन या तिल चूर्ण, सैंधव, गोमूत्र, सरसों का तेल १-१ तोला को लोह खरल में गरम कर धूप में सुखा लें । इसको पाद स्फुटन पर लगाने से रोग नष्ट होता है ।  (भै. र. ५४/४२)

३. राल, सैंधव, गुड़, मधु, गुग्गल, गेरु, घृत, मोम को १-१ तोला ले यथा विधि मलहम बनायें । यह भी पादस्फुट को नष्ट करता है ।  (भै. र. ५४/४०)

इसमें निम्नलिखित औषध योजना उपयोगी है—

(१) मंजिष्ठादि क्वाथ, दशमूल क्वाथ २ तोला प्रातः सायं ।

(२) पंचतिक्त घृत १ चम्मच प्रातः कोष्ण जल या उपरोक्त क्वाथ के साथ ।

(३) आरोग्यवर्धिनी, गुग्गुल १-१ गोली ।

(४) जात्यादि मलहर प्रलेपनार्थ/पाददारी मलहर भी उपयोगी है ।

---

# पाददारी

—बीजरहित आधा आँवला लेकर उसमें एक कागजी नीबू का रस निचोड़ लें तथा मिला दें । इसे लगाने से उपर्युक्त विकार दूर हो जायेंगे ।

- डा. शिवपूजनसिंह कुशवाह
(सफलसिद्ध प्रयोगांक से)

— स्त्री के स्तन का दूध, गुड़, घी, शहद, गेरू— समभाग को मिश्रित कर बिवाइयों में भरें ।

—डा. ताराचन्द गोदा, किशनगढ़ (राज०)
(सफलसिद्ध प्रयोगांक से)

—मोम (मधुमक्खी के छत्ते से बना) या घृत ५ ग्राम मधुमक्खी का छत्ता ५ ग्राम, गुग्गुल २ ग्राम, गेरू २ ग्राम, सेंधा नमक २ ग्राम, मधु २ ग्राम, कपूर २ ग्राम सबको मन्द आग पर पिघलाकर मलहम बना लें । प्रथम विदार युक्त पांव को गर्म पानी से साफ करें तथा इसे लगायें ।

—पं. द्वारका प्रसाद वैद्यरत्न, लोधी (गया)
(सफल सिद्ध प्रयोगांक से)

# पाद दारी-चिकित्सा—नया दृष्टिकोण

डा० चन्द्रकांत वी० सोनारे, अधिव्याख्याता—द्रव्यगुण विभाग
भा० सा० आयुर्वेद महाविद्यालय, सूतिकागृह परिसर, खासकिलवाड़ा,
पो० सावंतवाड़ी—४१६५१० (सिन्धु दुर्ग) महाराष्ट्र

'पाद' शब्द से पादतल का जमीन के संपर्क में आने वाला पृष्ठ भाग तथा किनारे का पार्श्विक भाग।

'दारी' शब्द से दरारें पड़ना (दारो दारण गात-मा. नि. मधुकोष टीका) आयुर्वेद के सभी ग्रन्थों में क्षुद्र रोगों के अन्तर्गत इसकी गणना की गई है।

इस प्रकार पादतल के पृष्ठ भाग पर, किनारे के पार्श्विक प्रदेश में तथा एड़ी में जब दरारें उत्पन्न होती हैं, उस पर शीघ्रता से ध्यान न देने से ये दरारें और गम्भीर होकर व्याधिग्रस्त व्यक्ति को खड़ा रहना, चलना, फिरना मुश्किल कर देती हैं। सामान्यतया कोई भी व्यक्ति चिकित्साकार्यार्थ आते समय अपनी पैर की एड़ी को भूमि पर न टिकाते हुए उसे ऊपर रखकर पादतलाग्र के बल पर चलने का प्रयास कर रहा हो तथा अतीव दर्द महसूस होने के कारण चेहरे की पहले की हंसी उड़ गई हो, इन सब बातों को देखकर ऐसा अनुमान लगा सकते हैं कि यह रोगी 'पाददारी' नामक व्याधि से पीड़ित हो सकता है।

इसके बारे में तुलसीदास जी कहते हैं कि -
फटी न जिनके पांव बिवाई।
ऊ का जाने पीर पराई॥

पर्याय उपलब्ध ग्रन्थों में इसे क्षुद्र रोगों के अन्तर्गत पाददारी नाम से वर्णन प्राप्त होता है। हिन्दी भाषा में इसे बिवाई नाम से कहा जाता है।

मराठी भाषा में चिरभेगा वायचल, जलवात कहते हैं।

आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक शास्त्र में इसका उल्लेख Rhagodes, Rhogas, Superficial and deep fissures of the foot इन नामों से होता है।

**निदान—**

(१) परिक्रमण (परिक्रमणं पाद विहरणं—मधुकोष टीका) अधिक पैदल चलना—विशेषतः नंगे पांव पैदल चलना।

(२) पादतल की स्वच्छता न रखना।

(३) शीत ऋतु में अत्यधिक शीत एवं रूक्षतायुक्त वातावरण में ज्यादा परिभ्रमण (खुले पांव, जूता न पहने) करना।

(४) उष्ण (ग्रीष्मादि) ऋतु में अत्यधिक उष्णता वाले प्रदेश में (जैसे—दिल्ली, विदर्भ, राजस्थान, उत्तर प्रदेश आदि प्रदेशों में) बिना मोजे पहने, बिना बूट पहने, अत्यधिक उष्ण एवं रूखी वायु के सम्पर्क में पादतलों का आना।

(५) सोडे का पानी, डिटर्जेंट पाउडर, कास्टिक सोडा, चूने का पानी अथवा चूने का ढेर, धूल आदि का पादतल से सम्पर्क होना।

(६) इनके अलावा शास्त्र में वर्णित अन्य वायु के रूक्ष गुण को बढ़ाने वाले, आहार-विहार एवं मानसिक हेतु।

आयुर्वेद में यह रोग वात प्रधान माना गया है। इसमें रूक्ष गुण वृद्धि के कारण ही वात दोष का प्रकोप होता है। उपरोक्त हेतुओं द्वारा दो प्रकार से रूक्षत्व बढ़ता है—१. शीत के साहचर्य से रहने वाले रूक्षत्व के द्वारा, २ उष्ण के साहचर्य से रहने वाले रूक्षत्व द्वारा।

**सम्प्राप्ति—**

परिक्रमण शीलस्य वायुः अत्यर्थ रूक्ष योः।
पादयोः कुरुते दारी पाददारी तम् आदिशेत्॥

—मा. नि. १३-२५

अधिक नंगे पांव घूमने वाले व्यक्ति को प्रकुपित वायु अत्यधिक रूक्ष पैरों में दरार उत्पन्न कर देता है। उसे पाददरी कहते हैं। आजकल इसे Rhagades नाम से कहा जाता है।

मार्दव कम हो जाता है। ध्यान रहे कि मांस धातु में वसाख्य स्नेह विद्यमान रहता है। तथा उसकी उपधातु त्वचा में भी उसका अस्तित्व रहता है।

(शुद्ध मांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिताः)

यहां रूक्षत्व के साथ साथ शीतत्व भी बढ़ता है। अतएव चिकित्सा करते समय इससे आभ्यन्तर प्रयोगार्थ स्निग्ध एवं उष्ण गुणात्मक तथा मधुरविपाकी द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

त्रिदोषों में रूक्षत्व यह वायु का गुण माना गया है। यह गुण स्निग्ध के विरुद्ध है तथा परमाणुओं का विभाग या विघटन करता है। परमाणु-परमाणुओं में वियोग होने से उनका संघटन नष्ट होता है एवं विघटन प्रारम्भ होता है। रूक्ष गुण में द्रवत्व के शोषण करने का सामर्थ्य है। उससे शारीरिक द्रवांश का शोषण हुआ करता है एवं द्रव धातु का नाश जल्दी हो जाता है। द्रव धातु के शोषित होने से नष्ट हुआ धातु परमाणुओं का संयोग विघटित होकर विघटनात्मक कार्य को मदद करता है। वायु के रूक्ष गुण के कारण उपरोक्त प्रक्रिया दिखाई देती है। इसी प्रकार पाददारी में भी स्थानीय विघटनात्मक प्रक्रिया द्वारा पादतल पर दरारें पड़ी हुई दिखाई देती हैं।

रूक्षं समीरणकरं परं कफ हरं मतम्।
यस्य शोषणे शक्तिः स रूक्षः।

उपरोक्त दो प्रकार की सम्प्राप्ति को ख्याल में रखते हुए च. सू. अ. २० में वात दोष के ८० नानात्मज विकार में 'विपादिका' (प्राणिपादस्फुटनं—योगिन्द्रनाथ सेन)। इन शब्दों द्वारा हाथ पैरों में दरारें पड़ना (योगिन्द्रनाथसेन जी के मतानुसार) स्पष्ट किया गया है तथा पित्त दोष के ४० नानात्मज विकार में 'त्वग् अवदारण' नामक व्याधि द्वारा त्वचा में दरारें पड़ना यह स्पष्ट किया गया है। तथा वात प्रकोप के लक्षणों में (अ. हृ. सू. १२) 'पारुष्य' इसके द्वारा स्निग्धांश का क्षय होने के कारण त्वचा आदि को रूखापन तथा खरत्व प्राप्त होना दर्शाया गया है।

**व्याधि लक्षण—**

पादतल के किनारों पर एड़ी फट कर तथा पंजे पर या पैर के अंगूठे पर धारियां बनकर उत्तान [Superficial Fissure] (बहिःत्वक् तक सीमित) तथा गम्भीर (Deep Fissure, rhagas)-इसमें बहिस्त्वक्-अन्तरत्वक् तथा कभी-कभी गम्भीर रचनायें इससे प्रभावित होती हैं) स्वरूप में दरारें पैदा होती हैं। ये दरारें विस्तार से, आयाम से मोटी छोटी सभी प्रकार की होती हैं। उनका आकार, फटने का प्रकार, उत्तानता, गम्भीरता तथा संख्या, इसके अनुसार पीडाकर होती है। उसमें होने वाली पीड़ा के कारण एड़ी के बल पर खड़ा रहना मुश्किल हो जाता है। पादतल की त्वचा में दरारें पड़ना इस रोग का सामान्य लक्षण है।

अधिष्ठान—एडी, पादतल के किनारे तथा बीच की धारियां, पञ्जा पर तथा अंगुष्ठ की निम्न धारियां इस रोग से विशेषतः प्रभावित होती हैं।

धूल के सम्पर्क में आने पर ये दरारें दुष्ट होकर उस जगह पर स्पर्शासहत्व, वेदना आदि होते हैं।

व्यवच्छेदक निदान—इसका व्यवच्छेद विपादिका से निम्न प्रकार से किया जाता है। माधव निदान-मधुकोष टीका के व्याख्याकार ने विपादिका और पाददारी में नैदानिक भेद स्पष्ट करते हुये बताया है कि—

विपादिका कुष्ठं तु पिडका सविदारणेति भेदः।

विपादिका कुष्ठ जाति की व्याधि है। इसमें रक्तदुष्टि होती है। हस्त एवं पाद प्रदेश में पिडकायें उत्पन्न होती है और उनका विदारण होता है। इसमें रक्त तथा तीनों दोषों की दुष्टि होती है; शीघ्र अच्छी नहीं होती।

**साध्यासाध्यता—**

यह रोग सुख साध्य है।

सिफिलिस के उपद्रव स्वरूप अगर Linear Fissure होता है तो उसकी चिकित्सा करने से साध्य होता है। इसलिए सिफिलिस के बारे में जानकारी आवश्यक है।

**सामान्य चिकित्सा [शास्त्रानुसार]—**

पाददारीषु च शिरां व्यधयेत् तलशोधनीयम्।
स्नेहस्वेदोपपन्नौ तु पादौ च आलेपयेत् मुहुः॥

— चक्रदत्त क्षुद्र रोग चिकित्सा

मधूच्छिष्ट वसा मज्जा घृत क्षारैः विमिश्रितैः॥

—यो. र. क्षु. रो. चि. १

पाददारी में तल शोधनी सिरा का मोक्षण और

१०० ग्राम सभी द्रव्यों को (गुग्गुलु छोड़कर) कूटकर कपड़छन चूर्ण बनावें। फिर शुद्ध गुग्गुलु कूटकर उसमें घृत मिलाकर पकावें। तत्पश्चात सभी उपरोक्त औषधियों के चूर्ण को इसमें मिलाकर मर्दन करें। १-१ ग्राम प्रमाण की गोली बनावें।

मात्रा - १-१ गोली तीन बार।

**स्नेहनार्थ योग—**

(१) अर्क तैल [संदर्भ–शा. सं. म. ख. १४५] — हरिद्रा कल्क ४ तोले, अर्क पत्र स्वरस, सर्षप तैल २०-२० तोले लेकर पाक करें।

(२) सर्जरस [राल] और सेंधानमक के चूर्ण को मधु, घी तथा कड़वे (तिक्त) तैल में मिलाकर पादाभ्यंग करें। [चक्रदत्त]

(३) उपोदिकादि क्षार तैल — उपोदिका (पोईशाक) सरसों बीज नीम की छाल, मोच (कदली के स्तम्भ के भीतर का दंडा), वर्काक (दक्षिण प्रदेश में प्रसिद्ध पेठा भेद) तथा ककड़ी की नाल—इन सबकी यथाविधि भस्म बनाकर उनका क्षार जल बनावें भस्म छः गुने पानी में मिलाकर २१ बार छानकर बनावें। इस क्षार जल से सिद्ध किये हुए तैल में सेंधानमक मिलाकर इसका लेप करने से पाददारी में उपशय प्राप्त होता है। (घटक द्रव्यों का प्रमाण–तिल तैल ४ सेर, क्षार जल १६ सेर, नमक १ सेर) [चक्रदत्त]

(४) अभ्यंगार्थ नित्य घी का प्रयोग करना चाहिए। [आर्य भिषक- वैद्य पदे शास्त्री]।

(५) सर्षप तैल २०० मिली. ४० अर्क पत्र डालकर उन्हें पकावें। अच्छी तरह से जल जाने पर, जले हुये अर्क पत्र निकाल कर तैल को छान लेवें। शीत होने पर उसमें हरिद्रा चूर्ण ५० ग्राम मिलावें।

**स्वेदन उपक्रम—अवगाह स्वेद**

एक बड़े तथा चौड़ाई वाले पात्र में कोष्ण कुष्ठ इस द्रव्य का क्वाथ लेकर तथा उसमें उष्ण लवण जल मिलाकर उसमें उभय पादतलों को पूरी तरह से डुबो दें। करीबन २०-३० मिनट तक पैर उसमें रखें। फिर इसी में पादतलों को हथेली से मसलकर दरारों में से कचरा निकाल कर साफ करें। पश्चात स्वच्छ तौलिये से पादतल को पोंछकर लेप कल्प या मलहर योगों का प्रयोग करें।

**लेप तथा मलहर योग—**

(१) मधुसिक्थादि लेप [चिकित्सादर्श राजेश्वर दत्त शास्त्री] प्रतप्त घन १ पात्र में गुग्गुलु कूटकर १ तोला छोड़कर चलावें। फिर ५ तोला मोंम छोड़कर चलाता रहे। उसके बाद १ तोला राल छोड़कर सेंधानमक १ तोला, सोनागेरू का कपड़छन चूर्ण १ तोला छोड़ें। सबके अन्त में गुड़ १ तोला छोड़कर घोटकर रखें। इस मलहम का पाददारी पर नित्य लेप करें।

(२) जीवन्त्यादि लेप [चिकित्सादर्श]—जीवन्ती (डोडीशाक) की जड़, मंजिष्ठा, दारुहरिद्रा, मयूरतुत्थ, कम्पिल्लक, हरेक द्रव्य का चूर्ण ४-४ तोला लेकर सभी को जल के साथ पीसकर कल्क तैयार करें। बाद में आधा किलो तिल का तैल तथा आधा किलो गोघृत लेकर उसे पकावें। उसमें उपरोक्त कल्क को मिलाकर १ लीटर गोदुग्ध और ३ लीटर जल छोड़कर स्नेहपाक विधि से पकाकर तैल जब अवशिष्ट रहे तब छानकर गर्म करें। उसमें राल का चूर्ण तथा मोंम मिलाकर मलहम बनावें।

(३) पाददारी लेप—सर्जरस, गैरिक, टंकण एवं गन्धक इन सब द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण बनाकर नारिकेल तैल के साथ मिलाकर लेप करें।

(४) पाददारी लेप—शुद्ध गैरिक, चन्दन चूर्ण, शङ्ख भस्म, टंकण भस्म, गन्धक चूर्ण, सर्जरस हरेक १-१ भाग लेकर नारियल तेल १६ भाग लेकर उसमें ४ भाग मोंम डालकर गर्म करें। फिर उसमें उपरोक्त औषधि द्रव्यों का चूर्ण मिला देवें।

(५) यष्टीमधु, वसा मज्जा, सर्ज चूर्ण इनसे सिद्ध घृत में यवक्षार तथा गैरिक मिलाकर लेप करें।

(६) वृक्षाम्ल तैल, एरंड तैल समप्रमाण में लेकर उसे पकावें। द्रवीभूत होने पर छानकर इसमें यशद भस्म तथा असली सिन्दूर मिलाकर लेप करें।

(७) सर्जरसादि लेप [चिकित्सादर्श]—गोघृत ३२ तोला में २ तोला पिघला हुआ मोंम डालकर उसमें राल, सेंधानमक, पुराना गुड़ मधु, भैसा गुग्गुलु, स्वर्ण गैरिक प्रत्येक १-१ तोला प्रमाण में लेकर उनका कपड़छन चूर्ण मिलाकर पकावें तथा घोटकर रखें।

(८) मधूच्छिष्ट (मोम), वृक्षाम्ल तैल, तिल तैल मिलाने के बाद उसका मलहम जैसा प्रयोग करें। (सुलभ आयुर्वेदीय औषधि योजना–वैद्य जोशी)।

(९) भल्लातक बीज तैल का प्रयोग।

(१०) मदनफल, पिघला हुआ मोम, समुद्र लवण, समप्रमाण लेकर मक्खन मिलाकर लगायें। [यो. र.]

(११) सैंधवादि लेप—सैंधव, रक्तचन्दन, राल, मधु, घृत, गुग्गुलु, गुड़, गैरिक इनका लेप। [यो. र.]

(१२) आम्र छाल द्वारा प्राप्त निर्यास पाददारी पर लगायें। [Indian Materia Medica-Nadkarni]

(१३) धमासा, सोरई और नागरमोथा इनको एकत्र पीसकर घी में मिलाकर लेप करें।

(१४) मदनादि योग [यो. र.]—मदनफल, सैंधव, गुग्गुलु, गैरिक, घृत, मधु, राल, गुड़ प्रत्येक द्रव्य को समान भाग लेकर पीसकर लेप करें।

(१५) मधु, सैंधव, घृत, गुड़, गुग्गुलु, शालनिर्यास, गैरिक समभाग पीसकर लेप करें। [यो. र.]

(१६) पुराना गुड़, सैंधव लवण, तिन्तड़ीक की छाल इन सबको त्रिगुण गोमूत्र के साथ घोटकर गाढ़ा हो जाने पर लेप करें। [चिकित्सा तत्व दीपिका]

(१७) आर्जुन (काली छाल वाला अर्जुन का भेद) का अंकुर, बदरी पत्र, आमलक इनका कल्क बनाकर लेप करें। [आर्य भिषक्-वैद्य श. दा. पदे]

(१८) मदनफल, सैंधव, गुग्गुलु, गैरिक, उशीरमूल चूर्ण, मधु, घृत मिश्रित करके लेप करें। [आयु. भिषक्]

(१९) शुक्ति जलाकर भस्म तैयार कर उसमें मक्खन मिलाकर लेप करें। [आयुर्वेद भिषक्]

(२०) वैसलीन ५० ग्राम लेकर उसको गर्मकर उसमें ४०० ग्राम पिघला हुआ मोम डालकर उसमें मुर्दार शृङ्ग १० ग्राम और राल २० ग्राम इन दोनों का चूर्ण मिलाकर हिलाते रहें। ठंडा होने पर तैयार हुआ मलहर पाददारी पर लगावें।

उपद्रव—

१. अत्यधिक वेदना—कभी-कभी वंक्षण प्रदेश की ग्रन्थि का शोथ हो जाता है। ऐसे समय स्थानिक शोथहर एवं वेदना स्थापन औषधोपचार करें।

२. कभी-कभी दरारों में रेत के कण तथा अन्य दूषित करने वाले पदार्थ घुसकर वहां दुष्टि निर्माण हो जाती है। इसके कारण अत्यधिक पीड़ा होने लगती है। ऐसे समय दरारों के दोनों किनारों को थोड़ा काट कर पाददारी को स्वच्छ करें। तत्पश्चात व्रण शोधन रोपणार्थ लेप या मलहम आदि लगायें।

पश्चात् कर्म—

इस प्रकार विविध पाददारी हर तैलों से स्नेहन कराके अवगाह स्वेदन लेने के बाद लेप या मलहम योग लगायें। तत्पश्चात प्लास्टिक की थैली में पादतल को लपेटकर गुल्फसंधि के पास उसको बांधकर रात भर रखना चाहिए। दिन में नगर परिभ्रमणार्थ बाहर जाना हो तो उस समय पादतल की दरारों में घृत, कोकम तैल आदि स्निग्ध द्रव्य लगाकर बाद में उसके ऊपर मोजे तथा जूते पहनने चाहिए।

पथ्यापथ्य—

पथ्य नवनीत, घृत, दुग्ध आदि स्निग्ध पदार्थ।

विहार १. पाद तलों को गर्म जल से स्वच्छ धोकर नित्य पैरों में मोजे तथा जूते पहन परिभ्रमणार्थ निकलें। घर में भी मोजे और चप्पल पहनें।

२. अल्प चंक्रमण। ३. नंगे पैर घूमना बंद।

४. निदान परिवर्जन।

अपथ्य—आहार–रूक्ष तथा वातवर्धक आहार।
विहार–पैरों से भूमि सम्पर्क होना, रात्रि जागरण।
साध्यासाध्यत्व—सुखसाध्य।

पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति—

इसमें स्थानीय त्वचा को स्निग्ध रखने के लिए वैसलीन आदि स्निग्ध द्रव्य लगाने को कहते हैं तथा दरारों में जीवाणुरोधक मलहम योग भरते हैं। दरारों के आभ्यन्तर भाग में रेत तथा कचरा न भरे, इसलिए पादपट्ट बंधन किया जाता है। यदि यह पाददारी रोग सिफिलिस के उपद्रव रूप में निर्माण होता है तो सर्व प्रथम मूल व्याधि सिफिलिस की चिकित्सा अनिवार्य है। बाजार में उपलब्ध कतिपय पाददारी हर मलहम योग—

१. क्रैक्स मलहम  २. मोम मलहम
३. अमृत मलहम  ४. रंभाया जीवन
५. गैरिकादि (Puna Herbal Cosmetics)।

ग्रामीण क्षेत्रों में जो प्रसूत होने पर जो जरायु (आमल) बाहर आता है। उसमें पैर रखकर भरपूर [illegible] में डालकर रखा जाता है। ★

# सोरियासिस में पंचकर्म

वैद्य प्रेरक शाह बी. ए. एम. एस., चिकित्सा-परामर्श एवं पंचकर्म वैद्य
प्रेरक क्लिनिक, सिल्वर स्प्रिंग बिल्डिंग नवरंगपुरा, अहमदाबाद

—०※०—

* आशास्पद एवं उत्साही पंचकर्म विद्
* अनेकों सेवा संस्थाओं से संलग्न
* आयुर्वेदीय अनुसंधानकर्ता
* ग्रन्थ (आयुर्वेद विषयक) लेखक–प्रकाशक
* गुजराती दैनिक पत्रों में आयुर्वेद विषयक लेख
* बिना मूल्य निदान यज्ञों में सहयोग
* विभिन्न पत्रिका में लेखन
* आजीवन सदस्य—अखिल भारतीय आयु महासम्मेलन
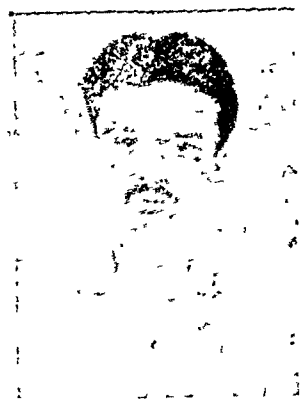
इस रोग को आयुर्वेद ने कष्टसाध्य बताया है और आधुनिक मतानुसार यह रोग चिरस्थायी तथा ठीक होकर फिर हो जाने वाला रोग है। आज पूरे विश्व में इस रोग की सम्पूर्ण चिकित्सा उपलब्ध नहीं है। आयुर्वेदमें दो तरह की चिकित्सा का उल्लेख है शमन चिकित्सा और शोधन चिकित्सा। शोधन चिकित्सा किये बिना शमन चिकित्सा सम्पूर्ण नहीं है। सभी चिकित्सा पद्धतियों से बढ़कर आयुर्वेद की शोधन चिकित्सा है जिसे हम पंचकर्म चिकित्सा नामसे भी जानते हैं।

पंचकर्म या शोधन चिकित्सा के तीन चरण होते हैं—(१) पूर्व कर्म, (२) प्रधान कर्म, और (३) पश्चात कर्म। पूर्व कर्म अन्तर्गत आभ्यन्तर स्नेहपान, बाह्य स्नेहन और स्वेदन क्रियायें की जाती हैं। साथ साथ में लंघन और दीपन-पाचन औषध का उपयोग किया जाता है। प्रधानकर्म में पंचकर्म के पांच मुख्य कर्मो में से (वमन, विरेचन, वस्ति, नस्य, रक्तमोक्षण) जरूरी कर्म किये जाते हैं और पश्चात कर्म में संसर्जन क्रम, रोगानुसार शमन चिकित्सा और किसी ध्येय (रसायन और वाजीकरण) प्राप्त के लिए करने की चिकित्सा। त्वचा के सभी रोगों में विशेषत: पित्त दोष और कफ दोष का प्रकोप होता है, इसलिए सभी त्वक् रोगों में पंचकर्म में से वमन, विरेचन और जरूरत होने पर रक्तमोक्षण कर्म करवाना चाहिये। सोरियासिस में भी पंचकर्म चिकित्सा में से वमन और विरेचन कर्म बहुत ही लाभदायी साबित हुई है। रोग की शुरुआत की अवस्था में वमन और विरेचन कर्म करवाने से लगभग ५० प्रतिशत रोग कम हो जाता है। दीर्घकालीन रोग में यह चिकित्सा बार-बार कराने से काफी लाभ मिलता है। अब चूंकि पंचकर्म ही इस रोग की श्रेष्ठ चिकित्सा है, तब इसे एक रोगीवृत्त के दृष्टांत से समझने का यत्न करें।

रोगीवृत्त—

रोगी खुद आयुर्वेद के स्नातक है और हाल में आयुर्वेद दवाखाना में सर्विस कर रहे हैं। ७-८ साल से ये चर्म रोगों से हैरान हैं सोरियासिस की बीमारी ५ ६ साल से चल रही है। शुरुआत में शमन चिकित्सा की गई, परन्तु लाभ न होने से शोधन चिकित्सा के लिए तैयार हुए। पिछले ५ साल में दो बार पंचकर्म चिकित्सा के अन्तर्गत वमनकर्म और विरेचनकर्म सरकारी आयुर्वेद होस्पीटल में करवाया। तीन-चार माह पूर्व फिर से रोग-लक्षण दिखाई देने लगे। रोगी खुद वैद्य श्री किरीट भाई पंड्या को मिले। उन्होंने फिर से पंचकर्म सारवार के लिए जोर दिया और इसी पंचकर्म लेबोरेटरी के लिये बताया और साथ में वमन कर्म और विरेचन कर्म के लिए भी सलाह दी। रोगी की सारवार का पूरा ब्यौरा निम्न प्रकार से है—

रोगी नाम — वैद्य ओझा जी

पता — अहमदाबाद

लिंग — पुरुष  वय—५६ साल

वमन कर्म—

पूर्वकर्म—पूर्वकर्म के अन्तर्गत आभ्यन्तर स्नेहपान

क्रूर कोष्ठी होने की वजह से इच्छाभेदी रस (जमाल-गोटा योग) की ३।। गोली मिलाई गई।

विरेचन औषध पिलाने के पश्चात एक घण्टे में औषध का असर शुरू हुआ और विरेचन के वेग शुरू हो गये (देखिये तालिका–ड)। शाम तक कुल चौबीस वेग आये और हरेक बार इसका विवरण खुद रोगी के शब्द में ही लिया गया। ज्यादातर विरेचन के वेग पतले पानी जैसे-पीले रङ्ग के, बास के साथ, वायु प्रवृत्ति के साथ हुए थे। शाम को स्वयं वेग शांत हो जाने के बाद पश्चात कर्म किये गये। विरेचन के दौरान चीनी और जरा सा नमक मिलाया हुआ जल देते रहे।

पश्चात कर्म—वमन कर्म के पश्चात् रोगी को जिस तरह संसर्जन क्रम दिया गया था। ठीक उसी तरह इस बार भी संसर्जन क्रम दिया गया। रोगी को दो दिन सम्पूर्ण आराम करने की सलाह दी गई।

संसर्जन क्रम के बाद रोगी की फिर से जांच की गई तब मालूम हुआ कि रोग का प्रशमन हुआ है। सिर्फ त्वचा पर रोग की निशानी छोड गया है। फिर भी यह शमन होने वाला रोग होने की वजह से रोगी को शमन चिकित्सा वैद्य श्री किरीट भाई पंड्या से चालू करने की सलाह दी गई।

निष्कर्ष— त्वक् रोगों की गंभीर अवस्था में, जहां अन्य चिकित्सा पद्धतियों की चिकित्सा निष्फल रहती है, वहां आयुर्वेद की विशिष्ट शोधन चिकित्सा कुछ हद तक परिणामदायी रहती है और फिर ये शोधन चिकित्सा न कि सिर्फ त्वक् रोगों में ही कार्य करती है, बल्कि शरीर में प्रकुपित दोषों से उत्पन्न सभी रोगों में लाभ करती है और सबसे ज्यादा पंचकर्म चिकित्सा से जो लाभ मिलते हैं उससे रोगी निरोग जीवन बिताने में समर्थ होता है। संशोधन का वैशिष्ट्य है कि शमन चिकित्सा से दोषों का प्रशम तो होता है, पर पुनः प्रकोप की सम्भावना रहती है, जबकि शोधन करने पर मूल से दोष नष्ट होता है, जिससे पुनः प्रकोप की सम्भावना नहीं रहती है।

पंचकर्म—

(१) कायाग्नि तीक्ष्ण होती है।
(२) व्याधि शमन होती है।
(३) स्वास्थ्य का अनुवर्तन होता है।
(४) इन्द्रियां प्रसन्न रहती हैं।
(५) मन और बुद्धि के कार्यों का प्रकर्ष होता है।
(६) वर्ण प्रसादन होता है।
(७) बल बढता है।
(८) शरीर पुष्ट होता है।
(९) सन्तानोत्पत्ति होती है।
(१०) वीर्य की वृद्धि होती है।
(११) वृद्धावस्था देर से आती है।
(१२) रोगरहित दीर्घायुष्य प्राप्त होता है।

अन्त में एक ही आशा है कि आयुर्वेद की इस विशिष्ट विशिष्ट चिकित्सा पद्धति का पूरे विश्व मे प्रचार और प्रसार हो। धन्यवाद।

तालिका अ— आभ्यंतर स्नेहपान रिपोर्ट

दिनाक—२० अगस्त, ९०

रोगी नाम—वैद्य डी० एच० ओझा

वय— ५६ वर्ष संदर्भ वैद्य–किरीट भाई पण्ड्या

औषध पञ्चतिक्त घृत + त्रिफला घृत (२ : १)

| मात्रा | २५ | ५० | ७५ | १०० | १२५ |
|---|---|---|---|---|---|
| दिन | १ | २ | ३ | ४ | ५ |

लक्षण —

| | | | |
|---|---|---|---|
| अग्निदीप्ति | — | पुरीष स्निग्धता | + |
| स्नेहोद्वेग | + | त्वग् स्निग्धता | + |
| मल पतला होना | + | वातानुलोमन | + |
| अङ्ग लाघव | — | अधोमार्ग से स्नेह निकलना | + |
| गात्र मार्दव | + | क्लम | — |
| गात्र स्निग्धता | + | शैथिल्य | — |

नोट—

—उपयुक्त स्नेहन के लक्षण एवं चिह्न

—सम्पूर्ण शरीर को २ दिन मालिश तथा स्वेदनोत्तर स्नेहन दिया गया।

—स्नेहन वमन हेतु शल्यकर्म का पूर्वकर्म है।

तालिका ख—वमन का रिपोर्ट

दिनांक – २२ अगस्त ९०

रोगी नाम—वैद्य डी० एस० ओझा

वय—२६ वर्ष सन्दर्भ—वैद्य किरीट भाई पण्ड्या

| समय प्रातः | नाड़ी/ मिनट | श्वास/ मिनट | रक्तचाप | तापमान | नोट |
|---|---|---|---|---|---|
| १०-२५ | ८७/मि. | २२/मि. | १३०/९० | ९६.६° फा. | |
| १०-४० | ८४/मि. | — | १४०/९० | — | |
| ११.०० | ९६/मि. | — | १५०/१०० | — | हृद्यागमन |
| ११-१० | ९४/मि. | १८/मि. | — | — | |
| ११-१८ | ७६/मि. | २०/मि. | १३०/१० | — | |

| आभ्यंतर औषध | प्रमाण मि.ली. | समय | वेग | समय | प्रवृत्त द्रव्यमान |
|---|---|---|---|---|---|
| दुग्ध | २२०० | १०.२० | ३ | १०-२५ | ११५० मिली. |
| वामक मदनफल योग | १०ग्रा. | १०-४५ | २<br>८ | १०-५७<br>११-०५ | वातप्रवृत्त<br>२४०० मिली.<br>कफ प्रवृत्ति |
| यष्टीमधु फांट | १६५० | ११-०० | ७ | ११-१५ | ११०० मिली.<br>पित्त प्रवृत्त |
| लवणोदक | ६०० | ११-२० | ८ | ११.२५ | १००० मिली. |
| अन्य | | | | | औषध द्रव्य प्रत्यागमन |
| कुल | ४४६० | | कुल वेग—२८ | | ५६५० मिली.<br>पित्तान्त वमन |

नोट—

—वमन के उपयुक्त लक्षण एवं चिह्न

—रुग्ण को २ दिन तक पूर्ण विश्राम तथा चिकित्सोत्तर आहार कार्य क्रमानुसार लेने की सख्त हिदायत दी गई।

तालिका ग—आभ्यंतर स्नेहपान का रिपोर्ट

दिनांक ३ सितम्बर ९०

रोगी का नाम—वैद्य डी० एस० ओझा

वय—२६ वर्ष सन्दर्भ—वैद्य किरीट भाई पण्ड्या

औषध—पञ्चतिक्त घृत + त्रिफला घृत (२ : १)

| मात्रा | २५ | ५० | ७५ | १०० | १२५ |
|---|---|---|---|---|---|
| दिन | १ | २ | ३ | ४ | ५ |

सम्यक् स्नेहपान के लक्षण

| | | | |
|---|---|---|---|
| अग्निदीप्ति | | पुरीष स्निग्धता | + |
| स्नेहोद्वेग | + | त्वक् स्निग्धता | + |
| मल पतला होना | | वातानुलोमन | + |
| अंग लाघव | | अधोमार्ग से स्नेह निकलना | + |
| गात्र मार्दव | + | क्लम | |
| गात्र स्निग्धता | | वैविध्य | |

नोट—

—उपयुक्त स्नेहन के लक्षण एवं चिह्न

—सम्पूर्ण शरीर की ३ दिन मालिश तथा स्वेदनोत्तर स्नेहन दिया गया।

—स्नेहन वमन हेतु मुख्यकर्म का पूर्वकर्म है।

तालिका—ड

दिनांक—५ सितम्बर ९०

नाम—वैद्य डी० एस० ओझा

वय—२६ वर्ष सन्दर्भ—वैद्य किरीट भाई पण्ड्या

सामान्य परीक्षण—नाड़ी-६६/मि रक्तचाप-१३०/९० श्वास-२४/मि. तापमान-९८.६

औषध—द्राक्षारग्वध त्रिवृत एरण्ड भ्रष्ट हरीतकी क्वाथ—मात्रा २०० मिली औषधिपान समय—१०-०० प्रातः

| वेग | समय | नोट | वेग | समय | नोट |
|---|---|---|---|---|---|
| ३ | ११-१० | पतला, पीला, वायु प्रवृत्त | १ | ४-२० | पतला जल जैसा-पीला |
| २ | १२-१५ | हरित कत्थई वायु प्रवृत्त | १ | ५ ५५ | पतला जल जैसा-पीला |
| १ | १-०५ | हरित कत्थई वायु प्रवृत्त | १ | ६-२० | पतला जल जैसा-पीला |
| ७ | १-४५ | हरित कत्थई पतला पानी | २ | ६-४५ | पतला जल जैसा-पीला |
| २ | ३-०० | पानी जैसा साधारण बोल्ट | १ | ८-०० | पतला जल जैसा-पीला |
| २ | ४-०० | पानी जैसा साधारण पोकाइ | १ | ८-४५ | पतला जल जैसा-पीला |

कुल वेग संख्या—चौबीस

नोट—

—विरेचन के उपयुक्त लक्षण एवं चिह्न

—रुग्ण को २ दिन तक पूर्ण विश्राम तथा चिकित्सोत्तर आहार कार्य क्रमानुसार लेने की सख्त हिदायत दी गई।
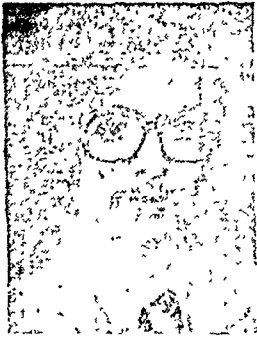
# सोरियासिस—एक कष्टसाध्य कुष्ठ रोग

डा० एस० एन० गुप्ता बी.ए.एम.एस. (लब्ध स्वर्ण पदक), एम.डी. (आयु०)
रीडर एवं प्रभारी विभागाध्यक्ष रोग विज्ञान एवं काय चिकित्सा विभाग
जो० शं० आयुर्वेद महाविद्यालय, नडियाद (गुज०)।

वैद्य हिरू भाई के० पटेल
प्राचार्य जो० शं० आयुर्वेद महाविद्यालय, नडियाद (खेड़ा) गुज०।

—०卐०—

कष्टसाध्य Psoriasis एक चिरकालानुबन्धी रोग है—रोग के आयुर्वेदीय नामकरण में न पड़ते हुये लेखक ने दोष की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। शोधन चिकित्सा से ही इस रोग की कष्टसाध्यता दूर हो सकती है। मैंने इंग्लैंड में सोरेटिक सोसाइटी देखी है, जहां इस रोग के दर्दी आपस में प्रति माह मिलकर रोग के बारे में अपने मन्तव्य को आदान-प्रदान करते हैं। आयुर्वेदीय विद्वानों से वहां सब प्रसन्न हैं।

लेखक डा० गुप्ता जी छात्रावस्था से ही मेधावी रहे हैं। आज तो श्री गुप्ता जी छात्रप्रिय प्राध्यापक एवं सफल चिकित्सक हैं।

वैद्य श्री हिरू भाई पटेल कालेज के प्राचार्य, सिद्धहस्त वैद्य एवं लेखक हैं। वर्तमान समय के हिरू भाई आयुर्वेदीय सरदार पटेल हैं। स्पष्ट वक्ता हैं जो सदैव आयुर्वेद के हित में ही हैं विदेश यात्रा तीन से चार बार अखिल भारतीय अनुसन्धानिक संघ के अध्यक्ष एवं कान्सिल के सदस्य हैं।

—वैद्य किरीट पण्ड्या (विशेष सम्पादक)।

---

सोरियासिस (Psoriasis) एक ऐसा कुष्ठ रोग है जिसके रोगी आयुर्वेद चिकित्सकों के पास अथवा आयुर्वेद चिकित्सालयों में बहुतायत से आते हैं, जिसका एक मुख्य कारण यह है कि आधुनिक चिकित्सा पद्धति में इसका कोई सन्तोषकारक और निरापद उपचार नहीं है। रोग का आयुर्वेद में एकदम उपयुक्त पर्याय खोजना व्यर्थ है। इस रोग को आयुर्वेदिक चिकित्सक किटिभ, दद्रु, एक कुष्ठ और मण्डल कुष्ठ इन विभिन्न नामों के अन्तर्गत रखकर चिकित्सा करते हैं। यहां हम नामकरण के व्यर्थ विवाद में पड़ना उचित नहीं समझते क्योंकि आयुर्वेद में कुष्ठ की भेदानुसार स्पष्ट चिकित्सा का वर्णन नहीं किया गया है। परन्तु कुष्ठ की सामान्य चिकित्सा का ही उल्लेख मिलता है। जिसमें सभी कुष्ठ रोगों में रोगी के बल, प्रकृति, तथा विकृत दोष आदि का ध्यान रखते हुए वही एक सामान्य चिकित्सा किंचित परिवर्तनों के साथ लगभग सभी रोगों में की जाती है। वैसे भी नामाभिधान से ज्यादा जरूरी यह है कि हम किसी भी रोग का चिकित्सा सिद्धान्त प्रस्थापित कर सकें।

आधुनिक त्वक् रोग विज्ञान में इस रोग के बारे में उपलब्ध सूचनाओं पर चर्चा करते हुए तदनुसार आयुर्वेद दृष्ट्या इस रोग की चिकित्सा पर विचार किया जायेगा।

सोरायसिस एक चिरकालानुबन्धी रोग है जिसमे त्वचा पर अल्प पारदर्शी रजत पत्रवत् शल्कों (Scales) से ढके हुए रक्ताभ मण्डलों की उपस्थिति मिलती है।

यद्यपि इसके निश्चित निदानों के प्रति आधुनिक विज्ञान में अभी भी अनिर्णय की स्थिति है तथापि कुछ आधारभूत मान्यताएं प्रचलित हैं। संप्रति यह माना जाता है कि यह रोग जैनेटिक (आनुवंशिक) क्षतियों के कारण कुछ जैवरासायनिक विकृतियों और कुछ उद्दीपकों (स्टीमुलाई) की प्रतिक्रियाओं के परि-

बहुत अल्प संख्या में कभी-कभी यह रोग विशेषकर मध्य वय की स्थूल महिलाओं में शरीर के अवनत भागों तथा शरीर के मोड वाले भागों (फ्लेक्सर सरफेस तथा बोडी फोल्ड्स) यथा वंक्षण. कक्षा आदि में पाया जाता है तथा तब चिकित्सा की दृष्टि से दुष्कर होता है।

कभी-कभी (प्राय: बच्चों में) संक्रामक रोगों के तुरन्त बाद एकदम तीव्र प्रकार का सर्व शरीरगत रोगोद्भव होता है। इस अवस्था मे छोटे-छोटे ३ से १० मिली मीटर व्यास के दाने शाखाओ और मध्य शरीर पर उत्पन्न होते हैं। इनकी आकृति बूंद के समान दिखाई देती है। इसे गट्टेट सोरायसिस कहा जाता है। कुछ समय में यह स्वत: शमन होकर सोरायसिस के सामान्य परिचित लक्षणो के साथ पुन: उद्भूत होता है।

हस्तपाद तलों पर त्वचा की स्थूलता के साथ वेदनायुक्त विदारों तथा विशेष रक्तिमा रहित मण्डल भी पाये जा सकते है। ५०% मामलों मे नख भी प्रभावित होते हैं जिनमे छोटे-छोटे कई गड्ढे दिखाई देते हैं। जहां नख का अग्रिम अर्द्ध भाग टूटकर अलग हो जाता है और प्रभावित भाग अपार दर्शक, भगुर तथा विवर्ण हो जाता है। नख स्थूल खर, रुक्ष भी हो सकता है।

सोरायसिस एक आर्थोपैथिक भेद में सन्धिशोथ की घटना भी पाई जाती है जिसके लक्षण आमवात सदृश दिखाई देते हैं।

पस्चुलर सोरायसिस में असंक्रमित पूययुक्त दाने भी दिखाई देते हैं।

साध्यासाध्यता की दृष्टि से इस व्याधि को कष्टसाध्य और याप्य मानना चाहिए।

**आयुर्वेदीय चिकित्सा—**

इस रोग में दोषादि की स्थिति को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह व्याधि त्रिदोषज होते हुए भी कफ प्रधान है तथा पित्त और वात का अनुबन्ध है इसीलिए यह रोग शीतकाल में बढ़ता है तथा ठंडे देशों में विशेष पाया जाता है। मेटाबोलिक विकृतियां इसमें आम के सम्बन्ध को इंगित करती हैं।

इस रोग में कुष्ठ के सामान्य चिकित्सा सिद्धांत के अनुसार शोधन चिकित्सा अत्यन्त आवश्यक है। शोधन चिकित्सा के सम्बन्ध में स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि मात्र एक बार शोधन चिकित्सा करवाकर शमन चिकित्सा लेते रहने से यह व्याधि नियत्रण में नहीं रहती। अष्टांग हृदयकार ने कुष्ठ में शोधन के संदर्भ में स्पष्ट कहा है कि—

पक्षात् पक्षात् छर्दनान्यभ्युपेयात्,
मासान्मासात् शोधनान्यपि अधस्तात्।
शुद्धिर्मूर्ध्नि स्यात् त्रिरात्रात् त्रिरात्रात्,
षष्ठे षष्ठे मास्यसृक् मोक्षणं च॥

अर्थात् प्रति पक्ष वमन, प्रति मास विरेचन, प्रति तीसरे दिन शिरोविरेचन और छ: छ: महीने में रक्तमोक्षण करवाना चाहिए।

योग रत्नाकर ने इसी सूत्र में शिरोविरेचन का निर्देश न करते हुए लेप का उल्लेख किया है—

षष्ठे मासे शिरा मोक्षं प्रति मासं विरेचनम्।
प्रतित्र्यक्षं वमनं कुष्ठे लेपं त्र्यहाच्चरेत्॥

तात्पर्य यह है कि शोधन प्रक्रिया निरन्तर चालू रखने पर ही कुष्ठ रोग नियंत्रित रह सकता है और यह बात सोरायसिस पर भी लागू होती है।

व्यावहारिक दृष्टि से इस क्रम में कुछ परिवर्तन किया जा सकता है। हम सोरायसिस के रुग्णों में वर्ष में दो बार वमन, तीन या चार बार विरेचन और प्रति पक्ष या प्रति मास रक्तमोक्षण (सिरावेध द्वारा) करवाते हैं। रोगी का बल तथा रोग की तीव्रता के अनुसार रक्तमोक्षण का क्रम विलम्बित भी किया जा सकता है। शोधनार्थ स्नेहन के लिए पञ्चतिक्त घृत का प्रयोग किया जाता है। सम्यक् स्नेहनोपरांत अभ्यंगार्थ मरिच्यादि तैल या निम्ब तैल का उपयोग करके निम्बपत्र क्वाथ से वाष्प स्वेद करवाते हैं। तीन दिन अभ्यंग स्वेदन करवाकर मदनफल, वचा, सैंधव और मधु के योग से वमन करवाते हैं। वमनोपग द्रव्य की तरह यष्टीमधु और निम्ब क्वाथ का उपयोग किया जाता है। सम्यक् वमन के बाद संसर्जन क्रम पूरा होने पर पुन: स्नेहनादि पूर्वकर्म करवाकर विरेचन करवाते है। तदर्थ आरग्वध, कटुकी और एरण्ड स्नेह का मुख्यत: प्रयोग किया जाता है। संसर्जन क्रम पूरा होने पर

— शेषांश पृष्ठ १६६ पर देखें।

# श्वित्र—अनुभूत चिकित्सा

वैद्य धीरेन्द्र त्र्यंबकलाल जोशी डी. एस. ए. सी.,
६६ मालवीया नगर, गोण्डल रोड, राजकोट-३६०००४ (गुजरात)

—::※::—

★ गुजरात के सुप्रसिद्ध आयुर्वेद चिकित्सक
★ भूतकाल में विभिन्न आयुर्वेद अस्पतालों में पदाधिकारी
★ गुजरात की विभिन्न आयुर्वेद संस्थाओं में प्रमुख पदाधिकारी
★ निदान यज्ञों का आयोजन
★ वैद्य मण्डलों के अधिवेशन का कार्यभार
★ सुप्रसिद्ध लेखक–दैनिक पत्र एवं मासिक पत्र
★ आयुर्वेदीय औषधि निर्माता
★ सेवा संस्थाओं में संलग्न
★ गुजरात आयुर्वेद बोर्ड, आयुर्वेद यूनिवर्सिटी जामनगर में भूतकालीन पदाधिकारी (सदस्यता)

—विशेष सम्पादक

मेरे चिकित्सा व्यवसाय में श्वित्र के जो रोगी आये हैं उनमें मुझे मुख्यतः कृमि (आन्त्रकृमि) तथा मन्द ज्वर या शरीर की अधिक ऊष्मा का वृत्त देखने को मिला है। ऐसे रोगियों की प्रारम्भ में कृमि की तथा ज्वर की चिकित्सा करने के बाद श्वित्र की चिकित्सा से विशेष लाभ हुआ है। यह मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है।

आयुर्वेद में श्वित्र रोग चिकित्सार्थ खदिर तथा बाकुची के प्रयोगों को विशेष महत्व दिया है। बाकुची के प्रयोग से 'ब्लिस्टर' Blister (विस्फोट) होने की सम्भावना है अतः इसका प्रयोग ध्यान से सावधानीपूर्वक करना चाहिए। कुछ प्रयोग निम्न प्रकार हैं।

— खदिर त्वक् क्वाथ, खदिरारिष्ट, खदिर सार का प्रयोग है।

—बाकुची चूर्ण, बाकुची तैल का प्रयोग है।

— खदिर के जल से रोगी को स्नान कराना, खदिर के जल से ही रोगी का आहार तैयार करना, खदिर का ही जल रोगी को पीने के लिए देना। यह भी प्रयोग है। इस प्रकार श्वित्र के औषधिक योगों में खदिर तथा बाकुची का उपयोग मुख्यतः होता है। अन्य चिकित्सा प्रणालियों में भी श्वित्र के लिए बाकुची के प्रयोग हैं।

आयुर्वेद में पथ्यापथ्य का विशेष महत्व है। श्वित्र में कृष्ण वर्ण के लघु धान्यों का उपयोग कहा गया है। मैं कृष्ण मुद्ग का आहार में विशेष उपयोग करने की सलाह देता हूँ।

मेरा अनुभव—

मेरे पास श्वित्र के जो रोगी आते हैं उनमें बाल, युवा, वृद्ध तीनों वय के रोगी आये हैं। बाल वय के रोगियों में कृमि का वृत्त मिलने की संख्या अधिक है। युवा तथा वृद्ध में शरीर उष्णता का वृत्त मिलने की संख्या अधिक है।

आयुर्वेद का एक सूत्र है कि "निराम देहस्य हि भेषजानि युक्तानि अमृतोपमानि"। अर्थात् निराम शरीर में ही औषध अमृत समान लाभ करती है। तो इस सूत्र के अनुसार मैं सर्वप्रथम रोगी के निराम करने का उपाय करता हूँ। निराम के लक्षण मिलने तक रोगी को लघु अन्न का आहार दिया जाता है तथा दीपन पाचन औषधि का प्रयोग किया जाता है। निरामीकरण के लिए— हरीतकी - सुण्ठी - अजमोद का चूर्ण हमारी परम्परागत औषधि है। लघु अन्न तथा उक्त औषधि प्रयोग से रोगी निराम हो जाता है। इसके बाद रोगी को शोधन चिकित्सा का अधिकार प्राप्त होता है।

प्रथम रोगी को स्नेहन दिया जाता है। आभ्यन्तर स्नेहन के लिए पञ्चतिक्त घृत तथा बाह्य स्नेहन के लिए बाकुची तेल दिया जाता है। पञ्चतिक्त घृत पर्याप्त मात्रा मे दो बार दुग्ध के साथ दिया जाता है। साथ ही रोगी को स्वेदन भी दिया जाता है। सम्यक स्निग्ध एव स्विन्न के लक्षण प्रगट होन के बाद वमन कर्म किया जाता है। वमन के लिए रोगी की प्रकृति, दोषादि को देखकर कुछ यष्टिमधु क्वाथ या इक्षु रस आकण्ठ पिलाया जाता है तथा वमन कराया जाता है। वमन का सम्यक् योग हुआ है या नही देखा जाता है। वमन के बाद फिर से स्नेहन कराकर विरेचन कर्म कराते हैं। सम्यक् विरेचन हो जाने के बाद रोगी को ससर्जन क्रम से आहार देते हे। तथा शमन चिकित्सा का प्रयोग प्रारम्भ करते है। शमनार्थ—प्रचलागुणादि चूर्ण + त्रिफला चूर्ण का योग तीन बार जल से दिया जाता है। आरोग्य वर्धनी वटा २-२ गोली तीन बार दी जाती हैं। इस चिकित्सा के साथ बाह्य लेपनार्थ मनःशिलादि की श्वित्रहर सोगठी दी जाती है। प्रातः बाकुचि लगाकर मृदु आतप सेवन कराया जाता है। इस चिकित्सा से धीरे-धीरे रोगी को लाभ होता है। कुछ रोगियो को जरूरत पड़ने पर एक से अधिक बार भी विरेचन कराना पड़ता है। त्वचा का वर्ण जितना अधिक श्वेत होता है, चिकित्सा की अवधि चिरकालीन होती है। वर्ण जितना कम श्वेत होता है चिकित्सा अवधि अल्पकालीन होती है। अधिक श्वेत वर्ण से विकृत दोष त्वचा की गहराई तक, सातवी त्वचा तक पहुचा है तथा अल्प श्वेत वर्ण से उसकी मात्रा अनुसार विकृत दोष गहराई तक नही गया है, ६ से ९ तक की त्वचा तक गया है ऐसा अनुमान होता है। यह अनुमान अनुभव से प्राप्त हो सकता है। कई रोगियो को देखने के बाद प्राप्त हो सकता है।

उपर्युक्त चिकित्सा से कुछ रोगियों में अल्प लाभ होता भी देखा है। ऐसे रोगी को "रसमाणिक्य" का प्रयोग कदली फल के साथ दिया जाता है। यह प्रयोग अवस्थानुसार १० या १५ दिन तक किया जाता है। ऐसे कुछ रोगियो को एक-एक माह के अवकाश बाद तीन या चार बार भी यह प्रयोग दिया जाता है। इस प्रयोग से रोगी को शीघ्र लाभ होता है। त्वचा का वर्ण बदलने लगता है। प्रारम्भ में त्वचा का वर्ण गुलाबी होता है तथा धीरे-धीरे क्रमशः प्राकृत वर्ण आता है। कई रोगियों मे श्वेत त्वचा पर दाने (Pigmentation) निकलने लगते हैं। यह दाने प्राकृत त्वचा के वर्ण के होते हैं। यह दाने क्रमशः फैलते जाते हैं तथा दाग सम्पूर्ण प्राकृत वर्ण की त्वचा जैसा बन जाता है। कुछ रोगियों में श्वेत त्वचा की किनारी की ओर से त्वचा प्राकृत वर्ण की बनकर अन्दर की ओर फैलती जाती है तथा दाग प्राकृत वर्ण की त्वचा जैसा हो जाता है। और इस तरह रोग प्रशम होता है।

कुछ रोगी को शमनार्थ महामजिष्ठादि क्वाथ, डर्मोकीन टिकिया, शतशोधक टिकिया या प्रवाही, शतदोषान्तक प्रवाही, हिमोक्लिन प्रवाही आदि औषध का उपयोग भी किया जाता है जिससे विशेष सफलता प्राप्त होती है।

लिंग प्रदेश, स्तन प्रदेश वृषण प्रदेश, ओष्ठ आदि के दाग असाध्य माने गये हैं। मुझे ओष्ठ प्रदेश के दाग की एक बालकी मे सम्पूर्ण सफलता मिली है। रोग एक वर्ष से जितना अधिक पुराना होता है उतनी चिकित्सा चिरकालीन होती हैं, कठिन होती है। एक वर्ष के अन्दर के दाग में विश्वास के साथ सफलता मिल सकती है।

**प्रच्छान कर्म**

सर्वप्रथम स्थानीय वस्त्राच्छादन करके त्वचा को जन्तु नाशक घोल से साफ करते हैं, तथा स्टर्लाइज्ड इस यन्त्र को घुमाते-घुमाते श्वेत वर्ण की त्वचा का प्रच्छान करते हैं। दाग जितना गहरा होता है उतना गहरा प्रच्छान करना पड़ता है। कर्म दरम्यान रक्तस्राव होता है उसको बार-बार साफ करते जाते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण श्वेत त्वचा को निकाल देते हैं तथा व्रण को साफ करके उस पर बाकुची तेल का प्रयोग किया जाता है। इस विधि से व्रण कुछ दिनो मे भर जाता है तथा त्वचा प्राकृत वर्ण की आती है।

—:०:—

**दैव व्यपाश्रय चिकित्सा—**

उपरोक्त श्वित्र कुष्ठ में देव, गुरु, ब्राह्मण का अपमान एवं कुकर्म करने के कारण व्याधि का निर्माण होता है तभी इस व्याधि में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का उल्लेख किया है। उसमें खदिर का पर्याय गायत्री' कहा है। गायत्री का अर्थ गै यानी कि गान करना, त्रयी यानी कि त्राण, यानी कि जिसे गाने से सभी प्रकार का दुःख का नाश होता है उसका नाम गायत्री है। इसलिए कुष्ठ के रोगी को प्रतिदिन यथाशक्ति गायत्री मंत्र जाप करना चाहिए। गायत्री का अनुष्ठान करना चाहिए।

मेरे स्नेही मित्र श्री गोविंद भाई दवे (आचार्य-सरकारी आयु० कालेज, बडोदरा-गुज०) ने गायत्री मंत्र जाप करने से उनको कुष्ठ रोग में बहुत लाभ हुआ है।

गायत्री की उपासना भगवान सूर्य नारायण की ही उपासना है और खदिर का पर्याय गायत्री है यानी कि खदिर एवं गायत्री मंत्र ये दोनों उभय पक्षे रोग का नाश करता है और पाप का नाश होता है।

महर्षि वाग्भट्ट ने कुष्ठ में व्रत आदि का विधान कर कहा है कि व्रत (उपवास आदि), दम (उपशम् मनः शान्ति), यम (सयम इन्द्रिय विग्रहः) दूसरों की सेवा, त्याग, दान, शील (पवित्र आचरण) का अभियोग लगनी के साथ सेवन, ब्राह्मण, देवता एवं गुरुजन की सेवा, सभी प्राणियों में मैत्री, प्रेम, शिव, गणेश, तारादेवी शक्ति तथा सूर्य देव का आराधन कुष्ठ को मूलतः नष्ट कर देते हैं। क्योंकि उसमें मल एवं पाप ही प्रगट रूप धारण करते हैं और व्रत आदि से पाप का और चिकित्सा से मल-दोष का नाश हो जाता है। ☆

---

❖ सोरियासिस-एक कष्ट साध्य एक कुष्ठ :: पृष्ठ १६२ का शेषांश ❖

रोगी को अभ्यंग स्वेदनोपरान्त सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण करवाते हैं।

शोधन की यह प्रक्रिया पूरी होते होते रोगी के लक्षणों में मार्दव आने लगता है। तदुपरान्त शमन चिकित्सा प्रारम्भ कर दी जाती है।

बाह्योपचार के रूप में रात को निम्ब तैल, या मरिच्यादि तैल में यशद पुष्प मिश्रण कर लेप लगवाया जाता है तथा प्रातः निम्ब तैल का अभ्यंग करके आतप सेवन करवाया जाता है।

औषध योगों में मञ्जिष्ठादि क्वाथ, आरोग्यवर्धिनी, कैशोर गुग्गुलु और रसमाणिक्य आदि सामान्यतः व्यवहृत कुष्ठघ्न योगों का प्रयोग करवाते हैं। आहार में कफवर्धक, मेदवर्धक, विरुद्ध, अभिष्यंदि और विदाही पदार्थों का निषेध किया जाता है। रोगी को मानसिक रूप से तनावरहित परिस्थितियों के लिए परामर्श दिया जाता है। २० रोगियों को इस उपक्रम द्वारा रोगमुक्त किया जा सका है।

**रोग के प्रतिषेधात्मक उपाय—**

इस व्याधि के कारणों में जेनेटिक क्षतियां मुख्य हैं। जेनेटिक क्षतियों को दूर करना तो सम्प्रति सम्भव नहीं है परन्तु इन क्षतियों से बचने के उपाय के बारे में विचार विमर्श किया जा सकता है। वर्तमान युग में जहां गर्भाधान मात्र एक संयोग और कभी कभी तो एक अनपेक्षित तथा अन[illegible] [illegible] जाता [illegible]
वहां जेनेटिक क्षतियां [illegible] [illegible]धक पुराना होता है उतनी
की सम्भावनायें हो[illegible] हैं, कठिन होती है। एक
यदि गर्भाधान [illegible] सफलता
पूर्वक शास्त्र सम्मत [illegible]
गर्भिणी चर्या का सम्य[illegible]
निश्चय ही इस प्रकार की [illegible] त्वचा को

**रोग मुक्ति का मापदण्ड—** [illegible] स्टलाइज्ड

यह रोग कभी कभी वि[illegible] त्वचा का
भी शान्त होता है। अतः वह [illegible] है उतना
सकती है। इसलिए रोगी को [illegible] [illegible]यान रक्तस्राव
रोग मुक्ति के लक्षण दिखाई दें [illegible] जाते हैं। इस
मुक्ति हुई है यह समझना चाहिए। देते हैं तथा व्रण

इस प्रकार संक्षेपतः इस रोग [illegible] का प्रयोग किया
का प्रारूप प्रस्तुत किया गया है। दिनों में भर जाते
स्थिति के अनुसार इसमें परिवर्तन [illegible]
आवश्यक होता है।

# ❁ श्वित्र एवं गंधक ❁

वैद्य अशोक भाई सताविया भारद्वाज, आयुर्वेदाचार्य बी. एस. ए. एम., आयुर्वेद मार्तण्ड
भारद्वाज औषधालय, स्वामीनारायण मन्दिर, सावर कुण्डला, भावनगर—३६४५१५ (गुजरात)

आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति में गंधक द्रव्य का उपयोग होता है। इसमें खास करके त्वचा जन्य विविध रोगों में गंधक का प्रयोग सफलतापूर्वक किया जाता है। परापूर्व से गंधक की उपादेयता सिद्ध हो चुकी है। शास्त्राधार है कि गंधक— पार्वती जी के रज से पैदा हुआ है, इस तथ्य को स्वीकार करें या न करें लेकिन गंधक का अनुसंधानपूर्वक प्रयोग किया जाता था, और भारतीय वैद्य आज भी गंधक की महत्ता स्वीकार कर प्रयोग में ले रहे हैं।

गंधक खनिज द्रव्य है, इसका शोधन मारण कर प्रयोग किया जाता है। त्वचा के अनेकों रोगों में इसका प्रयोग होता है एवं रसायन गुण वाला है। अठारह प्रकार के कुष्ठ रोगों में गंधक उपयोगी है।

### श्वित्र में गंधक उपयोगी है ?

मैं आपके सामने यह प्रश्न रखता हूँ। मेरा एक मंतव्य है कि श्वित्र रोग में गंधक अनुपयोगी है। इस मंतव्य से आप चौंकेंगे ही। लेकिन जरा ध्यानपूर्वक मेरे मंतव्य पर अनुसंधान दृष्टि रखकर चिन्तन करेंगे तो मेरे विचार से आप भी सहयोगी बनेंगे।

### श्वित्र क्या है ?

श्वित्र को कोई विद्वान कुष्ठ में लेते हैं लेकिन श्वित्र कुष्ठ नहीं है। कुष्ठ के १८ प्रकार हैं उनमें श्वित्र का नामोल्लेख नहीं मिलता है। निदान एवं लक्षण भी भिन्न-भिन्न हैं। श्वित्र त्वचा रोग जरूर है, लेकिन कुष्ठ रोग नहीं है। कुष्ठ के बाद ही श्वित्र का अलग अध्याय है। श्वित्र को सफेद दाग कहना उचित है और कुष्ठ को कोढ़ कहना उचित होगा।

श्वित्र कैसे उत्पन्न होता है ? इसमें अनेकों कारण कहे गये हैं। विरोधी अन्नपान, पापकर्म, पूर्वकर्म इत्यादि मुख्य हैं। मानसिक दुर्गुणों से भी त्वचा पर श्वित्र पैदा होता है। श्वित्र में त्वचा का प्राकृत वर्ण 'मेलेनिन' लुप्त हो जाता है। यह मेलेनिन तत्व का वर्ण ताम्र जैसा होता है। यह तत्व त्वचा के स्तरों में विद्यमान होता है—'वर्णनी' नामक त्वचा स्तर में इसका स्थान है। यह ताम्र तत्व (मेलेनिन) पर एड्रीनलिन एवं पिच्युटरी ग्रन्थि के स्रावों का निश्चित प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ—मेंढक में से ऐसी ग्रन्थी निकाल ली जाय तो उसकी त्वचा का वर्ण नाश हो जाता है। ऐसी ग्रन्थियों के स्रावों पर काम, क्रोध, भय, शोक, मद, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, असूया, मात्सर्य, घृणा, हिंसा इत्यादि मनोभावों का एवं मानसिक आवेग के प्रभाव को स्वीकार किया गया है, अतः इन भावों का असर ताम्र तत्व (मेलेनिन) पर होने से वर्ण कणों में हानि होती है, परिणामतः श्वित्र की उत्पत्ति होती है।

सफेद दाग का मुख्य कारण है— त्वचा के प्राकृतिक वर्ण का नाश होना। इस प्राकृतिक वर्ण की उत्पत्ति में ताम्र तत्व का ही महत्व है। अतः शरीर को ताम्र तत्व देना बन्द कर देंगे तो त्वचा का स्वाभाविक वर्ण नष्ट हो जाता है। तदुपरान्त जो शरीर में ऐसे तत्व विशेषकर प्रवेश करेंगे कि जिससे वर्ण को उत्पन्न करने की प्रक्रिया में बाधा हो जाय, क्योंकि ऐसे तत्व ताम्र को अपने में समाविष्ट कर लेंगे, परिणामतः त्वचा के प्राकृतिक वर्ण का नाश होता है। ताम्र को अपने में समाविष्ट कर इस तरह त्वचा का प्राकृतिक वर्ण को नष्ट करने में प्रभावी कौन-सा पदार्थ है ? ऐसे खानपान द्रव्यों में गंधक प्रधान द्रव्य है। कृष्ण वर्ण के बच्चे को 'थियोयुरेसिल' नामक गंधक युक्त पदार्थ देने से उसके कृष्ण वर्ण का नाश होता है। हमारे खाद्य पदार्थों में प्याज का अति उपयोग होता है प्याज में गंधक द्रव्य विशेषतया विद्यमान है। हम जानते भी हैं कि जो व्यक्ति प्याज का अति उपयोग करता है उन सबको श्वित्र अवश्यमेव होता है। दूध + प्याज, दही + प्याज एवं

—शेषांश पृष्ठ २०१ पर देखें।

# श्वित्र में गन्धक का प्रयोग

डा० अशोक कुमार श्रीवास्तव एम. डी. (आयु०)

द्वारा-श्री ए के. श्रीवास्तव सी-एम. अल्यू, कण्ठकुंइया (देवरिया) उ.प्र.

—०।ॐ।०—

निदान—

(१) आहार जन्य -मधु, फाणित, मत्स्य, लकुच, मूली तथा काकमाची का अधिक मात्रा में सतत प्रयोग, अध्यशन, क्षीर, दधि, तक्र, कुलत्थ एवं स्नेह द्रव्यों का एक साथ प्रयोग।

(२) विहार जन्य--छर्दि तथा अन्य वेगों को रोकना, दिवास्वप्न तथा पञ्चकर्म का उपचार।

(३) दैवकृत जन्य---पापकर्म करना, ब्राह्मण तथा स्त्रियों का बध करना, पर-स्त्री गमन।

(४) निदानार्थकर रोग—अम्लपित्त, व्रण या कृमि रोग के बहुत दिन तक होने पर।

सम्प्राप्ति—

१. आचार्य चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट्ट ने श्वित्र की सम्प्राप्ति का वर्णन नहीं किया है।

२. हारीत—वायु से प्रेरित पित्त त्वचा में जाकर रक्त के साथ प्रकुपित होकर पाण्डुर वर्ण को उत्पन्न कर देता है (हा. सं. अ ३८/५०-६०)।

लक्षण—

१. वातिक श्वित्र (दारुण किलास)—रक्त धातु दोषों से त्वचा रूक्ष, तनु, अरुण या कृष्ण वर्ण, त्वचा में भंगुरता।

२. पैत्तिक श्वित्र (वारुण), मांसगत दोषों से—त्वचा कमल पत्र के समान, ताम्र अथवा रक्त वर्ण, दाह, श्वित्र मण्डल भाग के बाल या रोम रक्त।

३. श्लैष्मिक श्वित्र---मेदोगत दोष से-त्वचा श्वेत वर्ण, स्निग्ध घन, कण्डूयुक्त।

भेद—
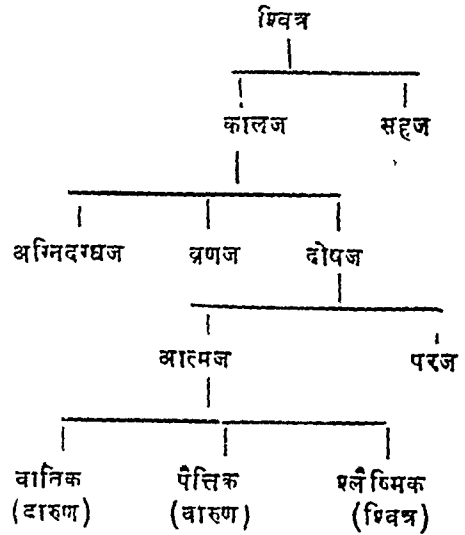
साध्यासाध्यता—

जिस श्वित्र में रोम रक्त वर्ण के न हुए हों, जो पतला हो, पाण्डु वर्ण का हों, अत्यधिक पुराना न हो, तथा जिस श्वित्र में मध्य भाग में कुछ शोथ हो (च. चि. अ. ७)। अग्निदग्ध से उत्पन्न न हो।

(अ. हृ. नि. १४)

जिस श्वित्र में मण्डल परस्पर इतने समीप में सटे हो कि उनकी भिन्नता प्रतीत न हो, एक वर्ष से पुराना (च. चि. अ. ७)। ओष्ठ, पाणिपाद तल पर हो।

(अ. हृ. अ. १४)

# 卐 सफेद दाग—प्राकृतिक चिकित्सा 卐

डॉ० सत्यनारायण लोहिया, आरोग्यधाम, प्राकृतिक चिकित्सा केन्द्र,
१२७, न्यू वर्मा ले आऊट, अवाझरी, नागपुर-१० (महाराष्ट्र)

प्राकृतिक चिकित्सा का कार्य—

इस दिशा में प्राकृतिक उपचारों का कार्य सराहनीय है, मैं जानता हूं कि इस काम को सभी प्राकृतिक चिकित्सक हाथ में नहीं लेते। इसका मुख्य कारण है, दीर्घ चिकित्सा, दीर्घकाल तक आहार में विशेष परिवर्तन व संयम, यह सब रोगी द्वारा चलाना असंभव हो जाता है। इससे प्राकृतिक चिकित्सक का उत्साह ठंडा पड़ जाता है। अन्य रोगों की तरह सफेद दाग का रोगी तीन माह में पूर्ण रूप से रोग मुक्त नहीं होता। बच्चों को करीब चार से छः माह व बड़ों को छः से बारह माह लग जाते हैं। इतने दिन रोगी का चिकित्सालय में रहना असंभव होता है और कुछ समय तक चिकित्सालय में रहकर शेष पथ्य व चिकित्सा घर पर चलाना मुश्किल सा हो जाता है। लगनशील प्राकृतिक चिकित्सक, संकल्पशील रोगी तथा समझदार अभिभावक (रोगी के घर के लोग) इन तीनों का जहां समन्वय हो जाता है, वहां देखते ही देखते सफेद दागों पर छींटे आना शुरू हो जाते हैं। रोगी का शरीर भीतर से स्वच्छ हो जाता है और रोगी को कुछ ही महीनों में रोग से मुक्ति मिल जाती है।

औषधियों के दुष्परिणाम—

प्राकृतिक उपचारों में किसी भी प्रकार की औषधि का प्रयोग नहीं होता, क्योंकि कोई भी औषधि कितनी ही परिणामकारी क्यों न हो, उसके दुष्परिणामों से रोगी बच नहीं सकता। डॉ जे. एस जानस (एम. डी.) डॉ. आर. टी. ट्राल (एम. डी.), न्यूयार्क मेडिकल कालेज के प्रो. आस्टिन फिल्ट (एम डी.) इत्यादि हजारों विशेषज्ञों ने इस मत की पुष्टि की है कि जो चीज हमारी खुराक नहीं बन सकती वह चीज हमारी दवा नहीं बन सकती। इसलिए जाने-माने विद्वानों का दावा रहा है। 'आहार ही औषधि है।" (डाइट इज मेडिसिन)

प्राकृतिक चिकित्सा से शरीर नया बनता है—

प्राकृतिक उपचारों में शरीर से दूषित तत्वों को निकाल फेंका जाता है व आवश्यक तत्वों की शरीर में पूर्ति की जाती है। इसके लिए प्राकृतिक आहार, प्राकृतिक आबोहवा, उपवास, एनिमा, सूर्य किरण चिकित्सा, व्यायाम तथा मर्दन का सहारा लिया जाता है। इससे रोगी का शरीर निरोगी हो जाता है। सफेद दागों के साथ साथ शरीर के अन्य विकार दूर हो जाते हैं। भविष्य में आने वाली बीमारियों से बचकर दीर्घायु को वह प्राप्त होता है। शरीर सुडौल होने के साथ-साथ उसकी गंदी आदतें सुधर जाने से उसका नवजीवन सुखी हो जाता है।

प्राकृतिक चिकित्सा विधि—

इस दशा में भारत के सुप्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक डॉ हीरालाल ने अपनी "अपक्वाहार द्वारा स्वास्थ्य" व "सूर्य किरण चिकित्सा" इन पुस्तकों में अपने अनुभव लिखे हैं। मेरा भी गत बत्तीस वर्षों का इस क्षेत्र में अनुभव रहा है। इस काल में मैंने श्वेत कुष्ठ के सैंकड़ों रोगियों की जांच की तथा उन पर विभिन्न प्राकृतिक उपचार किए। जिन रोगियों ने समय दिया व लगन दिखाई उन्हें पूर्ण सफलता मिली। इसमें रोगी के घर के लोगों का सहयोग भी महत्वपूर्ण रहा। हमारे समाज में सैंकड़ों त्यौहार आते रहते हैं। इन त्यौहारों में उपवास व फलाहार की जगह तली-भुनी चीजों ने ले ली हैं। ये सब रोगी की चिकित्सा साधना व परहेज में बाधक बनते हैं। मैं कुल चिकित्सा काल के एक चौथाई काल रोगी को अपने पास रखकर बाकी समय उसे उसके घर पर पत्र द्वारा मार्गदर्शन करता हूं। वह एक चौथाई काल रोगी की शरीर शुद्धि के लिए व उसकी गंदी आदतें ठीक करने के लिए बहुत जरूरी है। वह उपचार काल रोग निवारण में मकान की बुनियाद की तरह है। प्रकृति के सुन्दर वातावरण में रोगी अपनी पारिवारिक व व्यवसायिक परेशानियों से दूर रहकर मानसिक स्वास्थ्य लाभ करता है।

# शीतपित्त—क्या यह त्वक् रोग है ? समाधानपूर्वक निदान एवं चिकित्सा

डा० गिरीन्द्र सिंह तोमर बी०ए०एम०एस० (गोल्ड मेडलिस्ट), सी.सी. वाय पी.बी.एल. बी.एच.यू.)
एम०डी० (आयु०) काय चिकित्सा (बी.एच.यू.), डी. वाय (बी.एच.यू.), पीएच डी० काय चिकित्सा (बी.एच.यू), एम.डी. मेडि० एल्टर. (डेनमार्क), एफ.एम.ए (स्वेन)
विभागाध्यक्ष-काय चिकित्सा
श्री लाल बहादुर शास्त्री स्मारक राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय एवं चिकित्सालय,
हंडिया-२२१५०४ (इलाहाबाद) उ० प्र०

—०※०—

★ मेधावी प्राध्यापक। ★ यशस्वी चिकित्सक। ★ आयुर्वेदीय अनुसंधानकर्त्ता। ★ विद्वान लेखक। ★ धन्वन्तरि के मान्य लेखक। ★ यहां शीतपित्त पर सुन्दर अनुसन्धाननीय प्रकाश डाला है।

—वैद्य किरीट पण्ड्या (विशेष सम्पादक)।

## क्या शीतपित्त एक त्वक् रोग है ?

चरक तथा सुश्रुत ने शीतपित्त का वर्णन आविष्कृततम रोगों में नहीं किया है। चरक ने कफ के नानात्मज विकारों में 'उदर्द' को गिना है जोकि शीतपित्त की ही एक अवस्था मात्र है। 'कोठ' का परिगणन चरक ने रक्त प्रदोषज विकारों में किया है। इसके अतिरिक्त अष्टांग हृदय में क्षुद्र रोग प्रकरण में भी 'उत्कोठ' एवं 'कोठ' का वर्णन है। शीतपित्त का वर्णन बृहत्त्रयी के बाद के ग्रन्थों माधव निदान, भावप्रकाश तथा योग रत्नाकर आदि में मिलता है। उक्त ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि इस तथ्य की तरफ इंगित करती है कि उदर्द-कोठ एवं उत्कोठ शीतपित्त से मिलती जुलती अवस्थायें मात्र हैं। पूर्ववर्ती आचार्यों ने इसी कारण इसे पृथक से वर्णित नहीं किया है।

शीतपित्त एक त्वक् रोग है या नहीं इस शंका के समाधान हेतु हमें इस व्याधि के वर्णन क्रम पर दृष्टिपात करना होगा। माधवकार ने माधव निदान में कुष्ठ निदान (मा० नि० ४९) के बाद तथा अम्लपित्त निदान (मा० नि० ५१) के पूर्व 'शीतपित्तोदर्द कोठ निदान' (मा० नि० ५०) का वर्णन किया है। यह क्रम व्यवस्था इस संदर्भ में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सम्भवतः शीतपित्त का कुष्ठ से लाक्षणिक तथा अम्लपित्त से साम्प्राप्तिक साम्य एवं सम्बन्ध होने से ही ऐसा क्रम अपनाया गया है। अम्लपित्त तथा शीतपित्त इन दोनों में मूलभूत सम्बन्ध है। अम्लपित्त पित्त प्रधान व्याधि है और यह विगुणित (विदग्ध) पित्तजन्य है जबकि शीतपित्त कफ व वायु के अनुबन्ध से इनके स्वगुणों के प्रभाव से पित्त के शीत होने से होता है। कफ व वायु के शैत्य गुण से प्रभावित पित्त से उत्पन्न होने के कारण ही इसे शीतपित्त कहा जाता है।

आधुनिक दृष्टि से शीतपित्त अनूर्जता (Allergy) के कारण उत्पन्न अर्टीकेरिया (Urticaria) रोग से साधर्म्य रखता है। उदर्द व कोठ भी उसीके अवस्था भेद हैं। इनके मतानुसार यह एक त्वक रोग न होकर एक अनूर्जताजन्य लक्षण मात्र हैं। क्योंकि यह विकार, अन्य त्वक् रोगों की भांति चिरकारी स्वभावहीन होकर अपेक्षया कुछ घण्टों में स्वयमेव ही शांत हो जाती है।

इसके साथ आयुर्वेदीय त्वक् रोगों (कुष्ठ की सम्प्राप्ति विघटन करने पर इसमें सप्त द्रव्यों यथा—त्रिदोष तथा त्वक्, रक्त, मांस तथा अम्बु चार द्रव्यों की भूमिका दृष्टिगत होती है। जबकि शीतपित्त में वातोल्वण, पित्त, कफ, तीनों दोष तथा द्रव्यों में मात्र त्वचा ही प्रभावित होती है। परिणामस्वरूप कुष्ठ की चिरकारिता तथा शीतपित्त की आशुकारिता परिलक्षित होती है।

उक्त विवरण के दृष्टिगत यह कहना तार्किक ही होगा कि शीतपित्त एक त्वक् रोग न होकर पित्त के वातकफजन्य शैत्य से उत्पन्न एक पृथक व्याधि है जो

सापेक्ष निदान—

| सं० विभेदक आधार | शीतपित्त | उदर्द | कोठ | उत्कोठ |
| --- | --- | --- | --- | --- |
| १—दोष वैशिष्ट्य | वाताधिक्य | कफाधिक्य | कफपित्ताधिक्य | कफ पित्ताधिक्य |
| २—हेतु | (१) शीतकाल जात | शिशिर जात | वर्षाकाल जात | वर्षाकाल जात |
| | (२) शीत मारुत संस्पर्शजन्य | — | असम्यक वमनजन्य | कोठवत् |
| | (३) — | — | उदीर्ण पित्त कफ अन्नरोधजन्य | कोठवत् |
| ३—पूर्व रूप | उपर्लिखित विशिष्ट पूर्वरूप | शीतपित्त वत् | — | — |
| ४—स्थानीय लक्षण | (१) तोद बाहुल्य | कण्डूयुक्त | रागवान | — |
| | (२) वरटी दंशवत किंचित मण्डलोत्पत्ति | आवस्थिक महानिम्न मण्डलोत्पत्ति | आवस्थिक अनेक रक्ताभ मण्डलोत्पत्ति | चिरकालिक बार-बार मण्डलोत्पत्ति |
| ५—सांस्थानिक लक्षण | (१) तोद | कण्डू | कण्डू | कण्डू |
| | (२) — | वमन | राग | राग |
| ६—उपक्रम साध्य | वातघ्न उपक्रम साध्य | कफघ्न उपक्रम साध्य | कोष्टिक उपक्रम साध्य | कफ पित्तघ्न उपक्रम साध्य |
| ७—उग्रता | + | + + | + + + | + + + |
| ८—जीर्णता | + | + + | + + + | + + + |

८. सिद्धार्थं लेप (भि. क. सि.), मूर्वादि लेप (भि. क. सि.)।

९. क्षार जल (भि. क. सि.)।

१०. दार्वी तेल (भि. क सि.)।

(३) चिकित्सा व्यवस्था पत्र (एक वयस्क रोगी हेतु)—यह स्वानुभूय व्यवस्थापत्र है, अत्यन्त लाभदायक है। १. रससिन्दूर ३ रत्ती, रसमाणिक्य २ रत्ती, शुद्ध स्वर्ण गैरिक १॥ माशा, मिश्रण कर ३ मात्रा प्रातः २ बजे, अपराह्न तथा सायं ६ बजे। या शीतपित्त भंजन रस २ रत्ती, पुराना गुड़ ६ माशा के साथ।

२. अग्निमंथ मूल क्वाथ ८ तोला में १ तोला गोघृत या पंचतिक्त घृत मिश्रितकर प्रातः ८ बजे।

३. आरोग्यवर्धनी वटी २ वटी, एक मात्रा, एक घूंट गर्म जल के साथ रात मे सोते समय।

४ हरिद्रा खण्ड/आर्द्रक खण्ड २ तोला, ४ मात्रा, एक घूंट जल से ४ बार ४ मात्रा।

(४) पथ्यापथ्य पथ्य—शालि अन्न, मुद्ग, कुलथी, यूष, कारवेल्लक, जांगल पशु पक्षी मांस, मूली, अनार, त्रिफला, मधु, उपोदिका, उष्णोदक पथ्य हैं।

अपथ्य—गुरु अन्न, अम्ल, स्निग्ध, शूकर, मछली, आनूप मांस, नवीन मद्य, स्नान, आतप, शीतल जल, दिवा स्वाप, वेगावरोध व मैथुन कर्म अपथ्य है।

सन्दर्भ—

चरक संहिता सुश्रुत संहिता, अष्टांग हृदय, माधव निदान, भाव प्रकाश, योग रत्नाकर, चिकित्सादर्श सम्पूर्ण, भिषक् कर्म सिद्धि, काय चिकित्सा डा० ध्यानी, काय चिकित्सा—प्रो० आर० एच० सिंह, कुष्ठ विमर्श—डिजर्टेशन निर्देशक डा० जी० एस० तोमर।

# शीत पित्त—एक विवेचन

डा० देवेन्द्र सिंह ठाकुर बी. एस-सी. आयुर्वेदाचार्य
[illegible] निवास, ग्राम-पो० [illegible]-१७५१०५, जिला मण्डी (हि० प्र०)

—: ※ :—

हिमाचल प्रदेश के डा० देवेन्द्र सिंह ठाकुर ने शीतपित्त तथा कुकरिसी जो हि० प्र० के शब्द हैं इनके बारे में आयुर्वेदीय मुद्दों को लेकर विवेचना की है साथ में लक्षण तथा [illegible] जैसे आधुनिक के क्या प्रमाण हैं यह भी बताने की कोशिश की है।

आधुनिक चिकित्सा को छोड़कर लेखक ने हमें एक नया दर्शन बताया है जो शीतपित्त में उन्होंने स्वयं आजमाया है। पाठकगण भी इस बारे में अपने अभिप्राय भेजें।

लेखक बी. एस-सी. करने के साथ आयुर्वेद में इस ढंग से तुलना कर आयुर्वेद के मुद्दों को मानते रहें तो ठीक रहेगा। डा० ठाकुर धन्वंतरि परिवार के लेखक हैं। —वैद्य किरीट पंड्या (विशेष संपादक)

---

आम तौर पर शीतल वायु के स्पर्श से समस्त शरीर में जो ददोड़े निकल आते हैं जैसे किसी ततैये ने काटा हो साथ में खुजली या सुई चुभने की सी पीड़ा अनुभव हो कभी वमन इसके हल्का बुखार भी हो सकता है। इस रोग को आयुर्वेद शास्त्र में "शीत पित्त" कहते हैं। पंजाब तथा हिमाचल प्रदेश में इसे "[illegible]" तथा "[illegible]" कहा जाता है। गुजराती में इसे "[illegible]" के नाम से पहचाना जाता है।

माधव निदान के अनुसार ठंडी वायु के स्पर्श से कफ तथा वायु इस हेतु से प्रकुपित होकर पित्त के साथ मिलकर त्वचा तथा आभ्यन्तर रक्तादि धातुओं में फैलकर शीत पित्त को जन्म देते हैं।

आयुर्वेद में शीत पित्त उदर्द तथा कोठ—इन तीनों रोगों का वर्णन एक साथ किया गया है। कई विद्वान उदर्द तथा शीत पित्त को एक ही रोग मानते हैं, लेकिन दोनों में वास्तव में दोषोल्बणता का भेद है। शीत पित्त वायु प्रधान तथा उदर्द कफ प्रधान होता है। इसके अतिरिक्त उदर्द रोग प्रायः शिशिर ऋतु में ही होता है। कोठ नामक रोग में लक्षण समान तो हैं, परन्तु इसके उत्पादक कारण भिन्न हैं। यह रोग प्रायः वमन के मिथ्या योग, अयोग अथवा वमन के वेग धारण करने से होता है। यदि उपरोक्त आक्रमण बार बार हों तो इसे उत्कोठ के नाम से जाना जाता है।

जैसा कि उपरोक्त संप्राप्ति से ज्ञात होता है, यह एक त्वग्रोग है, क्योंकि इसके मुख्य लक्षण खुजली तथा ददोड़े त्वचा पर ही परिलक्षित होते हैं। रक्त धातुगत विकृति हो भी, तब भी इसके त्वचागत लक्षणों से ही इसका परिज्ञान होता है।

आधुनिक मतानुसार भी रोग के लक्षण यही हैं। अर्थात् लाल चमकदार ददोड़े तथा खुजली। इसे "अर्टिकेरिया" के नाम से जाना जाता है। रोग लक्षण कुछ घंटों से दिनों तक रह सकते हैं। तीव्र खुजली के के साथ उत्पन्न होने वाले ये ददोड़े समस्त शरीर में विभिन्न आकारों में पाए जा सकते हैं। खुजली की तीव्रता कुछ समय पश्चात कम हो जाती है। रोग की तीव्रावस्था में हल्का ज्वर तथा वमन भी पाए जा सकते हैं

यह रोग तेज गर्मी या सर्दी से या दोनों के युगपत् संयोग से हो सकता है। कभी कभी औषधि आदि के सेवन से भी कोठों की उत्पत्ति हो सकती है, पर यह अस्थायी सी होती है। इसका कारण कभी अज्ञात ही है। युवा महिलाओं में तथा कुछ जीर्ण अवस्थाओं में रोग का आक्रमण या प्रसरण भावनात्मक उद्वेग के साथ भी देखा गया है। रोग की जीर्णावस्था में ये ददोड़े

अथवा कोठ काफी बड़े २ होते हैं अधस्त्वक धातु को आधार बनाए हुए होते हैं तथा कभी-२ मुख, कण्ठ या श्वास यन्त्र की श्लेष्मल धातु में भी पाए जा सकते हैं इस अवस्था को दानवीय उत्कोठ (Giant Urticaria or Angioneurotic Oedema) कहते है।

किन्ही औषधियों यथा पेंन्सिलीन के सूचीवेध अथवा मुख द्वारा सेवन करने के अनन्तर प्रतिक्रिया (Allergy) होने पर भी शीतपित्त के समान लक्षण दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त मक्खी मच्छर, भिड़ मधुमक्खी इत्यादि के काटने से, अशुद्ध कुछ सड़न को प्राप्त हुए भोज्य पदार्थों के भक्षण से भी अर्टिकेरियः के लक्षण प्राप्त होते हैं। अंकुशमुख कृमि उपसर्ग (Ancylostomiasis) या गण्डू कृमि उपसर्ग (Ascariasis) भी इसके उत्पादक हेतुओं में से माने जाते है।

लूइस तथा ग्रान्ट (Lewis & Grant) नामक वैज्ञानिक द्वय ने अपने प्रयोगो से यह पाया कि शीतपित्त के समान कोठ हिस्टेमीन के घोल [१ : २०,०००] की १-२ बूंद अधस्त्वक् सूचीवेध द्वारा भी उत्पन्न किये जा सकते हैं। यह प्रक्रिया तीन चरणो मे सम्पन्न होती है।

क—केशिका भित्तियों पर हिस्टेमीन की सीधी क्रिया के फलस्वरूप केशिकाओं का विस्फार हो जाता है।

ख—विद्ध स्थान के इर्द-गिर्द की सूक्ष्म धमनियों के प्रतिवर्ती विस्फार (Reflex dilatation) के कारण लालिमा की उत्पत्ति। तथा

ग—ददोड़े बनना अर्थात् केशिका भित्ति की बढ़ी हुई पारगम्यता (permeability) के कारण शोथ की उत्पत्ति होना।

भोजन तथा औषधादि जन्य शीतपैत्तिक किंवा अनूर्जता (Allergy) के लक्षणों की उत्पत्ति का सम्बध एनाफ़ायलेक्सिस से माना जाता है। शरीर के प्रभावित भाग की एण्टीबाडीज विजातीय प्रोटीन या औषध द्रव्यों से प्रतिक्रिया कर अत्यधिक मात्रा में हिस्टेमिन का स्राव करवाती हैं, जिससे त्वचा के नीचे जगह-२ धप्पड़ पैदा हो जाते हैं। गर्मी या जलने से भी इसी प्रकार की प्रतिक्रिया होती है। सर्दी से डर्मोलाइसिन (dermolysin) नामक द्रव्य की उपस्थिति शीतपैत्तिक लक्षणों की उत्पत्ति में सहायक माने गये हैं। जीर्ण अवस्थाओं में आक्रमणकाल में रक्त रस में एक कोठोत्पादक द्रव्य (whealing substauce) की उपस्थिति पाई जाती है।

**चिकित्सा—**

सर्व प्रथम प्रकोप हेतु का परिवर्जन ही करवाया जाना चाहिये। आयुर्वेदिक दृष्टि से इस रोग में चूंकि कफ तथा वात की विकृति अधिक मानी गई है, अतएव जाठराग्नि की मन्दता होना स्वाभाविक ही है। इसी कारण भुक्त पदार्थों का अपूर्ण पाक होता है और कुछ विजातीय प्रोटीनों की उत्पत्ति हो जाती है। इन प्रोटीनों तथा एण्टी बाडीज की अन्तर्क्रिया से ददोड़े उत्पन्न हो जाते है। शीतपित्त की चिकित्सा में प्रयुक्त योग प्रायः कफ और वात का शमन करने के साथ जाठराग्नि की प्रदीप्ति भी करते हैं।

[१] शीतपित्त के चकत्ते निकलने पर उष्ण जल पिलाकर कम्बल ओढ़ाकर रोगी को लिटा दें तो पसीना आकर कुछ ही देर में लक्षण शान्त हो जाते हैं।

[२] गेरू का लेप अथवा कटु तेल का अभ्यंग भी लाभप्रद होता है।

[३] गर्म जल का परिषेक करायें।

[४] वमन के लिए पटोल पत्र और निम्ब त्वक् क्वाथ में मदनफल चूर्ण का प्रक्षेप कर पिलायें तथा विरेचन के लिए त्रिफला, गुग्गुलु तथा पिप्पली [३ : ५ : १] को मिश्रित कर पिलायें।

[५] अजमोद चूर्ण गुड़ के साथ एक सप्ताह भर सेवन करने मात्र से ही शीतपित्त रोग में कुछ लाभ हो जाता है।

[६] चक्रमर्द मूल चूर्ण का घृत प्रयोग करायें।

[७] त्रिफला चूर्ण दो माशा, पिप्पली आधा माशा दिन में दो बार मधु के साथ सेवन करायें।

[८] गोघृत २ तोले, काली मिर्च चूर्ण १ तोले की मात्रा में मिलाकर ६ रत्ती से ३ माशा की मात्रा मे सेवन करायें।

[९] एक प्रसिद्ध यूनानी प्रयोग है, पोदीना ६ माशे जल में घोटें और इसमें १ तोला शक्कर मिलाकर दिन में दो बार पिलायें।

[१०] महागन्धक रसायन २ रत्ती, गिलोय सत्व

# शीतपित्त | क्या यह त्वक् रोग है ? |

वैद्य गोविन्द धामेलिया, धन्वन्तरि क्लिनिक,
एस. टी स्टैण्ड के सामने, पालीताणा (भावनगर) गुजरात

अत्यधिक शीतल वायु के स्पर्श से वायु और कफ अत्यधिक प्रकुपित होकर विकृत बनते हैं। और वायु और पित्त शामिल होकर अन्दर-बाहर फैलते हैं। जिसे हम शीतपित्त कहते हैं।

**पूर्वरूप—**

पिपासारुचिहृल्लासदाह सादाङ्ग गौरवम्।
रक्तलोचनता तेषां पूर्वरूपमिति स्मृतम्।

पूर्वरूप मे जैसाकि अत्यधिक प्यास लगना, अरुचि, दाह, अंग शिथिलता, शरीर में अत्यधिक गौरव, रक्तलोचन ये सब शीतपित्त होने के पूर्वरूप हैं।

**रूप (लक्षण)—**

शरीर के बाहर की ओर लाल सूजन के साथ मंडल हो जाते हैं। और उस सूजन पर खुजली आने लगती है। अन्दर सूई चुभती है ऐसी वेदना होती है, साथ में कभी-कभी वमन, दाह, बुखार भी होता है। और सारे शरीर पर सूजन के साथ छोटे-बड़े मंडल होते हैं।

**सामान्य चिकित्सा—**

(१) सरसों तेल से मालिश।

(२) गरम पानी से स्वेदन।

(३) परवल, निम्बत्वक् और अडूसा के क्वाथ से तुरन्त वमन करवाने से फायदा होता है।

(४) त्रिफला गुग्गुल और पीपर समभाग लेकर उसका क्वाथ पिलाना और विरेचन देने से उत्तम लाभ होता है।

(५) महातिक्त घृत पिलाकर रुधिर स्राव करना।

(६) क्षार, सैन्धव और सरसों तेल से मालिश करना।

**विशेष चिकित्सा योग—**

(१) यष्टि मधु, महुए का फूल, रास्ना, लाल सफेद चन्दन, पीपर ये सब समान भाग लेकर क्वाथ करके पिलाने से।

(२) अमृता क्वाथ—गुडूची, हल्दी, निम्बत्वक और धनिया ये सबको एक साथ या अलग-अलग करके बनाया हुआ क्वाथ देने से प्राणदा बनता है।

(३) अजमोद, सूंठी, मरिच, पीपर ये चारों को समभाग लेकर चूर्ण को दुध के साथ पिलाना।

(४) अग्निमंथ के मूल को पीसकर घी के साथ पिलाया जाये तो सात दिनों में शीतपित्त ठीक हो जाता है।

(५) शीतपित्त लगता है खास करके त्वक् रोग लेकिन बहुत करके यह कृमि की वजह से होता है। इसलिए कृमि रोग की चिकित्सा देने से भी यह तुरन्त ठीक हो जाता है।

शीतपित्त के रुग्ण को प्रथम स्नेहन, स्वेदन के बाद विरेचन देने के बाद में कृमि रोग की चिकित्सा देने से ठीक होता है।

**पथ्यापथ्य—**

दूध के साथ कोई भी फल नहीं लेने का। सूर्यताप, खट्टा, पचन में भारी और स्नान ये सब वर्ज्य (मना) हैं।

**पथ्य—**

शालीडांगर, मग, कुलत्थ करेला, भाजी, उबला हुआ पानी ये सब लिया जाता है।

के साथ मिलकर रक्त तथा त्वचा को दूषित कर देते है और शीतपित्तादि रोग हो जाते हैं। जैसे —

शीत मारुत संस्पर्शाद् प्रदुष्टौ कफ मारुतौ।
पित्तेन सह संभूय बहिरन्तर्विसर्पत:॥

माधवाचार्य ने कोठ और उत्कोठ के हेतुओं में वमन के वेग को रोकना भी गिनाया है। यह एक शरीर में उत्पन्न हुई प्रतिक्रिया स्वरूप एलर्जिक व्याधि है जिसके बाह्य तथा आन्तरिक अनेक कारण हैं। शीतपित्त में छोटी रक्तवाहिनियां हिस्टामीन अथवा एसीटिलकोलीन के कारण फैलती हैं। इन पदार्थों की उत्पत्ति के निम्न कारण हो सकते हैं—

[अ] शरीर के अन्दर के कारण —

कृमि रोग —जैसे-केंचुए, हुकवर्म, अन्यकृमि, फाइलेरिया आदि रोग।

भोजन (स्टावेरी, मछली) आदि के सेवन से। क्रीम, अण्डा, शूकर मांस आदि।

मनोवैज्ञानिक कारण—मानसिक कारण बड़े महत्व के हैं। भ्रम, थकान, निराशा, अपमान आदि से रोग होने में सहायता मिलती है।

औषधि-अलर्जी—पेनिसिलीन, सल्फाड्रग्स, कुछ विटामिन्स, सैलीसिलेटस, क्विनीन, आयोडाइड्स, सीरम, वैक्सीन एवं टेट्रासाइक्लीन आदि कभी कभी इसके कारण हो सकते हैं। आधुनिक औषधि पोलीमिक्सिन बी, मार्फीन एवं कूरार भी शीतपित्त उत्पन्न कर सकते हैं।

पाचन क्रिया की गड़बड़ी से अजीर्ण, अग्निमांद्य, तथा मलावरोध से।

स्त्रियों में जरायु की बीमारी भी इसका कारण हो सकता है।

शरीर के किसी प्रदेश में विद्यमान पूय जीवाणु अथवा कोलाई क रक्त मे संचार कर जाने से।

कुछ लोग वात रोग को इसका कारण मानते हैं।

किसी चीज के सूंघने से। जैसे—हे फीवर होता है।

प्रणालीविहीन ग्रन्थियों के चयापचयिक विकार सहायक कारण हैं।

[ब] शरीर के बाहर के कारण—

कीटदंश—जैसे मधुमक्खी, बर्रे, ततैया आदि के काटने से।

रोयेंदार कीट के स्पर्श मात्र से भी शीतपित्त उत्पन्न हो सकता है।

सीरम, पेनिसिलीन आदि का सूचीवेध करने से।

मच्छर, खटमल आदि के काटने से।

कौंच (एक प्रकार का फल) के स्पर्श हो जाने से।

शीतल वायु अथवा शीतल जल के लगने से भी रोग होते देखा गया है।

गर्मी सर्दी, परिश्रम, उद्वेग, प्रक्षोभ, रोशनी आदि के कारणों से भी रोग होते देखा गया है।

अन्य कारण—

(१) इण्टरव्यू के समय की प्रतीक्षा अथवा परीक्षा का समय रोग का कारण हो सकता है।

(२) दबाव—कसी हुई वैल्ट, पैरों के मोजों के इलास्टिक फीते, घड़ी का फीता एवं अन्य इसी प्रकार के साधन शीतपित्त उत्पन्न कर सकते हैं।

यह रोग १० वर्ष से नीचे अथवा ६० वर्ष की ऊपर आयु में प्राय: नहीं मिलता है। युवकों अथवा बालकों मे यह तीव्र रूप मे तथा बड़ी आयु में यह चिरस्थायी रूप में होता है। तीव्र रूप में यह रोग किसी भोजनजनित चयापचय से अथवा औषधि से होता है। चिरस्थायी रूप प्राय: मानस कारणों से होता है।

सम्प्राप्ति -

शीतल वायु संस्पर्श → कफ प्रकोप, वायु प्रकोप + पित्त प्रकोप

बाह्य | आभ्यन्तर
↓ त्वक् दोष | ↓ आन्तरिक रक्तादि धातुदोष
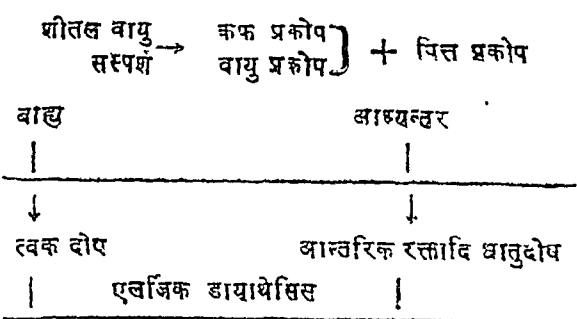
एलर्जिक डायाथेसिस
↓
शीतपित्त → ददर्द → कोठ → उत्कोठ

दोष, दूष्य, अधिष्ठान—

दोष—पित्त, कफ, वायु   दूष्य—त्वक्

अधिष्ठान —त्वक्

कोठ के लक्षण एक ही दृष्टि में—

कोठ लक्षण - १. वमनादि के रोकने से इसकी उत्पत्ति।

२. कण्डूयुक्त लालवर्ण के अनेक मण्डलों की उत्पत्ति।

३. अस्थायी कारण में-यह शीघ्र ठीक हो जाते हैं।

४. स्थायी कारण में-बार-बार निकलते हैं और लम्बे समय तक बने रहते हैं।

माधव निदान में उपरोक्त व्याधि के लक्षणों को दर्शाते हुए लिखा है

वरटीदष्ट संस्यानः शोथः संजायते बहिः।
सकण्डूस्तोदबहुलश्छर्दि ज्वर विदाहवान् ॥
उदर्दमिति तं विद्यात् शीतपित्तमथापरे।
वाताधिक शीतपित्तमुदर्द तु कफाधिकः।
सोत्सगैश्चरागैश्च कण्डूमद्भिश्च मण्डलैः।
शैशिरः कफजो व्याधिरुदर्द इति कीर्तितः॥

**व्याधि के अन्य भेद—**

महा शीतपित्त (वाहिकानन्त्रिका शोथ)—इसमे चकत्ते बड़े आकार के होते है और उपत्वगीय ऊतकों को भी प्रभावित करते हैं। ये गोलाकार सूजन के रूप मे होते हैं। इन चकत्तों का रग गुलाबी होता है। इस प्रकार का शीतपित्त शरीर के कोमल तथा ढीले स्थानों पर होता है। त्वचा पर १-२ इञ्च व्यास का एक उभार कुछ घण्टों के लिए प्रकट होता है। नेत्रों के पलक अथवा चेहरे, अधराष्ठ, हाथ, होठ अथवा जिह्वा की श्लैष्मिक कला के नीचे भी ऐसा उभार हो जाता है। आक्रान्त स्थल स्पर्श में शीतल अथवा कुछ कुछ गर्म हो सकता है। इसमें उभार बड़े आकार के होते हैं और एक से सात दिन में अदृश्य हो जाते हैं। इनमें खुजली नहीं होती है। यदि यह शोथ स्वरयन्त्र की श्लैष्मिक कला को प्रभावित करता है तो श्वासावरोध होकर रोगी की मृत्यु का कारण बन जाता है।

कोष्ठयुक्त शीतपित्त—इस प्रकार का शीतपित्त प्रायः छोटे बच्चो में होता है। इसमे शाखाओं के प्रसारक पृष्ठों पर कोठ निकल आते हैं। इसमे खुजली कई दिनो तक अनवरत चलती रहती है। आसपास की त्वचा भी लाल हो जाती है।

सीरम शीतपित्त सीरम प्रयोग से होता है। चकत्ते पतले प्रायः ५-७ मिनटों मे हाथ पाव एवं चेहरे आदि नग्न स्थानों पर निकलते हैं। यह चकत्ते त्वचा में उभरे हुए रहते है। इन पर खुजली अधिक होती है। खुजलाने से त्वचा लाल वर्ण की हो जाती है। इसके पश्चात् उदरशूल, वमन, जी मिचलाना, अतिसार एवं हृदय विकृति आदि लक्षण होने लगते हैं।

ज्ञातव्य—शीतपित्त एक ऐसा रोग है जिसमें या तो रोगी अति शीघ्र ठीक हो जाता है अथवा कई रोगी वर्षों तक इस रोग से पीड़ित रहते हैं।

सापेक्ष निदान—

| रोग नाम | दोष | स्थानीय लक्षण | सार्वदैहिक लक्षण | जीर्णता | तीव्रता (Severity) |
|---|---|---|---|---|---|
| शीतपित्त— | पित्त + वायु | तोद, किंचित ददोरों की उत्पत्ति | तोद | + | + |
| उदर्द— | पित्त + कफ | आवस्थिक ददोरों की उत्पत्ति | कण्डू वमन | ++ | ++ |
| कोठ— | पित्त + कफ | आवस्थिक रक्ताभ मंडलोत्पत्ति (अनेक) | — | +++ | +++ |
| उत्कोठ— | पित्त + कफ | चिरकालीन, स्थायी बार-२ मंडलोत्पत्ति | — | | |

विभेदक निदानों को निम्न प्रकार से भी समझा जा सकता है

| | शीतपित्त | उदर्द | कोठ |
|---|---|---|---|
| १— | वाताधिक्य | कफाधिक्य | कफ रक्ताधिक्य |
| २— | तोद अधिक | कण्डू वमन अधिक | कण्डू की अधिकता |
| ३— | एक साथ शरीर पर शीत और उष्ण के प्रभाव से । | प्रायः शिशिर ऋतु में | वमनादि के रोकने से (असम्यक् पंचकर्म से) |

कण्टांग हृदय में उत्कोठ एवं कोठ का समावेश क्षुद्र रोगों में किया गया है । जबकि आधुनिक विज्ञान इसे त्वचा रोगों में मानता है ।

### सामान्य चिकित्सा सूत्र –

शीतलान्यन्नपानानि बुद्ध्वा दोषगतिं भिषक् ।
उष्णानि च यथाकालं शीतपित्ते प्रयोजयेत् ।
—च० द०

अर्थात दोष, प्रकृति आदि का विचार कर शीतल या उष्ण औषधि, अन्नपान आदि का शीतपित्त में प्रयोग करना चाहिए ।

कारण को दूर करना चिकित्सा का प्रथम उद्देश्य है । वमन एवं विरेचन के द्वारा आन्त्र स्थित अनुबन्ध का निवारण करना चाहिये । आमविष को दूर करने के लिये लंघन एवं दोष पाचन उपक्रम करने चाहिए । सामान्य कारणों से उत्पन्न शीतपित्त और उदर्द का शमन बाह्य उपचार (यथा—लेप, सेक, अभ्यङ्ग) से ही हो जाता है । अनुबन्धपूर्वक होने वाले कोठ के लिए उपर्युक्त वमनादि क्रम करके रक्तशोधक एवं पाचक औषधियों का साथ-साथ सेवन करवाया जाना चाहिए । बिना वमनादि के भी केवल औषधि व्यवस्था से भी यह रोग ठीक हो जाता है ।

यदि कृमि हो तो उन्हें निकालने का यत्न करें ।

यदि रोगी कोई अन्य औषधि ले रहा हो तो उसे बन्द कर दें ।

यदि किसी पदार्थ विशेष के खाने से शीतपित्त की आशंका हो तो उस पदार्थ का त्याग कर दें ।

रोगी को तत्काल शैय्या पर लिटा कर सम्यक् उपचार करना ।

रोगी के आहार में गेहूँ की रोटी, खिचड़ी, मूँग की दाल, हरी तरकारी [illegible] देना चाहिए । मांस, मछली, आम का अचार, अण्डा, मसाला, तैल-घी आदि का पूर्ण निषेध ।

रोगी को शीतल जल से स्नान एवं परिषेक करना चाहिए । पर त्वचा पर किसी प्रकार की रगड़ नहीं लानी चाहिये । इससे खुजलाहट शीघ्र शान्त हो जाती है । इसके पश्चात रोगी को ढीले तथा मुलायम वस्त्र पहिनाना चाहिए ।

नमक का प्रयोग बहुत कम मात्रा में करें ।

शीतपित्त, उदर्द एवं कोठ की सामान्य चिकित्सा है ।

निर्देश –

वमन —पटोल, निम्ब तथा वासा से वमन करावें ।
विरेचन त्रिफला, गुग्गुलु तथा पिप्पली से ।
अभ्यंग सर्षप तैल से अभ्यंग ।

### औषधि चिकित्सा –

आयुर्वेदिक यद्यपि शीतपित्त में लगाने वाली औषधियाँ विशेष लाभकर नहीं होती हैं फिर भी कुछ योग आंशिक रूप में उपयोगी पाये गये हैं । जैसे—गेरू/क्षार + सैंधव लवण को तैल में मिलाकर लगाने से ददोरे बैठ जाते हैं और खुजली शान्त हो जाती है । कैलामिना लोशन का उपयोग भी किया जा सकता है । सोडाबाई कार्ब १ चम्मच १ बाल्टी पानी में डाल कर स्नान करने से खुजली शान्त होती है । गोबर की राख शरीर पर मली जा सकती है । तत्काल चकत्तों की शान्ति के लिए क्षारोदक (सोडाबाई कार्ब), सैंधव नमक, कटु तैल में मिलाकर अभ्यंग करावें । अथवा हरिद्रादि तैल, सरसों का तैल एवं दूब का तैल से भी अभ्यंग कराया जा सकता है । चन्दन का तैल १२ मि. ली. अर्क गुलाब १२० मि.ली.—दोनों को मिलाकर [illegible] मिलाकर

समस्त आक्रान्त त्वचा पर मालिश की जा सकती है।

दूर्वा + हल्दी को पीसकर लेप करें।

आभ्यन्तरिक औषधि प्रयोग उपरोक्त बाह्य चिकित्सा के साथ-साथ रोगी को खाने वाली औषधियों की सम्यक् व्यवस्था करनी चाहिये। इसके लिये निम्न व्यवस्थापत्र विशेष लाभकारी सिद्ध हुये हैं—

शीतपित्त में- (१) कामदुधा रस, वंग भस्म ६००-६०० मिग्राम, माक्षिक भस्म १२५ मि०ग्राम, प्रवाल पिष्टी ३० मिग्राम, १ मात्रा। ऐसी १ मात्रा दिन में ३ बार मधु से।

(२) सूतशेखर रस ५०० मिग्राम, अथवा शीतपित्तान्तक रस २०० मिग्राम, २ मात्रा × प्रातःसायं।

(३) हरिद्रा खण्ड चूर्ण २ ग्राम × दिन में ३ बार।

अथवा—उपर्युक्त व्यवस्थापत्र उपलब्ध न होने पर निम्न व्यवस्थापत्र का प्रयोग लाभकारी है—

(१) शुद्ध स्वर्ण गैरिक १ ग्राम, प्रवाल पिष्टी ३० मिग्राम, शीत पित्तान्तक रस २०० मिग्राम, १ मात्रा।

ऐसी १-१ मात्रा दिन में ३ बार शीतल जल से प्रति ४ घण्टे पर।

(२) सारिवाद्यारिष्ट २० मिली. अथवा खदिरारिष्ट २० मिली., ऐसी १ मात्रा दिन में २ बार शीतल जल से।

(३) हरिद्रा खण्ड चूर्ण ३ ग्राम प्रातःसायं गोदुग्ध १० मिली. के साथ दें।

(४) द्विहरिद्रादि तैल (भै. र.)—अभ्यंगार्थ।

नोट—यह व्यवस्थापत्र शीतपित्त, उदर्द तथा कोठ में समान रूप से लाभकारी है।

अथवा नीचे लिखे व्यवस्थापत्र का उपयोग कर सकते हैं—

(१) रससिंदुर ८० मिग्राम, हरिद्रा खण्ड ४ ग्राम, १ मात्रा।

(२) अग्निमन्थ (अरणी) की जड़ का चूर्ण ३ ग्राम। ऐसी १ मात्रा दिन में २ बार १२ ग्राम घी से।

अथवा - गन्धक रसायन (शुद्ध गन्धक) २५० मि. ग्रा०, १-२ बार प्रात.सायं गोदुग्ध से।

(३) गोबर की राख का शरीर पर अभ्यंग। अथवा सफेद सरसों, हल्दी, कूठ, चकमर्द के बीज तथा काले तिल को पीसकर कड़वा तैल मिलाकर मलें।

नोट - यह व्यवस्थापत्र शीतपित्त, उदर्द, कोठ आदि अलर्जीजन्य व्याधि में लाभकारी सिद्ध हुआ है।

उदर्द में—१. चतुर्भुज कल्प ५०० मिग्रा०।

२. हरिद्राखण्ड चूर्ण १ ग्राम।

कोठ में—१. आरोग्यवर्धिनी वटिका ५०० मिग्रा०, करवीर चूर्ण १ ग्राम, १ मात्रा। १-१ मात्रा दिन में ३ बार मधु से।

२. महातिक्त घृत १० ग्राम दूध से रात्रि को।

विशेष उपयोगी व्यवस्थापत्र—यहां कुछ ऐसे व्यवस्थापत्र दिये जा रहे हैं, जिनका उपयोग एवं परीक्षण अनेकों बार किया जा चुका है और चिकित्सा क्षेत्र में विशेष स्थान ग्रहण किया है—

१ गन्धक रसायन, शुक्ति पिष्टी २५०-२५० मिग्रा. १ मात्रा। १-१ मात्रा दिन में २ बार मधु से।

२. नागर योग[1] ५ ग्राम पानी से दिन में २ बार।

३. रक्तशोधक चूर्ण[2] ३ ग्राम दिन में २ बार।

४. महातिक्त घृत १० ग्राम गोदुग्ध के साथ।

अथवा— २. पुनर्नवा मण्डूर, प्रवाल पिष्टी २५०-२५० मिग्रा., १ मात्रा दिन में २ बार शहद से।

२. धान्यपंचक क्वाथ अथवा अमृतादि क्वाथ (च. द) १५ ग्राम दिन में २ बार।

३. मंजिष्ठादि चूर्ण ३ ग्राम पानी से २ बार। प्रातःसायं।

४. महातिक्त घृत १० ग्राम दिन में १ बार सोते समय।

अथवा—१. हरिद्राखण्ड ५ ग्राम प्रातःसायं दूध से।

---

१—नागर योग—सोंठ + धनियां १००-१०० ग्रा. + मिश्री २०० ग्राम + घी ५० ग्राम मिलाकर नागर योग तैयार हो जाता है।

२—रक्तशोधक चूर्ण—गोरख मुण्डी, उशवा, मंजीठ, शरपुंखा, स्याहतरा, चिरायता, कुटकी, सफेद चन्दन, लाल चन्दन, समान भाग लेकर चूर्ण बनालें।

खदिरारिष्ट २० मिली बराबर जल के साथ दें। यदि रोग पुराना है तो औषधि देवें। ३-५ दिन पूर्व इन्द्रवारुण्यादि क्वाथ देकर कोष्ठ शुद्ध कर लें।

आरोग्यवर्धिनी वटी के साथ गन्धक रसायन एवं रसमाणिक्य का प्रयोग विशेष लाभकारी होता है।

गन्धक रसायन ५०० मिग्रा. + रसमाणिक्य १२० मिग्रा., प्रवाल पिष्टी २४० मिग्रा। ऐसी एक मात्रा बनालें। प्रातः दोपहर सायं शहद या दूध के साथ दें। साथ में रोगी को मञ्जिष्ठादि क्वाथ या खदिरारिष्ट भोजनोपरान्त दें। नमक, मिर्च, चटपटे पदार्थों से परहेज।

अमृतादि क्वाथ (यो. र.)– गिलोय हल्दी, नीम की छाल एवं धमासा समभाग लेकर क्वाथ बनालें। प्रातःसायं पिलाने से शीतपित्त में लाभकारी होता है।

अमृतादि क्वाथ (च.द.) गिलोय, अडूसा, परवल के पत्ते, नागरमोथा, सप्तपर्ण की छाल, खैर की लकड़ी, कालीवेत, नीम के पत्ते, हल्दी एवं दारुहल्दी – इनका क्वाथ शीतपित्त मे विशेष लाभकारी होता है।

निम्ब योग – निम्बपत्र चूर्ण २ ग्राम घृत के साथ सेवन करें।

अजवाइन चूर्ण + गुड़ मिलाकर सेवन करने से उदर्द रोग में विशेष लाभ मिलता है।

कोठ तथा उदर्द में वमन, विरेचन, उष्ण परिषेक तथा शीतपित्त में दूर्वा और हल्दी को पीसकर प्रलेप एव यवक्षार सेंधानमक मिलाकर सरसों के तेल का अभ्यंग विशेष लाभकारी रहता है।

शिरीषादि क्वाथ, किशोर गुग्गुलु, अभयारिष्ट, गन्धारिका, फलादि योग (यो. र.), सगुणदीप्यका योग (यो. र.), यवान्यादि योग (यो. र.), निम्बपंच योग (यो. र.), कुष्ठादि चूर्ण (यो र.), सिद्धार्थादि योग (यो. र.), हरिद्राखण्ड (भै. र.), त्रिफलापुर कृष्ण योग (यो. र.), यवानी त्रिकुट योग (यो. र.) आदि में से किसी योग का प्रयोग किया जा सकता है।

यह रोग बार-बार होता हो तो रोगी को केवल दूध और पीपल के चूर्ण पर कुछ दिन रखना चाहिए। अथवा बहुत सादे भोजन पर जैसे– मूंग की खिचडी या उबले दलिये आदि पर रखते हुए तिक्त घृत का या २० मिली. मंजिष्ठादि क्वाथ का या नीम, कुटकी, गिलोय, हरड़, सोंठ, पुनर्नवा समभाग मिले क्वाथ का २० मिली. की मात्रा में दिन में २ बार अथवा आरोग्यवर्धिनी वटी का २ बार सेवन कराना चाहिए।

मुक्ता शुक्ति भस्म २५० मिग्रा के रूप में कैल्शियम का प्रयोग करते रहने से शीतपित्त में पर्याप्त लाभ मिलता है।

आधुनिक चिकित्सा—

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार यह एक प्रकार की असहनशीलता से होता है जिसे अनूर्जता भी कहते हैं। कुछ व्यक्ति किसी वस्तु विशेष के प्रति सेन्सिटिव होते हैं जिसके सम्पर्क मात्र से ही उन्हें यह एलर्जी होती है। इसका प्रभाव होने पर शरीर में लाल चकत्ते मण्डल सहित उभर आते हैं तथा रोगी बेचैनी अनुभव करने लगता है। कई बार यह क्रोनिक टाइप का हो जाता है। कई बार यह किसी विषैले जन्तु के काटने से हो जाता है अथवा संखिया के योग या पेन्सिलीन आदि औषधियों के सूचीवेध लेने के परिणाम स्वरूप तत्काल हो जाता है। कई बार यह रोग अंकुश मुख एवं गण्डूपद कृमि के कारण भी यह रोग हो जाता है। इसकी चिकित्सा में सर्वप्रथम उदर साफ कर लेना चाहिए। यदि आपातकालीन स्थिति में समय न मिले तो तत्काल रोगी को एन्टी-एलर्जिक या एन्टीहिस्टैमिनिक औषधियों का प्रयोग मुख द्वारा या सूचीवेध के रूप में करना चाहिए। इसके लिए एविल २५-५० मिग्रा की टिकिया या ५० मिग्रा (२ मिली.). सूचीवेध मांसपेशी में देते हैं। मण्डलों को दूर करने के लिए फीनार्गन २५ मिग्रा. दो बार देते हैं या हिस्टामीन ७५ मिग्रा. दिन में तीन बार दें। महाशीतपित्त में एड्रीननीन हाइड्रोक्लोराइड ०.५ मिली. (१:१००० घोल का) उपत्वगीय सूचीवेध (एस.सी.) प्राण रक्षक होता है।

कैल्शियम के यौगिक भी शीतपित्त की चिकित्सा में काफी प्रभावशाली हैं। जैसे–इन्जे. कैल्शियम ग्लूकोनेट १०० –१ मिली. आई.वी. (शिरान्तर्गत) अथवा कैल्शियम क्लोराइड १० मिली आई.वी (शिरान्तर्गत) दिया जाता है।

जब रोग एलर्जीजन्य कारण से हो तब—इस

# विसर्प रोग विवेचन

कु० वसुधा विजय पाटिल बी. ए. एम. एस.
भा० सा० आयुर्वेद महाविद्यालय, सावन्त वाडी--४१६५१० जिला सिधुदुर्ग (महाराष्ट्र)

निरुक्ति—

सर्वतो विसर्पणाद विसर्पः ।

सर्वाङ्ग में फैलने की प्रकृति वाले रोग को विसर्प कहते हैं। चरक ने विसर्प का एक पर्याय परिसर्प भी बताया है। यह रोग शरीर में विभिन्न गतियों से फैलता है। ऊर्ध्व, अधः, तिर्यक गति से फैलने के कारण इसे विसर्प कहते हैं। यह रोग रक्तवह स्रोतस की व्याधि है। इस रोग में त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) और रक्त, त्वक्, मांस, लसिका में दूष्य दूषित होकर विसर्प की उत्पत्ति होती है।

स्थान—

इस रोग में सम्पूर्ण शरीर मे अथवा किसी भाग मे लाल वर्ण का शोथयुक्त मण्डल उत्पन्न होता है। यह रोग प्रायः चेहरे पर या सिर पर होता है। क्वचित गले के भीतर, स्त्रियों के स्तनों पर, जननेन्द्रिय पर, पुरुषो के वृषणों पर होता है। त्वचा के अतिरिक्त श्लेष्म कला, हृदयावरण, फुफ्फुसावरण, मस्तिष्कावरण, मस्तिष्क जैसे शरीर के आंतरिक अंगों में भी तथा रक्त में प्रविष्ट हो जाता है।

यह रोग बाल्यावस्था से चालीस वर्ष की आयु में अधिक होता है। एक बार होने से बार-बार होने की प्रवृत्ति होती है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होता है।

## निदान—

(१) लवण, अम्ल, कटु, उष्ण पदार्थों का अत्यधिक सेवन, तिल, माष, ग्राम्य आनूप जलचर प्राणियों का मांस अत्यधिक सेवन।

(२) दही, कुचिका, तक्रकुचिका, किलाट, पिष्टमय पदार्थों का सेवन।

(३) सुरा, सौवीरक, तीक्ष्ण मद्य, लशुन, विदाही शाक।

(४) क्षत, वेध, प्रपतन, विष।

(५) दिवास्वाप, अजीर्णाशन, असात्म्य, विरुद्ध पदार्थों का सेवन, आतप सेवन, पञ्चकर्मों का अतियोग।

निदानों में प्रकुपित हुए दोष सात प्रकार के विसर्प को उत्पन्न करते हैं—

लवणाम्ल कटुष्णादिसं सेवा दोष कोपत् ।
विसर्प सप्तधाज्ञेयः सर्वता परिसर्पणात् ।।—च चि.

विसर्प के उत्पत्ति कारण के दो भेद बतलाये हैं—

(१) प्रधान कारण—

विसर्पजनक माला गोलाणु (Streptococcus erysipalesis) का प्रवेश शरीर में त्वचा या श्लेष्मकला के क्षत से होता है।

(२) सहायक कारण—

चिरकालीन मेह, विषमाग्नि, अतिमद्य सेवन, सीलनयुक्त स्थानो में निवास, दूषित वायु का सेवन, अस्वास्थ्यकर वातावरण, वृक्क रोग, यकृत रोग, विकृत स्वास्थ्य, कुपोषण। इन कारणों से शरीर की रोग प्रतिरोध क्षमता कम हो जाती है।

मसूरिका, आन्त्रिक ज्वर इत्यादि रोगों मे उपद्रव के तौर पर भी यह होता है।

सम्प्राप्ति—

पूर्वोक्त निदानों से तीनों दोषों का प्रकोप होता है। ये प्रकुपित दोष रक्त, त्वक्, मांस, लसिका को प्रदुष्ट कर देते हैं। तथा त्वचा में स्थान सश्रयित होकर विसर्पणशील मण्डलों की उत्पत्ति कर देते हैं, तब विसर्प उत्पन्न हो जाता है।

(१) दोष—वात, पित्त, कफ।
(२) दूष्य—रक्त, लसीका, मांस, त्वक्।
(३) स्रोतस - रक्तवह
(४) अधिष्ठान—त्वक्
(५) आशुकारी व्याधि है।

रक्तं लसीका त्वग्मांसं दूष्य दोषास्त्रयो मलाः।
विसर्पणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः ।।
—चरक चि. २७१

स्निग्ध, स्तम्भ, गौरव, अल्पवेदना, कृच्छ्रपाक, चिरकारी इनसे युक्त होता है।

२. त्वचा मोटी हो जाती है। अनेक पिडकायें उत्पन्न होती हैं। पिडकायें फूटने पर श्वेत, पिच्छिल, तन्तुमय, बहुव, स्निग्धस्राव निकलता है।

३. शीतज्वर, शरीर गौरव, निन्द्रा, तन्द्रा, अरुचि, छर्दि, आलस्य, अग्निमांद्य, स्तैमित्य, दौर्बल्य, निष्ठीविका मधुरास्यता।

४. आस्योपलेप, नख, नेत्र, मूत्र श्वेतवर्ण के होते हैं।

(४) आग्नेय विसर्प के लक्षण—

१. ज्वर, वमन, मूर्च्छा, अतिसार, तृष्णा, भ्रम, ग्रन्थियों तथा संधियों में फटने जैसी पीड़ा, अग्निमांद्य, तमकश्वास, अरुचि से युक्त संपूर्ण शरीर जलते हुए अंगारे से झुलसे समान हो जाता है।

२. जिस स्थान पर विसर्प होता है वह बुझे हुए अंगारे के समान काला, नीला, लाल होकर शीघ्र ही अग्नि से जलने के समान फफोले से होते हैं।

३. शीघ्रगामी होने से मर्मस्थानों प्रवेश करता है जिससे वायु अत्यधिक कुपित होकर अंगपीडन, संज्ञानाश, निद्रानाश करता है। हिक्का उत्पत्ति करता है।

४. रुग्ण बैचेनी से युक्त भूमि पर बार-बार लेटने, बैठने की चेष्टा करता हुआ बहुत दुःखी होकर मूर्च्छित होकर मरणरूप निद्रा को प्राप्त हो जाता है। इसे अग्नि विसर्प कहते हैं।

(५) ग्रन्थि विसर्प के लक्षण—कफ, वातजन्य

१. लम्बी, छोटी, गोल, मोटी और कठोर ग्रन्थियों की माला उत्पन्न होती है। ग्रन्थि का रंग लाल होता है। साथ में पीड़ा और ज्वर भी रहता है।

२. श्वास, कास, अतिसार, हिक्का, वमन, भ्रम, मूढता, विवर्णता, मूर्च्छा, अंगों का टूटना, अग्निमांद्य इन लक्षणों से युक्त ग्रन्थि की माला को ग्रन्थि विसर्प कहते हैं। यह कफ और दूषित वायु के कोप से त्वचा, सिरा, स्नायु, मांस में रहने वाले रक्त को दूषित करके ग्रन्थि विसर्प की उत्पत्ति होती है।

(६) कर्दम विसर्प लक्षण—कफ-पित्तजन्य

१. ज्वर, स्तम्भ, निद्रा, तन्द्रा, शिरःशूल, अंगों में शिथिलता, अंगविक्षेप, अंगोंपर प्रलेप की प्रतीति, अरुचि, भ्रम, मूर्च्छा, अग्निनाश, तृष्णा, इन्द्रियों में भारीपन, आम मल त्याग, अस्थियों में टूटने जैसी पीड़ा, स्रोतों में लेप (अवरोध) होता है।

२. अत्यधिक पीले, लाल, धूसर वर्ण की पिडकायें में यह व्याप्त रहता है। यह चिकना, काला, अञ्जन समान, मैला, सूजन युक्त, भारी अन्तः पाक वाला, अत्यधिक उष्ण होता है।

३. क्लेदयुक्त होने से छूते ही फट जाता है और मांस के झड़ने से कीचड के समान हो जाता है। स्नायु सिरायें स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। शव के समान दुर्गंध होती है।

(७) क्षतज विसर्प के लक्षण—

१. बाह्य क्षत से पित्त प्रकुपित होकर वात तथा रक्त को दूषित करता है और विसर्प की उत्पत्ति होती है।

२. क्षतग्रस्त प्रदेश में कुलत्थ वर्ण सदृश, काले रंग की पिडकायें हो जाती है, वह स्थान श्याव और रक्त वर्ण का होता है।

३. ज्वर, दाह, पाक वेदनायुक्त फैलने वाला शोथ होता है।

अन्तः विसर्प (आभ्यन्तराधिष्ठान विसर्प के लक्षण)

१. मर्म स्थानों अत्यधिक पीड़ा, सम्मोह, तृष्णाधिक्य मल मूत्र-वात आदि वेगों का विषम रूप में प्रवृत्त होना, जाठराग्नि बलनाश।

२. आभ्यन्तर मार्गों में विघटन (परस्पर आभ्यन्तर आहार आदि मार्गों का घर्षण होना)।

बाह्य विसर्प—

उपरोक्त लक्षण न हो अन्य विसर्प लक्षणों का होना।

भावप्रकाश के अनुसार—

१. भ्रमणशील—कभी-कभी मुख से ग्रीवा, वक्ष, शरीर के अन्य अंगों पर फैलने की प्रवृत्ति।

२. कर्दम विसर्प—त्वचा / उपत्वचा का गम्भीर पाक होकर विकृत स्थान के धातु गल जाते हैं।

३. परिवर्तित विसर्प—कभी-कभी एक ही स्थान में बार-बार आक्रमण होना। इसका परिणाम यह होता है कि उस स्थान की त्वचा मोटी हो जाती है। उसकी आस-पास की लसिका वाहिनी अवरुद्ध हो जाती हैं।

२. कफ पित्तज विसर्प में चरकाचार्यानुसार और योग रत्नाकरानुसार कफज विसर्प में मदनफल, मुलेठी, निम्ब, इन्द्रयव समभाग लेकर क्वाथ अथवा चूर्ण बनाकर सेवन करना चाहिए। [चरक, यो र.]

(२) विरेचन के लिए द्रव्य —

१. त्रिफला क्वाथ में घृत और निशोथ चूर्ण मिलाकर प्रयोग करने से अथवा त्रिफलादि के योग मे विधिपूर्वक घृत सिद्धकर सेवन मे विरेचन होकर विसर्प और ज्वर शमन हो जाता है। [चरक, भै.र., यो.र., वा.सु]

२. निशोथ और हरड़ चूर्ण के सेवन से विरेचन हो जाता है। [यो र.]

३. आमलकी स्वरस में घी मिलाकर सेवन करने से विसर्प और ज्वर की शांति हो जाती है। [भै.र., चरक]

४. त्रायमाणा के स्वरस में घी मिलाकर सेवन करने से विसर्प और ज्वर शांति हो जाती है। [भै.र., चरक]

५. त्रायमाणा के कल्क से सिद्ध किया हुआ गोदुग्ध पिलाकर विरेचन करना चाहिए। [चरक]

६. निशोथ चूर्ण को घृत अथवा दुग्ध अथवा गरम जल अथवा मुनक्के का रस इनमें से किसी एक में मिलाकर विरेचन करना चाहिए। [चरक]

वातज विसर्प की चिकित्सा —

१. वातजन्य विसर्प में तृणपञ्चमूल के अतिरिक्त शेष चार पञ्चमूल की औषधि द्वारा प्रलेप, परिषेक इनसे सिद्ध घृत का सेवन करना चाहिए।

वृहद् पञ्चमूल—विल्व, श्योनाक, गंभारी, पाटला, अग्निमन्थ।

लघुपञ्चमूल—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, छोटी कटेरी गोखरू।

बल्लीपञ्चमूल—मेषशृंगी, हरिद्रा, विदारीकंद, अनंतमूल, अमृता।

कण्टक पञ्चमूल - गोखरू, शतावरी, कटसरैय्या, कण्टपालीलता, करौंदा। [चक्रदत]

२ कुष्ठ, सोवे के बीज, देवदारू, नागरमोथा, वाराहीकंद, धनिया, सहिजन की छाल, मदार की जड़, वांस, नीली कटसरैया, इनके द्वारा लेप तथा सेक एवं सिद्ध घृत का प्रयोग करना चाहिए।

[सुश्रुत, चरक, चक्रदत्त]

३. रास्ना, नीलकमल, लालचन्दन, देवदारू, मुलेठी, बला इन्हें समप्रमाण चूर्णित कर घृत और दुग्ध के साथ पीसकर लेप करना चाहिये।

[भा. प्र., भै. र., शा. सं., वंगसेन]

पित्तज विसर्प की चिकित्सा—

१ पुण्डरिया, मंजीठ, पद्माख, खश, लालचन्दन, मुलेठी, नीलोफर इनको चूर्णकर दूध में पीस कर लेप करना चाहिए।

[सुश्रुत, शा. स, भै. र., यो. र., वंगसेन]

२. शंख और शैवाल, कमल के मूल के समीप का कीचड़ या गैरिक घृत के साथ मिलाकर लेप करना चाहिए। [चक्रदत्त]

३. पञ्चवल्कल की औषधियां अथवा पद्माख, खश, मुलेठी, लालचन्दन इनका लेप या इनके कषाय आदि से परिषेक करना चाहिए। [चक्रदत्त, वंगसेन]

४ कसेरू, सिंघाड़ा, कमल, रतीयां, सेवार, नीलकमल और कीचड़ (कमल के आस-पास का) सबको एकत्र घी में पीसकर कपड़े पर लेप करके पित्तज विसर्प पर रखना चाहिए। [चक्रदत्त, यो र., सुश्रुत]

५. ह्रीवेर (वालक), लामज्जक (उशीर), लाल चन्दन, सौवीराञ्जन, मुक्ता, मोती, गैरिक, दुग्ध और घी में पीसकर लेप करना चाहिए। [सु चि.]

६. वटप्ररोह, गुर्च, कदली गर्भ, कमलकन्द इनको पीसकर शतधौत घृत में मिलाकर लेप करें। —चक्रदत्त

७. मूंग, मसूर, शालिधान्य के चावल इनमें से कोई एक अथवा सबको एकत्र पीसकर घृत में मिलाकर लेप करना चाहिए। — चक्रदत्त

कफज विसर्प की चिकित्सा—

१. अजगन्धादि लेप—अजगन्धा, असगन्धा, काली निशोथ, कासमर्द, लता, शतावरी तथा मेढ़ासिंगी इन औषधि को गोमूत्र में पीसकर लेप करने से दूर होता है।

२. आरग्वधादि लेप -अमलतास के पत्र, लिसोड़े की छाल, सिरस फूल, मकोय इनको पीसकर कुछ घी मिलाकर लेप करके अवचूर्णम से कफज विसर्प दूर होता है। —चक्रदत्त

३. त्रिफला, पद्माख, खस, लज्जावती (मंजीठ), कनेर की जड़, नल की जड़, अनन्तमूल को पीसकर

४. भूनिम्बादि क्वाथ—चिरायता, अडूसा, कुटकी, पटोलपत्र, आंवला, हरड़, बहेड़ा, चन्दन, नीम की छाल प्रत्येक समभाग लेकर विधिपूर्वक क्वाथ बनाकर पान करने से विसर्प, दाह, ज्वर, शोथ, कंडू नष्ट होते हैं। —यो. र., भा. प्र.

५. दशांग लेप—
शिरीषयष्टीनतचन्दनैला मांसीहरिद्रा मधुष्टनाख्यैः।
लेपो दशांगः सघृतः प्रयोज्यो
विसर्प दुष्ट व्रणशोथहारी॥

सिरीष छाल, मुलेठी, तगर, रक्तचन्दन, छोटी इलायची, हल्दी, कुष्ठ, दारुहल्दी, जटामांसी, सुगन्ध वाला प्रत्येक समान भाग लेकर जल से पीसकर घृत मिलाकर लेप करने से विसर्प दुष्ट व्रण, व्रणशोथ नष्ट होते हैं। —यो. र., भा. प्र.

६. मुस्तादि कषाय—नागर मोथा नीमत्वक् पटोल पत्र क्वाथ तथा घी मिलाकर सेवन करने से अथवा आंवला, पटोल पत्र, मूंग का काढ़ा घी मिलाकर पीने से त्रिदोषज छोड़कर सब विसर्प नष्ट होते हैं। —चक्रदत्त

७. नवकषाय गुग्गुलु—अमृता अडूसा पटोलपत्र, निम्बत्वक् त्रिफला खैरसार अमलतास का गूदा इन औषधियों का कषाय बनाकर शुद्ध गुग्गुलु मिलाकर सेवन से विषजन्य विसर्प नष्ट होते हैं। —चक्रदत्त भै. र. शमनार्थ गुग्गुलु २-४ रत्ती विरेचनार्थ गुग्गुलु ८ रत्ती।

८. पञ्चक्षीरी वृक्ष त्वक् के शीतल क्वाथ बनाकर बार-२ सेवन करने से विसर्प में शांति मिलती है।—चरक

९. दूर्वा घृत दूर्वा स्वरस से विधिपूर्वक सिद्ध किये घृत का विसर्प में होने वाले व्रणों में लेप करने से व्रण-रोपण होता है। —चरक

१०. कफज, रक्तपित्त संयुक्त विसर्प में त्रिफला को गुग्गुलु के साथ सेवन करें। —वंगसेन

११. व्रणादि घृत—अडूसा खैर पटोलपत्र नीमत्वक् गिलोय हरड़ के कल्क और क्वाथ के द्वारा घृत पकाकर सेवन करना चाहिये। —वंगसेन, भै र.

१२. गौरवादि घृत—हल्दी दारुहल्दी शालिपर्णी मूर्वा सारिवा चन्दन मुलैठी खस लालचन्दन पद्माख गिलोय कमलकेशर कमोदिनी मेदा त्रिफला पञ्चवल्कल इत्यादि से सिद्ध घृत का सेवन करना चाहिए।

मात्रा—२५-३० मिली. दिन में २ बार। —वंगसेन

१३. करञ्ज तैल—करंज सतौना कलिहारी थूहर मदार का दूध चीते की छाल भृंगराज हल्दी गोमूत्र वत्सनाभ विष द्वारा पकाये गए तैल को लगाने से विसर्प विस्फोट विचर्चिका नष्ट हो जाती है। —भा.प्र., भै.र.

१४. महातिक्तक घृत—सप्तपर्ण अतिविषा कुटकी पाठा मुस्ता त्रिफला पर्पटक पटोल खस मंजिष्ठा पिप्पली कचोरा चन्दन धमासा पद्मकाष्ठ विशाला इन्द्र-यव हल्दी दारुहल्दी गुडूची सारिवा मुस्ता वासा शता-वरी त्रायमाणा चिरायता आमलकी घृत का सेवन करने से विसर्प वातरक्त प्रदर पाण्डु गुल्म नष्ट होते हैं।

१५. कासीसादि घृत—कासीस हल्दी दारुहल्दी मुस्ता हरताल मनःशिला गंधक कम्पिल्लक विडङ्ग गुग्गुलु मरिच कोल रसांजन रक्तचन्दन खदिर सिन्दूक कटुनिम्ब करंज सारिवा वचा मजिष्ठ यष्टीमधु जटा-मांसी शिरीष लोध्र पद्मकाष्ठ इन औषधियों के सिद्ध घृत से कुष्ठ दद्रु पामा विसर्प विस्फोट भगंदर नष्ट हो जाते है।

१६. पञ्चतिक्तक घृत—वासा निम्ब गुडूची श्वेत कंटकरी घृत—इससे पाण्डु कुष्ठ विसर्प अर्श इत्यादि नष्ट होते हैं।

१७. गौमधी घृत—हल्दी दारुहल्दी शालपर्णी मूर्वा सारिवा चन्दन गुडूची यष्टीमधु कमल नागकेशर पद्म-काष्ठ खस त्रिफला शतावरी वट पीपल औदुम्बर बेत. इनसे घृत सिद्ध करना। इससे विसर्प लूता विस्फोट नष्ट होते हैं।

१७. रसौषधि—(१) गन्धक रसायन १०० मिग्रा० दिन में २ बार। अनुपान—दूध।

(२) चन्द्रकला रस २५० मिग्रा० दिन में ३ बार। अनुपान—उशीरासव।

(३) मौक्तिक युक्त कामदुधा—२५० मिग्रा०, दिन में ३ बार। अनुपान—उशीरासव।

आधुनिक चिकित्सा—

(१) संसर्गजन्य व्याधि—इसीलिए रुग्ण को अलग कमरा में रखना चाहिए।

—शेषांश पृष्ठ २२६ पर देखें।

ठंडा आहार, दिवा स्वाप, जागरण, शराब इत्यादि से दूर रहना जरूरी है।

औषध चिकित्सा—

आरोग्यवर्धनी रस, गन्धक रसायन, त्रिफला चूर्ण, मंजिष्ठादि क्वाथ, कैशोर गुग्गुलु, मरिच्यादि तैल आदि का उपयोग करने से इस रोग का शमन हो जाता है।

## अनुभूत चिकित्सा विवेचन—

दर्दी—श्रीमती हंसा बहन जा मेहता, उम्र—४० वर्ष

पता—सुभाष नगर, भावनगर (गुज०)।

तीन साल पूर्व हंसा बहन भावनगर से हमारे पास चिकित्सा हेतु आई थी। उनके रिश्तेदार बम्बई मे रहते हैं, उनको त्वचा रोग हो गया था, हमारी चिकित्सा मे लाभ हो जाने से एवं हंसा बहन उनको देखा भी था, अतः बम्बई से हमारा पत्र प्राप्त कर हंसा बहन स्वयं सावर कुण्डला आई थी।

लक्षण तथा पूर्व इतिहास—

हंसा बहन को दस साल से सारे शरीर में खुजली आती थी। अति मात्रा में खुजलाने से दाह होता था। और कभी-कभी शरीर के कुछ भागों में पानी जैसा स्राव भी होता था। यह रूप अति अल्प मात्रा मे कभी-कभी मिलता था। पूछने पर पता चला कि पूर्व दिनों में मधुर लवण रस, मिर्च-मसाला का अति सेवन किया था, शरीर में मेद की वृद्धि देखी जा सकती थी। हंसा बहन ने राजकोट, भावनगर इत्यादि नगरों में आधुनिक तथा आयुर्वेदिक होम्योपैथी एवं प्राकृतिक चिकित्सा कराई थी। परिणामतः उनको लाभ नहीं हुआ था। कोई रक्तदोष कहते थे, तो कोई एलर्जी कहते थे। रक्त परीक्षा, मूत्र परीक्षा तथा मल परीक्षा भी बार-बार कराई थी, सभी रिपोर्ट सामान्य आये थे।

जब हंसा बहन हमारे पास आई थीं, तब निराश थी। सर्वप्रथम उसने प्रश्न किया था कि 'वैद्य जी! इस रोग का नाम क्या है? क्यों होता है?' मैंने रोग की परीक्षा कर उनको बताया था कि 'बहन जी! आपके रोग का नाम 'कण्डु' है।' आपको अवश्यमेव आराम हो जायेगा। धीरज और श्रद्धा से तीन माह तक चिकित्सा लेनी होगी। हंसा बहन चिकित्सा कराने को तैयार हो गई। मैंने १५ दिन की दवा बांध दी। १५ दिन के पश्चात् हंसा बहन के फैमीली डाक्टर महोदय का पत्र भावनगर से आया, लिखते थे कि हंसा बहन नॉर्मल हो गई। अतः दवा बन्द कर दी। मैं जानता था कि अभी रोग के लक्षणों का शमन हुआ है, रोग का नहीं। अतः एक वर्ष तक उनको सम्पूर्ण आराम रहा। यकायक वर्षा का आगमन हुआ तब शरीर के कुछ भागों में कण्डु का प्रादुर्भाव हुआ। अतः हंसा बहन पुनः हमारे पास आई। वह पछताने लगी और अब लम्बे समय तक चिकित्सा कराने को तैयार हो गई। पुनः शमन चिकित्सा प्रारम्भ किया, जो निम्नोक्त था—

(१) आरोग्यवर्धिनी रस गन्धक रसायन, वंग भस्म प्रत्येक २-२ रत्ती, त्रिफला चूर्ण, मञ्जिष्ठादि चूर्ण १-१ माशा, मात्रावत् पुड़िया बनाकर १-१ पुड़िया तीन बार पानी से।

(२) किशोर गुग्गुलु—२ गोली ३ बार पानी से।

(३) महामञ्जिष्ठादि क्वाथ—१ तोला ३ बार जल से।

(४) करञ्जादि मलहम मालिश हेतु दिया। मलहम में मरिच्यादि तैल घोटकर मालिश करने को कहा। १५ दिन के पश्चात् पत्र आया कि २५% आराम है, दूसरा कोर्स भेजने को कहा—दवा पुनः भेजी, इस तरह कुल मिलाकर ४ माह तक चिकित्सा जारी रखी थी। चिकित्सा से उनको सम्पूर्ण आराम मिल गया था। हंसा बहन अति प्रसन्न हो गई और उनके रिश्तेदारों को हमारा नाम व पता देने लगी। देखो, कुछ समय पूर्व ही उनके रिश्तेदार, जो बम्बई रहते हैं उनकी २ साल की पुत्री को सिध्म रोग हो गया था। उनको पत्र लिखकर हमारे पास ले जाने को कहा था। पुत्री भी हमारे पास लाई गई थी, उनका सिध्म रोग भी मिटाया गया है। कहा है कि—'चिकित्सा नास्ति निष्फलम्'।

कोई भी त्वचा रोग हो, उनके मिटाने पूर्व पथ्य की शर्त करता हूं, पथ्य पालन की मंजूरी मिलने पर ही चिकित्सा देता हूं। पथ्य से आधा प्रतिशत रोग मिट जाता है। यह ध्यान में रखा जाय तो उत्तम ही होगा। 'अस्तु।'

★

कण्डू स्रावयुक्त एवं दाहयुक्त होता है और खुजलाने से रोगी सुख का अनुभव करता है।

**चिकित्सा—**

कण्डू स्वतन्त्र रोग न होने से इस रोग की चिकित्सा कहीं वर्णित नहीं है।

आचार्य चरक ने सूत्र स्थान ४ में महाकषायों के अन्तर्गत कण्डूघ्न और कुष्ठघ्न महाकषायों का वर्णन किया है। इन महाकषायों के अन्तर्गत वर्णित वनौषधियों को चिकित्सार्थ प्रयुक्त कर सकते हैं। इसके अलावा भी शास्त्रों में जितने भी कुष्ठहर योगों का वर्णन किया है उन सभी का प्रयोग कर सकते हैं। यहां पर चरक संहिता, सुश्रुत संहिता एवं अष्टांग हृदय में वर्णित कण्डूहर वनस्पति और योगों का उल्लेख किया है, जिसे चिकित्सार्थ प्रयोग किया जा सकता है।

संहितानुसार कण्डूहर औषधियां

| औषधि नाम | चरक संहिता | सुश्रुत संहिता | अष्टांग हृदय |
|---|---|---|---|
| १. आरग्वध | + | + | + |
| २. अगुरु | — | + | + |
| ३. चन्दन | + | — | + |
| ४. चित्रक | + | + | + |
| ५. चोचपत्र | — | + | + |
| ६. चोरक | — | + | + |
| ७. दारुहरिद्रा | + | — | — |
| ८. देवदारु | — | + | + |
| ९. एला | — | + | + |
| १०. गुडूची | — | + | + |
| ११. गुग्गुलु | — | + | + |
| १२. शल्लकी निर्यास | — | — | + |
| १३. इन्द्रयव | — | + | + |
| १४. जटामांसी | + | + | + |
| १५. जाति | — | — | + |
| १६. करंज | + | + | + |
| १७. कुटज | + | + | + |
| १८. किरात तिक्त | — | + | + |
| १९. कुष्ठ | — | + | + |
| २०. केसर | — | + | + |
| २१. मधुक | + | — | — |
| २२. मुस्ता | + | — | — |
| २३. मदन | — | + | — |
| २४. मूर्वा | — | + | — |
| २५. मधुरस | — | — | + |
| २६. निम्ब | + | + | + |
| २७. नागकेसर | — | + | + |
| २८. हरेणुका | — | + | — |
| २९. पाठा | — | + | + |
| ३०. पाटला | — | + | + |
| ३१. पटोल | — | + | + |
| ३२. पत्र | — | + | + |
| ३३. फलिनी | — | + | + |
| ३४. पुन्नाग | — | + | + |
| ३५. राल | — | + | + |
| ३६. सर्षप | + | — | — |
| ३७. सप्तपर्ण | — | + | + |
| ३८. सैरेयक | — | + | + |
| ३९. शार्ङ्गेष्ठा | — | + | — |
| ४०. सुण्ठी | — | + | + |
| ४१. शैलरस | — | + | + |
| ४२. श्रीवास | — | — | + |
| ४३. तगर | — | + | + |
| ४४. त्वक् | — | + | + |
| ४५. उशीर | — | + | — |
| ४६. विकंकत | — | + | + |

**कण्डूहर योग—**

[अ] चरक संहितानुसार—

—कुष्ठघ्न प्रदह —कुष्ठादि लेप — वर्णहर लेप
—शरीर मर्जनफलम् —सर्षप तैल —कनकक्षीरी तैल
—चूर्णांजन —कुष्ठादि चूर्ण —मुस्तादि चूर्ण
—तिक्तपट्फल घृत —मुस्तादि चूर्ण —मुस्तादि क्वाथ
—महातिक्तक घृत —कल्याणक घृत—पुनर्नवारिष्ट
—तक्रारिष्ट —कण्डूघ्न मोदक—गंधहस्ति अगद
—महागंधहस्ति अगद

# ❀ रूसी ❀

वैद्य अशोक भाई तलाविया भारद्वाज
आयुर्वेदाचार्य, बी०एस ए०एम०, आयु० मार्तण्ड
आचार्य-मनो चिकित्सा शास्त्र
विशेष सम्पादक–'धन्वन्तरि' के "पुरुष रोग चिकित्सांक",
"शूल निदान चिकित्सांक", 'आयु० गुप्त रहस्यांक"
भारद्वाज औषधालय, स्वामीनारायण मन्दिर
सावर कुण्डला–३६४५१५ (भावनगर) गुज०।

---

सामान्यतया रूसी रोग मस्तिष्क की केश भूमि में होता है। मस्तिष्क के बाह्य प्रदेश में केशोत्पत्ति होती है और केश के मूल में अर्थात् रोम कूपों में रूसी का उद्भव होता है, अतः रूसी मस्तिष्कजन्य है। रूसी को दारुणक, रुक्षिका तथा खोडो तथा अंग्रेजी में डेनड्रफ (Dendruff) नाम से जाना जाता है। त्वचा में से रोम बाहर आते है और रोम कूप में से विकृत दोष बाहर निकलते हैं। अतः इसको त्वचाजन्य व्याधि भी कह सकते हैं। कुछ चिकित्सक रूसी या रूक्षिका को अरुंषिका कहते हैं, मगर अरुंषिका एवं रूसी दोनों में अन्तर है। दोनों अलग-अलग व्याधि है। दारुणक में पिटिका नहीं होती, सिर्फ रूक्ष केश भूमि देखी जाती हैं। अरुंषिका में स्रावी पिटिका उत्पन्न होती हैं।

**निदान व कारण—**

(१) मस्तिष्क के केश न धोने से (२) शैम्पू का उपयोग करने से (३) मस्तिष्क में तेल न डालने से (४) अपथ्य एवं विरुद्ध आहार-विहार (५) हेयर डाई कराने से (६) मधुर पदार्थ के अति सेवन से (७) दिवा स्वाप एवं रात्रि जागरण करने से (८) पूरी, पकौड़ी, दही, इडली डोसा, भाजीपाव, मांस, अण्डा, मछली, शराब, भांग, गांजा, चरस, हेरोईन बीड़ी, तम्बाकू इत्यादि के सेवन से (९) अम्लपित्त, जीर्ण प्रतिश्याय, अजीर्ण अग्निमांद्य, प्रदर, रक्तस्राव इत्यादि रोग होने से (१०) कैमीकल्स, पावरलुम्स, हीरा के कारखाने, कोयले की खानों, लोखंड के कारखानों आदि में काम करने से।

वर्तमान में अधिकांश में युवक एवं युवती को यह रोग देखा जाता है। क्योंकि आजकल तो पथ्य पालन में ये लोग निष्क्रिय ही हैं। अधिकांश युवा लोग कुपथ्य का सेवन करते है। देखा देखी मे केश का फैशन समझ कर उनके प्रति दुर्भाव करते हैं और केशकला केन्द्र में जाकर बिजली मशीन मे सैट कराते हैं। केश में तेल नहीं डालते हैं और डाई से केश को रंग कराते हैं। शैम्पू से धोते हैं। फिर क्या होता है ? मस्तिष्क केश जन्य अनेक रोग पैदा होते हैं। इन्द्रलुप्त, पलित, खालित्य, अरुंषिका और रूसी जैसे रोग हो जाते हैं। आयुर्वेद तो पुकार-पुकार कर कहता है कि तुम लोग प्रतिदिन मस्तिष्क को धोकर तेल मर्दन किया करो। मस्तिष्क में तेल डालने से तेल केश द्वारा रोमकूपों में पहुँच कर केश के मूलों को त्वचा को बलवान बनाता है, उनको स्निग्ध रखता है।

**सम्प्राप्ति घटक—**

दोष—कफ वात (पित्त)
दूष्य—रस रक्त स्रोतस—रसवह रक्तवह
स्थान—मस्तिष्क बाह्य त्वचा प्रदेश
मार्ग—बाह्य रोग मार्ग
उद्भव स्थान—मस्तिष्क रोम कूप

**लक्षण—**

(१) मस्तिष्क (सिर) की त्वचा रूक्ष हो जाती है।
(२) मस्तिष्क त्वचा श्वेत वर्ण की हो जाती है।
(३) मस्तिष्क की त्वचा में पपड़ी जम जाती हैं।
(४) त्वचा में खुजली आती है।
(५) दाह होता है। (६) केश गिरते हैं।
(७) केश सफेद होने लगता है।

(८) अधिक समय तक यह रोग रहने से आगे मण्डल कुष्ठ (सोरियासिस) नामक महाघोर व्याधि होने की पूरी सम्भावना होती है।

दारुणा कंडुरा रूक्षा केशभूमिः प्रजायते।
मारुत श्लेष्मकोपेन विद्याद्दारुणकं तु तत्॥

अर्थात् वात और कफ के प्रकोप से दारुण कंडुयुक्त रूक्ष केशभूमि हो जाती है, उसको रूसी या दारुणक कहते हैं।

**चिकित्सा—**

सर्वप्रथम निदान परिवर्जन करना अति जरूरी है।

# -मसूरिका-रोमांतिका-शीतला-

डा० शिवपूजन सिंह कुशवाह शास्त्री, एम० ए०, दयानन्द स्वर्ण पदक पुरस्कार विजेता
वेद मन्दिर, ज्वालापुरी [हरिद्वार] उ० प्र०।

★ 'धन्वन्तरि' के पुराण प्रसिद्ध लेखक।
★ सुप्रसिद्ध विद्वान आयुर्वेद लेखक।
★ अष्टांग आयुर्वेद के ज्ञाता।
★ वैद्य किरीट पण्डया (विशेष सम्पादक)।

मसूरिका को चेचक, शीतला बड़ी माता, रोमांतिका और आंग्ल भाषा में स्माल पॉक्स (Small pox) कहते हैं। इसमें मसूर के आकार वाली पिडकायें निकलती हैं। ज्वर अविराम स्वरूप में रहता है। प्रायः ज्वर होने के तृतीय दिवस शरीर पर पिडकायें निकलती हैं। पांचवें व छठवें दिन पिडकाओं (दानों) में पानी भर जाता है। रोग के हल्के आक्रमण में दाने छोटे-छोटे होते हैं किन्तु रोग की भयानक परिस्थिति में ये दाने बहुत समीप होते हैं। दानों के निकलने से रोगी का मुख-मण्डल सूज जाता है। इस सूजन के कारण उसके दोनों नेत्र खुल नहीं पाते हैं। किसी-किसी को ये दाने दोनों या एक नेत्र में निकल आते हैं जिनसे रोगी एक या दोनों नेत्रों से वंचित हो जाता है। इस अन्वेषण का कोई भी उपचार नहीं है। प्रायः चार-पांच दिनों में दाने शुष्क होकर सूख जाते हैं। छिलके उतरने के पश्चात चिह्न व हल्के गढ़े से रह जाते हैं जो जीवन पर्यन्त बने रहते हैं। इससे कुछ लोग कुरूप हो जाते हैं। कइयों के नेत्र चले जाते हैं। कुछ बहरे भी हो जाते हैं। कई काल के गाल में चले जाते हैं।

**कारण—**

संक्रामक होने से रोगी के संसर्ग से, चटपटे, खट्टे, नमकीन, खारे पदार्थों के सेवन, दूषित शाक सेवन, दुष्ट हुई वायु और दूषित हुए रक्त के साथ मिलकर मसूर जैसी पिडकाओं को उत्पन्न करते हुए मसूरिका नामक रोग उत्पन्न होते हैं। यह रोग बच्चों को विशेष रूप से होता है। बसन्त ऋतु में इसका प्रकोप विशेष रूप से होता है। इसलिए इसे वासन्ती रोग भी कहते हैं।

आधुनिक मत से— सत्रह माइक्रोन व्यास का एक विषाणु इस रोग को करता है। प्रायः मसूरिका उपसर्ग श्वसन मार्ग द्वारा शरीर में प्रवेश करता है। रोगी के खांसने या छींकने पर बिन्दूत्क्षेपों द्वारा नासा में इसका ग्रहण होता है। यहां से यह समस्त शरीर में पहुँच जाता है। मसूरिका का जीवाणु शोणित में गमन करता हुआ उपचर्म में आकर ठहर जाता है। जिस स्थान पर जीवाणु ठहरता है, उस स्थान पर उपचर्म की कोशायें रक्तमुक्त व शोथमय हो जाते हैं।

**मसूरिका के प्रकार —**

(क) असंयुक्त पिडिका (Discrete)—इसमें दाने अलग-अलग भिन्न-भिन्न होते हैं। ज्वर मृदु होता है।

(ख) संयुक्त पिडिका दाने (Confluent)—इसमें दूसरे दिन में दाने निकल आते हैं। दाने बहुत दिन आते हैं। यहां तक कि वे एक-दूसरे से एकदम संयुक्त रहते हैं। कटि प्रदेश में विशेष दर्द होता है, ऐसा रोग अत्यन्त भयंकर होता है। उपजिह्वा और कर्णाग्रवर्ती, लाला ग्रन्थियां दोनों फूल जाती हैं और उनमें दाह होता है। ओष्ठ भी फूल जाते हैं और मुंह के दोनों किनारों से लगातार लाला गिरती रहती है। नाड़ी क्षीण व तीव्र गति से चलती है। इस रोग की यन्त्रणा से ८० प्रतिशत व्यक्तियों की मृत्यु हो जाती है। प्रलाप भी उपस्थित हो जाता है।

(ग) अर्ध संयुक्त पिडकायें (Semi-confluent)—इसमें स्थान-स्थान पर संयुक्त रूप से दाने निकलते हैं। इसमें रोगी की मृत्यु कम होती है।

(घ) सामान्य शीतला (Benign)—इसमें सब लक्षण मृदु होते हैं तथा सम्पूर्ण अङ्गों में दाने निकल आते हैं और पूय उत्पन्न होने के पूर्व ही ये सूख जाते हैं।

(ङ) गुच्छाकार (Corymbose) पिडिकायें—इसमें पिडकायें १-१ दिन में अधिक स्थान में व्याप्त होकर रहती हैं।

(च) सांघातिक पिडिकायें (Malignent)—इसमें

# पाषाण गर्दभ

डा. (कुमारी) कमला पाण्डेय बी. ए., बी. ए. एम-एस., एम. ए., पी-एच. डी.
राजकीय आयुर्वेद कालिज, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार (उ प्र.)

यह एक प्रकार का विशिष्ट संक्रामक रोग है। जिसमें एक या दोनों तरफ जबड़े की संधि पर पाये जाने वाले पाषाण ग्रन्थि (Parotid Glands) की सूजन होती है। प्राय: पाठशाला जाने वाले बालकों की उम्र में अधिक पाया जाता है। घर या परिवार में एक बालक के पीड़ित होने पर कुछ समय के अन्तर से सभी बालक पीड़ित होने लगते हैं।

पर्याय—पाषाण गर्दभ, कनफेड, गलसुआ, कर्णमूलिक शोथ, कर्णमूलिक ज्वर, मम्स (Mumps), इपीडमिक पैरोटाइटिस (Epidermic Parotitis)।

आचार्य सुश्रुत ने पाषाण गर्दभ का इस प्रकार वर्णन किया है—

हनुसन्धौ समुद्भूतं शोफमल्परुजं स्थिरम्।
पाषाण गर्दभं विद्याद्बलासपवनात्मकम्॥
—सु० नि० १३/१३

अर्थात् कफ तथा वायु के प्रकोप से हनुसन्धि प्रदेश में उत्पन्न, अल्प पीड़ा वाले स्थिर (कठिन) शोथ को पाषाण गर्दभ कहते हैं।

इस रोग में कान की अग्रवर्ती लाला ग्रन्थियां शोथ युक्त हो जाती हैं। साथ ही उपसर्ग स्वरूप अण्डकोषों में भी शोथ हो जाता है। इसका संक्रमण काफी तीव्रता के साथ होता है। बालकों में तो विशेष रूप से पाया जाता है परन्तु युवकों में भी हो जाता है। इससे वात श्लैष्मिक ज्वर हो जाता है। इसे 'पाषाण गर्दभ ज्वर या कर्णमूलिक ज्वर' भी कहते हैं। महर्षि चरक ने कर्णमूलिक शोथ का वर्णन इस प्रकार किया है :—

यस्य पित्तं प्रकुपितं कर्णमूलेऽवतिष्ठते।
ज्वरान्ते दुर्जयोऽन्ताय शोथस्तस्योपजायते॥
— च० सू० १८/२७

अर्थात् ज्वर के अन्त में जो प्रकुपित पित्त कर्णमूल में स्थित होकर शोथ को उत्पन्न करता है वह चिकित्सा द्वारा साध्य नहीं होता है। अत: उसकी मृत्यु का कारण कहा जाता है। इसी प्रकार सन्निपात ज्वर में उपद्रव का भी वर्णन किया है—

सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुण:।
शोथ सजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते॥
— च० चि० ३/२८७

अर्थात् सन्निपात ज्वर के अन्त में अर्थात् सन्निपात ज्वर की अवस्था में कर्ण के मूल में शोथ उत्पन्न हो जाता है और उससे कोई व्यक्ति बचता है अर्थात् अधिकतर रोगी की मृत्यु हो जाती है। हारीत सहिता में इसका वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है। महर्षि हारीत ने इस शोथ को तीन भागों में विभाजित कर उसकी साध्य, कष्ट साध्य एवं असाध्य स्थितियों को स्पष्ट किया है।

## निदान—

यह एक विषाणुजन्य (वाइरस) रोग है। यह रोगी व्यक्ति के खांसने-छींकने से लालाकणों के साथ उड़कर पास के व्यक्तियों पर आक्रमण करता है। ग्रन्थियों में सूजन आने के पूर्व और रोग समाप्ति के २१ दिन बाद तक रोगी व्यक्ति के स्वस्थ व्यक्ति में रोग फैलने की सम्भावना रहती है। रोग का प्रसार रोगी के कपड़ों तथा रूमाल आदि से भी होता है। यह रोग विशेष रूप से शीत व वसन्त ऋतु में होता है।

## सम्प्राप्ति—

रोग का अधिष्ठान दोनों पार्श्वों की कर्णमूल ग्रन्थियों में विशेषकर होता है। कीटाणु मुख में प्रवेश कर लाला ग्रन्थि प्रणालियों के माध्यम से लालाग्रन्थियों में पहुँच जाते हैं। उपसर्ग के २ से ३ सप्ताह बाद तक विषाणु लालाग्रन्थियों में स्थिर रहकर एक पार्श्व की प्राय: वाम कर्णमूल ग्रन्थि में सूजन पैदा कर देते हैं। सूजन अधिकतर पैरोटिड ग्रन्थियों में होता है। किसी-किसी रोगी के अधोभाग में रहने वाली ग्रन्थियां सबलिंग्यूअल ग्लान्डिस एवं अधोहनु (ठोढ़ी) में स्थित

पावे ।

वाष्प स्वेद—गर्म पानी में तारपीन का तेल डाल कर उसमें मोटा कपड़ा या तौलिया भिगोकर निचोड़ने के बाद सुहाता सेंकना लाभकारी होता है ।

शीत प्रयोग—पित्त प्रकृति वाले रोगियों में उष्ण प्रयोग लाभकारी नहीं होता है । उनको शीत प्रयोग से लाभ मिलता है । इसके लिए बर्फ को थैली में भरकर शोथ स्थान पर तौलिया या मोटा कपड़ा रखकर बर्फ की थैली रखनी चाहिए । अभाव में शीतल जल की पट्टी भी रखी जा सकती है । इस शीत प्रयोग से शोथ में उपस्थित रक्ताधिक्य कम होकर वेदना आदि का निवारण होता है ।

उत्पन्न शोथ पर प्रलेप-पुल्टिस इनमें से किसी एक का प्रयोग सुविधानुसार किया जा सकता है—

१. शोथयुक्त ग्रन्थि पर केओलिन की पुल्टिस दिन में २ बार बदल-बदल कर बांधने से पर्याप्त लाभ मिलता है ।

२. वेलाडोना ग्लेसरीन लगाकर ऊपर से सेक करना चाहिए । इससे दर्द में आराम मिलता है ।

३. सन के बीज, काला जीरा, रास्ना, मेंथी, देवदारु, कूठ, सरसों, हल्दी, दारुहल्दी इन सबको समान मात्रा में लेकर कांजी में पीसकर गर्म करके सुहाता-सुहाता शोथ स्थान पर लेप करना चाहिए ।

४. नागफनी को लेकर उसके कांटे तथा एक तरफ का छिलका साफ कर छिले हुए स्थान पर बारीक हल्दी का चूर्ण फैलाकर कड़वे तेल में हलका पकाकर बांधना चाहिये । घृत कुमारी का प्रयोग भी इसी प्रकार किया जा सकता है ।

५. वत्सनाभ, सोंठ, कुचला तथा मृगश्रृङ्ग इन सबको धत्तूरे के पत्ते के रस में घिसकर थोड़ी अफीम मिलाकर गर्म करके सुहाता लेप करने से लाभ होता है।

६. दशांग लेप का उपयोग करने से शोथ जल्दी ठीक हो जाता है । योग निम्न प्रकार है—

सिरस की छाल, मुलहठी, तगर, लाल चन्दन, छोटी इलायची, जटामांसी, हल्दी, कूठ और सुगन्ध बाला इन सब औषधियों को समान मात्रा में लेकर गोमूत्र के साथ पीसकर उसमें थोड़ा घी मिलाकर गर्म करके लेप करें । इस प्रकार स्थानीय प्रयोग से शोथ का शमन हो जाता है और रोगी को मुंह खोलने, चबाने तथा निगलने का कष्ट दूर हो जाता है ।

औषधि चिकित्सा—

इस रोग में वायु का अनुलोमन एवं श्लेष्मा का पाचन करने वाले योगों का प्रयोग किया जाता है। इसके लिये नित्यानन्द रस, हिंगुलेश्वर रस, ज्वरारि अभ्र इनमें से किसी योग का प्रयोग उचित अनुपान के साथ करना चाहिए ।

मरिच्यादि क्वाथ (वृ. नि. र.)—इस रोग में लाभकारी है । प्रारम्भिक अवस्था में ज्वर होने पर प्रातःकाल संजीवनी वटी २ गोली पुनर्नवा क्वाथ के साथ दें । इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि रोगी को कोष्ठबद्धता न रहने पावे । सायंकाल पुनर्नवादि गुग्गुलु की १ गोली गर्म जल के साथ दें ।

आयुर्वेद चिकित्सा का निम्न चिकित्साक्रम करने से बहुत लाभ होता है—

(१) मृगश्रृङ्ग भस्म, संजीवनी वटी १२०-१२० मिग्राम ऐसी ४ मात्रा आर्द्रक रस या गर्म जल से दें ।

(२) अश्वकंचुकी रस १२० मिग्राम की १ मात्रा सोने से पूर्व जल से दें ।

(३) दशांग लेप घी में मिलाकर गर्म करके पुल्टिस बांधें ।

लालास्राव (Salivation)—इस रोग में रोगी के मुख में क्षोभ होने के कारण लार बहा करती है । इसके लिए कषाय द्रव्यों से गरारे कराते रहना चाहिए । पोटाश परमेंगनेट से भी गरारे कराये जा सकते हैं। यदि लार अधिक चिपचिपी तथा गाढ़ी आ रही हो तो क्षारीय योगों से गरारे कराने चाहिए ।

लाला स्राव के अभाव में रोगी का मुंह सूख रहा हो तो कपूर, सफेद कत्था, छोटी इलायची, मिश्री को मक्खन में मिलाकर रोगी को चटाना चाहिये ।

इस रोग में ब्राडस्पेक्ट्रम एण्टीबायोटिक चिकित्सा का प्रयोग विशेष रूप से सफल सिद्ध नहीं हुआ है । फिर भी कुछ चिकित्सक टैरामाइसिन, औरियोमाइसिन आदि को लाभकारी मानते हैं और प्रारम्भिक अवस्था से ही इनके प्रयोग की सलाह देते हैं ।

# * अरुंषिका की चिकित्सा *

← लेखक—वैद्य शोभन वसाणी
आयु० सेण्टर, २१२ सर्वोदय कोमर्सियल सेण्टर,
रिलीफ सिनेमा के पास, सलापस रोड, अहमदाबाद-१

अनुवादक – वैद्य भानुप्रताप मिश्रा बी॰ए एम एस →
लोदरा (गुजरात)।

—::*::—

★ गुजरात के लब्ध प्रतिष्ठित वैद्य
★ कवि एवं उपन्यासकार
★ हिन्दी पत्रिकाओं में लेखन
★ नशाबन्दी के श्रेष्ठ प्रचारक (राज्यपाल द्वारा सम्मानित)

★ पचासों आयुर्वेद ग्रन्थों के लेखक
★ गुजराती दैनिक पत्र एवं मासिक पत्रों में लेखन
★ आकाशवाणी एवं दूरदर्शन पर वक्तव्य
★ शुद्ध आयुर्वेद के विशेष आग्रही

– वैद्य किरीट पण्ड्या (विशेष सम्पादक)।

---

आयुर्वेदीय चिकित्सा ग्रन्थों में अरुंषिका का समावेश क्षुद्र रोगों के अतिरिक्त चर्म रोगों मे भी किया गया है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में डा॰ श्री शिक्षा मल्ला जी ने अरुंषिका का समावेश सिर का एक्झीमा (Eczema of Head) में करते हैं। परन्तु माधव निदान के विद्योतिनी टीकाकार आयुर्वेदाचार्य श्री यदुनन्दन उपाध्याय जी ने अरुंषिका का समावेश सिबोरिया या पिटिरियां कैपिटिस (Seborahoea or Pityriasis Capitis) में करते हैं। अरुंषिका को लोक भाषा में सिर का फोड़ा-फुन्सी अथवा चाईचुर्मा कहते हैं।

पित्त, रक्त, कफ और कृमि के कारण उत्पन्न हुआ और जिसमें से अत्यधिक पूय आता हो ऐसी कांग या सरसों के दाना जैसी पीली छोटी अत्यधिक फुन्सियां होती हैं। उसे आयुर्वेद में अरुंषिका का नामकरण किया गया है। ये फुन्सियां अनेक मुख वाली होने से उसमें से काफी पूय निकलता रहता है। यह रोग बालकों में सविशेष उत्पन्न होने के कारण बाल अर्थात् शिशु रोगों के ग्रन्थ काश्यप संहिता में उसकी सामान्य चिकित्सा का श्लोक निम्नलिखित है—

अरुंषिकासु सततं शिरसो मुंडनं हितम्।
स्नापन म्रक्षण चैव व्रणतैलैरवेकश:॥

अरुंषिका हुआ हो उस व्यक्ति को सिर का बाल बार-बार (चार-पांच दिन पर) निकलवा देना अत्यन्त हितावह है। इसके अतिरिक्त किसी भी व्रण में कहे गये निम्ब तेल, करंज तेल, चर्म रोग हर तेल, जात्यादि तेल आदि में से कोई भी तेल लगाना चाहिये। नीम पत्र या नीम छाल का क्वाथ विधि अनुसार तैयार किये गये क्वाथ से सिर धोना चाहिये। कोदों का क्षार बनाकर उसके पानी में द्रावण बनाकर उससे सिर धोने का निर्देश शास्त्रों में किया गया है। इसके अतिरिक्त निम्न प्रयोगों में से जो अनुकूल हो वह एक या एक से अधिक बार करना हितावह है—

(१) अरुंषिका में खदिरादि तेल, त्रिफलाद्य तेल, हरिद्राद्य तेल, जात्यादि तेल, मांसी तेल, निम्ब जलादि तेल, काकमाची तेल, मरिच्यादि तेल, राजपुत्री तेल, दशमूल तेल तथा त्रिफला तेल आदि में से कोई एक सिर में लगाना चाहिए।

(२) हरीतकी, विभीतक, आमलकी, लोहे के सूक्ष्म चूर्ण, यष्टीमधु, कमल, अनन्तमूल और सेंधव नमक के

# इन्द्रलुप्त—कारण एवं निवारण

कविराज डा० गिरिधारीलाल मिश्र
ए. एम बी एम, आयुर्वेद वाचस्पति,
आयुर्वेद चक्रवर्ती (श्रीलंका)
प्रधान चिकित्सक · केदारमल आयुर्वेद हास्पीटल,
तेजपुर (असम) ।

—०卐०—

★ धन्वन्तरि के पुराण प्रसिद्ध मान्य लेखक । ★ भारतवर्ष के उच्च श्रेणी के आयुर्वेदीय विद्वान ।
★ अनेकों हिन्दी पत्रिका में आयुर्वेद विषयक लेखन । ★ अष्टांग आयुर्वेद के सिद्ध विद्वान ।
★ अनेकों मानद उपाधियों से अलंकृत ।

यहां आपने इन्द्रलुप्त + खालित्य पर आयुर्वेद एवं आधुनिक समन्वय किया है । जो संशोधनात्मक होने से ज्ञानवर्धक है एवं चिकित्सकोपयोगी है । —वैद्य किरीट पण्ड्या (विशेष सम्पादक) ।

इन्द्रलुप्त शब्द इन्द्र + लुप्त दो शब्दों का योग है । आयुर्वेद में त्रिदोष वात, पित्त, कफ म वात ही प्रधान एवं सर्वथा बलवत् है । वही वात कफ पित्त का संचालक । अतः वात को ही 'इन्द्र' कहा गया है । पित्त दोष से मिश्रित वात (इन्द्र) शिरोकेश या रोगी को मूल से गिरा (लुप्त) देता है । एतदर्थ इन्द्र द्वारा लुप्त केश ही इन्द्रलुप्त कहलाता है ।

आचार्य सुश्रुत के शब्दों में—
रोमकूपानुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितम् ।
प्रच्यावयति रोमाणि ततः श्लेष्मा सशोणितः ।
रुणद्धि रोमकूपांस्तु ततोऽन्येषाम सम्भवः ।
तदिन्द्र लुप्तं खालित्यं रुज्येति च विभाव्यते ।।

अर्थात् रोम कूपों मे पहुँचकर पित्त दोष वायु के साथ मिलकर बालों व रोमों को मूल से गिरा देता है । इसके बाद रक्त सहित कफ दोष रोम कूपो (Bulb of hair) को सम्पूरित व अवरुद्ध कर देता है । इससे जितने हिस्से में रोमकूप अवरुद्ध हो गये होते हैं, उतने हिस्से में नये रोमों व केशों की उत्पत्ति नही होती, इसे इन्द्रलुप्त रोग कहते हैं। इसी रोग के दूसरे भेद को खालित्य एव रुज्या भी कहा है तथा यह भेद अग्र प्रदेश की दृष्टि से ही है—

इन्द्रलुप्तं श्मश्रुवि भवति,
खालित्य शिरस्येव महमान्य सर्व देहे ॥

पर्याय नाम -

संस्कृत–इन्द्रलुप्त, खालित्य, रुज्या, चाचा, चाम्पा
हिन्दी–गंज, गंजापन, केशपात, बालझड़ना आदि ।
गुजराती–टाल रोग, इन्द्री उदर रोग, खल्वाट ।
अंग्रेजी-Falling of hair, इन्द्रलुप्त (Alopecia Areats), खालित्य (Simple Alopecia), रुह्या (Alopecia universalis) ।

## रोग प्रकार—

इन्द्रलुप्त के अङ्ग भेद से खालित्य और रुह्या भेद है । इस रोग मे विशेषकर सिर के केश एक हिस्से मे या पूरे हिस्से में से झडकर लुप्त हो जाते हैं । जिस स्थान के बाल लुप्त हो जाते हैं वह स्थान विकृत दिखाई देने लगता है । प्रायः सिर के आगे, पीछे, मध्य मे या पार्श्व में १-२ इन्च से लेकर ४-५ इन्च तक अनियमित वर्तुलाकार में बाल बिल्कुल झड़ जाते हैं । नये केश इस जगह नही निकलते और केशरहित स्थान प्रायः चमकदार व चिकनी त्वचायुक्त दिखाई देती है । यह रोग स्त्री, पुरुष, बच्चों, युवा, वृद्ध सभी को हो सकता है ।

[१] इन्द्रलुप्त (Alopecia Areata)—इन्द्रलुप्त शब्द सिर व श्मश्रु (मूंछों) के किसी अंश में बालों का गिर कर लुप्त हो जाने के लिए ही प्रयुक्त होता है, इसमें प्रायः त्वचा पर एक रुपये बराबर के चकत्ते गहन चिन्ह हो जाता है। केशपात के कारण त्वचा चिकनी दिखाई देती है। इसे आधुनिक परिभाषा में Alopecia Areata की संज्ञा दी गई है।

[२] खालित्य—सिर के बालों का टूट जाना, कंघी करने पर कंघी के साथ बालों का आ जाना, दिन प्रति दिन बालों की घनता कम होती जाना खालित्य है। यह केवल सिर पर ही होता है। इसे गंजापन (Baldness) कहते हैं। जिसका आधुनिक शब्द Simple Alopecia है। Loss of hair and Fallen of hair भी उपयुक्त शब्द है।

[३] रुह्या (रुग्या)—यह रोग सिर के अलावा शरीर के किसी भी अङ्ग पर प्रकट होता है। शरीर के केवल चेहरे के अलावा किसी भी अंग पर से रोमों का लुप्त हो जाना और वहां की त्वचा रोग-रहित चिकनी व कुरूप दीखना रुह्या कहलाता है। इसका आधुनिक नाम Alopecia universalis है। अतः इन्द्रलुप्त के उपरोक्त भेद केवल स्थान विशेष के ही कारण हैं। रस रत्न समुच्चयकार ने—

'कीटे भक्षति केशान्तः स्थानं...' के अनुसार इन्द्रलुप्त रोग का एक कारण रोमकूपों में जमकर बालों को मूल से काटकर गिरा देने वाला सूक्ष्म कृमि (Germs) भी माना है। कुछ परिवारों में पुरुष के अग्र भाग में बाल झड़ने की प्रवृत्ति जन्म से ही रहती है। अर्थात् उनके केश कूपों (Hair Follicles) में जन्म से ही निर्बलता रहती है। फिर युवावस्था में जब उनके रक्त में Androgens की मात्रा बढ़ती है तो इसके निर्बल होने के कारण उनका प्रभाव सिर के केश कूपों तथा मुख के लोम कूपों पर पड़ता है। पहले ये कूप (Filo Sebacious Follicles) मोटे हो जाते हैं। फिर धीरे-धीरे कठोर (Selero sed) हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में Androgens का दुष्प्रभाव केशों पर विशेष होता है जिससे दाढ़ी-मूंछ आदि के बाल बढ़ जाते हैं। पर सिर के बालों की वृद्धि कम हो जाती है। Androgens की उत्पत्ति अण्ड के अतिरिक्त Adrenal cortex से भी होती है। इसलिए कई स्त्रियों में भी ४५ वर्ष की आयु के बाद जब Ostrogen की मात्रा कम होती, जिसके कारण सिर के बालों में वृद्धि होती है, घट जाती है तब Adrenal cortex से उत्पन्न Androgens के कारण सिर के बाल गिरने लगते हैं। सिर के बाल गिरने का यह रोग २०–३५ वर्ष के तरुणों में विशेषतः होता है। स्त्रियों में नहीं होता तथा होने पर भी उनको रजो निवृत्ति के बाद ४५ वर्ष की आयु के बाद ही हो सकता है।

आयुर्वेद में केश-विज्ञान —

आयुर्वेद में केश-रचना पर गहन अध्ययन हुआ है। केशों को मूल उत्पादक धातु अस्थि है अर्थात् अस्थि धातु के परिपाक से मूल रूप बालों की उत्पत्ति होती है। अतः जिन की अस्थि मजबूत, उनके केश भी मजबूत व अच्छे होते हैं। अस्थि धातु के आगे मज्जा धातु और उससे आगे इसी में से पुरुषों में वीर्य धातु तथा स्त्रियों में रजः धातु का निर्माण होता है। जिस पुरुष का वीर्य उत्तम होगा उनके केश भी उत्तम होंगे। वृद्धावस्था में पुरुषों के वीर्य की कमी होने से गंजापन (Baldness) पलित खालित्य होता है।

केशों व रोमों की आधारभूमि त्वचा है। अतः त्वचा के निरोग होने से प्रायः केश रोग भी नहीं होते। बालों की मूल त्वचा के नीचे होती है। केश मूल में सूक्ष्म रक्तवाहिनियाँ और मज्जा तन्तुएँ जुड़ी होती हैं। बालों को दूसरे सूक्ष्म स्नायुएँ जकड़े रखते हैं। ये स्नायु शीत भय आदि से संकुचित होते हैं तब भय या शीत से केश व रोम भी खड़े हो जाते हैं।

साढ़े तीन करोड़ केश—शोध के अनुसार साढ़े तीन करोड़ स्थूल और सूक्ष्म नाड़ियाँ मानी गयी हैं जिसके आधार पर आयुर्वेद शरीर रचना विज्ञान के आधार पर हमारे शरीर पर हमारे सिर पर साढ़े तीन करोड़ रोम या केश होना माना गया है।

स्त्रियों में खालित्य का अभाव—आचार्य विदेह के शब्दों में

स्त्रीणां मृदुमारामवो रजो दुष्ट कुर्दिनश्च ।
[illegible]

अर्थात् सुकुमार प्रकृति होने से तथा रजः शुद्धि होने से तथा रजः शुद्धि होते रहने से तथा अधिक व्यायाम न करने से खालित्य रोग नहीं होता। पर रजः शुद्धि न होने से तथा रजो निवृत्ति के बाद स्त्रियों में भी खालित्य देखा जाता है। रजो रोग के कारण व सामान्य केश रोगों के कारण स्त्रियों में भी आजकल यह रोग साधारणतः देखा जाता है।

कारण—

१. वंशज—बहुत से लोगों में यह वंशानुगत भी मिलता है। कई बच्चों को माता-पिता के रज-वीर्य दोष से ही बालों की कमी या अलता मिलती है। इस कारण से कई युवकों को वयस्क होने पर भी दाढ़ी मूछों के बाल नहीं निकलते, पर बड़े होने पर पौष्टिक आहार एवं औषधोपचार से बाल निकल आते हैं।

२. वृद्धावस्था—वृद्धावस्था मे वात दोष की वृद्धि होने से, कफक्षय, रूक्षता एव रक्ताल्पता के कारण बाल श्वेत होने लगते हैं तथा प्रकुपित वायु सिर के बालों को मूल से गिरा देती है जिससे गंजापन हो जाता है।

३. मिथ्या-आहार—मिथ्या-आहार, अपथ्यकर-आहार तथा पौष्टिक-आहार का अभाव भी इस रोग का कारण है। तेज मिर्च, गर्म मसाले, तेल में तले हुए पदार्थ, नमकीन, खट्टे, चरपरे पदार्थों का अति सेवन, तथा तम्बाखू एव मदिरापान और मिलावटी खाद्य पदार्थों के कारण अम्लता बढ़ती है जिससे पित्त प्रकुपित होता है। त्वचा और केशों मे खुश्की पैदा होती है। गलत आहार से वात (गैस रोग) कुपित होती है। कुपित वात पित्त से उत्पन्न रूक्षता (खुश्की) पैदा होकर बाल गिरने लगते हैं।

४. मिथ्या-विहार—अत्यन्त शोक, चिन्ता, क्रोध और श्रम के कारण शरीर की ऊष्मा सिर पर चढ़कर बालों को पका देती है। क्योंकि अधिक क्रोध से पित्त और अधिक शोक से श्रम व चिन्ता से वात प्रकुपित होती है। कुपित वायु शरीर की गर्मी ऊपर ले जाकर सिर में स्थित भ्राजक पित्त को कुपित करता है और इस कारण बाल पककर सफेद होने लगते हैं तथा गिरने लगते हैं। अधिक भोग विलास करने, अधिक दिमागी काम करने और अधिक तनाव युक्त रहने से भी बाल सफेद होने, गिरने लगते हैं। अधिक देर तक रात मे जागने तथा सुबह देर तक सोने से भी सिर में गर्मी चढ़ जाती है। दोनों समय शौच न जाने व कब्ज रहने से भी, मल साफ न होने से भी बाल गिरने लगते हैं।

५. आजकल फैशन के अनुसार बालों को रूखा-सूखा रखना शौक हो गया है। प्रायः युवक-युवतियां सिर के बालों में तेल नहीं लगाते और विविध प्रकार के खुशबूदार शैम्पू बाल धोने के लिए प्रयोग करते हैं जो बालों को रूखा-सूखा रखते हैं। इससे भी बालों को उचित पोषण नहीं मिलता और बाल सफेद होने व गिरने लगते हैं।

६. नाना प्रकार के सुगन्धित तेल लगाने, बार-बार तेल बदल-बदल कर लगाने से भी बाल गिरने लगते हैं।

७. स्त्रियों को श्वेत प्रदर व अनियमित या कष्ट रज. स्राव होना व पुरुषों में भी प्रमेह धातु विकार होना बालों के सफेद होने व गिरने का कारण होता है।

८. हारमोनल असन्तुलन—असामान्य थायराइड, त्वचा रोग, गर्भावस्था मे उचित व पोषक आहार का न मिलना भी केश झरने का कारण है।

९. आधुनिक शृङ्गार प्रसाधन, शृङ्गार के कास्टिक जैसे नुकसानदेह प्रसाधन जैसे—लिपिस्टिक, क्रीम, लेप आदि भी इस रोग के कारण हैं।

१०. रुग्णावस्था—त्वचा के रोग, रक्त विकार और अन्य गभीर, दीर्घकालीन रोगों की उचित चिकित्सा न होने पर भी यह रोग हो जाता है। आन्त्रिक ज्वर में क्लोरोमाइसिटीन के प्रयोग से ज्वर निवृत्ति के बाद केशपात हो जाने के कई रुग्ण चिकित्सा में आते हैं। जीर्ण प्रतिश्याय से केशशाक एवं केशपात दोनों होते है। रोग निदान के लिए शरीर पर क्ष-किरणों (X-Ray) का बार-बार प्रयोग होना भी केशपात में सहायक है। कुपोषण जनित रोग, उपदंश, सुजाक, इन्फ्लुएन्ज़ा, मसूरिका, उरःक्षत, प्रसूता रोग, सिर का विसर्प रोग, आहार-विष (Food Poision) स्त्रियों का अल्पार्तव व कष्टार्तव, रजो निवृत्ति, रक्ताल्पता, मधुमेह, पीयूष ग्रन्थि (Pituitary Gland) की विकृति, अस्थिक्षय (Acne Nacrotica)

का अभाव होने से बाल झड़ने व पकने लगते हैं उन तत्वों की पूर्ति इस प्रयोग के सेवन से हो जाती है। जिससे केश पुनः आ जाते हैं तथा काले, घने और लम्बे रहने लगते हैं।

(३) केशकल्प धावन—आंवला चूर्ण २०० ग्राम, शिकाकाई १५० ग्राम, रीठे का छिलका, नागरमोथा, कपूर कचरी, भृङ्गराज चारों ५०-५० ग्राम और कपूर १० ग्राम इस सबको कूट पीसकर महीन चूर्ण बना लें। रात को लोहे के बर्तन में व कांच के गिलास में २ चम्मच चूर्ण पानी डालकर भिगो दें। सुबह इससे बाल धोने से बालों का गिरना, सफेद होना दूर होगा।

(४) त्रिफलारिष्ट + भृङ्गराजासव दोनों की २-२ चम्मच पानी मिलाकर भोजन के बाद दिन में २ बार लें।

(५) च्यवनप्राश—१ चम्मच रात में सोते समय दूध व पानी से लेवें।

उपरोक्त पांचों प्रयोगों का धैर्यपूर्वक नियमित प्रयोग करने से बालों की समस्याओं से ग्रस्त रोगी निश्चित रूप से लाभान्वित होंगे।

आयुर्वेद की शास्त्रीय औषधियां—

सप्तामृत लौह, चन्द्रप्रभा वटी, आरोग्यवर्धिनी, भृङ्गराज रसायन, आमलकी रसायन, त्रिफला आदि का सेवन भी केशवर्धक रसायन के रूप में प्रशस्त है।

यूनानी प्रयोग —

रोगन बैजामुर्ग (हमदर्द) को प्रतिदिन जिस स्थान के बाल झड़ गये हों, प्रतिदिन मलने से बाल निकल आते हैं, बालों को काला करने के लिए इसके साथ रोगन आमला खास मिलाकर भी ले सकते हैं। खाने के लिए इतरीफल उस्तखद्दूस व इतरीफल फौलादी सुबह-शाम खायें। यह प्रयोग भी हमारे द्वारा कई रोगियों पर सफल पाया गया है।

केश रक्षक उपाय—

(१) शरीर को स्वस्थ रखने के लिए नित्य प्रति उचित और आवश्यक आहार नियमित रूप से मिलना जरूरी है। उसी तरह बालों को स्वस्थ, घने, काले, लम्बे रखने के लिए बालों को पोषक आहार मिलना जरूरी है। अतः बालों की रक्षा के लिए थोड़े दिन औषधोपचार करके छोड़ देने से कोई लाभ होने वाला नहीं, अतः धैर्यपूर्वक ४-६ महीने उपचार करना चाहिए।

(२) बालों के लिए आमला अत्यन्त ही उपयोगी है। शीतकाल में जब तक कच्चे आंवले मिले, प्रतिदिन १-२ आमला अवश्य खाना चाहिए। साबुत १ आंवले को दाल या सब्जी बनते समय ही उसमें डालकर पका लेना चाहिए। पक जाने पर आंवला को निकाल कर उसकी गुठली निकाल दें और उसमें रुचि के अनुसार चीनी या पिसी कालीमिर्च + सेंधानमक मिलाकर भोजन के साथ खायें। आमले का अचार व जेम बना कर भी भोजन के साथ प्रयोग कर सकते हैं। आमले का मौसम न रहने पर आंवले का मुरब्बा, आमले का चूर्ण व च्यवनप्राश का प्रयोग करना उत्तम है।

(३) आहार में पत्तीदार हरी शाक सब्जी, अंकुरित अन्न और दालें, सोयाबीन, दूध, पनीर, शुद्ध घी, नींबू, सन्तरा, टमाटर आदि प्रयोग करना तथा पौष्टिक आहार लेना चाहिए।

(४) कालीमिट्टी + आंवले का चूर्ण दोनों को पानी में गलाकर इससे सिर धोना उत्तम है। आधुनिक सैम्पू के बजाय काली मिट्टी व मुलतानी मिट्टी का अकेले का भी सिर धोने के लिए प्रयोग करना उत्तम है।

(५) भाप विधि से बालों का सेक करना लाभदायक है। इसके लिए जैतून के तेल से बालों की खूब मालिश करके गर्म पानी में एक तौलिया भिगोकर निचोड़ लें और बालों पर लपेट कर १५-२० मिनट तक उसकी भाप लगने दें। बाल मजबूत होते हैं।

—कविराज डा० गिरिधारीलाल मिश्र
ए. एम बी. एस., आयुर्वेद वाचस्पति,
आयुर्वेद चक्रवर्ती (श्रीलंका),
प्रधान चिकित्सक —केदारमल आयुर्वेद हास्पीटल,
तेजपुर (असम)।

पित्तज दाह —

पित्तज्वर समः ··· ···स्मृतः। —सु. उ. ७७

इस दाह में पित्त ज्वर के समान सभी लक्षण देखने को मिलते है। लेकिन इस दाह मे अन्य की तरह स्थानीय विकृति नहीं मिलती। पित्तज ज्वर में आमाशय की दुष्टि मिलती है, पित्त दाह में नहीं मिलती। यह दोनों का विभेदक लक्षण है।

रक्तज दाह —

कृत्स्न देहानुगं ··· वह्निनेवावकीर्यते।

· सु. उ. ४७

प्रकुपित रक्त सर्व शरीर में व्याप्त होकर दाह उत्पन्न करता है, इससे रोगी के पूरे शरीर में आग सी अनुभूति होती है बहुत प्यास लगती है, (तृषाधिक्य)

शरीर और आंखें लाल

मुख से लोहे जैसी गन्ध आती है।

रक्त पित्तवर्गीय होने से यह दाह भी पैत्तिक समझना चाहिए। रक्त में लोह तत्व होने से मुख का स्वाद वैसा होना समझा जा सकता है। आधुनिक अनुसार High B P का लक्षण और तीव्र ज्वर (Hyper pyrexia) में तथा मस्तिष्क की विकृति से हाथ पैर में होने वाला दाह इसके अन्तर्गत समझ सकते हैं।

मद्यज दाह—

त्वचं प्राप्तः ··· क्षणम्॥ सु. उ. ४७

विधि विपरीत मद्यपान करने से उत्पन्न उष्मा पित्त और रक्त से मिलकर जब त्वचा में पहुँचता है तो भयंकर दाह उत्पन्न होता है।

मद्य के द्वारा धमनी विस्फारक केन्द्र के क्षोभ तथा परिसरीय वातनाड़ी क्षोभ (Peripheral Neuritis) होने से दाह उत्पन्न होता है।

तृष्णा निरोधज दाह -

तृष्णा निरोधात् ··· निरूकस्य वेपने।

—सु. उ ४७

तृष्णा के वेग को रोकने से जलीय धातु क्षीण होने से बढ़ा हुआ पित्त शरीर के बाह्य एवं आभ्यन्तर अवयवों में दाह उत्पन्न करता है। जिससे—

गला, तालु तथा ओष्ठ सुख जाते हैं।

रोगी मूर्च्छित हो जाता और कांपता है।

प्रायः ग्रीष्मकाल में जल की कमी (Dehydration) के कारण होने वाला दाह समझना चाहिए।

रक्तपूर्ण कोष्ठज दाह—

'असृजा ··· स्यात्सुदुःसहः। —सु. उ. ४७

आभ्यन्तर रक्तस्राव के कारण होने वाला यह एक दूसरा दाह अत्यन्त कष्टप्रद होता है।

शस्त्रादि के प्रहार से आन्तरिक रक्तस्राव होने से शरीर के अन्य अङ्गों में रक्त और जलीय अंश की कमी होने से एवं परिसरीय वातनाड़ी संक्षोभ के कारण दाह होता है। इसके अतिरिक्त स्थानीय रक्ताधिक्य (Blood accumulation) के कारण क्षोभ होने पर रक्तसंचय स्थान में भी दाह होता है। क्योंकि रक्त पित्त वर्ग की धातु है।

धातुक्षयज दाह —

धातुक्षयोत्था ··· भृशपीडितः। —सु. उ. ४७

रस, रक्त आदि धातुओं का क्षय होने से यह दाह होता है। इसमें मूर्च्छा, प्यास और स्वरसाद के साथ रोगी निश्चेष्ट हो जाता है तथा उसको महान अवसाद और कष्ट होता है।

'वायोर्धातुक्षयात् कोपः' इसके अनुसार धातुक्षय से वायु की वृद्धि एवं वायु की वृद्धि से पित्त का स्थानपकर्ष होकर दाह की उत्पत्ति होती है। अत्यधिक रक्तस्राव रक्ताल्पताजन्य तथा राजयक्ष्मा के कारण होने वाला दाह इस श्रेणी में आ जाता है।

मर्माभिघातज दाह—

मर्माभिघात ··· देहिनः। —सु. उ. ४७

हृदय, वस्ति तथा शिर आदि मर्मों के अभिघात से भी दाह होता है और वह असाध्य होता है।

साध्यासाध्यता —

मर्माभिघातजन्य दाह असाध्य है।

अन्तर्दाह के होते हुए भी शरीर बाहर से शीत होने पर सभी दाह असाध्य होते हैं।

सभी प्रकार का अन्तर्दाह प्रायः असाध्य होता है।

अन्तर्दाह को सुश्रुत ने गम्भीर ज्वर का लक्षण

—शेषांश पृष्ठ २५१ पर देखें।

इसको पित्त कफ की अधिकता से होने वाला कहा गया है। यथा —

× × विस्फोट × × पित्तश्लेष्माधिकं × × ।

—च. चि ७/२८

अत इसकी चिकित्सा कुष्ठघ्न कल्पों से की जाना स्वाभाविक ही है। पित्त कफघ्न, कुष्ठघ्न कल्प एवं उपक्रम इसमें उपयोगी होते हैं।

अष्टाङ्गकार ने चरकोक्त विस्फोटक क्षुद्र कुष्ठ को ही क्षुद्र रोग के रूप मे विस्फोट नाम से ग्रहण किया प्रतीत होता है। जबकि चरक स्वयं के विस्फोटक नाम से किये गये शोथगत एवं कुष्ठगत रोग भिन्न-२ प्रतीत होते हैं ? इस प्रकार इसका वर्णन संहिता ग्रन्थो में चरक ने शोथ में तथा सुश्रुत एवं अष्टाङ्गकार ने क्षुद्र रोगों में किया है माधव आदि ने इसको अलग से रोग रूप में लिखा है और स्वतन्त्र रोग का स्वरूप प्रदान किया प्रतीत होता है।

पर्याय संहिता ग्रन्थो में इसका उल्लेख विस्फोटक (च) (सु) एव विस्फोट (अ) के नाम से क्षुद्र रोगों में मिलता है। इसे बुलस इरप्सन (Bullous Eruption) भी कहा जाता है।

## हेतु—

माधव ने जिन निदानों की इसके कारण रूप में गणना की है, वे निम्नानुसार हैं—

१. कटु, अम्ल रस युक्त, तीक्ष्ण, उष्ण, विदाही, द्रव्य सेवन।

२. अजीर्णाशन, अध्यशन।

३. धूप का अति सेवन।

४. ऋतु दोष एवं ऋतु विपर्यय (वस्तुतः यही अधिक तथ्यपूर्ण कारण हैं)।

५. बुलस इरप्सन मानने पर इसके उत्पादक हेतु पूयजनक जीवाणु उपसर्ग इसका मुख्य कारण माना जा सकता है। विशेष रूप से स्तव गोलाणु उपसर्ग (Staphylococcal infection or Impetigo contagiosa)।

## विकृति (सम्प्राप्ति)—

इसकी उत्पत्ति के लिये जो वैकारिक घटक प्रस्तुत किये गये हैं वे निम्नानुसार हैं—

| [क] | [ख] |
|---|---|
| १. दोष-त्रिदोष, (पित्त, रक्त) | १. संचय-आहार विहार कालजन्य दोष संचय |
| २. दूष्य-रक्त,मांस,अस्थि | २. प्रकोप-पित्त,रक्तादि |
| ३ स्रोत-रसवह, रक्तवह | ३. प्रसर-रक्तादि में |
| ४. अग्नि—मन्दाग्नि ? | ४. स्थान संश्रय (आश्रय)-त्वचा में |
| ५. आम—आम युक्तता | ५. व्यक्ति (अभिव्यक्ति)—स्फोटोत्पत्ति |
| | ६. भेद-वातज, पित्तज, कफज वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज एवं सन्निपातज |

## लक्षण तालिका—

| क्रम | लक्षण | वातज | पित्तज/रक्तज | | कफज | वातपित्तज | कफवातिक | कफपैत्तिक | त्रिदोषज |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| क—स्फोट | | | | | | | | | |
| १. | वर्ण | | | | | | | | |
| | कृष्ण | + | — | — | — | — | — | — | — |
| | पीत | — | + | — | — | — | — | — | — |
| | लोहित | — | + | — | — | — | — | — | — |
| | पांडुता | — | — | — | + | — | — | — | — |
| | रागवान | — | — | — | — | — | — | — | + |
| | रक्ता | — | — | + | — | — | — | — | — |

| क्रम | लक्षण | वातज | पित्तज/रक्तज | कफज | वातपित्तज (वातपैत्तिक) | कफवातिक | कफपैत्तिक | त्रिदोषज |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ३. | प्रलाप | — | — — | — | — | — | — | + |
| घ—साध्यता | | | | | | | | |
| १. | साध्य | + | + — | + | — | — | — | — |
| २. | कृच्छ्र साध्य | — | — — | — | + | + | + | — |
| ३. | असाध्य | — | — + | — | — | — | — | + |

**चिकित्सा सूत्र—**

विस्फोट की चिकित्सा के लिए निम्नलिखित सूत्र उपयोगी हैं—

[क] स्फोट अपक्व होने पर
  (१) पित्त विसर्पवत उपचार
  (२) रक्त पित्तहर कल्प उपयोग

[ख] स्फोट पक जाने पर
  (१) काकोल्यादि घृत द्वारा उपचार
  (२) व्रणरोचक अल्प उपचार

[ग] दोषघ्न उपचार

मूलगामी चिकित्सा के लिए निम्न सूत्र उपयोगी हैं—
  (१) रक्त शोधनार्थ—कुष्ठघ्न, रक्त शोधक औषध एवं उपचार
  (२) पित्त शमनार्थ—पित्तशामक शोधन, शमन उपचार द्वारा पित्त की शांति
  (३) समग्र रूप से रक्तपित्त एवं विसर्प हर औषध एवं उपचार उपयोगी हैं।
  (४) वमन, विरेचन, लंघन आदि द्वारा चिकित्सा
  (५) दोषघ्न शाकादि का पथ्य सेवन

**चिकित्सा**

विस्फोट में उपयोगी कुछ कल्प यहां दिये जा रहे हैं, जो बहुचर्चित एवं उपयोगी हैं—

[क] स्नेहन कल्प—प्रथम स्नेहनार्थं निम्न स्नेह उपयोगी हैं—
  काकोल्यादि घृत, शतावरी घृत, पंचतिक्त घृत

[ख] शोधन कल्प
  (१) वमनार्थ—मदनफल
  (२) विरेचनार्थ—हरीतकी, त्रिवृत आदि के कल्प

[ग] अवशिष्ट दोषों को लंघन एवं औषध तथा पथ्य से जीतें।

चूर्ण—पचनिम्बादि चूर्ण

क्वाथ पटोलादि क्वाथ [भै. र.], पंचमूलादि क्वाथ [भा. प्र.], द्राक्षा काश्मर्य, किरात तिक्तादि क्वा [भै. र.]

गुग्गुल—व्रणारि गुग्गुलु [भै. र.]

वटी- आरोग्यवर्धिनी

अन्य—रस सिंदूर २ रत्ती, कर्पूर १/२ रत्ती, वंश, इलायची तेजपत्र, तीनों २-२ रत्ती, मिश्रण को गिलोय/निम्ब/खदिर/इन्द्रयव क्वाथ से।

लेप—(१) इन्द्रयव, तण्डुलोदक को पीसकर

(२) चन्दन, नागकेशर अथवा चम्पक, अनन्तमूल, चौलाई मूल, शिरीषत्वक, जातीपत्र कृत लेप

(३) पुत्रजीव फल मज्जा + जल से लेप

गण्डूष—शिरीषत्वक, मंजिष्ठ, चम्बक, आमला, यष्ठी, चमेलीपत्र कृत गण्डूष मधु के साथ

पथ्य - १. पुराणि शालि चावल, यव; २. मुद्ग, मसूर, चना; ३ ग्राम्यानूप मांस, विदाही, रूक्ष, उष्ण, अन्न; ४. वेगरोध, दिवास्वप्न; ५ धूप, तेज वायु; ६. व्यवाय, व्यायाम; ७ क्रोध; ८. स्वेदन, वमनरोध।

**एक चिकित्सा विवरण—**

यहां कुछ आतुरों का चिकित्सा विवरण प्रस्तुत करना समयानुकूल होगा। विस्फोट रोग ग्रस्त उन रोगों के लिङ्ग एवं नय समूह निम्नानुसार थे—

# –मुंहासे की जड़ कैसे काटेंगे–

वैद्य फकरुद्दीन बी० कपासी बी. ए. एम. एस.
पोस्ट आफिस रोड, सावर कुण्डला–३६४५१५ [भावनगर] गुजरात।

—०ॐ०—

★ छात्रावस्था से मेधावी। ★ आयुर्वेद में पूर्ण श्रद्धा।
★ शान्त एवं मिलनसार व्यक्तित्व। ★ आयुर्वेद में अनुसन्धान दृष्टि।
★ मुख दूषिका पर आयुर्वेद आधुनिक का सुन्दर समन्वय कर दिखाया है।
★ भविष्य में ऐसे संक्षिप्त एवं निम्न कोटि के रोगों पर संशोधन कर, समन्वय कर धन्वन्तरि में अपने लेख देकर आयुर्वेद प्रचार करेंगे, ऐसी अपेक्षा है।

—वैद्य किरीट पण्ड्या [विशेष सम्पादक]।

---

मुंहासे ज्यादातर आज युवक-युवतियों को सताने वाली समस्या है। मुंहासे उनके चन्द्र जैसे मुख मण्डल को ग्रहण लगा देता है। इनके निदान, प्रतिषेध तथा उपचार पर गौर करें।

**निदान—**

मधुर, अम्ल, पौष्टिक, ठण्ठा आहार; अत्याहार, अति मांसाहार, मेदोवर्धक आहार; दिवास्वाप; अजीर्ण, मलबन्ध; अव्यायाम; मुख प्रक्षालन ठीक से न करना;

विटामिन ए की न्यूनता; ताजी हवा का न मिलना; सस्ते घटिया सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रयोग करना; बायोडाईड्स और ब्रोमाईड्स युक्त औषधियां;

मूत्राम्लता वृद्धि, पाण्डु, हाईपरग्लाइसीमिया, हाईपोथाइरोइडीकम्; आर्द्र शीत जलवायु सेवन।

इन निदानों से युवकों के कुपित वात और कफ रक्त की दुष्टि करके शाल्मली कण्टक के आकार की कठिन, पीड़ायुक्त पिडिका उनके मुखों पर उत्पन्न करते हैं, जिसे मुख दूषिका कहते हैं। जो मेदयुक्त होती हैं।

आंग्ल भाषा में इन्हें ऐक्नी या ऐक्नी वल्गारीस कहते हैं। आधुनिक इसकी वजह अन्तःस्राव की अनियमितता बताते हैं। यौवनावस्था में पुरुष और स्त्री में एन्ड्रोजन की वृद्धि होती है जो त्वचान्तर्गत स्नेहोत्पादक ग्रन्थियों को उत्तेजित करके ज्यादा स्नेह का स्राव कराती है जिससे त्वचा की ऊपरी कोशिका की वृद्धि होकर केशमूल और स्नेहवाही स्रोतों में अवरोध होता है। साथ ही विशिष्ट द्रव्य केराटीन का निर्माण होना है जो स्नेह द्रव्य सीबम से मिलकर शुष्क पीताभ दाना बनाती है. उसे कौमेडोन्स कहते हैं जो मुंहासे की प्राथमिक अवस्था है। अवरोध की वजह से कोशिका को पूरी मात्रा में आक्सीजन न मिलने के कारण कोमेडोन्स का उपरी सिरा काला हो जाता है।

अवरुद्ध स्रोत में संचित स्नेह (मेद) त्वचा के उपस्तरों में फैलकर वहां सूजन उत्पन्न करता है। कम आक्सीजन की वजह वहां बेसिलस ऐक्नी की वृद्धि होकर संक्रमण होने से कोमेडोन्स बढ़कर पाप्युल्स, पेस्टयूल्स, नोडयूल्स और सिस्टस का स्वरूप लेते हैं। यह मुंहासों की द्वितीयक अवस्था है।

आखिर में मुंहासे मिटने के बाद व्रण वस्तु-स्कार्स बना देती है जो काले धब्बे के रूप में होता है। टीन

६. छर्दिरिपु चूर्ण, मञ्जिष्ठा चूर्ण, लोध्र चूर्ण मिलाकर पानी में लेप करें।

७ शाल्मली कण्टक दुग्ध भावित करके रोपण के बाद तीन दिन लेप करें।

८. अर्जुनत्वक गोदुग्ध मे पीसकर लेप करें।

९. गोरोचन, मरिच लेपन।

१०. Benzyl Peroxide जैसे प्रतिजीवीयुक्त क्रीम पर्सोल फोर्ट लगावें।

११. अवरोध मुक्ति के लिए tretinoin युक्त यूडीना (Eudina) क्रीम और क्रीम रेटीनो-ए (Retino-A) लगायें।

१२. विकृत कोष लेखनकारी गन्धक मलहर, शंख भस्म आदि का बाह्य प्रयोग करें।

१३. Neo medrol acne lotion लगावे।

(३) अभ्यङ्ग सरसो तेल, हरिद्रा सायकाल अभ्यङ्ग। कुंकुमादि तेल (शा धि) अभ्यङ्ग। हरिद्रादि तेल, मञ्जिष्ठादि तेल अभ्यङ्ग।

(४) बालों को सप्ताह में दो बार रीठा, आंवला, बिभीतक से धोवें।

(५) एक्स-रे (X-ray), अल्ट्रावायोलेट लाइट्स (ultra violet lights) का प्रयोग।

(६) व्रण वस्तु के लिए वर्ण्य लेप -

अ. हरिद्रा और अर्क क्षीर का मर्दन करें।

ब. हरिद्रा, दारुहरिद्रा, जामुनपत्र, आम्रपत्र, नूतन, गुड़, मस्तु समभाग लेप (अ. हृ.) बनायें।

स. जायफल में कच्चा दूध डाल के उसे पीसकर लेप करें।

द. टमाटर रस, तुलसी पत्र रस लगायें।

य मलाई में निम्बु रस डाल के १ सप्ताह अभ्यंग।

लेप आधा अंगुल की मोटाई वाला करें और सूखने पर तुरन्त निकाल ले। (भा प्र.)

व्रण वस्तु की चिकित्सा करे तब रोगी को हीन भावना से मुक्त कराने की कोशिश करे।

प्लास्टिक सर्जन से या स्कीन स्पेश्यालिस्ट से डर्माब्रेशन (Dermabrasion) करवा के स्कार मिटाये जा सकते हैं।

आभ्यन्तर -

कुष्ठहर, रक्तशोधक, शोथघ्न, मेदोहर वर्ण्य औषध।

विशिष्ट चिकित्सा —

वमन—नीम जल, लवण से।

विरेचन—त्रिफला चूर्ण/स्वादिष्ट विरेचन चूर्ण से।

नस्य।

शिरावेध— ललाट की शिरा का वेधन।

अनुभूत व्यवस्था पत्र—

[१] आरोग्यवर्धिनी ५ गोली, चन्द्रप्रभा वटी २ ३ बार।

[२] निम्ब पत्र चूर्ण १ ग्राम, गुडूची सत्व, प्रवाल पिष्टी २-२ रत्ती, शुद्ध गन्धक, शंख भस्म १-१ रत्ती ३ बार मधु से।

[३] मञ्जिष्ठादि क्वाथ १ तोले-२ बार।

[४] सारिवाद्यरिष्ट १५ मिली. भोजनोत्तर सम भाग जल से।

[५] त्रिफला चूर्ण २ माशा रात्रि उष्णोदक से।

[६] कुंकुमाद्य तेल अभ्यङ्गार्थ २ बार प्रातःसायं।

याद रहे कि मुख दूषिका की चिकित्सा तुरन्त शुरू करने से व्रण वस्तु की अवस्था टाली जा सकेगी।

यदि पूयोत्पत्ति उत्पन्न होती है तो त्रिफला, गुग्गुलु, कांचनार गुग्गुलु दें। वंग भस्म, रसमाणिक्य देने से पूयोत्पत्ति का शमन होता है।

कुमारियों एवं वयस्क स्त्री को मासिक स्राव के सम्बन्ध से मुख दूषिका देखी जाय तो रसायन चूर्ण, गन्धक रसायन, अशोक चूर्ण, चन्द्रप्रभा वटी, आरोग्यवर्धनी वटी दें। अशोकारिष्ट, पत्रांगासव देने से लाभ होगा।

सामान्यतः अविपत्तिकर चूर्ण, त्रिफला चूर्ण प्रतिदिन लेने से मुंहासे से बचा जा सकता है।

है। यह कैंसर प्रायः हथली तथा पैरों के तलुओं मे होता है। यह कैंसर उन व्यक्तियों में भी बहुतायत से पाया जाता है जो रासायनिक द्रव्यों की फैक्ट्री में, तैल मिलों, धातु तथा चमड़े के कारखानों में कार्य करते हैं। इसमें तैल तथा पैराफीन आदि रसायनिक पदार्थ त्वचा सम्पर्क में आकर इसे उत्पन्न कर देते हैं।

इसके अतिरिक्त दग्ध व्रण चिह्नों या अग्नि क्षारण चिकित्सा आदि में हुई असावधानी तथा अल्पज्ञानता त्वचा कैंसर को उत्पन्न कर देती है। दग्धता के कारण जैसे गर्म कोयले की अंगीठी लटकाकर चलना, किसी विशेष अङ्ग को दग्ध अस्त्रों से जलाना आदि भी इसे उत्पन्न कर देता है।

**त्वचा कैंसर के लक्षण —**

त्वचा कैंसर से ग्रस्त व्यक्ति के शरीर में अनावरण के चिह्न दीखते हैं जिससे अनेक त्वचागत परिवर्तन दिखाई देने लगते हैं। जैसे अत्यधिक खुजली से मोटे चकत्ते पड़ जाना, त्वचा का रंग कत्थई सा दीखना, कहीं श्वेत, कहीं लाल दिखाई देना। त्वचागत वाहिका प्रसारण की अधिकता के कारण कभी-कभी वाहिका स्फीति तथा वाहिकार्बुद के दाग पड़ जाते हैं। त्वचा शुष्क हो जाती है। किन्तु यह लक्षण यदि नाक, कान, गर्दन तथा हाथ में हों तो सावधानी से निदान करावें।

कोशिकाओं की विकृति से नाक, भौं, ओष्ठ के ऊपरी तथा निचली त्वचा पर सर्वाधिक रूप से होता है। प्रारम्भ में यह एक मस्से के समान होता है जिसके ऊपर के भाग को निकाल देने पर उक्त स्थान से अधिक रक्तस्राव होता है जो प्रत्येक बार बढ़ता जाता है। इस रक्तस्राव में हर समय उस पर खुरण्ट सी जम जाती है। यह कैंसर आधार कोशिका कार्सिनोमा की तुलना में अति तीव्र गति से बढ़ता है जो बाहर की अपेक्षा अन्दर की ओर अधिक बढ़ता है तथा आगे चलकर मांसपेशियों, उपस्थियों तथा अस्थियों को आक्रान्त कर देता है। इसमें स्थानिक वेदना बहुत कम होती है। साथ ही सामान्य तथा स्थानिक रक्तस्राव कभी तो कम और कभी अधिक होता है।

**त्वचागत कैंसर के विभिन्न रूप—**

(१) दुर्दम्य अर्बुद—यह प्रायः सभी व्यक्तियों में किसी न किसी प्रकार का मस्सा शरीर के किसी भाग में उत्पन्न हो जाता है। जो गहरे काले रंग का होता है। जो प्रारम्भ में छोटा तथा एकाएक फिर मोटाई तथा आकार में बढ़ने लगता है। उसका रंग और गहरा काला हो जाता है। साथ ही उसमें स्थानिक खुजलाहट, वेदना तथा उपग्रह के समान आकृतियां प्रकट हो जाती हैं। आगे चलकर उक्त मस्सों में गहरे काले रंग का सीरमी स्राव निकलने लगता है। यह शरीर के किसी भी भाग में निकल आते हैं। इनका कारण स्थानिक आघात तथा स्थानिक क्षोभ होता है।

(२) मिलेनिन कोशिकार्बुद—मिलेनिन कोशिकार्बुद प्रायः चेहरे में, गर्दन में कालर के स्थान पर, पेटी बांधने के स्थान पर, जूते तथा अन्य ऐसे स्थानों पर उत्पन्न होते हैं जहां प्रायः रगड़ लगने की सम्भावना होती है। अतः दाढ़ी बनाते समय चेहरे के मस्से को कभी नहीं छेड़ना चाहिए, न ही उसे उच्छेदित तथा हाथ से निकालने की कोशिश करनी चाहिए। उसको शल्यक्रिया द्वारा निकाल देना चाहिए।

(३) पट्टिका-कोशिकार्बुद—यह विक्षति ग्रस्त त्वचा के कारण उत्पन्न होता है जो त्वचा टी. बी. के रूप में जाना जाता है।

**त्वचा कैंसर का निदान —**

अधिकतर त्वचा कैंसर का निदान उनके लक्षणों के आधार पर होता है। परन्तु निदान की पुष्टि के लिए हमेशा उसकी जीवोति परीक्षा (Biopsy Test) करनी चाहिए। जीवोति परीक्षा के लिए व्रण के साफ भाग से गहराई से स्वस्थ भाग के ऊतक को लेना चाहिए जिसे नीडिल तथा चिमटी की सहायता से खींच कर उसे देखना चाहिए कि इसके ऊतकों की विकृति किस स्थिति में है।

**आयुर्वेदीय निदान—**

आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति अपने में पूर्ण चिकित्सा पद्धति है, जो रोग के कारण का पूर्व ज्ञान कर चिकित्सा क्रम पर ध्यान केन्द्रित करती है। इसमें वात तथा पित्तादि दोषों का शमन जिसने संक्षोभजनक पदार्थों से त्वचा की रक्षा यथासम्भव त्वचा की पूर्ण स्वच्छता रखता है। कभी-कभी शरीरगत त्वचागत

स्त्रियों का विशेष त्वचा रोग

# —लाल धब्बे—

वैद्य अशोक भाई तलाविया भारद्वाज
आयुर्वेदाचार्य–बी. एन. ए. एम.
आयुर्वेद मार्तण्ड
आचार्य–मन चिकित्सा शास्त्र
विशेष सम्पादक–'धन्वन्तरि' पुरुष रोग चिकित्सांक
,, , मूत्र निदान चिकित्सांक
,, ,, आयुर्वेद गुप्त रहस्यांक
सम्पादक सदस्य एवं परामर्शदाता- देवांग ज्योति
भारद्वाज औषधालय· स्वामी नारायण मन्दिर
सावर कुण्डला–३६४५१५ (भावनगर) गुज०।
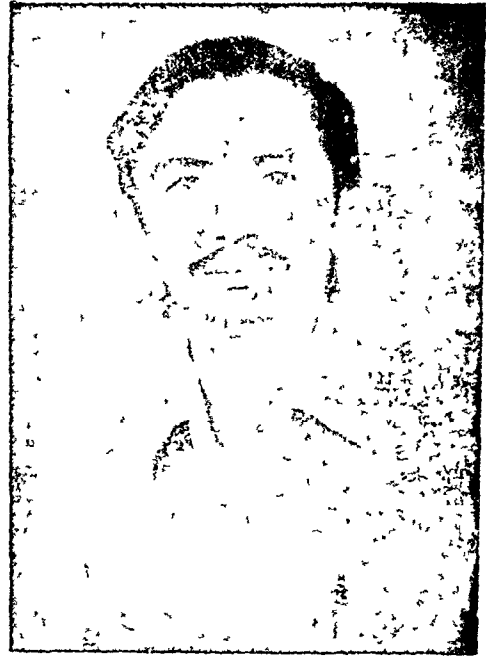
शास्त्रकारों ने क्षुद्र कुष्ठ और महा कुष्ठ की संख्या बताने के बाद कहा है कि यह तो सिर्फ प्राथमिक जानकारी के लिये है। चिकित्सक दोष दृष्टि और उपद्रव स्वरूप भी बहुत से त्वक् रोगों को जानना चाहिये। वैद्य श्री तलाविया ने रोग के नामकरण में न पड़ते हुये एक जाने माने रोग स्वरूप को समझाया है। धन्यवाद।

दोष को समझने वाले वैद्य बहुत से रोगों में लाभान्वित होते हैं। इस कारण से ऐलोपैथी चिकित्सा विज्ञान इस चिकित्सा शास्त्र की ओर आशा से देख रहा है।

—वैद्य किरीट पण्डया [विशेष सम्पादक]

---

मनुष्य शरीर पर अनेकों प्रकार के त्वचा रोग होते हैं। स्त्री एवं पुरुष दोनो में जो भी त्वक् रोग होते है, वह सर्व सामान्य होते हैं। लेकिन मै यहां आपके सामने स्त्री वर्ग के एक विशिष्ट प्रकार का त्वचा विकार होता है। विवेचन देना उचित समझता हू।

अठारह प्रकार के कुष्ठ क्षुद्र रोगाधिकार में वर्णित कुछ त्वचा रोग जो कहे गये हैं तथा विवत्र इत्यादि पुरुष को होता है, स्त्री को भी होता है। अंगों की विशेषता पर दोनों में कुछ रोग भिन्न भिन्न होते हैं। जैसा कि—

| | स्त्री | पुरुष |
|---|---|---|
| १. | योनि कण्डु | वृषण कच्छु |
| २. | स्तन विद्रधि | अवपाटिका |
| | | निरुद्ध प्रकर्ष |

तात्पर्य यह है कि कुछ त्वचा रोग सिर्फ पुरुष को तथा कुछ त्वचा रोग सिर्फ स्त्री को ही होते हैं। यहां जो उदाहरण दिया है उसमें सिर्फ अङ्गों पर आधारित है। मगर इनके सिवा सिर्फ स्त्री को ही एक कष्टदायक त्वक् विकार मिलता है–उसका विवेचन आयुर्वेद संहिता ग्रन्थो में मिलता नही है। मुझे लगता है कि शायद यह त्वक् विकार उस समय अल्प मात्रा मे दिखाई देता होगा।

**स्वरूप** –

इस रोग का स्वतन्त्र नाम नही मिलता। मैं भी नही दे सकता। सिर्फ लक्षणों पर आधारित निदान चिकित्सा सम्भावित होती है।

**विशेषता**—जब स्त्री की उम्र ३५ वर्ष के आसपास

# —त्वचा अर्बुद—

## ✻ आयुर्वेदीय विवेचन एवं उपचार ✻

आचार्य कविराज हरिवल्लभ मन्नूलाल द्विवेदी
सिलाकारी शास्त्री
आयु० वृह०, चिकि० चक्र., विद्या वाचस्पति
स्वामी निरंजन निवास, चकराघाट, सागर (म० प्र०)।

✻—✻—✻

"अरिवत् वुद्गति इति अर्बुदः" अपने शरीर के लिए अरिवत् (शत्रु के समान) कष्टकारी होता है। संस्कृत व्याकरण के भ्वादि गण के हिंसार्थक अर्व धातु से अर्व उदज् प्रत्यय द्वारा अर्बुद शब्द बनता है अर्थात् प्राणी की हिंसा हेतु उदीयमान व्याधि विशेष को अर्बुद कहते हैं। आयुर्वेद शास्त्र में अर्बुद व्याधि का विशेष विवेचन किया गया हैं। आचार्य सुश्रुत ने अर्बुद के स्वरूप एवं सम्प्राप्ति का निम्न वर्णन किया है—

गात्र प्रदेशे क्वचिद्दोषाः,
सम्मूर्च्छिता मांसमभिप्रदूष्य।
वृत्तस्थिरं मन्दरुजं महान्त-
मनल्पमूलं चिरवृद्धयपाकम्॥

कुर्वन्ति मांसोपचयं तु शोफम्,
तमर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति॥
(सुश्रुत सं० नि० स्था०)

कुपित हुए दोष शरीर के किसी भी भाग में मांस तथा रक्त को दूषित कर गोल, स्थिर, मन्द वेदना वाले, महान तथा विस्तृत मूल वाले, देर में बढ़ने और न पकने वाले, मांस पिण्ड के समान उन्नत सूजन को उत्पन्न करते हैं। अतः शास्त्रविद् इसको 'अर्बुद' कहते हैं।

आकृति की दृष्टि से अर्बुद शोफ रूप का होता है। अर्थात् उत्सेध इसकी प्रधानतम विशेषता है। आचार्य चरक ने अर्बुद के 'उत्सेध' गुण की विशेष व्याख्या की है—

रोगोश्चोत्सेध सामान्यादधिमांसार्बुदादय।
विशिष्टानाम रूपाभ्यां निर्देश्याः शोथ संग्रहे॥
(चरक सं० सू० स्था०)

अतः दूसरी शोथ वर्ग में गणना की है। अर्बुद के लिए अंग्रेजी भाषा में पर्याय शब्द 'ट्यूमर' है तथा इसकी निष्पत्ति लैटिन भाषा धातु 'ट्यूमर' से हुई है जिसका अर्थ है सूजना, फूलना (टू स्वेल) अर्थात् ट्यूमर में भी शोथ और उत्सेध का भाव है। जैसे 'बुदबुद' शब्द भी 'उबुन्दिर' धातु से बना है और उसमें उभार अथवा उत्सेध (स्वेलिंग) का भाव समाविष्ट है इसी प्रकार अर्बुद भी शोफात्मक उभार वाला या उत्सेध रूप का ही होता है। वस्तुतः अर्बुद और बुदबुद इन दोनों शब्दों की निष्पत्ति एक ही धातु द्वारा हुई है। बुदबुद शब्द में अर्बुद से इतनी विशेषता है कि बुदबुद में बुदध्वनि का भाव भी सन्निहित है।

कैंसर शब्द अंग्रेजी में लेटिन भाषा के शब्द कार्किनोज से प्राप्त हुआ है। लेटिन में केकड़े को कैंसर कहते हैं। आयुर्वेद शास्त्र में अर्बुद को ही कैंसर मानते हैं।

अर्बुद ६ प्रकार का है—वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, मांसज, मेदज। इनमें रक्तज तथा मांसज दो असाध्य हैं। फिर अर्बुद शरीर के अनेक भागों में होने से उसे उसी नाम से पुकारते हैं। यथा—तालवर्बुद, यकृतार्बुद, कंठार्बुद आदि। यहां त्वचार्बुद (स्किन कैंसर) का वर्णन है। सभी प्रकार के कैंसरों में त्वचा का कैंसर सबसे अधिक दिखाई देता है। यह एक ऐसा कैंसर है, जिसका उपचार किया जाय तो वह बहुधा

# त्वक् रोग निदान चिकित्सा

अधिक आयु की हो चुकी हैं उन्हें प्रति वर्ष एक बार अपनी त्वचा के उन स्थानों का परीक्षण करा लेना चाहिए, जिन पर दाग या चिन्ह पड़ गये हैं। त्वचा तथा गर्भ ग्रीवा पर जो कैंसर के दाग पड़ते हैं उनका उपचार विशेष रूप से कराना आवश्यक है। आयुर्वेद शास्त्र में सप्त त्वचा का वर्णन है। शार्ङ्गधर संहिता के प्रथम खण्ड अध्याय पांच में देखिए। आधुनिकों ने त्वचा को दो भागों में विभक्त किया है—

१ बाह्य त्वचा (एपिडरमिस)।

२. अन्तःत्वचा (डरमिस)।

स्कैमस सेल कैंसर यदि बाह्य त्वचा के बाहरी भाग में होता है तो बेसल सेल कैंसर बाह्य त्वचा के भीतरी भाग में। हां बेसल सेल कैंसर एक जगह रहने की प्रकृति रखता है, जबकि स्कैमस सेल कैंसर लसिकाओं अथवा रक्तप्रवाह द्वारा फैल सकता है।

**लक्षण—**

त्वचा के नीचे या त्वचा पर अनेक प्रकार के व्रण, सूजन, फोड़े, फुंसी देखे जाते हैं। स्थूलकाय (मेदवृद्धि) वाले लोगों में तो त्वचा द्वारा ही पकड़ में आने वाली छोटी-छोटी ग्रन्थियां मिल सकती हैं। किन्तु जो व्रण १५ या २० दिन के उपचार के उपरान्त भी न भरें अथवा आरोग्य न हों तो उससे कैंसर होने की सम्भावना बढ़ सकती है। भारत में कुष्ठ तथा त्वचा की टी. बी. का बाहुल्य होने के कारण प्रायः त्वचा के कैंसर की पहिचान देर से हो सकती है। त्वचा कैंसर घाव के अतिरिक्त अन्य अनेक रूपों में परिलक्षित हो सकता है। एक गांठ जिसके ऊपर की त्वचा का रंग फीका पड़ गया हो तथा आगे चलकर उसमें खुजली होकर घाव हो जाय, फिर घाव पर पपड़ी जम जाय तथा यही प्रक्रिया प्रारम्भ रहे अथवा घाव भरने के बाद वह स्थान बराबर लालिमा लिए रहे, जो जब भी कभी-कभी फिर में फूट पड़े इत्यादि त्वचा के कैंसर के प्रारम्भिक लक्षण हैं। ध्यान रखें, इस प्रकार का एक छोटा सा घाव भी कैंसर का रूप ले सकता है। मुख्य रूप से त्वचा का कैंसर शरीर के उन भागों में होता है जो सूर्य के प्रकाश के सम्पर्क में सदैव आते रहते हैं या बने रहते है। इसके अतिरिक्त मस्सों में खुजली होना, उनसे बालों का झड़ना या उनका अचानक बढ़ने लगना और घाव में परिवर्तित हो जाना भी त्वचा के कैंसर के लक्षण हैं।

त्वचा में एक ऐसी दशा भी देखी जाती है जिसको प्रीकैंसर अर्थात् उपकैंसर कह सकते हैं। यह दशा एक्टीमिट किराटोसिस के नाम से जानी जाती है। इसमें गोरे लोगों में जहां सूर्य का प्रकाश अत्यधिक आता है पर लाल रंग के पपड़ीदार चकत्ते पैदा हो जाते हैं। यह आवश्यक नहीं कि यह कैंसर में परिणित ही हो, किन्तु इसका उपचार आवश्यक है।

**त्वचार्बुद का उपचार—**

(१) रोगी की अवस्था और उसका बल—काल देखकर प्रथम उसको विरेचन तथा वमन कराना चाहिए। उपरांत निम्न औषधियां देनी चाहिए—

(२) काञ्चनार गुग्गुलु, पञ्चतिक्त घृत गुग्गुलु १।।-१।। माशा, गन्धक रसायन ४ रत्ती तीनों को मिला कर एक मात्रा तैयार कर लेनी चाहिए।

अनुपान—महामञ्जिष्ठादि क्वाथ के साथ मधु मिलाकर सेवन करना चाहिए।

समय दिन में तीन बार अथवा आवश्यकतानुसार देना।

(३) खदिरारिष्ट ताजा जल २-२ तोला मिला कर भोजनोपरान्त दिन में दो बार सेवन करें।

(४) जात्यादि तैल को आक्रान्त स्थान पर लगाना

(५) दशांग लेप को घृत में मिलाकर लेप करना।

(६) जिस स्थान पर कैंसर का आक्रमण हो यदि उस भाग को शस्त्रकर्म द्वारा काटकर फेंक दिया जाय तो फिर उसके फैलने का या पुनरोद्भव का भय नहीं रहता, किन्तु यह सब उसी समय हो जाना चाहिए जबकि त्वचा अर्बुद की जड़ें ऊपरी सतह पर ही होवें। इन जड़ों के त्वचा के दूसरी सतह में पहुँच जाने से फिर उनको नष्ट करना प्रायः कठिन ही होता है। यह कहा जा सकता है। यदि त्वचा के अर्बुद की उचित समय पर पकड़ कर ली जाय तो यह अन्य अर्बुदों की अपेक्षा कहीं कम घातक है। इसका उपचार भी सरल एवं सम्भव है।

त्वचा के अर्बुद में जो उपद्रव प्रबल रूप में प्रकट

—शेषांश पृष्ठ २५६ पर देखें।

अवस्था भेद से तीन प्रकार के होते हैं —

१. आमावस्था २. पच्यमानावस्था ३. पक्वावस्था

आधुनिक मतानुसार चार प्रकार के होते हैं—

१. तांतवीय (Fibrous) २. सीरमी (Serous) ३. श्लेष्मस्रावज (Catarrhal) ४. प्रतिऊर्जाजन्य (Allergic)

आधुनिक अवस्था भेद से ३ प्रकार के होते हैं—

१. तीव्र (Acute) २. अनुतीव्र (Subacute) ३. जीर्ण (Chronic)

लक्षण—

सगौरवं स्यादनवस्थितत्वं
सोत्सेधमूष्माऽथ सिरावतत्वम् ।
सलोम हर्षश्च विवर्णता च
सामान्य लिंगंश्वयथोः प्रदिष्टम् ॥ —चरक

चरक ने उपरोक्त लक्षण सामान्य शोथ के कहे हैं। व्रण शोथ के लक्षण सामान्य शोथ के समान ही कहे जा सकते हैं। विशेषत: व्रण शोथ में निम्नोक्त पांच लक्षण अवश्यमेव देखने को मिलते हैं—

१. उत्सेध—रक्ताधिक्य के कारण तथा रक्त रस के जमाव के कारण उत्सेध होता है।

२. लोहित वर्णता—रक्ताधिक्य के कारण ही शोथयुक्त स्थान लाल वर्ण का रहता है। प्रारम्भ में रक्त प्रवाह की अधिकता से रक्त में आक्सीजन अधिक रहती है और शोथ स्थान सुर्ख लाल रहता है। बाद में रक्तप्रवाह मन्द हो जाता है। आक्सीजन कम मिलने से वर्ण कालिमायुक्त लाल रहता है।

३. पीड़ा—शोथयुक्त स्थान में धमनीगत रक्त भार अधिक हो जाने से वातिक तन्त्रिकाओं (Nerves) पर दबाव पड़ता है, जिससे दर्द सी प्रतीति होती है। दबाने से वेदना बढ़ती है। स्पर्शासहत्व होता है।

४. ऊष्मा—शोथ वाला स्थान अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक गर्म रहता है। इसका कारण रक्ताधिक्य है।

५. स्वकर्म गुणहानि—वेदना की अधिकता से तथा स्थानिक स्रावों के कार्य में बाधा उत्पन्न होने से अङ्ग की क्रिया का अभाव हो जाता है।

उपरोक्त सामान्य लक्षणों के अलावा दोषानुसार विशिष्ट लक्षण भी शास्त्रों में बताये गये हैं। यथा—

(१) वातज व्रणशोथ—कृष्ण अरुण वर्ण का, कठिन, चल, वेदना युक्त, शीघ्र फैलने तथा पकने के स्वभाव वाला होता है।

(२) पित्तज व्रण शोथ—पीत वर्ण का, रागयुक्त, उष्ण, स्पर्शासहत्व युक्त, दाह तथा पाक युक्त होता है।

(३) कफज व्रण शोथ—पाण्डु या श्वेत वर्ण का, गुरु, स्निग्ध, स्थिर, शीतल, कण्डुयुक्त, धीमी गति से बढ़ने वाला तथा चिरपाकी होता है।

(४) रक्तज व्रण शोथ—पित्त समान लक्षणों से युक्त अत्यधिक कृष्ण वर्ण का होता है।

(५) त्रिदोषज—तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त, तीव्र वेदना युक्त।

(६) आगन्तुज व्रण शोथ—पित्तज तथा रक्तज लक्षणों से युक्त होता है। वर्ण अधिक लाल और चमकदार होता है।

व्रण शोथ की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार भी लक्षण भिन्न-भिन्न मिलते हैं। यथा—

[१] आमावस्था—इस अवस्था में शोथ का स्थान किंचिदुष्ण, शोथ स्थान की त्वचा, शरीर की अन्य त्वचा के समान वर्ण वाली, शोथ का स्पर्श शीत, पीड़ा तथा शोथ अल्प होते हैं।

[२] पच्यमानावस्था—इस अवस्था में पूय द्वारा वात तन्त्रिकाओं पर दबाव पड़ने से रोगी को विविध प्रकार की वेदनायें होती हैं। रोगी बेचैन रहता है और उसे किसी भी अवस्था में अर्थात् बैठने, सोने, चलने आदि में शान्ति नहीं मिलती है। शोथ फूली हुई मशक के समान तन जाता है और त्वचा का वर्ण भी बदल जाता है। ज्वर, दाह, तृष्णा, अरुचि आदि सार्वदैहिक लक्षण भी होने लगते हैं।

[३] पक्वावस्था—इस अवस्था में शोथ स्थान की बाह्य त्वचा निर्जीव होने लगती है। इस वजह से त्वचा के छिलके से निकलने लगते हैं। कुछ समय बाद शोथ फट जाता है और पूयस्राव होता है।

पक्वाशय में वेदना शान्त हो जाती है, त्वचा का वर्ण फीका पड़ जाता है। शोथ कम होता जाता है और शोथ के ऊपर की त्वचा पर झुर्रियां और दरारें

ईषत कृष्ण वर्ण के रक्त वाले शोथों से पीड़ित रोगी को वमन करवाने से लाभ होता है।

१२. विरेचन—वातज, पित्तज, रक्तज शोथो में तथा बहुत दीर्घकाल से ठीक न हो रहे शोथ मे विरेचन करवाना हितकर रहता है।

उपरोक्त बारह उपाय व्रण शोथ की चिकित्सा के लिए बताए गए हैं। इनका मुख्य उद्देश्य रक्ताभिस्रव को कम करना ही है।

शोथ की उत्पत्ति होते ही उसे शांत करने के प्रयास वैद्य को करना चाहिए ताकि शोथ पक्वावस्था की ओर अग्रसर ही न होने पाए। यदि पक्व हो ही जाए तो शोथ को पक्व जानकर भेदन करके पूय को बाहर निकाल देना चाहिए। सुश्रुताचार्य ने तो योग्य वैद्य की परिभाषा देते हुए भी कहा है कि—

आमं विपच्यमानं च सम्यक् पक्वञ्च यो भिषक्।
जानीयात् स भवेद्वैद्यः शेषास्तस्कर वृत्तय:।
—सु. सू. अ. १७

अर्थात् जो वैद्य शोथ की आम, विपच्यमान और पक्व अवस्थाओं को अच्छी तरह जानता है वही वैद्य कहलाता है, शेष सब तस्करवृत्ति के होते हैं। और भी—

यश्छिनत्यामम ज्ञानाद्यश्च पक्वमुपेक्षते।
श्वपचाविव मन्तव्यौ तावनिश्चित कारिणौ।।
—सु. सू. अ. १५/१७

अर्थात् जो वैद्य आमावस्था में शोथ को चीरता है और जो पक्वावस्था में उसकी उपेक्षा कर देता है, इन दोनों प्रकार के वैद्यों को चाण्डाल के समान ही जानना चाहिए।

पृष्ठ २५६ का शेषांश

आई हैं। आती भी रहती हैं। इससे मैंने सर्वेक्षण भी किया है।

१. पित्त शमनार्थ क्रिया, २. विहार क्रिया।

पित्तशमनार्थ हेतु—द्राक्षा, आंवला, केला, दुधी, आम्र रस, नारियल का पानी, नीम गिलोय + वासा स्वरस इत्यादि देता हूँ।

औषधि—प्रवाल पंचामृत, गिलोय सत्व कामदुधा रस, सुवर्ण माक्षिक प्रत्येक २-२ रत्ती, शतावरी चूर्ण १ माशा मात्रावत् पुड़ियां बनाकर १-१ पुड़िया ३ बार।

रक्तस्राव (योनितः) + (त्वचाजन्य) की अवस्था में शुद्ध सोरा कार्ब ४ रत्ती, शुभ्रा भस्म, प्रवाल पिष्टी १-२ रत्ती वासा स्वरस के साथ तथा बोलबद्ध रस, आरोग्यवर्धनी रस की २-२ गोली तीन बार देता हूं।

आर्तवावस्था में—पुष्यानुग, शतावरी, तृण कांत पिष्टी का योग देता हूं। चन्द्रप्रभा वटी भी देता हूँ।

लाल धब्बे (बाह्य चिकित्सा)—शतधौत घृत का लेप, दशांग घृत का लेप, शैवाल का (सील) लेप।

विहार—दूध, घी का सेवन, आराम, मन को शांत रखना, संयम पालन, मधुर रस का विशेष सेवन, आध्यात्मिक वाचन, मनन इत्यादि पथ्य विहार है।

याद रखा जाय कि जो स्त्री अति कामेच्छा व्यक्त कर सम्भोग में सदा तत्पर रहती है, उनको ऐसी बीमारी विशेषतया हो सकती है।

पृष्ठ २९२ का शेषांश

हों, उन कष्टकर उपद्रवों का उपचार यथावश्यक वैद्यों को करना चाहिए। रोगी के मल और रक्त शुद्धि की ओर अधिक ध्यान रखते हुए बलवर्धक रासायनिक औषधि का भी उपयोग करना आवश्यक है।

पथ्यापथ्य—

पथ्य पुराने घृत का पान, पुराने रक्तवर्ण वाले शालिधान के चावल, जव, मूंग, परवल, लाल सहजन, करेला, मेंथी, मिसी (मिर्री), जुआर की रोटी, अंगूर, अञ्जीर, मुनक्का, अमरूद, आम, गाजर, पपीता, गाय-बकरी का दूध, गर्म कर शीतल जल, शारीरिक शक्ति के अनुकूल सामान्य व्यायाम, योगासन, प्राणायाम, खुली शुद्ध हवा में भ्रमण, संगीत श्रवण, सुपाच्य पौष्टिक ताजा भोजन हितकर है।

अपथ्य - दूध, ईख, इनसे बने पदार्थ (दही, मावा, गुड आदि), जंगली जीवों का मांस, अण्डा, पिष्ठी के बने पदार्थ, अम्ल मधुर, नमकीन, लाल मिर्च, शराब, चाय, काफी, बीड़ी, सिगरेट, चिलम, तम्बाकू, नशीले और उष्ण पदार्थ, गरम मसाले, कठोर, भारी, तले तथा बासी पदार्थ, पूरी, पराठे, हलुआ, खीर, विरुद्ध भोजन, दिवा निद्रा, बहुमैथुन, भय, क्रोध, शोक, चिन्ता, ईर्ष्या और अमर्ष आदि को अपथ्य मानकर त्याग दें।

# योनि कण्डु— निदान एवं चिकित्सा

वैद्या (श्रीमती) सन्तोष देवी कौशल
प्राध्यापक—काय चिकित्सा विभाग
राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर
एवम्
वैद्या (श्रीमती) सुधा शर्मा बी.ए.एम.एस., एम.डी.
(रोग विज्ञान, विकृति विज्ञान)
विवेचक—श्री प० रा० आयु० महाविद्यालय, सीकर।

कण्डु रोग त्वक् विकारों के अन्तर्गत समाविष्ट किया जाता है। यह व्याधि निदानार्थ कर हेतुओं के द्वारा उत्पन्न होने वाली व्याधि है। प्रत्येक वय की रुग्णायें इस व्याधि से आक्रान्त रहती है। इसे Pruritis vulvae भी कहते हैं।

योनि कंडू योनि में होने वाले अनेक रोगों का लक्षण है। योनि द्वार और उसके चारों ओर कण्डु पैदा होती है। कदाचित इस कण्डु के कारण रुग्णा अत्यन्त व्यथित हो जाती है, अतएव इसके निदानों पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है—

१. योनिगत आस्राव (Vaginal secretions)—प्राकृतावस्था में योनि से आने वाला स्राव मात्रा में अल्प एवं योनि को आर्द्र रखने वाला होता है। किन्तु ट्राइकोमोनास वेजाइनेलिस (Tricomoras Vaginalis) उपसर्ग के कारण हरित पीत वर्ण का क्षोभक कर्म वाला पित्त प्रधान आस्राव होता है। इसके कारण योनि में कण्डु होती है।

२. स्थानिक अस्वच्छता के कारण—सम्यक् रूप से भग प्रदेश एवं योनि प्रदेश का प्रक्षालन नहीं करने के कारण भग रोगों में यूका-लिक्षा (Pediculosis-pubis) उत्पन्न हो जाती है जिस के कारण कंडू होती है।

३. त्वक् रोगों के कारण (Skin diseases)—

| पामा (Scabies) | दद्रु मण्डल (tineacruris) | शैवालिका (Lichen Planus) | विसर्प (Herpes) | विचर्चिका (Eczema) | चम्बल रोग (Psoriasis) | घर्षणजन्य विस्फोट (Intertrigo) |
|---|---|---|---|---|---|---|
| यह पराश्रयी जीवाणु itch-mite के कारण होता है छोटी फुंसियां दाह एवं कंडू अधिक होती है। | यह फंगल संक्रमण से होती है, रक्त वर्ण का चकत्ता पिडिकायुक्त जिसमें कण्डु बहुत अधिक चलती है। | श्वेत वर्ण का चकत्ता, सतह मृदु चमकदार अत्यधिक कण्डुयुक्त | वाइरस (virus) के कारण होने वाली व्याधि | यह शीतविषाणु जन्य व्याधि है, योनि मे भग मे कण्डु होती है। | अनुर्जता के कारण होने वाली व्याधि कण्डु प्रधान होती है। | स्थूलकाय स्त्रियों में पायी जाती है लालिमा दाह, कण्डु उपस्थित होती है। |

४. अभावजन्य व्याधियां—विटामिन ए, विटामिन बी तथा आयरन की कमी के कारण भी योनि प्रदेश एवं भग प्रदेश में कण्डु उपस्थित होती है।

५. रासायनिक क्षोभक द्रव्यों के कारण (Due to Chemical irritants)—अधिक

साबुन डिटाल का प्रयोग, मलहम, गर्भ निरोधक औषधियों के प्रयोग के अनन्तर योनि में कण्डु होती है।

६. योनि शोथ वार्धक्यजन्य (Senile vaginitis) —यह सम्भवतः इस्ट्रोजन की कमी के कारण होने वाले शारीरिक परिवर्तन के कारण सम्भव है।

७. व्याधियों के उपद्रव के अनन्तर—

निम्न व्याधियों के उपद्रवस्वरूप भी कंडु होती है—

| धातुपाक सम्बन्धी कारण | अनूर्जता के कारण | महास्रोतसगत कारण | सार्वदैहिक विषमयता के कारण | रतिज व्याधियों के कारण |
|---|---|---|---|---|
| १. मधुमेह (Diabetes Mellitis) | अधोवस्त्र का नाइलोन अथवा कृत्रिम तन्तुओं का होना | सूत्रकृमि (Thread-worm) के संक्रमण के कारण | कामला एवं यूरेमिया के कारण। रक्त में पित्तिसर्पिन की मात्रा बढ़ जाती है। | १. उपदंश के कारण<br>२. फिरंग के कारण इन व्याधियों में भग प्रदेश में व्रणों की स्थिति हो जाती है। पूय स्राव के कारण कंडु पायी जाती है। |

**चिकित्सा—**

१. संक्षेपतः क्रिया योगो निदान परिवर्जनम्।

२. विदाही आहार, उष्ण गुण प्रधान, तीक्ष्ण गुण प्रधान आहारों का पूर्णतः त्याग।

३. अति लवण रस प्रधान, अम्ल रस प्रधान, कटु रस प्रधान आहारों का वर्जन करना चाहिये। इन सभी में तेजो महाभूत की प्रधानता होने से ये पित्त एवं रक्त की दुष्टि करते हैं।

४. योनि कण्डु स्वतन्त्र व्याधि न होकर व्याधियों के अनन्तर होने वाली अवस्था अर्थात् उपद्रव है, अतएव स्वतन्त्र व्याधियों की चिकित्सा सर्वप्रथम उद्देश्य होना चाहिए।

५. योनिगत आस्राव की स्थिति में एक छटांक जल में ५ रत्ती बोरेक्स या फिटकरी डालकर योनि प्रक्षालन करने से लाभ होता है अथवा २० औंस जल में २ ग्रेन पोटास परमेंग्नेट डालकर योनि प्रक्षालन करने से योनि कण्डु में अत्यधिक लाभ होता है।

६. योनि एवं भग की सम्यक् प्रकार से शुद्धि करनी चाहिए एवं रासायनिक क्षोभक द्रव्यों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

७. त्वक् रोग जनित कण्डु चिकित्सा—

| पामा | दद्रु मण्डल | शैवालिका | विसर्प | घर्षणजन्य विस्फोट |
|---|---|---|---|---|
| गंधक मलहम या ५% वेन्सोल वेन्जोएट का विलयन लगाना चाहिए | १. केलोमिन लोशन<br>२. दद्रुनाशक पाउडर का स्थानिक प्रयोग | स्फटिका द्रव से प्रक्षालन कर गन्धक मलहम लगाने से लाभ | १. शतधौतसर्पि<br>२. दशांग लेप<br>३. पञ्चवल्कादि लेप | १. द्वादशांग क्वाथ से प्रक्षालन कर चन्दनादि लेप लगाना चाहिए<br>२. पंचतिक्तघृत का सेवन |

# शीतपित्त—प्राकृतिक योग चिकित्सा

डा० नागेन्द्रकुमार नीरज
वरिष्ठ चिकित्सक—श्री महावीर योग प्राकृतिक चिकित्सा एवं शोध संस्थान
श्री महावीर जी, जिला—सवाई माधोपुर—३२२२२० (राज०)

—:※:—

★ भारत के सुप्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक।
★ प्राकृतिक निदान चिकित्सा पर अनेकों ग्रन्थों के लेखक।
★ अनेकों पत्रिका में आपके लेख अनवरत प्रकाशित होते हैं।

शीतपित्त पर यहां श्री नीरज जी ने उपयुक्त ज्ञानवर्धक माहिती उपलब्ध कराई है और प्राकृतिक चिकित्सा से शीतपित्त किस तरह मिटाया जा सकता है, इस पर विस्तृत विवेचन किया है। सधन्यवाद।
—वैद्य किरीट पण्ड्या (विशेष सम्पादक)।

---

१५ वर्षीय रघुवीर विगत तीन साल से काफी परेशान थे। अकस्मात उसके सारे शरीर पर चकत्ते ददोड़े उठने प्रारम्भ हुए। डाक्टरों ने त्वचा की एलर्जी रोग अर्टिकेरिया बताया। औषधि दी गई आराम हो गया। परन्तु अब उसे हमेशा औषधि लेनी पड़ती थी। उसे हमारे संस्थान के सम्बन्ध में पता चला। १५ दिन इनडोर रोगी के रूप में प्राकृतिक चिकित्सा लेने के पश्चात् उसे समस्त रोग लक्षणों से मुक्ति मिली। प्राकृतिक चिकित्सा के प्रति आस्थावान अजमेर एस० एम० लोढ़ा नेचुरोपैथी रिसर्च इन्स्टीट्यूट की संस्थापक सदस्या श्रीमती पुष्पा कुमारी लोढ़ा की पैरों की हड्डियां भयंकर कार दुर्घटना में टूट गईं। सुप्रसिद्ध चिकित्सकों का उपचार चला, उपचार के दौरान औषधियों के पार्श्व दुष्प्रभाव के कारण उग्र शीतपित्त की स्थिति उत्पन्न हुई। २४ घण्टे तीव्र बेचैनी रहती थी। प्राकृतिक उपचार, ध्यान एवं योग चिकित्सा के प्रयोग से ही उग्र शीतपित्त से मुक्त हो सकी। विगत १७ साल के अपने प्राकृतिक चिकित्सा काल में शीत पित्त के सैकड़ों रोगियों की सफल चिकित्सा करने का सुअवसर मिला है।

वास्तव में त्वचा भी दुनिया का महानतम आश्चर्य है। त्वचा के एक वर्ग से० मी० में ५ वसा ग्रन्थियां, ४ ताप सूचक यन्त्र, ४ गज स्नायु, १० रोम कूप, २५ स्पर्शानुभूति यंत्र, १०० स्वेद ग्रन्थियां, २०० दर्द सूचक, स्नायु छोर, ३ हजार संवेदना ग्राहक कोशिकायें, ३० लाख कोशिकायें तथा ३ फुट रक्तवाहिनियां हैं। ग्रीवा तथा पीठ की त्वचा १ वर्ग १ से०मी० में ६० छिद्र पाये जाते हैं। जबकि हथेली तथा पादतलों में १ वर्ग से० मी० में ४०० के लगभग छिद्र हैं। सारे शरीर में २२ से ३० लाख स्वेद ग्रन्थियां हैं। इनमें स्वेद का निर्माण होता है तथा नलिकाओं द्वारा उनके छिद्रों से त्वचा पर निकला करता है। शरीर से निरन्तर स्वेद निकलता है। जो स्वेद निकलकर शीघ्रता से वाष्पीकृत हो जाता है उसे अज्ञात स्वेद तथा जिस स्वेद को हम अनुभव करते हैं उसे ज्ञात स्वेद कहते हैं।

त्वचा हमारे अन्तः के स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य का प्रतीक है। त्वचा आन्तरिक परिस्थिति का आइना है। यह सुख-दुःख एवं खतरों की अनुभूति कराकर सजग करती है, वहीं यह रोगाणुओं एवं बाह्य हमलों से हमारी रक्षा करती है। त्वचा के अभाव में स्वास्थ्य

एवं सौन्दर्य की कल्पना नहीं की जा सकती है। त्वचा लैंगिक आकर्षण का सशक्त माध्यम है। शरीर में ताप का नियन्त्रण त्वचा द्वारा ही होता है। २४ घण्टे में फुफ्फुस द्वारा ५०० से ६०० मि. ली. तथा त्वचा द्वारा २०० से ३०० मि.ली. जल निकलता है। जल निष्कासन से अतिरिक्त ताप विसर्जन एवं उसका नियन्त्रण होता है। वाष्पीकरण द्वारा त्वचा वातानुकूल बनी रहती है।

त्वचा फुफ्फुस के श्वास कर्म में सहायता कर ९ ग्राम कार्बन डाई आक्साइड प्रतिदिन बाहर निकालती है, जबकि फेफड़ा ९०० ग्राम कार्बन डाई आक्साइड बाहर निकालता है। विषम परिस्थिति में त्वचा को गुर्दे का भी कार्य करना पड़ता है। त्वचा द्वारा जल के साथ घुलनशील अकार्बनिक लवण विजातीय विष भी बाहर निष्कासित होते हैं। त्वचा द्वारा अवचूषण की क्रिया भी होती है। रवि रश्मियाँ, तेल मालिश, त्वचा द्वारा अवचूषित होकर कैल्शियम, फास्फोरस तथा इरगोस्टराल के सहयोग से विटामिन डी का निर्माण करते हैं।

इस प्रकार त्वचा के कार्य बहुआयामी होने के साथ-साथ यह पूरे शरीर को तत्परता से सुरक्षा प्रदान कर रक्षा करती है। त्वचा की पर्तों में १४ लाख ६० हजार तथा ललाट पर २ लाख जीवाणु प्रति वर्ग से०मी० होते हैं। १ ग्राम मिट्टी में १ करोड़ से १० अरब तक सूक्ष्म जीवाणु होते हैं जबकि त्वचा के सिर्फ १ ग्राम बाह्य छिलके में ३० करोड़ से ६ अरब जीवाणु होते हैं। त्वचा पर निरन्तर रोगाणुओं के प्रहार के बावजूद भी हम बीमार नहीं होते हैं क्योंकि त्वचा इन सारे हमलों को नाकामयाब कर देती है। कभी बाह्य कीटाणु या अन्य प्रदूषक पदार्थ तीव्र प्रतिक्रिया करते हैं जिससे शरीर के कुछ हिस्सों में लाल-लाल चकत्ता या गोलाकार दाग पड़ जाते हैं। इनमें खूब खुजली चलती है। शरीर की इस प्रतिक्रिया को शीतपित्त तथा सामान्य भाषा में पित्ती उछलना कहते हैं। शरीर की विषाक्तता की तीव्र प्रतिक्रिया के कारण त्वचा पर शीतपित्त उमड़ता है। अतः यह एक आन्तरिक प्रतिक्रिया है। इन्हें खुजाने से मध्य में सफेद होते हैं। ततैयादि कीड़ों के डंक से काटे हुए जैसे दीखते हैं। कभी-कभी इनके लक्षण जितनी उग्रता के साथ परिलक्षित होते हैं उतनी ही तीव्रता के साथ समाप्त भी हो जाते हैं। रोगियों में कभी-कभी कोठोत्पत्ति के इतिहास तथा असह्य कण्डु के लक्षण दीखते हैं। कुछ रोगियों में किसी प्रकार के लक्षण दीखते हैं, सामान्य होते हैं। परन्तु उनकी त्वचा को दबाने अथवा उस पर रेखा खींचने से ये उभर जाते हैं इस स्थिति को डर्मेटोग्राफिया कहते हैं।

आयुर्वेद में कहा गया है कि शीतल वायु के कारण वात तथा कफ प्रकुपित होकर कुपित पित्त के साथ मिलकर रक्त को प्रदूषित करते हैं जिसकी प्रतिक्रिया शीतपित्त के रूप में त्वचा पर दिखाई पड़ती है—

शीत मारुत संस्पर्शात प्रदुष्टौ कफमारुतौ।
पित्तेन सह सम्भूय बहिरन्तर्विसर्पतः।।

अतः शीतपित्त को शीतजन्य प्रतिक्रिया कह सकते हैं।

**कैसे होता है ? विकृति विज्ञान—**

जब भी कोई जैव या अजैव माइक्रोआर्गेनिज्म या एण्टीजन शरीर के अन्दर प्रविष्ट होते हैं ऐसी स्थिति में श्वेत रक्तकोशिकाएं एण्टीबाडीज का निर्माण करती है। विषाणु कीटाणु, फफूंद, पराग, रेंगने वाले कीड़े एण्टीजन का कार्य करते हैं। क्योंकि इनका निर्माण शरीर से भिन्न प्रोटीन का होता है। शरीर में श्वेत रक्त कोशिकायें किसी भी विजातीय पदार्थ यथा एलर्जिक आहार, औषधि तथा अन्य माइक्रोआर्गेनिज्म के प्रति अनुक्रिया करता है। एण्टी बाडीज हानिकारक एण्टीजेन से जुड़कर उसे समाप्त कर देता है। एलर्जिक व्यक्तियों में अहानिकारक वस्तुओं के प्रति भी शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता सजग होकर प्रतिक्रिया करने लगती है। ऐसा क्यों होता है अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। कुछ आयुर्विज्ञानियों का मानना है कि शरीर में एण्टी बाडीज पर नियन्त्रण रखने वाली श्वेत रक्त कोशिकाओं की संख्या कम हो जाती है। एण्टीजन के प्रभाव से शरीर में प्रचुरता से एण्टी बाडीज इम्युनोग्लोबिन ई. आई. जी. ई. पैदा होता है। आई. जी. ई. एण्टी बाडीज एण्टीजान एलर्जिन के दुष्प्रभाव को समाप्त करता है।

खाली समय में आई. जी. ई. उत्तकों के मास्ट

कोशिकाओं तथा बेसोफिल कोशिकाओं से संलग्न हो जाती है। एक दूसरा उपयोगी एण्टी बाडीज भी शरीर में निर्मित होता है। इसे इम्यूनोग्लोबिन जी. कहते हैं। वैसे शरीर में आई. जी. ए, आई. जी. डी. तथा आई. जी. एम आदि इम्यूनोग्लोबिन एण्टी बाडी भी पाये जाते हैं, इन सभी के पृथक कार्य होते हैं। ये आटोइम्यून भी कहलाता है।

आई जी. जी. एलर्जीन या एण्टीजन को मास्ट कोशिकाओं से चिपकने से रोकती है। मास्ट कोशिकाओं में हिस्टामिन, सेरोटोनिन, हिपरिन आदि जैव रसायन होते हैं। हिस्टामिन रक्तवाहिनियों को विस्फारित कर प्लाज्मा की संचार व्यवस्था को नियन्त्रित करते हैं। श्लेष्मिक ग्रन्थियों को उत्तेजित कर श्लेष्मा स्राव को बढ़ाते हैं। यह श्लेष्मा स्राव मांसपेशियों में संकुचन पैदा करता है। जब भी एण्टीजेन एलर्जिन शरीर में प्रविष्ट होते हैं, मास्ट कोशिकाओं से संलग्न एण्टीबाडी उसे निष्प्रभावी करने के लिए सक्रिय होकर उत्तेजित होती हैं, फलतः मास्ट कोशिकायें फट जाती हैं। इससे प्रचुर मात्रा में हिस्टामिन मुक्त होकर रक्तप्रवाह में पहुंच जाता है। यह हिस्टामिन ही एलर्जिक प्रतिक्रिया का मुख्य कारण है। शरीर के जिस अंग में एण्टी बाडीज आई. जी. ई. से ढकी मास्ट कोशिकायें अधिक होती हैं वहीं पर एलर्जिन एलर्जी उत्पन्न करने वाला एण्टीजन एलर्जिक प्रतिक्रिया पर शीतपित्त की स्थिति पैदा करते हैं।

**शीतपित्त के प्रभेद —**

शीतपित्त को आधुनिक आयुर्विज्ञान की भाषा में अर्टिकेरिया (Urticaria) कहते हैं जिसका शाब्दिक अर्थ ( Urticaria-nettle-rashorhives ) कण्डूयुक्त मण्डलाकार (गोल) चकत्ते या ददोड़े होते हैं।

शीतपित्त तीव्र तथा जीर्ण दोनों प्रकार के होते हैं। तीव्र शीतपित्त कुछेक घण्टे या दिनों के पश्चात स्वतः समाप्त हो जाते हैं। जीर्ण अथवा चिरकालीन शीतपित्त के लक्षण बार-बार उभरते हैं। तीव्र शीतपित्त कभी-कभी अत्यन्त उग्र होता है। जीर्ण शीतपित्त में उदर्द तथा कोठ के लक्षण दीखते हैं। उदर्द में कफ की वृद्धि होती है।

आयुर्वेद में उदर्द के सम्बन्ध में आया है—

सोत्संगैश्च सरागैश्च कण्डूमद्भिश्च मण्डलैः।
शैशिरः कफजो व्याधिरुदर्द इति कीर्तितः॥

शीतल समीर से कफ तथा वायु दोष की वृद्धिजन्य दूषित पित्त ही शीतपित्त का मूल कारण है। इसके जीर्ण रूप उदर्द मध्य में लालिमा युक्त कण्डू सहित मण्डलाकार चकत्ते शिशिर ऋतु में होते हैं।

शीतपित्त तथा उदर्द में नाड़ीगति एक समान भारी, विच्छिन्न, मूल से वेगवती क्रूर तथा चक्रगामिनी होती है।

**शीतपित्त के मुख्य कारण—**

यह एक प्रकार का एलर्जिक अर्थात् असह्यताजन्य रोग है। वास्तव में शीतपित्त की स्थिति में रक्तकोशिकाओं से लाल रक्त कण रहित द्रव हिस्टामिन आदि मुक्त होकर त्वचा पर सूजन पैदा करते हैं।

**शीतपित्त के अन्य कारण तथा प्रकार —**

(१) आहारजन्य शीतपित्त —असात्म्य प्रोटीन वाले आहार जैसे अण्डा, मछली, पनीर, मांस रस, खमीर, शराब, काष्ठफल, काजू, बादामादि, चाय, काफी, कैफिन, गाय का दूध, दही, गेहूं, जौ, जई और राई आदि भोज्य पदार्थ किसी किसी को एलर्जिक प्रतिक्रिया करते हैं। गेहूं, जौ, जई तथा राई में स्थित ग्लूटीन नामक प्रोटीन और पनीर, चाकलेट, मांस रस, खमीर, शराब, दही आदि में टायरामिन नामक प्रोटीन एन्जाइम एलर्जिक प्रतिक्रिया करते हैं। चूसने वाली गोलियां, जेम्स, जेली, गोंद, टूथपेस्ट, सोफ्ट ड्रिंक आदि कन्फेक्शनरी एवं संश्लिष्ट आहार में स्थित सेलीसिलेट्स शीतपित्त पैदा करते हैं। कुछ प्राकृतिक आहार बादामादि काष्ठफल, खजूर, सेब, सन्तरा, टमाटर, ककड़ी, खीरादि में भी सेलिसिलेट्स पाया जाता है जो शीतपित्त का कारण है।

कृत्रिम आहारों में स्थित सुरक्षाकारक सोडियम बेन्जोएट हाइड्रोक्सी बेन्जोएट तथा सल्फर डाई आक्साइड शीतपित्त पैदा करते हैं। आयुर्वेद में भी एक सूत्र आया है ·

अम्लञ्चाप्यौदकानूपनीवानामामिषं तथा।
स्नेह मद्यं नवीनञ्च मत्स्यं प्रागुदक्षिणानिलम्।
शीतमम्बु दिवास्वप्न शीतपित्तादि मांस्त्यजेत् ॥

एलीमिनेशन तथा सबलिंगुअल परीक्षण से आहार द्वारा होने वाले शीतपित्त की जांच आप घर पर ही कर सकते हैं। एलीमिनेशन परीक्षण हेतु शारीरिक शक्ति के अनुसार २ से ५ दिन तक निराहार रहें, सिर्फ पानी लें। जो भूखे नहीं रह सकते वे नाशपाती का रस लें। आयुर्विज्ञानियों के अनुसार नाशपाती रस तथा भेड़ का मांस एलर्जिक प्रतिक्रिया नहीं करते हैं। उपवास के दौरान सादे पानी का एनिमा लें। आहार को एक साथ न खाकर प्रत्येक आहार को पृथक-पृथक करके खायें। जो आहार किसी प्रकार की प्रतिक्रिया करते हैं, उन्हें लिख डालें। प्रतिक्रिया करने वाले आहार ही एलर्जेन होते है।

सबलिंगुअल जांच में भोजन के सत का एक-दो बूंद जिह्वा के नीचे रखकर प्रतिक्रिया जानी जाती है।

प्रिक टेस्ट द्वारा भी एलर्जनों की जांच की जाती है। इसमें चिकित्सक हाथ या अन्य अङ्गों के त्वचा पर खरोंचकर उसमें विभिन्न एलर्जनों के घोल की बूंद डालते हैं सूजन आकर कुछ देर के बाद लुप्त होना एलर्जिक प्रतिक्रिया को सिद्ध करता है। वयस्कों में एक बार में ४०-५० तथा बच्चों में एक दर्जन तक एलर्जिक का परीक्षण किया जा सकता है। एलर्जन मौसम तथा हिस्टामिन विरोधी दवा बन्द करने के ६ माह पश्चात् ही प्रिक परीक्षण करना चाहिए।

उपर्युक्त जांचों में नाड़ी तथा श्वास गति में भी परिवर्तन होता है।

(२) औषधिजन्य शीतपित्त—जीर्ण शीतपित्त के कारणों में पेन्सिलीन तथा एस्प्रिन कुख्यात हैं। पेन्सिलीन के प्रयोग के तुरन्त एवं कई महीनों पश्चात् भी शीतपित्त के लक्षण उभरते हैं। सभी चिकित्सालयों में रोगियों के श्वास द्वारा अथवा दुग्धपान में किंचित मात्र पेन्सिलीन की उपस्थिति से भी जीर्ण शीतपित्त के लक्षण दीखते हैं। एस्प्रिन स्वयं तथा अन्य कारकों के साथ अन्तः प्रतिक्रिया कर शीतपित्त पैदा करता है। एस्प्रिन का रासायनिक नाम एसीटाइल सैलीसिलिक एसिड है। ये दोनों रसायन शीतपित्त के कारण हैं। इनके अतिरिक्त क्युनीन, सेन्टोनीन, सेलीसिलेट, एटोफन, सोमल, क्लोरल हाइड्रेट फीनोबारबीटोल, पारा, फिनासिटीन, फीनोलफ्थेलीन, टरपेनटाइम, निकोटीनिक एसिड, कोपायाबा इत्यादि मिश्रित औषधियां शीतपित्त पैदा करते हैं। बारबीचूरेट, फिनोथियाजीनादि प्रशामक औषधियां, इण्डोमिथासीन, टेट्रासाइक्लिन, सल्फोनामाइड्स भी शीतपित्त पैदा करते हैं। टीके तथा गर्भ निरोधक गोलियों से भी तीव्र शीतपित्त के लक्षण दीखते हैं।

(३) श्वास द्वारा उत्पन्न शीतपित्त—धूल-कण, पराग, धुआं, गन्ध, इत्र, गन्धयुक्त रसायन, मातुल स्पोर्स भी कभी-कभी तीव्र शीतपित्त उत्पन्न करते हैं। ये श्वासकारक (inhalants) श्वास द्वारा अन्दर पहुँच कर शीतपित्त पैदा करते हैं।

(४) वातावरणजन्य शीतपित्त—वातावरणीय एजेण्ट जैसे अत्यधिक ठण्ड, प्रकाश, तनाव, दबाव, रविरश्मियां, शोरादि से भी शीतपित्त होते देखे गये हैं।

(५) कृमिजन्य शीतपित्त—अंकुश कृमि, एन्काइलोस्टोमाड्यूडोनलि हुकवर्म, गोलकृमि, एल्केरिस लुम्ब्रिकायड्स, फीत‌कृमि, चाबुक कृमि तथा अन्य कृमियों के संक्रमण तथा उनके प्रतिविष टॉक्सिन्स रक्त संचार में पहुँचकर अपने विषाक्त प्रभाव से शीतपित्त पैदा करते हैं। कीटाणु, विषाणु, पैरासाइट्स तथा फफूंद, कुछ रेंगने वाले रोयेंदार कीड़ों के सम्पर्क में त्वचा तीव्र प्रतिक्रिया करती है और शीतपित्त की स्थिति उत्पन्न होती है।

(६) डंकजन्य शीतपित्त—मधुमक्खी, बर्र ततैया तथा अन्य छोटे कीड़ों के डंक, बिच्छू तथा अन्य कीड़ों के डंक, मकड़ी और अन्य रेंगने वाले कीड़ों के सम्पर्क से शीतपित्त के तीव्र लक्षण उभरते हैं।

(७) वनस्पति सम्पर्कजन्य शीतपित्त—बिच्छू घास तथा कुछ विशेष किस्म के केकड़े और अन्य पौधों एवं पेड़ों के सम्पर्क में आते ही शीतपित्त के उग्र लक्षण दीखते हैं। भिलावा के नीचे सोने तथा उसके पुष्प पराग के स्पर्श मात्र से भयंकर रूप से शरीर सूज जाता

है। कोच की पत्तियां एवं बीजों के स्पर्श मात्र से शीतपित्त होता है।

कृतकों के संक्रमण, परजीवी या किसी प्रकार के ट्यूमर के टाक्सिन्स एण्टीजेन एलर्जन का कार्यकर शीतपित्त पैदा करते हैं। ल्यूपस एरिथेमेटोसस जिसमें त्वचा, संयोजी उत्तक तथा अन्य अङ्ग संक्रमित होते हैं। इसमें चेहरा, नाक, गला और संधियों की त्वचा संक्रमित होती है। संक्रमण के कारण अङ्गों पर लाल शल्क युक्त रैश (red scally rash) दीखते हैं। बाद में गुर्दे, हृदय एवं मस्तिष्क भी दुष्प्रभावित होते हैं इसमें फाइब्रोसिस की स्थिति उत्पन्न होती है। इसे आटो इम्यून डिजिज भी कहते हैं। इसमें रक्त में असामान्य एण्टी बाडी (L .E. Cells) की उपस्थिति पाई जाती है। यही कोशिकायें बाह्य स्तर की रक्तवाहिनियों को विस्फारित कर जीर्ण शीतपित्त पैदा करती हैं।

पालीआर्थराइटिस नोडोसा जिसका कारण अभी तक अज्ञात है, धमनियों में पैची संक्रमण (patchy inflammation) हो जाता है। यह एक प्रकार का कोलेजन रोग है। इसमें सन्धिवात, स्नायु शोथ, दमा और मुख्य रूप से शीतपित्त के लक्षण दीखते हैं। कभी-कभी उच्च रक्तचाप, ज्वर और गुर्दों की निष्क्रियता के लक्षण भी परिलक्षित होते हैं। अम्लपित्त, श्वास, जीर्ण प्रवाहिका, जीर्ण प्रतिश्याय, छर्दि रोग, जीर्ण ज्वर, पाण्डु रोग और रक्ताल्पता में भी कभी-कभी शीतपित्त के लक्षण दीखते है।

थायरायड टाक्सिकोसिस की स्थिति में थायरायड के स्राव बढ़ने और रक्त विषाक्तता के कारण शीतपित्त होता है।

आहार और औषधियों के एलर्जिक प्रभाव के कारण एन्जिओन्युरोटिक शोथजन्य शीतपित्त की अत्यन्त खतरनाक स्थिति उत्पन्न होती है। इसमें जिह्वा, स्वर यन्त्र और होठ की श्लेष्मिक कला विशेष रूप से आक्रांत होते हैं। इस प्रकार के शीतपित्त के लक्षण कुछ घण्टों से लेकर कुछ दिनों तक रहते हैं। कभी-कभी यह घातक स्थिति भी उत्पन्न करता है।

इस प्रकार टान्सिल, आंतों, मुंह तथा वस्तिगह्वर के संक्रमण तथा परप्युरा रोग में कभी-कभी उग्र तदा मध्य शीतपित्त के लक्षण दीखते हैं।

(८) अन्तरांगजन्य शीतपित्त (The hollow visceral urticaria)—पाचन प्रणाली यथा आहार और पित्ताशय में उपस्थित सूक्ष्म जीवाणुओं के प्रतिविष टाक्सिन्स और इनके म्यूकोसा के विजातीय उत्पाद रक्त द्वारा अवचूषित होकर एण्टीजेन एलर्जन का कार्य कर शीतपित्त पैदा करते हैं।

(९) गर्भावस्थाजन्य शीतपित्त—कुछ ऐसी महिलाओं का उपचार करने का अवसर प्राप्त हुआ है जिन्हें तीव्र गर्भावस्थाजन्य शीतपित्त की स्थिति थी। गर्भावस्था के समय हार्मोनल एवं रक्त संचार सम्बन्धी अव्यवस्था के कारण शरीर पर होने वाले विषजन्य प्रभाव से उग्र शीतपित्त के लक्षण उभरते हैं।

(१०) शल्य कर्मजन्य शीतपित्त—पाचन प्रणाली के व्रण, शोथ, अवरोध इत्यादि विषम परिस्थितियों के कारण शल्यकर्म की आवश्यकता पड़ जाती है। शल्य कर्म में ब्लाइण्ड लूप्स (blind loops) छूट जाते हैं। जहां पर बाद में अनेक प्रकार के सूक्ष्म जीवाणु पनपते हैं। उसी प्रकार आंतों के सन्धि स्थल (diverticulae of the bowel), अवरोध और अवयवीय संरचनागत विकृति के कारण अनेक प्रकार के यीस्ट व पैयोजेनिक रोगाणुओं का संक्रमण होता है। इन रोगाणुओं के अवशिष्ट और टाक्सिंस रक्त संचार द्वारा अवचूषित होकर एण्टीजेन एलर्जन के रूप में उग्र प्रभाव डालकर शीतपित्त पैदा करते हैं।

(११) भावनात्मकजन्य शीतपित्त—कभी-कभी ईर्ष्या, द्वेष क्लेष, क्रोध, हिंसा, प्रतिहिंसा, अपमान, दुःख, शोक आदि विषम भावनात्मक एवं द्वन्द्वात्मक मानसिक स्थितियों में शरीर की हार्मोनल, परिवहन, स्नायुविक एवं पाचन संस्थान की क्रिया अव्यवस्थित हो जाती है। इनके प्रतिक्रिया स्वरूप शीतपित्त के लक्षण दीखते हैं। इसकी श्रेष्ठतम चिकित्सा योग, ध्यान एवं प्राणायाम है।

(१२) बाह्य पदार्थ सम्पर्कजन्य शीतपित्त—कीटनाशी रसायन साबुन, सर्फ के डिटर्जेण्ट, चमड़ा, रंग, पेण्ट्स, धातुयें, शृङ्गार प्रसाधन और अन्य पदार्थ त्वचा के सीधे सम्पर्क में आकर तीव्र एलर्जिक प्रतिक्रिया कर

शीतपित्त की स्थिति उत्पन्न करते हैं।

जो मातायें अपने नवजात शिशु को कम से कम एक साल तक दूध नहीं पिलाती हैं उन बच्चों में रोग प्रतिरोधक क्षमता कम होने से वे शीतपित्त से ग्रस्त रह सकते हैं। गाय के दूध से उत्पन्न शीतपित्त वाले बच्चों एवं वयस्कों के लिए सोयाबीन या बकरी का दूध एव दही प्रोटीन की दृष्टि से श्रेष्ठतम विकल्प है।

उपर्युक्त विभिन्न शीतपित्त के लक्षण आवश्यक नहीं है कि सभी में दीखें। जिनका शरीर पहले से विषाक्रान्त होता है, उनमें सहनशक्ति की क्षमता कम हो जाती है। फलतः उपर्युक्त शीतपित्त के रोग उभड़ते हैं। विषजन्य असह्यता का प्रतीक है—शीतपित्त जिसमें अरुचि, उबकाई, हृल्लास, अङ्गों में भारीपन, ग्लानि आदि लक्षण दीखते हैं।

## शीतपित्त को प्राकृतिक योग चिकित्सा—

प्राकृतिक चिकित्सा में शीतपित्त का मुख्य कारण शरीर में विजातीय विषाक्त पदार्थों का एकत्रित होना है। विजातीय पदार्थ के कारण रोग से लड़ने की क्षमता जीवनीय शक्ति की कमी हो जाती है। रक्त और लिम्फ स्रोतों के घटकों में विषम परिवर्तन होने लगता है।

शीतपित्त की प्राकृतिक चिकित्सा का मुख्य उद्देश्य शरीर से विजातीय एवं विषाक्त पदार्थों का निष्कासन कर शरीर को निर्मल बनाया जाता है। विजातीय पदार्थ के निष्कासन के साथ रोग प्रतिरोधक जीवनीशक्ति का सम्वर्द्धन तेजी से होता है। रोग निष्कासक जैविक आहार रक्त एव लिम्फ स्रोतों को स्वच्छ बनाया जाता है। इस प्रकार शीतपित्त से पूर्णतया मुक्ति मिलती है।

प्राकृतिक चिकित्सा में सर्वप्रथम पेडू का सेंक ५ मिनट देकर आधे घण्टे के लिए मिट्टी की पट्टी रखें। मिट्टी की पट्टी एवं सर्वांग मिट्टी स्नान के लिए स्वच्छ, छनी, कंकड़-पत्थर रहित मिट्टी को रात्रि में भिगो दें। सुबह मक्खन की तरह अच्छी तरह गूंद कर पट्टी बनायें। पट्टी के पश्चात् गरम सेंक क्रम से ३ बार पेडू और कमर का देकर वैज्ञानिक मालिश कर फिर एनिमा दें। एनिमा देने के पश्चात् नीम के पानी का सर्वांग वाष्प स्नान, गरम पाद स्नान, एपरसन बाथ मय जलीय मालिश के दें। उपर्युक्त सर्वांग उपचार रोगी की स्थिति के अनुसार निर्धारित किया जाता है। कभी-कभी रोगी को गरम उपचार अनुकूल नहीं आने पर ठण्डे उपचार में ठण्डी गीली चादर लपेट, सर्वांग मिट्टी का लेप, पंक स्नान, नीम के पानी का ठण्डा एपरसन बाथ, हाइड्रोमेसाज, ठण्डा स्पंज बाथ, ठण्डा कटि स्नान ठण्डा रीढ़ स्नान, समुद्र स्नान रोगी की स्थिति के अनुसार दिया जाता है। शीतपित्त में प्रायः गरम और अल्पोष्ण उपचार अनुकूल पड़ता है। वहीं सोरायसिस में गरम उपचार काफी उपयोगी पाया गया है। एक्जीमा में गरम ठण्डा उपचार लाभदायी है। उग्र शीतपित्त में नीम के पानी का एनिमा देने के पश्चात् नीम के पानी की गीली चादर लपेट शीघ्र राहत देती है। गीली चादर लपेट देने के लिए ३ कम्बल, २ बड़े तौलिये, २ छोटे तौलिये, १ सूती चादर और पानी की आवश्यकता होती है। दोनों कम्बलों को बिछाकर ऊपर से सूती चादर को आवश्यकतानुसार गरम या शीतल जल में भिगोकर निचोड़कर कम्बल पर बिछा दें। रोगी को निर्वस्त्र कर उस चादर पर लिटा दें। दोनों बड़े तौलिये को भिगोकर निचोड़ें। एक तौलिये को वक्षस्थल पर इस प्रकार रखें कि हाथों की त्वचा का स्पर्श छाती एवं उदर की पार्श्व त्वचा से नहीं हो। उसी प्रकार दूसरे तौलिये को पैरों में इस प्रकार लपेटें कि उनकी त्वचा का स्पर्श एक-दूसरे से न हो। फिर गीली चादर चारों तरफ से लपेट दें. फिर दोनों कम्बल से लपेट कर वायुरुद्ध कर दें। चेहरे को खुला रखें और सिर पर गीला तौलिया रखें। शरीर पिरामिड की ममी की तरह दीखने लगता है। गीली चादर का प्रथम प्रभाव शीतल, फिर सम, तृतीय प्रभाव गर्मी उत्पन्न करने वाला और अन्तिम प्रभाव विष निष्कासक होता है। इससे फेफड़े, गुर्दे, यकृत् एवं सर्वाधिक त्वचा की सक्रियता बढ़ती है, जिससे शरीर विष मुक्त होकर शीघ्र लाभ की अनुभूति करता है।

गरम पाद स्नान में निर्वस्त्र कर बाल्टी में रखे गरम पानी में पैर रखकर रोगी बैठाया जाता है। कम्बल से चारों तरफ से ढकें। सिर पर गीला तौलिया रखें। १५-२० मिनट पश्चात् पसीना आने पर सर्वांग स्नान करायें।

वाष्प स्नान के लिए वाष्प स्नान केबिन और एम-रसन स्नान के लिए पूर्ण टब स्नान, टब की आवश्यकता होती है। आवश्यकतानुसार सूर्य एवं समुद्र स्नान भी दिया जाता है। उपरोक्त सभी गरम उपचार के पश्चात् ठण्डे पानी से पूर्ण स्नान या फुहारा स्नान, ठण्डा कटि स्नान के लिए कुर्सीनुमा टब और रीढ़ स्नान के लिए रीढ़नुमा टब प्रयुक्त होता है।

उपर्युक्त सभी प्राकृतिक चिकित्सा प्रविधियों की जानकारी किसी प्राकृतिक चिकित्सा संस्थान से प्रत्यक्ष प्राप्त करें। शीतपित्त के रोगियों को छाछ का एनिमा दें। वाष्प स्नान और गीली चादर लपेट के पूर्व नीम अथवा नारियल तेल का अभ्यङ्ग स्नेहन करें। सरसों तेल, हल्दी एवं दूर्वारस मिलाकर अभ्यङ्ग करने से राहत मिलती है। स्नान भी नीम के शीतल या सौम्य जल से करें।

शीतपित्त के रोगियों को आहार के प्रति विशेष सावधान रहना चाहिए। तले भुने आहार, नमक, चाय, चीनी, काफी, गर्म मिर्च मसाले, बिस्कुट, ब्रेड, कृत्रिम पेय आदि उत्तेजक आहार का सर्वथा परित्याग करें। खट्टी चीजें भी नहीं खायें। जिन लोगों में हीमोग्लोबिन की मात्रा कम होती है उनमें आक्सीजन का वितरण अव्यवस्थित होता है, ऐसी स्थिति में नीबू, सन्तरादि खट्टे फल खाने से उसके एसिड का आक्सीकरण अच्छी तरह नहीं हो पाता है जिससे रक्त में अम्लता की मात्रा बढ़ने से शीतपित्त और उग्र हो जाता है। वैसे खट्टे फलों का प्रभाव प्रबल क्षारीय होता है क्योंकि खट्टे फलों में स्थित पोटाशियम साइट्रेट का आक्सीकरण होने से कार्बन डाई आक्साइड फेफड़े से बाहर निकल जाता है, पोटाशियम हाइड्रोजन और आक्सीजन से मिलकर प्रबल क्षार पोटाशियम हाइड्रोक्साइड बनाता है। उपर्युक्त परिशोधित आहार एवं तीव्र मिर्च मसाले शरीर में अम्लत्व को बढ़ाकर शीतपित्त की स्थिति को उग्र बना देते हैं। शीतपित्त के रोगियों को नाश्ते में पपीता एवं केला दें। दोपहर के भोजन में चोकरदार मोटे आटे की रोटी, उबली सब्जी, सलाद, अंकुरित मूंग, मोठ, चनादि अनाज और दही १५० से २०० ग्राम तक दें।

मध्याह्नकाल में—नैसर्गिक पोटाशियमयुक्त आहार में लौकी, तोरई, गाजर, पालकादि का रस, उबली शकरकन्द और आलू विशेष लाभदायक हैं।

सायंकालीन भोजन में—कुछ दिनों तक मौसमानुसार सब्जी एवं फलों में पपीता (अत्यन्त लाभदायक), गाजर, मूली पत्तागोभी, गांठगोभी, चीकू, केलादि क्षारीय आहार खाना चाहिये। इनकी सलाद भी बना कर खानी चाहिये।

सायंकालीन आहार सोने के ३ घण्टे पूर्व दोपहर के आहार की भांति करें।

सभी प्रकार के चर्म रोगों में सोयाबीन का छाछ अवश्य लें। सोयाबीन में प्रचुरता से लेसथिन पाया जाता है जो त्वचा को स्वस्थ एवं सशक्त बनाता है।

योग चिकित्सा में चन्द्रभेदी प्राणायाम, सूर्य नमस्कार, उज्जायी प्राणायाम, उदरशक्ति विकासक क्रिया, वक्षस्थल शक्ति विकासक क्रिया, पश्चिमोत्तानासन, अर्धमत्स्येन्द्रासन, विस्तृत पादासन, तानासन, धनुरासन, चक्रासन, पवन मुक्तासन, शलभासन, भुजंगासन, सर्वांगासन, हलासन, मत्स्यासन, ॐ प्राणायाम तथा अन्त में शवासन करें।

उपर्युक्त योग की समस्त प्रविधियों को किसी योग्य चिकित्सा विशेषज्ञ के निदेशन में करें अन्यथा लाभ के बदले हानि हो सकती है। उपर्युक्त यौगिक क्रियाओं से रक्त में आक्सीजन धारण करने की क्षमता बढ़ती है, रक्त का शुद्धिकरण होता है, त्वचा की प्रतिरोधक क्षमता वृद्धि होती है और रक्त का अम्लीय प्रभाव कम होकर शीतपित्त के लक्षण दूर होते हैं एवं अन्त में शीतपित्त से पूर्णतया मुक्ति मिलती है।

**शीतपित्त से बचाव—**

(१) आहार में अम्लीय पदार्थ जैसे मांस, मछली, तले, भुने आहार, गर्म मिर्च मसाले, जीवन विरोधी एण्टीबायोटिक्स, निरर्थक टीके, बिस्कुट, ब्रेड, चाय, चीनी, काफी, धूम्रपान, शराब और अन्य सिंथेटिक एवं कन्फेक्शनरी आहार से बचें।

(२) क्षारीय आहार, ताजे फल एवं सब्जियों को सलाद के रूप में कच्चा खाने की आदत डालें। आहार अंकुरित अनाज, छाछ, दूध, दही का प्रयोग अवश्य

करें। सब्जी को तलने-भूनने की अपेक्षा उबालकर लें।

(३) गरम पानी त्वचा के ऊपर आये विजातीय पदार्थ को घोलकर बाहर निकालता है, रोम कूप को स्वच्छ बनाता है। ठण्ड के दिनों में त्वचा की स्वच्छता के लिए सर्वप्रथम गरम पानी से घर्षण कर स्नान करें। तत्पश्चात ठण्डे पानी से स्नान करें। गरम पानी से स्नान करने पर विजातीय ठोस पदार्थ शीघ्रता से घुल कर बाहर निकलता है। त्वचा के ठीक नीचे त्वग्वसा ग्रन्थियां (Sebaceous glands) होती हैं जिनसे स्नेह स्रावित होकर त्वचा पर एकत्रित होकर स्वेद नलिकाओं के मुख को बन्द कर देता है। इस प्रक्रिया से त्वचा द्वारा श्वसन और स्वेदन क्रिया मे बाधा पड़ती है। अतः इसकी स्वच्छता के लिए गर्म पानी से स्नान, शुष्क एवं आर्द्र घर्षण स्नान और सादे पानी से प्रतिदिन सर्वांगीन स्नान लें। त्वचा स्वच्छ-स्वस्थ होती है।

(४) वायु स्नान तथा सूर्य स्नान हेतु निर्वस्त्र अथवा सूती पतले परिधान में धूप में बैठें। इससे वायु स्नान और धूप स्नान दोनों का लाभ मिलता है। वायु एवं धूप स्नान से त्वचा का कठोरीकरण होता है। किसी भी वातावरण से लोहा लेने की क्षमता विकसित होती है एवं समस्त चर्म रोगों से बचाव के लिए यह उत्तम प्रविधि है।

(५) प्रतिदिन एक ग्लास गाजर और एक ग्लास ककड़ी या लौकी का रस लेने से त्वचा का स्वास्थ्य सम्वर्द्धन होता है। वैसे सभी प्रकार की सब्जियों का रस मौसमानुसार लें। सब्जियों के रस में स्थित विटामिन ए. करोटिन, थायमिन. रिबोफ्लेविन, वायसिन, एस्कार्बिक एसिड, क्लोरीन सिलकान, सल्फर, पोटाशियम और अन्य विटामिन्स, खनिज लवण एवं एन्जाइम्स त्वचा को सशक्त तथा स्वस्थ बनाते हैं। त्वचा के स्वास्थ्य का जीवन आधार है ताजा रसाहार।

(६) आहार एवं औषधि विशेष से होने वाले शीतपित्त में उक्त आहार एवं औषधि का सर्वथा परित्याग करें।

---

# योनि कण्डु

वैद्या (श्रीमती) दर्शना डी बल एम० डी० (आयु०)
आयुर्वेदिक कन्सलटन्ट. दीवानपुरा, मेन रोड,
राजकोट ३६०००१ (गुजरात)।

कफज योनि में खुजली आना एक महत्वपूर्ण लक्षण है। कफकारक द्रव्य के अधिक सेवन से बढ़ा हुआ कफ यदि स्त्री की योनि को दूषित कर दे तो वह पिच्छिल शीतल, खुजली से युक्त और अल्प वेदना वाली होती है।

(च० चि० ३०/१३)

हमारे आचार्यो ने ये भी कहा है कि वात-वेदनाकारक, पित्त-दाहकारक, कफ-कण्डूकारक होता है। आचार्यो ने अन्य भी जो योनि का वर्णन किया है इसमें एक अचरण योनि भी है जिसका लक्षण बताते हुए कहा है कि जो स्त्री अपने योनि प्रदेश को जल आदि से सफाई नहीं करती है तो कीड़े पड़ने और योनि में खुजली करने लगती है (च० चि० ३०/१८)।

आचरणा योनि में खुजली के कारण स्त्री मैथुन की इच्छा से पुरुष को अधिक चाहने लगती है।

चरकाचार्य के मतानुसार योनिकण्डु की चिकित्सा में गाय के पित्त में अथवा मछली के पित्त में छण्टी के कपड़े की २१ बार भावना देकर योनि के अन्दर रखने के लिए दे अथवा नो सुराविष्ट चूर्ण को मधु में मिला कर योनि में रखने से आचरणा योनि शुद्ध हो जाती है। आर्तवह स्रोतस का शोधन भी हो जाता है। हरिद्रा एवं दारुहरिद्रा का कल्क बनाकर योनि में रखने से खुजली नष्ट होती है। पञ्च वल्कल क्वाथ से योनि प्रक्षालन एवं कार्बं तैल को लगाना। ७ दिन करने से अवश्य लाभ प्राप्त होगा। ★

# एक्जिमा—प्राकृतिक एवं योग चिकित्सा

डा० मन्जु नीरज महिला चिकित्साधिकारी
डा० नागेन्द्र कुमार नीरज वरिष्ठ चिकित्सक
श्री महावीर योग प्राकृतिक चिकित्सा एवं शोध संस्थान
श्री महावीर जी-३२२२२० (सवाई माधोपुर) राज०

★ एक्जिमा पर ज्ञानवर्धक प्रकाश डालकर नैसर्गिक विस्तृत विवेचन देकर डा० मन्जु नीरज ने अपनी सैद्धान्तिक एवं चिकित्सकीय शक्ति का दर्शन कराया है।
— वैद्य किरीट पण्ड्या (विशेष सम्पादक)।

एक्जिमा ग्रीक शब्द एक (ek) और जीमो (zeo) से मिलकर बना है। एक का अर्थ बाह्य (out) और जीमो का अर्थ नन्हें-नन्हें फोड़ा-फुन्सी (boils) होता है। अर्थात् त्वचा के बाह्य हिस्से पर छोटे-नन्हें फोड़े फुन्सियों के समूह को एक्जिमा कहते हैं।

आयुर्वेद की दृष्टि से त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) रक्त, लसिका त्वचा और मांस दूषित होने से एक्जिमा होता है। बाह्य विक्षोभ एवं आन्तरिक विषाक्तता के कारण त्वचा की तीव्र प्रतिक्रिया ही एक्जिमा के रूप में हमारे सामने परिलक्षित होती है। एक्जिमा की ३ स्थितियां हैं—१. तीव्र (acute), २. मध्यम (Sub-acute), एवं ३. जीर्ण (chronic)।

पादतली और हथेली को छोड़कर एक्जिमा की तीव्र स्थिति कहीं भी प्रकट हो सकती है। इसमें तीव्र कण्डु के कारण छिलड़ दल दीखते हैं, जिनमें मूल भाग सूज जाता है। तीव्र एक्जिमा की स्थिति में सूजन और रक्तिमायुक्त छाले दीखते हैं। ये तेजी से फूट जाते हैं एवं इनमें से काफी मात्रा में सीरम स्राव निकलता है। पूय वाली फुन्सियों और छाले की स्थिति के कारण ही इन्हें एक्जिमा कहा जाता है।

मध्यम स्थिति में त्वचा के बाह्य स्तर पर शृङ्गी स्तर एवं रक्तवाहिनी विवर्णता के लक्षण दीखते हैं। इसमें से भी रक्तिमायुक्त स्राव निकलता है। नन्हीं-नन्हीं पूय वाली फुन्सियां या छाले एक समूह के रूप में होते हैं प्रारम्भिक स्थिति में इसमें सूजन नहीं होती है। अंगुलियों से स्पर्श करने पर रूक्षता की अनुभूति होती तथा छालों के फूटने पर सीरम स्राव होता है। ये सूखकर पित्ताभ छिलड बन जाते हैं। अत्यधिक स्राव की स्थिति को आर्द्र या वीपिंग एक्जिमा कहते हैं। जीर्ण एक्जिमा की स्थिति में स्राव तो कम हो जाता है, कभी-कभी बन्द हो जाता है। परन्तु त्वचा पर बड़े-बड़े असामान्य (parakera'otic) शृङ्गी छिलड़दल, त्वक् शोथ, तीव्र कण्डु जलन, चुभन, पर्तों का निकलना, चुभती वेदना के लक्षण परिलक्षित होते हैं। त्वचा में विजातीय तत्व बढ़ने से त्वचा की मोटाई बढ़ जाती है। समय समय पर उपचार नहीं होने से जीर्ण एक्जिमा चिरकालीन एक्जिमा में परिवर्तित हो जाता है। ऐसी स्थिति में संक्रमित त्वचा अतिशय मोटी हो जाती है। जैसे कि काई (Lichenification) जमी हो। इसका रंग परिवर्तित हो जाता है। एक्जिमा तथा डर्मेटाइटिस में काफी समानता है। डर्मेटाइटिस का अधिकांश कारण व्यावसायिक है। डर्मेटाइटिस अन्तस्त्वचा और बाह्य त्वचा का संक्रमण है, जबकि एक्जिमा को मुख्यतः बाह्य त्वचा की प्रतिक्रिया माना जाता है।

आधुनिक आयुर्विज्ञान भी एक्जिमा को रोग न मानकर त्वचा की प्रतिक्रिया मानता है। यह प्रतिक्रिया संक्रमण, सम्पर्क एलर्जेन और भावनात्मक परिवर्तन कारण होता है।

**एक्जिमा के कारण —**

यह प्रतिक्रिया निम्न परिस्थिति के कारण होती है। एक्जिमा के कारणों के आधार पर एक्जिमा का वर्गीकरण—

(१) बाह्य कारण—१. सम्पर्कजन्य एक्जिमा, २. प्रारम्भिक उत्तेजनाजन्य एक्जिमा, ३. व्यावसायिक सम्पर्कजन्य एक्जिमा, ४. एलर्जिक एक्जिमा, ५. परावर्तित संवेदनशीलताजन्य एक्जिमा, ६. अन्तःवस्त्र अंगियाजन्य एक्जिमा, ७ अन्य एलर्जिक एक्जिमा।

(२) आन्तरिक कारण—(अ) एटापिक एक्जिमा, (आ) सेबोरिक एक्जिमा, (इ) डिसकायड एक्जिमा, (ई) गुरुत्वाकर्षणी एक्जिमा।

(३) संक्रमणजन्य एक्जिमा। (४) पैतृक एक्जिमा। (५) भावनात्मक एक्जिमा। (६) शिशु एक्जिमा। (७) आहारजन्य एक्जिमा। (८) शिरास्फटिक एक्जिमा। (९) आन्तरिक विषाक्तताजन्य एक्जिमा। (१०) गुप्तांगों का विशिष्ट एक्जिमा। (११) बुढ़ापे का एक्जिमा। (१२) अज्ञात कारणजन्य एक्जिमा।

(१) सम्पर्कजन्य एक्जिमा— जिन लोगों की त्वचा अति नाजुक एवं संवेदनशील होती है। अधिकांशतः उन्हीं में सम्पर्कजन्य एक्जिमा के लक्षण दीखते है। त्वचा की यह संवेदनशीलता भी दो प्रकार की होती है—१. बचपन से ही नैसर्गिक संवेदनशीलता तथा २. बाह्य रसायन या विषजन्य संवेदनशीलता।

इन दोनों ही स्थितियों में त्वचा की ऊतक कोशिकाएँ एवं रक्तवाहिनियां संवेदनशील होती हैं। सम्पर्कजन्य एक्जिमा के भी पांच प्रभेद हैं—

(१) प्रारम्भिक उत्तेजनाजन्य एक्जिमा —सुगन्धित पदार्थ, इत्र, सौन्दर्य प्रसाधन के समान, टायलेट प्रसाधन आदि अनेक पदार्थ प्रतिक्रिया कर प्रारम्भिक उत्तेजनाजन्य एक्जिमा पैदा करते हैं। हालांकि इन पदार्थों की एलर्जिक प्रतिक्रिया अत्यल्प होती है फिर भी इनके मृदुक्षोभक प्रभाव भी अस्थायी एक्जिमा पैदा करते हैं। अतः जिस भी पदार्थ का क्षोभक प्रभाव पड़े, उससे बचें।

(२) व्यावसायिक सम्पर्कजन्य एक्जिमा—फोटोग्राफर, सीमेंट और चूने का काम करने वाले मजदूर, रगाई का काम करने वाले पेण्टर, निकिल और क्रोमियम कलई आदि का काम करने वाले, तेल का काम करने वाले, चीड, देवदार एवं साल लकड़ी का कार्य करने वाले, साबुन, कार्बोलिक एसिड, किरासिन तेल, स्प्रिट आदि के सम्पर्क में ज्यादा देर तक त्वचा रहने से व्यावसायिक सम्पर्कजन्य एक्जिमा होते हैं। जिन लोगों की त्वचा अत्यधिक संवेदनशील होती है उन्हें ही व्यावसायिक सम्पर्कजन्य एक्जिमा होता है।

(३) एलर्जिनजन्य एक्जिमा—अनेक प्रकार के

शिशु एक्जिमा

सम्पर्कजन्य एक्जिमा

एलर्जेन तत्वों से एक्जिमा हो जाता है। किसी प्रकार का कार्य करते, खेलते, कपड़े पहनते, कभी भी इस प्रकार का एक्जिमा हो जाता है। औषधियों के प्रयोग से भी एलर्जिक एक्जिमा होता है। इस प्रकार का एक्जिमा अकस्मात होता है और एक अङ्ग से दूसरे अङ्ग में शीघ्रता से फैलता है। इस प्रकार के सम्पर्क जन्य एक्जिमा कभी-कभी अत्यन्त जटिल रूप धारण कर लेता है तो कभी स्वतः ही ठीक हो जाता है।

(४) परावर्तित संवेदनशीलताजन्य एलर्जिक एक्जिमा—हाथों के कंगन या चूड़ियां, कान और नाक के छल्ले भी एक्जिमा पैदा करते हैं। आंख तथा जननांग अत्यन्त नाजुक अङ्ग है। अतः कभी-कभी इन अङ्गों में विचित्र ढंग से परावर्तित एक्जिमा के लक्षण दीखते हैं। एलर्जेन द्वारा अंगुलियों के प्रभावित होने से आंख एवं जननांगों में सूजन आ जाती है। नेल पालिश से उत्पन्न एक्जिमा (primula eczema & nail varnish eczema) का परिवर्तित प्रभाव आंखों पर होता है। आंखें भयंकर रूप से सूज जाती हैं। एक बार इस संवेदनशील प्रतिक्रिया का प्रभाव होने पर कभी-भी नेल पालिश लगाने पर इस प्रकार के लक्षण परिलक्षित होते हैं। इसी प्रकार कान के छल्ले, कुर्तों के निकिल के बकल, चेहरे पर सम्पर्कजन्य परावर्तित एक्जिमा पैदा करते हैं। ऐसे एक्जिमा का निदान नहीं हो पाने के कारण उपचार करने के बावजूद भी लाभ नहीं होता है। क्योंकि इसका कारण कहीं और होता है एवं उपचार किसी और का चलता है।

(५) अन्तःवस्त्र अंगियाजन्य एक्जिमा—अन्तःवस्त्र अङ्गिया, बनियान, जांघिया, कच्छा, पट्टी, चोली आदि अन्तरांग वस्त्रों के गन्दे एवं गीले होने के कारण अङ्गियाजन्य एक्जिमा होता है।

अन्तःवस्त्र पसीना से गीला होने के कारण वहां का वातावरण नमीयुक्त गरम हो जाता है। गरम एवं गीले वातावरण के कारण त्वचा के जीवाणु अन्तःवस्त्रों में मूत्राणुओं और पसीने के यूरिया एवं यूरिक एसिड को विघटित कर देते हैं। विघटित पसीना तथा मूत्राणु क्षोभक का कार्य करते हैं। इस क्षोभक प्रभाव से त्वचा रूक्ष, शुष्क एवं संवेदनशील हो जाती है। इस एलर्जिक प्रतिक्रिया से नितम्ब, कूल्हा, अन्य गुप्तांगों, छाती, पीठ एवं पेट पर लाल-लाल चकत्ते हो जाते हैं। चड्ढी में होने वाली एलर्जिक प्रतिक्रिया 'नैपीरैश' कहलाती है। इस एलर्जिक एक्जिमा से मुक्ति के लिये अन्तःवस्त्र अङ्गिया, चड्ढी, बनियान, चोली को प्रतिदिन साफ कर धूप में अवश्य सुखायें। यह एकबार नयी खरीदने के बाद उसे साफ करने के पश्चात् ही काम में लें। ध्यान रहे साबुन का अंश बिल्कुल न रहने पाये।

(६) अन्य एलर्जिक सम्पर्कजन्य एक्जिमा—कुछ एण्टी हिस्टामिन औषधियां तथा संज्ञाहर (surface anesthetics), सोफरामाइसिन सल्फोनामाइड्स, नियोमाइसिन, स्टराइड पेन्सिलिन आदि औषधियों का स्थानीय प्रयोग तीव्र क्षोभक का कार्य कर एक्जिमा पैदा करते हैं।

सोमल, लेनोलिन, जमालगोटा का तेल (क्रोटन आयल), लाल मिर्च कार्बोलिक एसिड, प्रोकेन, पिक्रिक एसिड, गन्धक, मरक्युरियल साल्ट, क्राइसोरबिन, आयोडिन तथा टार आदि के लगातार प्रयोग से ये विक्षोभक का कार्य कर एक्जिमा पैदा करते हैं।

कुछ बच्चो में दूध विशेषकर गाय का दूध एलर्जिक प्रतिक्रिया कर एक्जिमा पैदा करते हैं। ऐसे बच्चों को प्रोटीन की दृष्टि से बकरी या सोयाबीन का दूध या छाछ दें। श्रेष्ठतम दूध मां का होता है। ऐसे शिशुओं में उम्र वृद्धि के साथ एक्जिमा के रोग लक्षण भी लुप्त हो जाते हैं।

२. आन्तरिक कारणजन्य (दोषज) एक्जिमा—

(अ) रचनागत एटापिक एक्जिमा यह प्रायः बच्चों में होता है। इसमें बच्चों की त्वचा संक्रमित होकर लाल हो जाती है। उनमें नन्हें-नन्हें दाने निकल आते हैं। धीरे-धीरे इसमें पूयमय दल (Crusts) और शल्क (Scales) उभर आते हैं। विशेष कर रात्रि में तीव्र खुजली चलती है। खुजली करने से खरोंच हो जाती है। एटोपिक एक्जिमा मुख्य रूप से सिर के अग्र भाग, चेहरे के अङ्ग, गलादि, कोहनी तथा घुटने के आसपास (flexor area of the arms & legs) में होता है। छः माह से कम उम्र वाले शिशुओं में एटापिक एक्जिमा नहीं होता है। इस एक्जिमा को एटा-

पिक डर्मेटाइटिस भी कहते हैं। एटोपिक एक्जिमा से पीड़ित बच्चों को चेचक तथा यक्ष्मादि के टीके लगाना अत्यन्त घातक हो सकता है। टीकों में स्थित विशिष्ट प्रकार के कीटाणु विषाणु शरीर की प्रतिरोध संवेदनशीलता को बढ़ाकर घातक जानलेवा प्रतिक्रिया कर सकते हैं।

(आ) सीबोरिक एक्जिमा– इसे सामान्य भाषा में डैण्ड्रफ रोग भी कहते हैं। इसमें सिर की त्वचा पर सफेद रंग डेन्ड्रफ रूसी या स्कर्फ जम जाती है। इसमें प्रथम खारिश होती है, खुजाने से वहां की त्वचा खुश्क, रूक्ष एवं लाल हो जाती है। परतें निकलने लगती हैं, बाल झरने लगते हैं तथा उनके परावर्तित प्रभाव से पलकों, ओष्ठ, नासिका कर्ण का पश्च भाग स्तनों के नीचे नाभि तथा उरुमूल के पास एक्जिमा परिलक्षित होता है। इसमें खुजली, जलन, चुभती वेदना तो कम होती है, परन्तु वहां की त्वचा काफी खुश्क हो जाती है। इनके नन्हें-नन्हें दाने दूर तक फैले होते हैं, जिनमे द्रव का स्राव, छिलड़ तक कंडु के लक्षण होते हैं।

सीबोरिक एक्जिमा उन अङ्गों पर विशेष रूप से होता है जहां स्नैहिक ग्रन्थियां अधिक होती हैं तथा त्वचा स्नेह सीबम का स्राव अधिक होता है।

युवकों में सीबोरिक एक्जिमा के दाने काले, सुर्ख, मृदु, नन्हें-नन्हें फुन्सी के रूप में रोम के चारों ओर होते हैं। पीठ, छाती, भवों और सिर पर इस प्रकार फैले होते हैं कि कभी-कभी सोराइसिस का भ्रम देते हैं। सर्वप्रथम सामान्य रोग सीबोरिक डर्मेटाइटिस होता है, फिर जिनकी रोग प्रतिरोधक क्षमता काफी न्यून होती है। उनमें यह सीबोरिक एक्जिमा में परिवर्तित हो जाती है। इनमें कभी-कभी स्ट्रेप्टोकोकल और स्टैफलोकोकल के संक्रमण भी परिलक्षित होते हैं।

(इ) डिस्कायड एक्जिमा—सारे शरीर पर होने वाले मय पूयदल शल्क वाले उभार को डिस्कायड एक्जिमा कहते हैं। इसमें कभी-कभी अतिशय कंडु जलन व चुभती वेदना होती है। इसे प्राय. पहचान लिया जाता है। इसमें त्वचा खुश्क और क्षोभक पदार्थों के प्रति अत्यन्त संवेदनशील हो जाती है। ठण्डी, गर्मी और उमस भरे वातावरण के प्रति भी संवेदनशीलता बढ़ जाती है और कण्डु होती है। ऐसे रोगियों में कंडु के प्रति त्वचा की सहनशीलता काफी कम हो जाती है तथा संवेदनशीलता बढ़ जाती है। यही कारण है कि डिस्कायड एक्जिमा में स्पर्श मात्र से खुजली होती है।

गुरुत्वाकर्षणीय या पोम्फोलिक्स एक्जिमा—इस प्रकार का एक्जिमा हृदय से दूरस्थ लटकने वाले अङ्गों जैसे हाथ और पैरों में होता है। अन्य लक्षण प्रायः एक जैसे होते हैं।

(३) संक्रमणजन्य एक्जिमा प्रायः एक्जिमा रोग संक्रामक नहीं होता है। परन्तु एक्जिमा में त्वचा खुश्क होकर फट जाती है, जिससे उसमें जख्म या घाव पैदा हो जाते हैं। फलतः एक्जिमा में द्वितीयक संक्रमण हो जाता है। एक्जिमा संक्रमित वह अङ्ग जो ज्यादा नम और उष्ण (Moist & warm) रहते हैं उनमें संक्रमण तीव्रता से होता है। जलन एवं चुभती वेदनायुक्त एक्जिमाजन्य त्वचा को खुजलाने से खुरच जाती है। उस खुरच चीर में हानिकारक यीस्ट, फंजाई फंगस कीटाणु व विषाणु संक्रमित हो जाते हैं। मधुमेह जन्य एक्जिमा में यीस्ट संक्रमण अधिक होता है। क्योंकि यीस्ट संक्रमण के लिये शर्करा होना आवश्यक है। वैसिनिया और हर्पिस सिम्पलेक्स के जीवाणु (वायरस) सीधे एक्जिमायुक्त त्वचा को संक्रमित करते हैं। स्ट्रेप्टोकोकस औरियस और अन्य स्ट्रेप्टोकोकस के कीटाणुओं के संक्रमण से भी एक्जिमा होता है। एक्जिमा के स्राव में स्थित अन्य कीटाणु स्टेफलोकोकस समीपस्थ सम्पर्कित त्वचा को संक्रमित कर एक्जिमा पैदा कर उसके कुल क्षेत्र को बढ़ा देता है। उपर्युक्त संक्रमण जन्य स्थिति में लिम्फ वाहिनियों का संक्रमण लिम्फोनाइटिस, संयोजी उत्तकों का संक्रमण सेल्युलाइटिस, फोड़ा और घाव में हो जाते हैं। इनका उपचार होना अत्यन्त आवश्यक है।

(४) पैतृक एक्जिमा—पैतृक जन्य एक्जिमा विशेषकर बचपन से ही होता है। बच्चे इस एक्जिमा से ज्यादा ग्रस्त होते हैं। माता-पिता अथवा उनके वंशज एक्जिमा, दमा, आर्टिकेरिया, माइग्रेन, एटोपिक एक्जिमा अथवा हे-फीवर से ग्रस्त हों तो उनके बच्चों

विजमा हो सकता है। यदि पूर्वजों में इस रोग तहास है तो बच्चे एक्जिमा से ग्रस्त हो सकते ठीक इसके विपरीत भी हो सकता है।

(५) भावनात्मक एक्जिमा–भावनाओं से एक्जिमा गहरा सम्बन्ध है। एक धर्मपरायण युवती जब भी में जाती, उसे तीव्र असह्य एक्जिमा हो जाता, से निकलते ही वह ठीक हो जाती थी। काफी र करने के पश्चात् भी वह स्वस्थ नहीं हो सकी। मनोविश्लेषक निदान करने पर पता चला कि स संस्थान में कार्यरत थी. वहां उसने गलत ढंग पैसे अर्जित किये थे। मन्दिर में पहुँचते ही त्मिक वातावरण के कारण अन्त:प्रज्ञा उसके इस आचरण के लिये निरन्तर कोसती रहती, उसके म से द्वन्द्व पैदा होता। अन्त:स्रावी ग्रन्थियां एवं उत्तेजित होकर विक्षोभक का कार्य करते थे। मस्वरूप असह्य एक्जिमा पैदा होता। उसकी एक चकित्सा अपने कुकृत्यों की स्वीकृति ही थी और अपने संस्थान के संचालक मंडल के सामने की। साथ-साथ वह युवती हमेशा के लिये रोग से गई। एक अन्य घटना—एक युवती अपने प्रेमी में पागल थी, परन्तु जब उसे पता चला कि उसका क अन्य युवती से प्रेम करता है तो उसका दीवानापन शरीर की अन्त:प्रतिक्रिया के कारण एक्जिमा में परिवर्तित हो गया, धीरे-धीरे उसकी ओं का समाधान होता गया। उसी अनुपात में ही एक्जिमा से भी मुक्त हो गई।

न घटनाओं से ज्ञात होता है कि एक्जिमा मनोरोग है। मन के विक्षुब्ध होते ही स्नायविक बढ़ जाती है। अन्त:स्रावी ग्रन्थियां विक्षुब्ध। हार्मोनल एवं स्नायविक अव्यवस्था के त्वचा की प्रतिरोधक क्षमता कम होती है तथा शीलता बढ़ जाती है। अन्त:प्रतिक्रिया विक्षोभक कर एक्जिमा पैदा करते हैं। ऐसे रोगियों का एवं उपचार मानसिक दृष्टि से करना चाहिये। योग,प्राणायाम, स्व-विश्लेषण के अतिरिक्त प्राकृ-चिकित्सा की प्रविधियां अपनाने से [illegible] लाभ। रोगी को द्वन्द्व, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लोभादि दुष्प्रवृत्तियों से मुक्त कराना अत्यन्त आवश्यक है। रोगी के जीवन क्रम, आदत-आहार शैली आदि में सम्यक परिवर्तन करना चाहिये।

(६) शिशु एक्जिमा– इस प्रकार का एक्जिमा प्राय: २ माह से २ साल के बच्चों में होता है। इसमें गाल व ललाट विशेष रूप से संक्रमित होते हैं। इन अंगों में तीव्र उत्तेजना होती है. ऐसे बच्चों को किसी प्रकार का टीका न दें। बच्चों में उन अङ्गों में जो उष्ण एवं नम होते हैं, वहां एक्जिमा होता है। सभी सन्धियों के निम्नाभिमुख मोड़ वाले भाग जो किंचित उष्ण व आर्द्र रहती हैं वहां पर एक्जिमा होने की सम्भावना अधिक होती है। इस प्रकार के एक्जिमा को फ्लेक्सुरल एक्जिमा कहते हैं। इसका दूसरा नाम बेसनियर्स प्युरिगो भी है।

(७) आहारजन्य एक्जिमा— जौ, गेहूं, जई तथा राई में स्थित ग्लूटेन नामक प्रोटीन के एलर्जिक प्रभाव से भी एक्जिमा हो जाता है। अत: एक्जिमा वाले रोगियों को ग्लूटेन मुक्त आहार चना, बाजरा, ज्वार, मडुआदि के बने आहार दें। कुछ अन्य आहार जिनका वर्णन शीतपित्त में किया गया है के कारण एक्जिमा हो सकता है।

(८) शिरा स्फटिक एक्जिमा- —पैरों की शिरायें फैलकर मोटी हो जाती हैं। फलत: रक्तसंचार की क्रिया अवरुद्ध होती है। यही वेरीकोस वेन्स का मुख्य कारण है। स्फटिक शिरा ही बाद में चलकर एक्जिमा में रूपांतरित हो जाती है। इस एक्जिमा का उपचार वेरीकोस वेन्स (स्फटिक शिरा) की तरह करें। टखनों से घुटने तक लपेट कर बांधना, गरम पाद स्नान, स्थानीय मिट्टी की लेप व वाष्प लपेट, पैरों को दबाना, पैरों को उठाकर स्लेंटिंग बोर्ड पर सोना, सर्वांगासन आदि उपचार लाभदायक हैं।

(९) आन्तरिक विषाक्तताजन्य एक्जिमा—कोष्ठबद्धता, अजीर्ण, अतिश्रम, मांसाहार, विरुद्ध भोजन, आंतों के परजीवी, सूक्ष्म जीवाणु एवं कृमि के कारण आंत्रिक टाक्सिमिया की स्थिति उत्पन्न होती है। इस प्रकार आन्तरिक विष एवं प्रतिविष जीव विष विक्षोभक का कार्य कर एक्जिमा पैदा करते हैं।

सन्धिवात, गठिया के कारण आमाशय, यकृत, क्लोम ग्रन्थि, प्लीहादि अन्तरांगों की क्रिया दूषित होने, एल्ब्युमिनूरिया, गुर्दे के रोग, गर्भावस्था तथा स्तन्यपानकाल के पश्चात कभी-कभी आंतरिक विषमयता के कारण एक्जिमा होने की सम्भावना बढ़ जाती है।

(१०) गुप्तांगों का विशिष्ट एक्जिमा—कान के पीछे, भग, योनि तथा चीर का एक्जिमा कष्टदायक एवं दुःसाध्य है। भग योनि के एक्जिमा का मूल कारण योनि तथा गर्भाशय ग्रीवा के निरन्तर संक्रमणजन्य स्राव की उत्तेजना है। यह उत्तेजना विक्षोभक का कार्य कर एक्जिमा पैदा करता है। इसी प्रकार बेसीलस बी. कोलाई की उपस्थिति, मूत्र शर्करा, अतिसार, आंत्रशोथ, गुदवर्ति, योनिवर्तिका, विक्षोभक का प्रयोग, अर्श तथा विभिन्न फंगस का संक्रमण गुप्तांगों के विशिष्ट कष्टसाध्य एक्जिमा पैदा करते हैं।

(११) बुढ़ापे का एक्जिमा—वृद्ध लोगों में त्वचा अत्यधिक नाजुक और कोमल हो जाती है। त्वचा की प्रतिरोधक क्षमता भी कमजोर हो जाती है। मधुमेह तथा खुजली जिन लोगों में होती है उन्हें एक्जिमा होने की सम्भावना बढ़ जाती है। उपर्युक्त परिस्थितियों के कारण वृद्ध लोगों की त्वचा में किसी भी विक्षोभक के कारण एक्जिमा हो सकता है।

(१२) एक्जिमा के अन्य अज्ञात कारण—बाह्य त्वचा का किसी प्रकार का गट्ठा या पैच तथा संक्रामक सीमित बिन्दु कुछ समय के पश्चात एक्जिमा का रूप धारण कर लेते हैं। शरीर की जैव रासायनिक हार्मोनल प्रक्रिया विक्षुब्ध होने से ऐसा होता है। यदि वह पैच सम्पर्कजन्य एक्जिमा के समीप हो तो फंगस वायरस अथवा कीटाणुजन्य संक्रमण या वेरीकोस की स्थिति में एक्जिमा में रूपांतरित हो जाता है। विशेष कर दाद अथवा कोई भी पैच तीव्र विक्षोभक प्रतिक्रिया के कारण एक्जिमा का रूप धारण कर लेता है।

**एक्जिमा का निसर्गोपचार—**

उपर्युक्त सभी प्रकार के एक्जिमा का मूल कारण शरीर में विजातीय विषाक्त पदार्थों का संचय है। विजातीय विषाक्त पदार्थों के संचयन से रोग प्रतिरोधक क्षमता जीवनीय शक्ति का ह्रास होता है। त्वचा की प्रतिरोधक क्षमता कमजोर होती है। रोगाणुओं के प्रति संवेदनशीलता बढ़ जाती है। उपर्युक्त वर्णित सभी प्रकार की विक्षोभक परिस्थितियां त्वचा को उत्तेजित कर एक्जिमा पैदा करती हैं। एक्जिमा की प्राकृतिक चिकित्सा में त्वचा की प्रतिरोधक क्षमता की वृद्धि की जाती है। शरीर में एकत्रित विजातीय पदार्थों का निष्कासन किया जाता है। आहार में सम्यक परिवर्तन कर रक्त लिम्फ संचार को व्यवस्थित किया जाता है।

सर्वप्रथम रोगी को उदर एवं कमर का सेक देकर पेड़ू पर मिट्टी की पट्टी रखें। गरम ठण्डा सेक क्रम से तीन बार देने के पश्चात् कमर व उदर की हल्की स्नायु-विन्यासक वैज्ञानिक मालिश की जाती है। फिर डेढ़ लीटर नीम के पानी में एक नींबू निचोड़ कर एनिमा दें। एनिमा देने के पश्चात् नीम के पानी का गरम पाद स्नान, गीली चादर लपेट, वाष्प स्नान अथवा गर्म पूर्ण टब एमर्शन स्नान में से कोई एक चिकित्सा रोगी की स्थिति के अनुसार निर्धारित की जाती है। चिकित्सा के पश्चात् १५ से ३० मिनट पूर्ण विश्राम करें। फिर आहार में बाजरा, ज्वार, मडवा आदि मिले अनाजों की रोटी, लौकी, टिण्डा, तोरई, ककड़ी आदि की सब्जी, गाय, भैंस, बकरी अथवा सोयाबीन की छाछ लें। कच्ची सलाद में ककड़ी, खीरा, गाजर, टमाटर, मूली, पत्तागोभी, गांठगोभी, फूलगोभी, टिण्डा, तोरई को काटकर लें। सलाद पर्याप्त मात्रा में २५० ग्राम लें। जौ, जई, गेहूँ आदि लस-लसे पदार्थों का प्रयोग एक्जिमा और चर्म रोगों में नहीं करें। लस-लसे पदार्थ में ग्लूटेन नामक एक विशेष प्रोटीन होता है जो एक्जिमा और अन्य चर्म रोग की वृद्धि में सहायक है। खाने के २-३ घण्टे पश्चात् लौकी, गाजर, ककड़ी, तोरई तथा पालक टमाटर का मिश्रित अथवा पृथक-पृथक रस लें। एक्जिमा तथा अन्य चर्म रोगों में गाजर तथा ककड़ी का रस श्रेष्ठतम है।

सायंकालीन भोजन में अनाज का कुछ महीनों तक परित्याग करें। मौसमानुसार सिर्फ फल २५० से ६०० ग्राम तक लें। अनाज में अंकुरित अनाज लें। अंकुरित अनाज में चना, मूंग, मोंठ, उड़द, मसूर, चौलाई

श्रेष्ठ है। चना का अंकुरण श्रेष्ठतम है। रात को २५-३० ग्राम चना अच्छा साफ कर और धोकर एक ग्लास पानी में भिगो दें। सुबह उसके पानी में एक नींबू निचोड़कर तथा ३ चम्मच शहद डालकर पाखाना जाने के पूर्व मुंह को साफ कर पीयें।

एक्जिमा तथा अन्य चर्म रोगों में सोयाबीन की छाछ अत्यन्त लाभदायक है। सोयाबीन की छाछ में स्थित लेसिथिन त्वचा की रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाकर एक्जिमा को दूर करता है।

चाय, चीनी, काफी, मिर्च, मसाले, तले भुने आहार, अण्डा मांस, मछली, मद्य धूम्रपान, तम्बाकू, जैम, जैली, टाफी, बिस्कुट, ब्रैड, सापट ड्रिंक्स कैम्पा, नोवा कोलादि का सर्वथा परित्याग करें।

दोपहर के रसाहार के ४५ मिनट पश्चात् सर्वांग मिट्टी की लेप, सर्वांग भाप स्नान आर्द्र रेत स्नान, तत्पश्चात शुष्क रेत स्नान, स्थानीय वाष्प में से कोई एक चिकित्सा को रोगी की स्थिति के अनुसार करें।

सुबह शाम रोगी की स्थिति को देखते हुये वायु स्नान, सूर्य स्नान, समुद्र स्नान दिया जाता है। जहां समुद्र स्नान की व्यवस्था नहीं हो वहां एप्सम पूर्ण टब स्नान पानी में इप्सम साल्ट मैग्नेशियम सल्फेट डाल कर देवें।

योग चिकित्सा में वमन की दृष्टि से प्रतिदिन कुञ्जर क्रिया १ माह तक लगातार करायें। १५-२० दिन में एक बार शङ्ख प्रक्षालन, चिकित्सा के दौरान वस्ति की दृष्टि से एनिमा दिया जाता है। आसनों में उदरशक्ति विकासक क्रिया, वक्षःस्थल शक्ति विकासक क्रिया, जानुशिरासन, अर्द्धमत्स्येन्द्रासन, पश्चिमोत्तानासन, वज्रासन, योगमुद्रा, सुप्तवज्रासन, पद्मासन, ज्ञानमुद्रा, उत्तानपादासन, धनुरासन, चक्रासन, शलभासन, भुजंगासन, नौकासन, सर्वांगासन, हलासन, मत्स्यासन तथा शवासन काफी उपयोगी पाये गये हैं। भस्त्रिका, शीतली, उज्जायी और चन्द्रभेदी प्राणायाम तथा विपश्यना ध्यान से त्वचा की प्रतिरोधक क्षमता में तेजी से वृद्धि होती है।

शोधन की दृष्टि से रोगी की स्थिति के अनुसार ५ से २१ दिन तक सिर्फ पानी पर उपवास, अथवा रोगी को २-३ दिन का सिर्फ पानी पर लघु उपवास करावें के पश्चात शक्ति अनुसार २१ से ३० दिन तक रसाहार, तत्पश्चात पुनः शुद्धि आहार देने से पहिले एक्जिमा को भी दूर किया जा सकता है।

वैसे अनेक एक्जिमा के रोगियों का उपचार करने का मुअवसर प्राप्त हुआ है। उनमें दो रोगियों का संक्षिप्त विवरण दे रहा हूं। ये दोनों रोगी ऐसे थे जिनके पास आम आदमी की मौत कहे उपचारक भी जाने से घबराते थे। एक का उपचार विगत मार्च-अप्रेल ८० में किया है तो दूसरे का १३ साल पूर्व जयपुर के चिकित्सालय में किया था। हाल ही में उपचार किये गये रोगी का नाम जगन मीणा है। सवाई माधोपुर जिले में गंगापुर तहसील, ग्राम मोहना का रहने वाला श्रीयुत जगनमीणा विगत कई वर्षों से १८८ एक्जिमा से ग्रस्त था। उसकी त्वचा एक्जिमा में का ... भैंस की त्वचा की तरह मोटी तथा खुरदरी हो गई थी। वर्षों से अनेक प्रकार की चिकित्सा पद्धतियों को अपना चुका था। आज ६ माह के पश्चात उपर्युक्त प्राकृतिक योग आहार चिकित्सा पद्धति से उसकी त्वचा कोमल तथा समस्त रोग लक्षणों से मुक्त हो गई है। अठारह साल से शुष्क एक्जिमा से ग्रस्त एक अन्य रोगी का भी उपर्युक्त विधि से हमने उपचार किया है।

रींगस (राजस्थान) निवासी ४५ वर्षीय श्रीयुत हनुमान सिंह भयंकर आर्द्र एक्जिमा से पीड़ित होकर १७-५-७७ को मेरे पास जयपुर प्राकृतिक चिकित्सालय में भर्ती रहे। सारे शरीर से मवाद निकलता रहता था। २१ दिन तक इन्हें मैंने उपवास कराया तथा इन पर उपर्युक्त चिकित्सा प्रविधियों का प्रयोग किया गया। वे ७६ दिन पश्चात् पूर्ण लाभान्वित होकर गये।

स्थानीय लेप की दृष्टि से बरगद, पीपल, गूलर, पिलखन तथा नीम के कोमल पत्ते या छाल को पीसकर घी में मिलाकर लेप करने से लाभ होता है। पानी के स्राव वाले छाले में मिट्टी का लेप उपयोगी होता है। शुष्क एवं आर्द्र एक्जिमा में नीम के पत्ते का मरहम उपयोगी है। २० ग्राम नीम के पत्ते तथा ५० ग्राम घी लेकर स्टील के पात्र में गरम कर नीम के पत्ते काले होने पर खूब बारीक पीसकर मरहम बना कांच के पात्र में सुरक्षित रखें। दिन में दो बार लगा पट्टी बांधें। ●

त्वक् रोग के सन्दर्भ में—

# ५०० रुग्णों के मनो स्वास्थ्य एवं सामाजिक मूल्यांकन *

वैद्य किरीट वी० पण्ड्या डी. एस. ए. सी. [विशेष सम्पादक]
सुश्रुत क्लिनिक, ई-ब्लाक, कैपीटल कोमर्सियल सेण्टर,
आश्रम रोड, एलीस ब्रिज, अहमदाबाद-३८०००६

श्री किरीट पण्ड्या जी गुजरात के जाने माने त्वक् रोग चिकित्सक हैं। 'धन्वन्तरि' के ग्राहकों का सद्भाग्य है कि श्री पण्ड्या जी के आयुर्वेद ज्ञान का लाभ प्राप्त हुआ है। सफेद दाग एक ऐसा रोग है जो शारीरिक वेदना नहीं करता है लेकिन इससे मनोवेदना अवश्यमेव होती है। यत्रतत्र सर्वत्र सभी लोग श्वित्र रोगी को घृणा से देखते हैं। आयुर्वेद शास्त्राधार है कि श्वित्र रोग मनोघात से, पाप कर्म गुरु-देवादि अपमान, व्यभिचार आदि से भी हो सकता है। मन का कार्यकत्व यहां अधिक होता है। इस रोग से रोगी स्वयं मानसिक परेशानी का सतत अनुभव करता है। इन्ही विचार व मन्तव्य पर यहां श्री पण्ड्या जी ने अपने अनुभवों को दर्शाया है। पण्ड्या जी का यह अंतिम संशोधन है कि श्वित्र रोगी को यदि मानसिक स्वस्थ बनाया जाय तो श्वित्र बिना औषधि चला जाता है, स्वयं रोगी अपने क्षेत्र में आगे बढ़ेगा। यदि रोगी धार्मिक दृष्टया प्रतिज्ञा भी लेता है तो रोग कट जाता है। यह एक प्रकार का दृढ़ मनोबल एव विश्वास का रास्ता है। चरक ने कहा है कि दवा दूसरा मन है— यह युक्ति यहां यथार्थ होती है। श्री पण्ड्या जी ने इस युक्ति के आधार पर ५०० श्वित्र रोगियों पर निरन्तर सिर्फ मनो व्यापार पर दृष्टि रखकर संशोधन किया है। वह आपके सामने प्रस्तुत किया है। श्री पण्ड्या जी को अभिनन्दन। मुझे अपेक्षा है कि श्री पण्ड्या जी का चिकित्सकीय अनुभवित लाभ 'धन्वन्तरि' द्वारा देश के विद्वान वैद्यों, छात्रों को मिलता रहेगा।

—वैद्य अशोक भाई तलाविया भारद्वाज।

---

हमने दूरदर्शन के महाभारत में देखा था कि महा-रथी अभिमन्यु चक्रव्यूह से बाहर निकलने में कैसे कष्ट उठाता है। उसको शारीरिक एवं मनोव्यापार असहाय बनाया जाता है।

एक चिरकालीन त्वक् रोगी की अवस्था यही है। यह रोग की वेदना से पीडित तो है, साथ ही इन्हें चमड़ी में ये क्या हुआ? घर में रिश्ते वाले छुआ-छूत में लगे रहते हैं, दोस्त भी हाथ मिलाने में हिचकिचाता है, पिता पुत्र को साथ बैठाने में डर करता है।

आयुर्व्य-विज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो चमड़ी के कई रोग छुआछूत से सम्बन्ध नहीं रखता और कुछ रोगी को ही छूने से हमको लग जाता है-ऐसे त्वक् रोगी को छूना नही चाहिये।

कौन से रोग छुआछूत से सम्बन्धित हैं यह चिकित्सक से समझ लेना चाहिये। अन्यथा भ्रम में रहकर दर्दी को मनोविकारी न बनायें, ऐसी मेरी प्रार्थना है। अच्छे चिकित्सक से सहायता लेने में, समझने मे देर न करें।

आज हम यहां श्वित्र-सफेद दाग–Leucoderma Vitiligo के बारे मे जो अध्ययन किया गया है, इसी के बारे में देखेंगे।

# त्वक् रोग विकार चिकित्सा

ये रोग सौन्दर्य लक्षी रोग नहीं तो चल सकता है। श्वित्र में कहीं वेदना, रुजा, पीड़ा नहीं है, न तो अन्य कोई विचित्र लक्षण मिलते हैं और न तो इस रोग के उपक्रम से, अनुबन्ध से अन्य कोई रोग होता है।

सौन्दर्य/प्रसाधन युग में हर कोई सौन्दर्यवान दीखने में लगे रहते हैं इसीलिये तो आजकल विश्व में कोस्मेटिक और हर्बल कोस्मेटिक्स का बोलबाला है, श्वित्र रोग सौन्दर्य बाधक है।

श्वित्र के रुग्ण की मानसिक परेशानियां बहुत रहती हैं। हरदम रुग्ण रोग की चिन्ता में डूबा रहता है और आयुर्वेद में बताया है कि इन्द्रियों (ज्ञान एवं कर्म) मन के आधारित है। यहां तो रोगी मन से दुःखी रहता है, तो इसकी इन्द्रियों पर भी इसका दुःखप्रद प्रभाव पड़ता ही होगा।

फिलाडेल्फिया यूनीवर्सिटी (USA) के साथ श्वित्र रोग पर कुछ काम करने का अवसर मिला था। वहां यूनीवर्सिटी के बायोसायन्टिस्ट डा० शर्मा जी जो भारतीय हैं और जिनकी मेडीकल इन्जीनियर प्रो० डेकार्ड ने काफी दिलचस्पी ली थी मनः को स्वस्थ ही, पूर्ण स्वास्थ्य की निशानी है। (प्रसन्न आत्मनेन्द्रियम् स्वस्थम् इत्यभिधीयते) इस मुद्दे को लेकर और लेबोरेटरी के परीक्षण के बाद 'Vitiligo Form' बनाया है। जिसमें Bilif Component को समाविष्ट किया है। नाड़ीचेता तन्त्र पर क्षुब्धता आने से रोग बढ़ता है और मनो आघात से चेतना तन्त्र क्षुब्ध होता है। त्वचा रञ्जन प्रक्रिया में (Melanin) इसी से रुकावट आती है।

रेफरेन्स के लिये एक बात बायोसाइन्स की लिखता हूं—Melanogenesis is under the nervous and harmonal control.

त्वचा रोगियों में श्वित्र ३ से ४ प्रतिशत दर्दियों में मिलता है। उन रुग्ण में से अगर सबको रोग से शरीर में कोई नुकसान नहीं लगता जाय तो शायद ५०% तो दवाई भी नहीं लेंगे।

पिछले ८ साल का यह रिकार्ड है। जहां मुझे निर्धारित अवधि तक श्वित्र के रोगी अपना बयान देते रहते थे और ऐसे जो पूर्णकाल मैंने समझा था, यहां तक तथा अपनी बात स्पष्ट बताने वाले ५०० रुग्ण यह रिकार्ड अलग तैयार किया है।

इस लेख में मैं स्पष्ट कहना चाहता हूं कि को श्वित्र से लाभ मिला या रोगी को श्वित्र गया। इससे कोई सम्बन्ध नहीं है।

यह मनो स्वास्थ्य एवं सामाजिक मुद्दे को रुग्ण कहां है? क्या चाहता है? क्या करने को है? इस बात पर मेरा ध्यान था, और इस को मैंने निम्नलिखित ढंग से आपके सामने रखा है

मैंने सामाजिक और मनो व्यापार (Soci Mental) को श्वित्र के दर्दी के साथ साथ जो यह अध्ययन किया है।

मैंने अपने रुग्ण पत्रक में १. नाम २. उम्र ३. ४. लिंग ५. व्यवसाय ६. रोगकाल ७. रोग का से सम्बन्ध ८. ठिकाना। इतने मुद्दे सर्वप्रथम लिये

दूसरे में—१. प्रमुख चिह्न, लक्षण (Chief c plain), २. रोग अवस्था (Duration), ३. ला अलाभ, ४. चिकित्सा पद्धतियों की मदद, ५. कुल (Family history), ६. स्व-वृत्त (Personal tory), ७. व्यवसाय श्वित्र पूर्व/पश्चात, ८. लग्न लग्न – लग्न विच्छेद।

ये दो स्तरीय कार्यक्रम पूर्ण हो जाने से रुग्ण अपने में बहुत विश्वास रखता है तो हम ऐसे में ऐसे विश्वासी दर्दी को शामिल करते थे।

तृतीय स्तर में जबकि रुग्ण अपनी कोई भी हमसे छुपाता नहीं है और जो भी है, वह स्पष्ट बताता है। ऐसा लगा तो हमने इस विश्वास को मजबूत बनाया था।

१. लग्न जीवन, २. अवैवाहिक लग्न जीवन, विरुद्ध जातीय प्रेम, ४. घर, मोहल्ला, गांव, दर्दी की स्थिति, ५. श्वित्र से छुपाया प्रेम (और की दृष्टि से), ६. श्वित्र से छुपाया विकार (अपने खुद से), ७. रोग के कारण—हीनभाव, चिढ़, क्रोध, प्रेम, लोगों का प्रेम दया, मुग्धत्व।

८. रोग के कारण घर में अन्य स्वजनों को, लाभ, चर्चा, दुःख।

९. काम इच्छा में इसका प्रभाव।

१० और हमने न पूछा हो, लेकिन रुग्ण बताना चाहता है। ऐसे मुद्दे ''

**अध्ययन** -

५०० रुग्ण —पुरुष २१२, स्त्री २८८

१ वर्ष के अन्दर के श्वित्र वाले दर्दी—१५५

१ वर्ष पूर्व करके लम्बी अवध वाले दर्दी—३४५

१८ वर्ष तक के बच्चे —११२

१९ से ३८ वर्ष तक पुरुष—२०१

३८ वर्ष से अधिक—८६

कोई भी चिकित्सा पद्धति की चिकित्सा लिये—३८५

बिना चिकित्सा वाले—११५

प्रमुख पद्धति के दर्दी रहे थे—एलोपैथिक—११९

आयुर्वेद ७३, होम्योपैथी ५१

और जो बचे वो दो पद्धति या तीन पद्धति के दर्दी रहे थे। इसके सिवा यूनानी, नेचरक्योर थेरपी, घरेलू चिकित्सा, मन्ति, अन्धश्रद्धा और अज्ञान के थे।

लग्न हुये रुग्ण—१९९, अलग्न (unmarried)—३०१

श्वित्र रोग होने के लिए जो आयुर्वेदीय निदान बताये हैं। जैसे कि दधि+मुलक, उड़द+गुड़, शीत-उष्ण भोजन के साथ; अध्यगन; एक रस का अधिक और बार बार सेवन इत्यादि कारण वाले दर्दी।

आयुर्वेदीय निदान वाले २२०, अन्यथा २८०।

इस लेख के शीर्षक में हमने बताया है कि स्व-मनोव्यथा और सामाजिक असर का इस रोग से क्या सम्बन्ध है।

श्वित्र अगर सिर्फ सफेद दाग ही है तो प्रायः ८५% रुग्ण चिकित्सा के लिये नहीं आते। हमने इन ५०० रोगी से ठीक-ठीक पूछा है और फिर ये नतीजा निकला है।

श्वित्र (Leucoderma) का निदान करने में कोई कठिनाई खासतौर पर नहीं है। हर कोई इस रोगी को देखते ही इस रोग का नाम बोल देता है। ज्वर, यक्ष्मा, परिणाम शूल, वृक्कगत बीमारियों का नाम कोई स्पष्ट रूप से नहीं बोल सकता है। इस मुद्दे को लेकर समाज में रोग का नाम ४-५००० साल से चिर परीक्षित है। रोग जल्दी से हटता नहीं है। इस वजह से अन्धश्रद्धा का आविर्भाव हुआ है। श्वित्र को करके में लोग भूत, बाधा, ज्योतिष, तांत्रिक, अश्रद्धा के सहारे जाना पसन्द करता है। यह हमारा अभिप्राय है।

**कुछ ठोस बातें** --

लग्न समस्या को लेकर १३१ रुग्ण इस रोग से सामना कर रहे थे। यह १३१ रोगी स्वयं लग्न वयस्क थे, लेकिन श्वित्र की वजह से लग्न प्रस्ताव में बाधा आ रही थी। यह बाधा कभी अपनी ओर से तो कभी सामने वालों की ओर से उपस्थित होती रहती थी।

कुछ किस्सों में हमने नोट किया है कि घर में स्वजनों में से किसी को श्वित्र है इसको लेकर अन्य बच्चे-बच्चियों का ब्याह नहीं हो रहा है।

कभी-कभी अच्छे शिक्षित लड़के-लड़कियां जो इंजीनियर एवं डाक्टर भी थे लेकिन श्वित्र की ही वजह से अच्छे साथी पसन्द करने में देरी हो रही है। हालांकि समाज में जो कुलज व्याधियां हैं जैसेकि प्रमेह, यक्ष्मा, विचर्चिका, श्वास, हेमोफीलिया वाले परिवार के लिये आपदा नहीं है। सत्य तो ये है कि श्वित्र को इतना महत्व नहीं देना चाहिये।

एक बड़े तत्वचिंतक ने लिखा है कि 'कई निराशा में ही आशा की एक किरण निकलती है जिसका उजाला सूर्य से भी अधिक है।

हमने इन ५०० रुग्ण के अध्ययन में देखा था कि ४ रुग्ण सिर्फ इस रोग की वजह से अपने को समाज में सम्मानित बना पाये थे। सफेद दाग की वजह से हर कोई उन्हीं को सबसे पहले उपेक्षा करते थे, इससे तंग आकर उन्होंने कुछ कर दिखाने का मन बना लिया जिससे लोग-समाज उनके पास चले आये और परामर्श सेवा किये।

एक महाशय ने समाज सेवा करना शुरू किया और ६/७ साल में वह विधान सदस्य एम. एल. ए. बन गये। दो साल पहले ही उनका निधन हुआ। लेकिन लगातार १५ साल के सदस्य बने रहे।

एक लड़की पढ़ने में बहुत पिछड़ी हुई थी। जब इनको १५ साल की उम्र में श्वित्र हुआ और मन से वह टूट गई। फिर इसने बड़ी तेजी से अभ्यास करना शुरू किया और ये बड़ी गायनेकोलोजिस्ट बन गई। इतना ही नहीं, अच्छी लगन की आदत बन गयी थी।

—शेषांश पृष्ठ २८१ पर देखें।

# —त्वक् रोगों का सामान्य चिकित्सा उपक्रम—

डा० कृष्णमुरारी अग्रवाल एम. डी. (आयु०)
विवेचक—काय चिकित्सा विभाग
डा० मोहनलाल जायसवाल एम. डी. (आयु०)
विवेचक द्रव्यगुण विज्ञान विभाग
मदन मोहन मालवीय राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, उदयपुर (राज०)।
२७७, टीचर्स कालोनी, अम्बा माता स्कीम, उदयपुर (राज०)।

—::卐::—

लेखक द्वय राजस्थान स्थित उदयपुर नगर के सुप्रसिद्ध आयुर्वेद कालेज के प्राध्यापक हैं। यह लेख सारगर्भित एवं ज्ञानवर्धक है। अपेक्षा है कि लेखक द्वय आगे भी ऐसे विद्वतापुक्त लेख 'धन्वन्तरि' में देकर आयुर्वेद की सेवा करेंगे।

—वैद्य गिरीश पण्ड्या (विशेष सम्पादक)।

---

आयुर्वेद वाङ्मय में जिस प्रकार ज्वर, कास, प्रमेह, राजयक्ष्मा आदि रोगों को पृथक रूप से स्पष्टतया उल्लेख किया है, उसी प्रकार त्वक् रोगों का पृथक एवं स्पष्ट रूप से वर्णन नहीं मिलता है। चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट, माधव एवं परवर्ती ग्रन्थकारों ने त्वक् रोगों से सम्बन्धित विवेचन कुष्ठ, विसर्प एवं क्षुद्र रोगों के अन्तर्गत किया है। जिस रोग में त्वचा विकृत या विवर्ण हो जाय तथा उपेक्षा करने पर जो गम्भीर धातुस्थ होकर शरीर को विकृत या कुत्सित बना देता है, वह कुष्ठ है। ग्रन्थकारों द्वारा कापाल, औदुम्बर, मण्डल, ऋष्यजिह्व, पुण्डरीक एवं सिध्म तथा काकणक को महाकुष्ठ (लेप्रोसी) कहा गया है जबकि एक कुष्ठ, चर्म कुष्ठ, किटिभ, विपादिका, अलसक, दद्रु, चर्मदल, पामा, विस्फोट, शतारु एवं विचर्चिका को क्षुद्र कुष्ठ (डिजीज आफ स्किन) के अन्तर्गत वर्णित किया है। वेदना, वर्ण, आकृति के अनुसार त्वक् रोगों की संख्या असीमित हो सकती है जिनका कि उल्लेख तत्कालीन ग्रन्थकारों द्वारा नहीं किया गया है। सुश्रुत एवं वाग्भट्ट ने 'क्षुद्र रोग विवेचन' के अन्तर्गत कुछ त्वक् रोग का वर्णन विशद रूप से अलग भी किया है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से महाकुष्ठ को लेप्रोसी तथा क्षुद्र कुष्ठ को डिजीज आफ स्कीन कहा जा सकता है। दद्रु को रिंग वर्म या टीनिया एवं सुश्रुतोक्त सिध्म को Pityriasis Versicolour कहते हैं। इसी प्रकार अन्य क्षुद्र कुष्ठों का निम्न रूप से त्वक् रोगों के रूप में साम्य कर सकते हैं—

एक कुष्ठ (Erythrodermias), चर्मदल (Excoriation), चर्मकुष्ठ (Xeroderma Pigmentosa), पामा एवं कच्छू (Scabies), किटिभ (Psoriasis), शतारु (Eruthemes), विपादिका (Rhagads), वल्मीक (Actinomycosis), अलसक (Lechen), जालगर्दभ (Cellulitis), विचर्चिका (Eczema) आदि।

त्वक् रोग चिकित्सा से पूर्व कुछ मौलिक तथ्यों की ओर ध्यान देना अपेक्षित है—

१. त्वक् विकार शहरी जीवन में प्रायः अधिक मिलते हैं।

२. अति तीक्ष्ण, उष्ण, कटु, लवण, क्षार, गुरु, विदाही, विरुद्ध एवं मिथ्या भोज्य पदार्थों का ऋतानुकूल अति सेवन, कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री का अति सेवन, सिन्थेटिक एवं वस्त्रों का सतत प्रयोग, अत्यधिक नमी एवं प्रकाश रहित स्थान में निवास, प्रदूषित जल एवं वायु, औद्योगिक एवं रासायनिक प्रदूषण, संक्रमण, आधुनिक सिन्थेटिक एण्टीबायटिक्स् औषधियों का प्रयोग, उदर कृमि एवं अन्य कुछ सार्वदैहिक व्याधियां प्रमुख रूप से त्वक् रोगों के जनक हैं।

३. त्वक् विकारों में प्रधानतः पित्त एवं रक्त विकृति होती है। अन्य दोषों की सत्ता को भी सर्वथा

के आधार पर किंचितमात्रेन स्वीकार करना चाहिये। पित्तस्य शोणित समानत्वात् एवं पित्त रक्त का मल के आधार पर चक्रपाणि दत्त ने दुष्ट रक्त का साम्य विकृत पित्त सदृश बताया है। रक्त दुष्टिजन्य रोगों में कुष्ठ विसर्प, पिडिका, मशक, कण्डू, न्यच्छ, व्यंग, दद्रु, श्वित्र, रक्त मण्डल, विपादिका आदि अनेक रोगों का उल्लेख आचार्यों द्वारा किया गया है।

४. त्वक् विकारों में प्रायः त्वगाश्रित भ्राजक पित्त के तीक्ष्ण गुण की विकृति होती है। इससे दाह, मांस शोषित में क्लेद तथा त्वचा फटने लगती है और रक्त मण्डल त्वचा पर उठने लगते हैं।

५. त्वक् दोष प्रायः मलाशयों में भी विभिन्न मलों, उनके आशयों (अधिष्ठानों) एवं उनके बहिर्मुख स्रोतो मे दोषों का प्रकोप होने पर होते हैं।

**सामान्य चिकित्सा उपक्रम—**

प्रतिकर्म द्वारा दोषों एवं दूषित धातुओं की चिकित्सा का प्रथम तथा अन्तिम उद्देश्य माना है। त्वक् रोगों के सामान्य चिकित्सा सिद्धांत विसर्प आदि रोग तथा दोष दूष्य विकृति के निम्न रूप से निरूपित किये जा सकते हैं—

१. निदान परिवर्जन
२. शोधन चिकित्सा—विरेचन, वमन
३. शमन चिकित्सा रक्त शोधक, शामक, कण्डुहर, स्रावहर
४. पथ्यापथ्य एवं सामान्य निर्देशक
५. बाह्योपचार
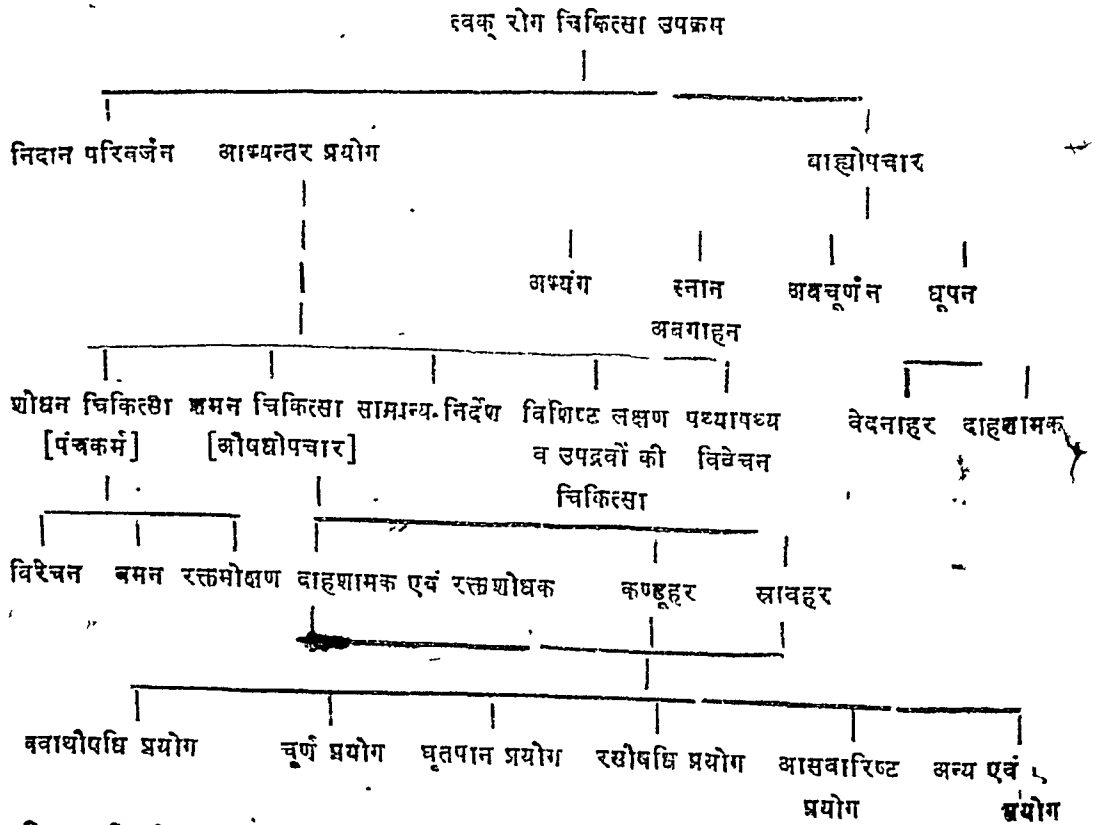
**निदान परिवर्जन—**

आचार्य सुश्रुत ने चिकित्सा हेतु सर्वप्रथम निदान परिवर्जन का उल्लेख किया है। अतः रोगी से ज्ञात करके निदानानुरूप चिकित्सा तथा परिवर्जन करना चाहिये। यथा—सिन्थेटिक वस्त्र या कृत्रिम

पण धारण से होने वाले त्वक् रोग में इनका परिवर्जन ही चिकित्सा का प्रमुख आधार है।

**शोधन चिकित्सा —**

संशोधन चिकित्सा का त्वग् रोग चिकित्सा में अपनी विशिष्ट स्थान है—

दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिताः लंघन पाचनैः ।
ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भव ॥

विरेचन - आचार्य चरक ने 'विरेचनं चाग्रे' निर्देश कर त्वक् रोगों की चिकित्सा में विरेचन की अनिवार्यता (महत्ता) को प्रतिपादित किया है । व्यावहारिक रूप से भी यह अनुभव हुआ है कि औषध योगों के साथ यदि विरेचन त्वक् रोग चिकित्सा में प्रयोग किया जाय तो पूर्वापेक्षया अधिक और शीघ्र लाभ मिलता है ।

कुष्ठेषु त्रिवृतादन्ती त्रिफला च विरेचने शस्ता ।
—च. चि. ७/४४

एतदर्थं कल्प स्थान में निर्दिष्ट मृदु अथवा मध्यम वीर्य विरेचन योगों का प्रयोग करना चाहिये । विशेष रूप से तिक्त रस तथा स्निग्ध गुण प्रधान द्रव्यों की कल्पना कर विरेचन योगों का चयन करना । उदाहरणार्थ-त्रिवृत्त, दन्ती, त्रिफला, कुटकी, चिरायता आदि ।

वमन — त्वक् रोगों की अवस्था विशेष में वमन कर्म भी यथोचित रूप से लाभकारी पाया जाता है । 'वमनं श्लेष्मोत्तरेषु कुष्ठेषु' चरक ने ऐसा निर्देश अवस्था विशेष हेतु किया है । एतदर्थ मैनुफल तथा मधुयष्टि, अकोल, इक्ष्वाकु और कल्प स्थान में वर्णित वामक योगों का प्रयोग करना चाहिये ।

रक्तमोक्षण—आचार्य सुश्रुत ने स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया है कि रक्तमोक्षण चिकित्सा की जाने पर त्वक् रोग, ग्रन्थि, शोथ तथा रक्त दुष्टिजन्य रोग उत्पन्न नहीं होते । सु. सु. १४/३४ । उपरोक्त उद्धरण से त्वग रोगों में रक्तमोक्षण प्रतिषेधात्मक और चिकित्सा दोनों ही रूपों में उपयोगी है । ऐसा प्रमाणित होता है । अतः रोग की अवस्था तथा आवश्यकतानुसार रक्तमोक्षण अपेक्षित है ।

शमन चिकित्सा—त्वक् रोगों में प्रकुपित दोषों के निर्हरण में जहां शोधन चिकित्सा का महत्व है वहां पर शमन चिकित्सा की व्यावहारिक उपयोगिता दृष्टि से नकारा नहीं जा सकता । त्वक् रोग शमन चिकित्सा में अनेक औषध कल्पों का मिलता है जिनको वर्गीकृत कर निम्न रूप में किया जा रहा है

१. कषाय —पटोलादि कषाय (च. चि. ७), खदिर कषाय [चक्रदत्त], लघुमंजिष्ठादि कषाय [ गुडूच्यादि कषाय [वातरक्त], वृहद् मंजिष्ठादि [भै. र ], धात्र्यादि कषाय [श्वित्र], नवकार्षिक [रस रत्नाकर] नागराद्य [भै. र.], पंचतिक्त एवं अमृतादि कषाय [भै. र.] ।

२. चूर्ण —पंच निम्ब चूर्ण [चक्रदत्त], गंधक चूर्ण, त्रिफला चूर्ण, पंच निम्बादि चूर्ण [भै.र.], मदयन्त्यादि चूर्ण ।

३. घृत —पंचतिक्त घृत, सोमराजी घृत
पंचतिक्त घृत गुग्गुलु अमृत महः
अमृताद्य गुग्गुलु [भै.र.]
महाखदिर घृत [च. चि. ७]
तिक्त षट्पल घृत [च. चि. ●]

रसौषधियाँ--रसमाणिक्य, आरोग्यवर्धिनी गंधक रसायन, धात्री लौह तालकेश्वरादि लौह केश्वर रस, उदय भास्कर हरिताल भस्म, हरिद्रा

आसवारिष्ट —खदिरारिष्ट, सारिवाद्यासव मंजिष्ठाद्यरिष्ट, मधूकासव, देवदार्वारिष्ट

एकौषधि प्रयोग —

'खदिर कुष्ठघ्ना श्रेष्ठः'

शिरीषत्वक, बाकुची, सारिवा, हरीतकी, तकी, कुटकी, चिरायता, मधूका, निम्ब, मंजीठ, हरिद्रा, हरिद्रा, रक्त चन्दन, कुटज, भल्लातक, पर्पटक, आरग्वध, विडंग, निर्गुन्डी, गोखरू, चक्रमर्द, ब्राह्मी, शालसारादि, न्यग्रोधादि एवं ख्घादि गण ।

**सामान्य निर्देश—**

१. सामान्य त्वचा की स्निग्ध एवं रूक्ष अनुसार चिकित्सा व्यवस्था करनी चाहिये ।

२. औषध कल्पों का चयन स्निग्ध त्वचा सार लिप्त, रूक्ष, लघु तथा रूक्ष त्वचा में

स्निग्ध मधुर रस गुण प्रधान द्रव्यों द्वारा करना चाहिये।

३. स्निग्ध त्वक् प्रकृति वाले रोगियों में अस्रावी त्वक् विकृति होने पर मृदु द्रव्यों के क्वाथ का वाष्प स्वेद स्थानिक रूप से कराया जा सकता है।

**विशिष्ट लक्षण एवं उपद्रवों की चिकित्सा –**

क्षुद्र कुष्ठ तथा क्षुद्र रोग, जिन्हें त्वक् रोग माना गया है, में प्रत्येक के लक्षणों और अवस्था के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये। यथा—

पामा श्वेतारुण श्यावा: कण्डूला: पिडका भृशम्।
सकण्डू: पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका॥
—च चि. ७/२५

उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि अन्य लक्षणों में पामा के समान होते हुये भी विचर्चिका स्राव युक्त होती है जबकि पामा अस्रावी। इसी प्रकार त्वग रोगों के अन्य विशिष्ट लक्षण यथा पिडिका आकृति, त्वग वर्ण, वेदनारहित अथवा सहित, कण्डू रहित अथवा सहित, स्राव रहित अथवा सहित, अधिष्ठान तथा दोष विशेषानुसार अंशांश कल्पना आदि का विचार करके औषध योगों की कल्पना करनी चाहिये।

त्वग रोगों में प्रमुख रूप से अनेक उपद्रव मिलते हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

१. ज्वर—विसर्प रोग में
२ अतिसार—दद्रु में
३. कास, श्वास, खालित्य—अनूर्जता (ऐलर्जिक) जन्य त्वक् रोगों।
४. मूत्र दाह—उपदंश, फिरंग आदि संसर्गज रोग।

इस प्रकार पाये जाने वाले उपद्रवों की चिकित्सा के साथ साथ मूल रोग की चिकित्सा की ओर ध्यान देना अपेक्षित है। उपद्रवों की उग्रता होने पर इनकी चिकित्सा रोगवत करनी चाहिये।

**पथ्यापथ्य विवेचन—**

चिकित्सा की पूर्ण सफलता हेतु पथ्यापथ्य निर्देश अत्यन्त आवश्यक है। 'पथ्येसतिगदार्तस्य किम औषध निषेवणे'।

पथ्य—त्वग रोगों में सर्वप्रथमतम लघु तिक्त रस प्रधान आहार तथा औषध द्रव्य हैं। यथा—निम्ब, करेला, पटोल, कोषातकी, दुग्ध, घृत, पुराण शालि चावल, मूंग, मसूर, गाजर, हल्दी, धनियां, बथुआ, बैंगन मकोय, केला, अनार, बिल्व, पपीता, कपित्थ, जामुन, नारंगी, सन्तरा, नीबू अनन्नास, नारिकेल, चीकू, कूष्माण्ड।

अपथ्य—दिवास्वाप, विरुद्ध तथा विषमाशन और गुड़ एवं दही, दुग्ध के साथ मद्य, मछली, मांस, उड़द, तिल। व्यायाम, कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री, सिन्थेटिक वस्त्रों का धारण, सिन्थेटिक साबुन, अत्यन्त मिर्च मसाले युक्त तले हुये भोज्य द्रव्य, लवण तथा क्षारीय पदार्थ।

बाह्य प्रयोग त्वक् रोगों की सामान्य चिकित्सा में जहा आभ्यन्तर शमन औषधियों का महत्व है वहीं पर बाह्य रूप से प्रयुक्त लेप, प्रदेह, प्रलेप, अवचूर्णन, धूपन आदि का भी वाङ्मयात्मक अध्ययन एवं चिकित्सा अभ्यास में प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अत: त्वग रोगों के सामान्य बाह्य चिकित्सा का निम्न रूप से वर्गीकरण प्रस्तुत है। ये बाह्य उपक्रम जहा पर त्वक विकृतियों में संक्रमण विरोधी होते हैं वहीं पर उनके लक्षणों के उपशम के साथ ही त्वचा के स्वाभाविक वर्ण को भी नियमित करते हैं।

अभ्यङ्ग –'अभ्यङ्ग: त्वच्य' अर्थात् त्वचा के लिये अभ्यङ्ग सर्वोत्कृष्ट उपक्रम कहा जाता है। वांगमय में अनेक तैलीय एवं घृत योगों का उल्लेख चिकित्सात्मक रूप से त्वक् रोगों की चिकित्सार्थ उपदिष्ट है। जात्यादि तैल, महामरिच्यादि तैल, सोमराजी तैल, चालमोगरा तैल, बाकुची तैल, लौंग तैल, कनकक्षीरी तैल, कुष्ठाद्य तैल, श्वेत करवीर पल्लवाद्य तैल आदि। शतधौत घृत, सरसों, इन्गुदी, पूतिकरंज, खदिरसार आदि द्रव्यों के तैलों का उल्लेख आचार्य चरक ने विशेष रूप से किया है।

स्नान—सर्वशरीर व्यापी त्वक् रोगों के उपचार में अवगाहन उपक्रम का विशिष्ट महत्व है। इस उपक्रम में प्रभावी अवगाहन गोमूत्र, खदिरसार, निम्ब क्वाथ, वासापत्र क्वाथ, कुटज पत्र चरकोक्त सिद्धार्थ स्नान क्वाथ, करज, सप्तपर्णत्वक् क्वाथ आदि का उल्लेखित किया है। इनमें भी गोमूत्र स्नान सर्वश्रेष्ठ है।

धूपन कर्म—त्वगरोगोपचार में इस उपक्रम का महत्व जीवाणुरोधी (Microbacteriocidal), पूतिहर (Antiseptic) एवं दौर्गन्ध्यनाशन (Deoderant) के रूप में पाया जाता है। इस हेतु अनेक योगों का वर्णन वाङ्मय में उपलब्ध होता है जो नित्य चिकित्सा व्यास में भी उपयोगी है। यथा—निम्ब पत्र, लोहबान, कर्पूर, गुग्गुलु, कुन्दुरु, नीलगिरि, यवानी, गंधक।

अवचूर्णन - त्वक् रोगों में स्रावी प्रकार की विकृति में इस उपक्रम की उपयोगिता दृष्टिगोचर होती है। व्रण चिकित्सा में वर्णित अवचूर्णन योगों का प्रयोग किया जाता है। यथा—मधुयष्टि चूर्ण, शुभ्रा चूर्ण, टंकण चूर्ण, गन्धक चूर्ण, तुत्थ चूर्ण आदि।

लेप—त्वग् रोगोपचार लेप उपक्रम का महत्व कण्डुघ्न, कृमिघ्न, शोथघ्न, दाहप्रशमन, वेदनाशमन, कोथ प्रशमन के साथ-साथ श्वित्र रोग में स्फोटोत्पादन के रूप में भी विशेष रूप से व्यवहरित होता है तथा त्वचा के स्वाभाविक वर्ण एवं प्रभा को पुनः स्थापित कर देता है। लेप निर्माण में गोमूत्र का प्रयोग उसके कार्मुकत्व को विशेष प्रभावी बनाता है।

वेदनाहर—माषपर्णी, मुद्गपर्णी, मधुयष्ठी आदि का लेप, जीवनीय घृत, हरिद्रा, दारुहरिद्रा का लेप।

दाहशामक—चन्दन लेप, पद्माख, मधुयष्ठी, पंच वल्कल, आमलकी, अमलतास आदि औषधियों का घृत एवं दूध में बनाया गया लेप।

कण्डुहर—एडगजादि लेप, अवल्गुजादि गुटिका, कण्डुहर योग (लेप) [चक्रदत्त], सर्जरसादि लेप, सिदूरादि लेप, मूलक बीजादि लेप।

इस प्रकार आयुर्वेद वाङ्मय में विकीर्ण रूप से उपलब्ध त्वक् रोगोपयोगी चिकित्सा सिद्धान्त एवं उपक्रमों को अध्ययन एवं चिकित्सा अनुभव के आधार पर संकलित कर प्रस्तुत किया गया है जिनके आधार पर त्वक् रोगों की चिकित्सा में रोगी की प्रकृति, विकृति, दोष-दूष्य अवस्था विशेष का ध्यान रखकर यदि चिकित्सा की जाय तो त्वक् रोगों के उपचार एवं निदान में निश्चित रूप से सफलता प्राप्त होती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ -

चरक संहिता (च. चि. ७) (च. सू. २५/१०)
विरेचन पित्तहरणां श्रेष्ठः।

सुश्रुत संहिता (सु. सू. २१/२५)

अष्टांग हृदय,

माधव निदान,

चक्रदत्त,

भैषज्य रत्नावली

निदान चिकित्सा हस्तामलक—रणजीतराय देसाई

आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान—ब्रह्मानन्द गौड़

---

५०० रुग्णों के मनो स्वास्थ्य एवं सामाजिक मूल्यांकन — पृष्ठ २८६ का शेषांश

तो सरकार ने उन्हें मेडीकल कालेज की प्रिन्सीपल भी बना दिया।

हमारी एक रुग्णा को गुह्य भाग में श्वित्र था। अन्यत्र कहीं नहीं था। बड़े घराने की लड़की थी, डबल ग्रेजुएट थी। लेकिन हर एक लग्न प्रस्तावित युवक को वह श्वित्र के बारे में बता देती थी और अन्त में विवाह ही नहीं हो पाता था। एक बार इस सच्चाई को लेकर लन्दन स्थित एक बड़े हीरा-जवाहरात के व्यापारी युवक से मिला तथा इन्हीं से शादी हो गई। सिर्फ श्वित्र सच्चाई से ये लाभ था। आज भी वे इन दर्दियों के पीछे एक ट्रस्ट बनाकर रुपये खर्च कर रही हैं।

इस परीक्षण से साफ है कि अगर रुग्ण मन से हतप्रभ नहीं है तो बहुत कुछ कर सकता है।

मेरे इस अध्ययन में प्रिन्सीपल जी० के० दवे, सौन्दर्य वैद्य श्री हिरपुरा, डा० रजनीकांत एम. बी. बी. एस, एम. डी. (Civil Hospital) का बड़ा सहयोग रहा था।

卐卐卐卐

# त्वक् रोग निदान चिकित्सा

वैद्य वेदप्रकाश तिवारी
प्रभारी सहायक अनुसन्धान अधिकारी
आदिवासी स्वास्थ्य रक्षा अनुसन्धान परियोजना
जीरो–अरुणाचल प्रदेश।

समाज में अहितकर आहार-विहार के कारण त्वक् रोगों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। अतः शारीरिक त्वचा को विकृत करने के निम्नलिखित कारण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

१. दूषित, बासी एवं अहितकर आहार-विहार।

२. वर्तमान में खाद्य पदार्थों में मिलावट होने के कारण। जैसे–मसाले, दाल तथा आटा, चावल तक शुद्ध नहीं मिलने से।

३. खाद्य पदार्थों में हानिकारक रंग मिलाने से।

४. संक्रामक रोगों के संसर्ग से। एक साथ शयन करने, एक साथ भोजन करने एवं साबुन, तौलिया आदि का प्रयोग करने से।

५. विरोधी अन्नपान के प्रयोग से।

६. मनमानी ढंग से एलोपैथी दवाओं के प्रयोग से।

७. हानिकारक ढंग से पैक किये गये डिब्बा बंद या बोतल बन्द अचार-मुरब्बा या फल, दूषित पेय, नमकीन-मिठाई आदि के प्रयोग से।

८. बीमार जानवर तथा दूषित मांस प्रयोग करना।

९. होटल-रेस्टोरेण्ट आदि में पूर्ण शुद्धता न होने से भी संक्रमण का भय बना रहता है। ऐसे होटल में लिये गये अन्नपान से भी त्वचा रोग हो सकता है।

**चिकित्सा—**

अतः हमें कण्डू, कुष्ठ, दद्रु, पामा, विचर्चिका आदि त्वक् रोगों में दोष-दूष्य, बलाबल का विचार कर निम्नलिखित औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। रोग की कालावधि को ध्यान में रखते हुये कम से कम २-५ माह तक प्रयोग करना आवश्यक है—

एकौषधि —

१ निम्ब (नीम) पत्र-त्वक्, २. गुडूची, ३. खदिर सार-काण्ड त्वक्, ४. मंजिष्ठा मूल, ५. तुलसी पंचांग, ६. शिरीष त्वक्, ७ ज्योतिष्मती बीज, ८. निर्गुण्डी मूल-पत्र, ९. आमलकी फल, १० बाकुची बीज, ११. अजमोद बीज, १२ हरिद्रा मूल, १३. सारिवा मूल, १४. हरीतकी फल, १५ तुवरक (चालमुगरा), १६. यवानी बीज, १७. कंटकारी पंचांग, १८. दारुहरिद्रा पंचांग-मूल, १९. अपामार्ग पंचांग, २०. महानिम्ब (बकायन) त्वक्-पत्र, २१ सप्तपर्ण त्वक्, २२. पलाश बीज, २३. तगर मूल, २४. शिवाम्बु २५. गोमूत्र।

योग —

आरोग्यवर्धिनी वटी, शुद्ध गन्धक, गन्धक रसायन रस माणिक्य, तालकेश्वर रस, त्रिफला चूर्ण, निम्बादि चूर्ण, कांचनार गुग्गुलु, कैशोर गुग्गुलु, गुडूची सत्व पचनिम्बादि क्वाथ, पंच वल्कल क्वाथ, मंजिष्ठादि क्वाथ, पंचतिक्त घृत, पंचतिक्त घृत गुग्गुलु, खदिरारिष्ट, सारिवाद्यासव, हरिद्रा खण्ड।

वाह्य प्रयोगार्थ (लेप एवं तैल)—

हरिद्रा, मसूर, तिल, ज्योतिष्मती बीज व तैल सरल निर्यास एवं तैल, शठी (कपूर कचरी), निम्ब पत्र, शुद्ध मृत्तिका, तगर मूल, छत्रक (Geastru Mamosum), स्वमूत्र का लेप एवं पट्टी, गोमूत्र, स्फटिका, मरिचादि तैल, गुडूची तैल, निर्गुण्डी तैल, तुवरक तैल, सोमराजी तैल, यूकेलिप्टस तैल, पारदादि मलहर, सिंदूरादि लेप, दद्रुघ्न वटी।

लेखक निदेशक—केन्द्रीय आयुर्वेद एवं सिद्ध अनुसन्धान परिषद का आभार प्रकट करता है।

# त्वक् रोगों में पथ्यापथ्य

प्रा० वी० के० मेहता डिमोस्ट्रेटर/ट्युटर
शेठ जी० प्र० आयुर्वेद महाविद्यालय, भावनगर (गुज०)।

—●—
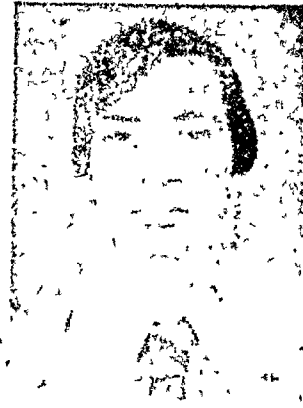
...ग रोग में अपथ्य—

रोग की प्रकृति अर्थात् रोगोत्पत्ति में कारण रूप ...दूष्यादि के समान गुण वाले द्रव्य एवं क्रियादि ...थ्य के अन्तर्गत समाविष्ट होता है। रोगोत्पादक ...न भी अपथ्य के अन्तर्गत होने के कारण यहां पर ...न एवं अपथ्य दोनों का उल्लेख किया गया है।

...र—

रस—अम्ल, लवण और कटु रस का नित्य सेवन।

गुण—स्निग्ध, गुरु और अभिष्यन्दि द्रव्यों का सेवन।

अन्न—नवान्न, पिष्टान्न और विदाही अन्न।

अन्न द्रव्य—कुलत्थ, कोदों, चीनक, माष, निष्पाव।

शाक—मूलक, काकमाची, कुसुम्भ।

फल—लकुच, बदर, परुष, केला, प्याज, निम्बू, ...टर आदि।

मांस—ग्राम्य, आनूपोदक, मत्स्य, वसा।

क्षीर विकृति—क्षीर, दही, मक्खन, मलाईआदि।

ईक्षु विकृति—इक्षुरस, मधुफाणित, गुड़, शक्कर, ...ी।

जलीय द्रव्य—श्रम करने के बाद तुरन्त पानी पीना, ...पानी, कोल्ड्रिंक्स, शर्बत और अति स्नेहपान। ...द्रि एवं विन्ध्याचल पर्वतों में से निकलने वाली ...यों का पानी, मद्यपान इत्यादि।

अन्य द्रव्य—तैल, तला हुआ आहार, अचार। ...दि

अशन—अजीर्णाशन, अहिताशन, असात्म्यअशन।

विरुद्धाशन—दूध के साथ मांस, चीलचीम नामक ...र और गुड़ का सेवन, पयस के साथ हितविरुद्धाहार।

विहार—

व्यायाम व्यवाय, दिवास्वाप, मल-मूत्रादि का वेगधारण विशेष रूप से छर्दि वेग का धारण, आतप सेवन, स्वेदन आदि।

स्नान—ज्यादा दिन तक स्नान न करना, गन्दे पानी से स्नान, स्नान के बाद गन्दे तौलिया से पोंछना।

अन्य—हानिकर्त्ता केमीकल्स के साथ त्वचा का सम्पर्क होना, रंग या रसायन की फैक्ट्री में लम्बे समय तक काम करना।

चोली (अन्तःवस्त्र) का त्वचा के साथ सम्पर्क और त्वक् रोग से पीड़ित रोगी का संसर्ग होना।

कर्म विभ्रंश—

स्नेहादि क्रिया का अयथा (क्रम विरुद्ध) प्रारम्भ, स्नेहपान और वमन के बाद तुरन्त व्यायाम या व्यवाय कर्म, शीत और उष्ण का क्रम रहित सेवन, क्रमहीन संतर्पण-अपतर्पण, सहसा आहार परिवर्तन।

मानसिक—भय, सन्ताप, क्रोध, देव, गुरु, ब्राह्मण आदि पूजनीय पुरुषों का अपमान, कृतघ्नता, पापकर्म और पुराकृत कर्म आदि।

त्वक रोग में पथ्य—

सामान्यतः रोगोत्पत्ति में कारण रूप दोष-दूष्यादि के विरुद्ध गुण वाला द्रव्य एवं क्रियादि का पथ्य के अन्तर्गत समावेश होता है।

आहार—

रस—तिक्त रस का सेवन लाभप्रद है।

गुण—लघु गुण वाला द्रव्य।

अन्न—एक साल पुराना चावल, यव, गोधूम, श्यामा आदि धान्यों को निम्ब पत्रों से सिद्ध किया हुआ मूंग या तुवरक के यूष के साथ आहार करना चाहिये।

घृत या सर्षप तैल में पकाये गये ब्राह्मी, काकुची, श्योनाक और अर्क पुष्पादि के साथ उपरोक्त अन्न द्रव्यों का आहार करना चाहिये।

शाक— करेला, पटोल, शाक श्रेष्ठ आदि।

फल— त्रिफला, बृहती फल, जाति फल आदि।

मांस जांगल प्रदेश के पशु-पक्षिओं का मांस।

जलीय द्रव्य—पीने के लिए आरग्वधादि क्वाथ का उपयोग करना चाहिए।

गो, खर, ऊष्ट्र, अश्व और महिषी के मूत्र का पान करना चाहिये।

अशन— मिताशन और हिताशन।

विहार —

वेग धारण न करना, ब्रह्मचर्य का पालन दिवा-स्वाप न करना, भोजन के बाद व्यायाम न करें, पूर्ण रूप से हवा और प्रकाश की व्यवस्था वाला निवास स्थान।

स्नान—निम्ब पत्र के क्वाथ से स्नान करना, सिंचन, अवगाहन और स्नान के लिये खदिर क्वाथ का उपयोग करना चाहिये।

गो, खर, ऊष्ट्र, अश्व और महिषी के मूत्र से स्नान करना चाहिये।

मुस्ता, त्रिफला, मदन, करंज, आरग्वध, इन्द्रयव आदि द्रव्यों से निर्मित कषाय से स्नान करना।

स्वच्छ पानी से स्नान करना चाहिये।

क्रिया—वमन, विरेचन, नस्य, रक्तमोक्षण आदि क्रियाओं का सम्यक् योग।

अन्य हानिकर्ता द्रव्यों से त्वचा को सुरक्षित रखना। सूती वस्त्रों का विशेषतः इस्तेमाल करना।

मानसिक

देव, गुरु, विप्र आदि पूजनीय पुरुषों का सम्मान करें। पूज्य कर्म करें।

गायत्री मन्त्र जप एवं सूर्योपासना करनी चाहिये।

कुछ पथ्य औषध द्रव्य —

पुनर्नवा, मेषश्रृङ्गी, चक्रमर्द, खदिर, चित्रक, हरिद्रा, दार्वि, इन्द्रयव, आरग्वध, गुडूची, वरुण, शंख पुष्पी, ज्योतिष्मती, सप्तपर्ण आदि। *

## * त्वक् रोगों में आयुर्वेद औषधि *

अमृता गुग्गुल (भावप्रकाश)— गिलोय ११२ तोला, गुग्गुल, हरड़ का छिलका, पुनर्नवा, बहेड़े का छिलका, आंवला प्रत्येक ६४-६४ तोला सब जाय कूटकर क्वाथ बनावें। चतुर्थांश रहने पर क्वाथ को कपड़छन कर फिर चूल्हे पर चढ़ावें। गाढ़ा होने पर नीचे लिखे द्रव्यों को कूट कपड़छन कर मिलादें—दन्ती मूल, सोंठ, पीपल, कालीमिर्च, हरड, वायविडंग, गिलोय, बहेड़ा, आमला, दालचीनी, चित्रक मूल प्रत्येक २-२ तोला, निशोथ १ तोला इनका चूर्ण डालकर धीमी आंच से पकावें और १ माशा (६ रत्ती) की गोली बनालें। मात्रा—७ से १२ रत्ती तक रोग का स्वरूप और शारीरिक स्थिति देखकर दें। यह औषधि वात रक्त, कुष्ठ, भगन्दर, प्रमेह, बवासीर मन्दाग्नि, दूषित रक्त, आमवात, नाड़ी व्रण, सूजन आदि रोगों को शान्त करती है।

आरोग्यवर्धिनी वटी (रसयोग सागर)— शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, लौह भस्म, अभ्रक, भस्म, ताम्र भस्म, प्रत्येक १-१ तोला, त्रिफला २ तोला, शिलाजीत ३ तोला, शुद्ध गुग्गुल, चित्रक मूलत्वक् ४-४ तोला, कुटकी १८ तोला। सर्वप्रथम पारद गन्धक की कज्जली ६ घंटा घोटकर करें। फिर काष्ठ औषधियों को अलग-अलग पीसकर रख लें। अब कज्जली में भस्म और चूर्ण मिला दें और निम्ब पत्र स्वरस में खूब खरल करें और आधा ग्राम की गोली बनालें। मात्रा—६-६ रत्ती दिन में ३ बार महामंजिष्ठादि क्वाथ के साथ। इसमें रक्त दोषहरण, भेदन, दीपन, कुष्ठ, श्वास, कास, कृमि, हृद्रोग, कफपित्तात्मक ज्वर, हिक्का स्तन्य दोष, पाण्डुरोग एवं मुख वैरस्य को दूर करने की शक्ति है।

—डा० महेन्द्रकुमार जी० नाकड़े आयुर्वेदाचार्य, मेंढली (बुल्ढाणा) महाराष्ट्र

# त्वक् रोग एवं आयुर्वेद औषधि

डा० महेन्द्र कुमार पी० नाण्डे आयुर्वेदाचार्य, आयुर्वेद रत्न, ए बी. ए. एस. एस. (दिल्ली)
मेंढली (बुलढाणा) महाराष्ट्र।

गन्धक रसायन --

शु० आमलासार गन्धक या चूर्ण लोह पात्र में घी के साथ गर्म करें। जब गन्धक जल जाये तो गाय के दुग्ध में डाल दें। बाद में जल से धोकर रखें। यही गन्धक शुद्धि है।

शु० गंधक को चातुर्जात (पत्रज, दालचीनी, इलायची, नागकेशर), गिलोय, हर्र, आंवला, बहेड़ा, सोंठ, भांगरा स्वरस में प्रत्येक दिन खरल करें। बाद में छाया में सुखाकर के चीनी या शक्कर मिला के ३ से ५ ग्राम प्रातः सायं खाकर २५० ग्राम गाय का दूध गर्म पीलें या मक्खन मिश्री के साथ भी सेवन करें।

वीर्य की वृद्धि, अग्नि की वृद्धि, कण्डु, पामा, दद्रु, कुष्ठ, चर्म रोग, हृद्रोग, वायु, पित्त कफ दोषों का नाश, शुक्र वृद्धि, जीर्ण ज्वर, प्रमेह, धातु विकृति रोगों का शमन करता है। गंधक का प्रभाव सीधे चर्म रोगों पर है। अतः वली पलित (केश झड़ना), इन्द्र लुप्त, दृष्टिमंद को नष्ट कर, मेधा स्मरण शक्ति को बढ़ाकर पुरुषों के वाजीकरण और कामशक्ति को बढ़ाता है।

कैशोर गुग्गुल (भैषज्य रत्नावली)—

त्रिफला और गिलोय के क्वाथ से संशोधित गुग्गुल ६४ तोला, हरड़, बहेड़ा, आमला, सोंठ, मिर्च, पीपल, वायविडंग प्रत्येक २-२ तोला, निसोथ, दन्ती १-१ तोला, गिलोय ४ तोला, घृत ३२ तोला, शोधित गुग्गुल, त्रिफला ६४-६४ तोला, गुर्च ४८ तोला, द्विगुण ९६ तोला, जल १९ सेर १६ तोला लेने को कहा गया है। जब गुग्गुल पकाते पकाते गाढ़ा हो जाता है तब उसी में अन्य द्रव्यों का सूक्ष्म कपड़छन चूर्ण डालकर घृत के साथ पत्थर पर कूट-कूटकर गोली बनाली है।

मात्रा—आधा मासे से १ मासे तक। इसे ३ मासे
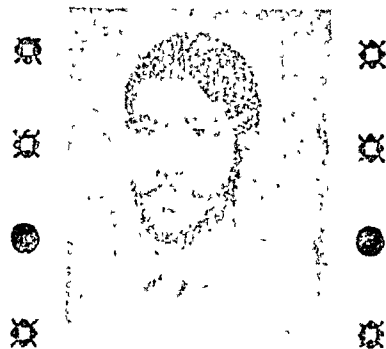
तक १ बार दी जा सकती है। प्रातःसायं।

कुष्ठ रोग में— खैरसार क्वाथ के साथ, वातरक्त में—मंजिष्ठादि क्वाथ के साथ, शोथ में—पुनर्नवाष्टक क्वाथ के साथ, पाण्डु रोग में—त्रिफला क्वाथ के साथ, अग्निमांद्य में—गरम जल से, वात रक्त में—खैरसार क्वाथ के साथ दें।

कांचनार गुग्गुल (भैषज्य रत्नावली)—

कांचनार की छाल ४० भाग, सोंठ, मिर्च, छोटी पीपल ८-८ भाग, बड़ी हरड की छाल, बहेड़ा की छाल, आमला वरुण छाल प्रत्येक ४-४ भाग, तेजपात, छोटी इलायची, दाल चीनी १-१ भाग, शुद्ध गुग्गुल ८३ भाग।

गुग्गुल को इमामदस्ते में डालकर घी के साथ मूसली से कूटकर बारीक करें। फिर उसमें समस्त द्रव्यों के कपड़छन चूर्ण को मिलाकर पुनः मूसली से कूटकर बारीक करें। अब इसकी १-१ माशे की गोलियां बनाकर सुरक्षित रखें।

मात्रा—१-२ गोली प्रातः सायं दोनों समय।

कुष्ठ रोग और भगन्दर में गोरखमुण्डी या खैरसार के क्वाथ के साथ सेवन करें। गलगण्ड, गण्डमाला,

[illegible]मुण्डी के साथ। यह पित्त, कफ, कृमि, कुष्ठ, गुद-[illegible]ण्ठमाला, व्रण वात रोग, रक्तविकार, फिरंगो-[illegible]था आमवातादि नाशक हैं।

[illegible]न्दूर व लाल चन्द्रोदय—

[illegible] पारा १० तोला, शुद्ध हरताल ५ तोला, शुद्ध [illegible]० तोला मिलाकर कज्जली करें। घी गुवार के साथ मर्दन कर सुखा ले और आतशी शीशी में वालुका यन्त्र में रखकर ४८ घण्टे की अग्नि देने सिन्दूर तैयार हो जाता है।

[illegible]का उपयोग कुष्ठ, वातरक्त, उपदंश रक्तविकार, [illegible]ेग, शोथ, श्वास, क्षय, कास, कफ प्रधान, विषम ज्वर, उरःक्षत, परिवर्तित ज्वर आदि [illegible] जाता है। यह कफघ्न, जन्तुघ्न, रक्तशोधक है।

[illegible]सिन्दूर—

[illegible] मैनशिल ५ तोला, शुद्ध पारा १० तोला, [illegible]क १० तोला।

[illegible] पारद और गंधक को खरल में पीसकर [illegible] करें। बाद में मैनशिल मिलाकर घी गुवार में घोटकर सुखा लें। आतशी शीशी में भरकर [illegible]यंत्र में रखकर ढाई दिन की अग्नि देकर शिला-[illegible]यार करें। मैनशिल कठोर पदार्थ होने से [illegible] पर नहीं उड़ता है। अन्त में ३६ घंटे की [illegible]ग्न देनी होती है। इसी में स्वर्ण वर्क या स्वर्ण [illegible]ाकर बनाने पर इसे शिलाचन्द्रोदय कहते है। [illegible]न्दूर का रंग कालस युक्त चमकदार होता है। [illegible]त्रा—चौथाई रत्ती से २ रत्ती तक।

[illegible] श्वास, कास, मेदो रोग, कुष्ठ, विसर्प, कण्ठ-[illegible] और रक्त विकारों में इसका उपयोग किया [illegible]।

[illegible]क्य—

[illegible] पत्र गाने तबकिया हरताल को लेकर पेठे के [illegible]और खट्टे दही में ७-७ या ३-३ भावना देवें। [illegible]ाकर जौकुट कर लें, फिर उसे दो सराइयों में [illegible]सन्धिस्थल पर बेर के पत्तों का पाक करें। तब [illegible]ग देवें। स्वांगशीतल होने पर दवा निकाल [illegible] माणिक की तरह कांति वाला होगा।

इसको २ रत्ती लेकर घी तथा शहद में मिलाकर खावें और भगवान की पूजा किया करें तो कुष्ठ रोगों से छुटकारा हो जाता है। फटे हुए कुष्ठ चूता हुआ कुष्ठ, वातरक्त, भगंदर, नाड़ी व्रण, दुष्ट व्रण, उपदंश, विचर्चिका, नाक तथा मुख के रोग, भयंकर क्षत, पुण्ड-रीक कुष्ठ, चर्मदल कुष्ठ विस्फोट तथा मंडल कुष्ठ सबका नाश होता है।

दूसरी पद्धति से रसमाणिक्य की प्राप्ति रस -

रस माणिक्य हरताल सेवन योग है जो कि संखिया तथा गंधक के मिश्रण से बना है। हरताल दो प्रकार की होती है। १. पत्रताल, २. पिण्ड हरताल। पत्रताल पिण्डताल से गुणों में श्रेष्ठ होने से यही औषधि के कार्य में प्रयोग करना चाहिये। हरताल एक संखिया योग है। अतः इसे पूर्ण शोधित करके ही प्रयोग करना चाहिये।

पत्रताल का मोटा चूर्ण एक पोटली में बांधकर दोलायंत्र में निम्बु का स्वरस अथवा पेठा स्वरस अथवा चूना का पानी अथवा तिल क्षार जल अथवा मेलम मूल से एक प्रहर तक स्वेदन करने से यह शुद्ध हो जाता है।

शुद्ध हरताल को पेठे के स्वरस अथवा खट्टे दही की सात भावना देकर गर्म पानी में धोकर सुखा लेवें। फिर इन दानों को अभ्रक पत्र के बीच में रखकर अभ्रक पत्रों को सुई डोरे से सीलकर बेर के पत्तों के कल्क से संधिबन्धन कर देवें। फिर इस पत्र को जलाते हुए कोयलें की तेज अग्नि पर रखकर पकावें। बीच बीच में इस पत्र को चींमटे से पकड़कर पलट देवें। जब हरताल माणिक्य के समान चिपकने लगे तो अभ्रक पत्रों को खोलकर रसमाणिक्य प्राप्त करें। खरल में सूक्ष्म पीसकर प्रयोग करें।

> कास श्वासे ज्वर जीर्ण फिरङ्गमतिदारुणम्।
> वातरक्तं च कुष्ठानि तथा नाड़ी व्रण हरेत्।
>
> — रसामृत

यह एक विशेष प्रति दूषक (Antiseptic) और जीवाणु नाश (Dis infectant) होने के कारण यह सभी प्रकार के कुष्ठ रोगों को नष्ट करता है। भयंकर फिरंग रोग भी ठीक कर देता है। इसके [illegible]

वातरक्त, विसर्प, विपादिका, दद्रु, पामा, फिरङ्गजन्य अन्य रोग, भगंदर, पुराने व्रण, नाड़ी व्रण, विस्फोट आदि रोगों को ठीक करता है। कृमिजन्य संक्रामक और त्वचा के सभी रोग इसके सेवन से ठीक होते हैं।

कुष्ठ में पंचतिक्त कषाय से भगंदर नाड़ी व्रण, क्षत तथा नासास्राव रोग में मधु, घृत के साथ सेवन करें। वाजीकरण भी है।

चन्द्रप्रभा वटी (शार्ङ्गधर संहिता)—

यह गुटिका कुल ४१ घटक द्रव्यों से बनी है—

१. कचूर २. नागरमोथा ३. कडुवच ४. कड़ुआ चिरायता ५. ताजी नीम गिलोय ६. देवदार ७. हल्दी साबुत ८. दारुहल्दी ९. अतीस नवीन १०. पीपलामूल ११. चित्रक मूल की छाल १२. हरा नवीन धनियां १३. दल बड़ी हर्रा १४. बहेड़ा दल १५. आंवला दल १६. वायविडंग १७. चव्य १८. बड़ी पीपल १९. छोटी पीपल २०. सोंठ २१. कालीमिर्च २२. स्वर्णमाक्षिक भस्म २३. सज्जीखार २४ जौखार २५. सेंधानमक २६. काला नमक २७. सामुद्र नमक २८. छोटी इलायची के बीज २९. कबाब चीनी ३०. गोखरू ३१ श्वेत चन्दन प्रत्येक ५०-५० ग्राम। ३२. सफेद निशोथ ३३. दन्तीमूल ३४. तेजपात ३५. दालचीनी ३६. छोटी इलायची ३७. असली वंशलोचन प्रत्येक द्रव्य २००-२०० ग्राम। ३८. लोह भस्म शतपुटी ४०० ग्राम। ३९. मिश्री ८०० ग्राम। ४०. सूर्यतापी शिलाजीत असली १ किलो ६०० ग्राम। ४१. शुद्ध-साफ गुग्गुल १ किलो ६०० ग्राम।

सर्व प्रथम शुद्ध व साफ की हुई गुग्गुल को लोहे के इमामदस्ते में कूटे अथवा शुद्ध गुग्गुल को जल में मिला कर उबाल कर एक रस बना लें। तत्पश्चात बाकी अलग-अलग चूर्ण की गई औषधि/काष्ठौषधियां उसमें मिलावें। जब गुग्गुल नरम हो जावे तब उसके अन्तर्गत शुद्ध शिलाजीत, दोनों भस्मों तथा अन्य काष्ठौषधि के एकत्रित बारीक कपड़छन चूर्ण क्रमशः मिला पांच दिन नीम गिलोय के स्वरस में मर्दन कर चने के बराबर आकार की ३-३ रत्ती प्रमाण की गोलियां बनाकर धूप में सुखाकर शीशी में भर लें।

मात्रा—२-२ गोली २ बार।

चन्द्रप्रभा वटी मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र और बहुमूत्र में तथा शर्करा और मधुमेह, अश्मरी और गोखरू के मिश्रित क्वाथ में देवें। पुष्टि के लिए विशेषकर जो आफिस में दिमागी काम करने वाले भाई तथा बहिनें हैं, वे गोदुग्ध और मिश्री के साथ करीब ४ माह तक नियमतापूर्वक प्रातः और सायं २-२ गोली प्रमाण से सेवन करें। इससे चमत्कारी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसके सेवन से २० प्रकार के मूत्राघात, ६ प्रकार के अर्श, ८ प्रकार के शूल रोग, ८ प्रकार के शुक्र दोष, ७ प्रकार के वृद्धि रोग, स्त्रियों के श्वेतप्रदर, कामला, पाण्डु रोग इन सभी में लाभकारी है। राजयक्ष्मा, नाड़ी व्रण, भगन्दर, २० प्रकार के प्रमेह, पिड़िकायें, गुल्म रोग, विद्रधि, वीर्य दोष किसी भी प्रकार का हुआ हो। बुद्धि की मंदता, शीघ्रपतन नामक प्रचलित भयंकर रोग, स्वप्न दोष तथा उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न शारीरिक एवं मानसिक विकारों का शमन करती है। इसके अलावा यह वटी वात, पित्त, कफजनित सब रोगों का शमन करती है, वृद्ध पुरुषों को युवा के समान शक्तिशाली बनाती है। उनके ओज (सातों रसादि धातुओं के सारभाग को ओज कहते हैं) को बढ़ाती है।

तालकेश्वर रस—

पारा, गंधक, ताम्र भस्म, लोह भस्म, गुग्गुल, चित्रक शिलाजीत, कुचला, हरड़, बहेड़ा और आमला यह सब समान भाग लेवें। सम्भरू और करंज के बीज पारे से चौगुने लेवें। इन सब पदार्थों को एकत्र करके शहद और घी में खरल करके घी के चिकने पात्र में भर कर रख दें तो वह 'गलित कुष्टारि रस' सिद्ध होता है। इस रस को नित्य एक तोला भर खावें और इसके ऊपर लाल शालि चावलों का भात, दूध और शहद इन तीन पदार्थों का पथ्य देवें। जिनके नाक, उंगली और नाक गल गई होवे वह मनुष्य भी इसके प्रभाव से कामदेव के समान शरीर वाला हो जाता है। इस रस को सेवन करने वाले मनुष्य को मैथुन का त्याग करना [illegible]

रस के ऊपर जल का तथा भात का पथ्य देवें ।

वंग भस्म की विधि—

अच्छी प्रकार से शुद्ध करने को कलई वार वार पिघला कर २१-२१बार तिल तेल, छाछ त्रिफला क्वाथ, कांजी और लहसुन के काढ़े में बुझावें। इस प्रकार बुझाने पर यदि ६ सेर कलई हो तो वह अन्त में २॥ सेर तक रह जाती है। फिर उसे पतला कर तथा नख के समान टुकड़े कर लो। फिर बड़ा उपला लेकर उसमें गड्ढा खोदकर प्रथम पलाश की राख बिछा दें। फिर अजवायन रखें और टुकड़े पृथक-पृथक रखकर ऊपर से अजवायन डाल दें। ढाक की राख से बन्दकर ऊपर से दूसरा उपला देकर इतस्ततः ८-१० सेर उपला लगाकर अग्नि दें। यदि अधिक भस्म करनी हो तो साथ ही साथ इसी प्रकार के उपले बनाकर जितने चाहे रख सकते हैं। अग्नि लगा दें और शीतल होने पर वंग भस्म को कुट किया चुन लें।

उक्त धातु क्षीणता और शुक्रमेह का अचूक योग श्री वैद्य भूषण पं० ठाकुरदत्त शर्मा का है।

षडानन गुटिका—

विष, मरिच, सुहागा, पारा, गंधक तथा जमालगोटा समभाग लेकर यथारीति मर्दन करें। फिर सबका दुगुना गुड़ मिलाकर गोली बना लें।

बलानुसार २-३ रत्ती की मात्रा से खावें। यह गुटिका दीपक, पाचक तथा दस्त लाने वाली है। यह कुष्ठ, तीव्र शूल, पथरी, आमाशय के रोगों को दुरुस्त करती है। यह जल पीने से दस्त आते हैं और गरम जल पीने से बन्द हो जाते हैं।

कुष्ठारि रस—

कठूमर का चूर्ण, ब्रह्म दंडी तथा तीनों बला (बला, अति बला, नाग बला) इसमें से प्रत्येक का चूर्ण शहद के साथ मिलाकर खाने से वात रक्त नष्ट हो जाता है।

इन्हें तीन टंक की मात्रा में सेवन करने से १ महीने में ही गिरता हुआ रक्त, सड़ता हुआ मांस, गल कर बहता हुआ तथा कीड़े पड़ते हुए कुष्ठ सम्पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं।

त्रिफला चूर्ण—हरड़, बहेड़ा, आंवला, अतीस, कुटकी, नीम, इन्द्रजव, वच, पटोल पत्र, पिप्पली, हल्दी, दारुहल्दी, पद्माख, मूर्वा, इन्द्रायण, चिरायता, ढाक २-२ पल प्रत्येक समभाग इससे दुगुना निशोथ, इसका दुगुना ब्राह्मी। कुष्ठ में जो संशः नाश होता है। उसे दूर करने के लिए यह विशेष योग है।

चोपचिन्यादि चूर्ण चोपचीनी १६ तोला, मिश्री ४ तोला, पीपल पीपलामूल, मिर्च, लौंग, अकरकरा, खुरासानी अजवायन, सोंठ, वायविडङ्ग और दालचीनी १-१ तोला लेकर महीन चूर्ण बना लें।

मात्रा—३ से ६ माशे तक घृत और शहद के साथ अथवा जल के साथ सेवन करने से वीर्य की शुद्धि, क्षीणता, उपदंश, सुजाक आदि विकार दूर होते हैं।

गिलोय—गिलोय कफ और वायु को हरने वाली है। कफ और मेद को सुखाने वाली है। बात रक्त को शमन करने वाली है। इसलिये गिलोय के स्वरस को कल्क को चूर्ण को अथवा क्वाथ को बहुत दिन तक सेवन करने से वात रक्त से मुक्त हो जाता है। गिलोय, सोंठ, धनियां प्रत्येक १-१ तोला इनका क्वाथ बनाकर पिलाने से वात रक्त नष्ट हो जाता है। तीन अथवा पांच हरडों का चूर्ण बनाकर गुड़ में मिलाकर खावें। और इसके ऊपर गिलोय क्वाथ पीवें तो घुटनों तक भेदा हुआ और स्रावयुक्त भयंकर वातरक्त अवश्य नष्ट हो जाता है। गुग्गुलु और गिलोय इनको दाख और बिजौरा नींबू के रस में अथवा त्रिफला के रस में बेर के बराबर गोली बनाकर शहद मिलाकर चाटने से महाघोर वातरक्त तत्काल नष्ट हो जाता है।

महामंजिष्ठादि क्वाथ मञ्जिष्ठा, नागरमोथा, कुड़े की छाल, कूठ, गिलोय, सोंठ, भांगरा कटेरी का पंचांग, वच, नीम की छाल, हल्दी, दारुहल्दी, हरड, बहेड़ा, आमला, पटोल पत्र, कुटकी, मूर्वा, वायविडंग, विजयसार, चीते की छाल, पाठा, शतावर, त्रायमाणा, पीपल, इन्द्र जौ, अडूसे के पत्ते, भांगरा, देवदारु, खैरसार, लाल चन्दन, निशोथ, बकायन, कंजा, अतीस, बेश्वाला, इन्द्रायण,

—शेषांश पृष्ठ ३०१ पर देखें।

# त्वक् रोग निवारक योग

वैद्य चन्द्रशेखर व्यास आयुर्वेद विशारद, चूरू ३३१००१ (राज०)।

सन् १९७०-७१ की बात है मलाड (बम्बई) के जालान चिकित्सालय में मैं उस समय कार्यरत था। जिस दिन मैंने कार्य भार संभाला उसी दिन पाण्डुरंग नामक एक महाराष्ट्रियन युवक मेरे पास आया। उस रोगी के पिता ने मुझसे कहा कि इस लड़के को मैं टाटा के अस्पताल से लेके आया हूँ। वहां से छुट्टी दे दी है। उस लड़के के वात रक्त था। मैंने उपवैद्य जटाशंकर शर्मा से पूछा कि आपके यहां निम्बादि चूर्ण है क्या? तो उन्होंने कहा कि हां है। तब उन्होंने निम्बादि चूर्ण जो अरिष्टादि चूर्ण के नाम से जाना जाता है जो नीम के पत्तों से बनता है, मुझे दिखाया तो मैंने कहा कि यह निम्बादि चूर्ण नहीं है यह तो विषम ज्वर की दवा है। मैंने कहा कि मुझे तो वही निम्बादि चूर्ण देना है जो भैषज्य रत्नावली में रक्त विकार पर है। तब उन्होंने भैषज्य रत्नावली निकाली और उस चूर्ण के योग को देखा। निम्बादि चूर्ण भै० र० के अनुसार बनाकर तैयार किया गया।

निम्बादि चूर्ण—नीम की छाल, गिलोय, हरड, आंवले प्रत्येक का चूर्ण ८-८ तोले, सोमराजी (बावची) का चूर्ण ८ तोले, बायविडंग, एडगज (चक्रमर्द, पंवाड), पिप्पली, अजवायन, वच, श्वेत जीरा, कालीमिर्च (अथवा कुटकी), खैर, सेंधा नमक, यवक्षार, हल्दी, दारुहल्दी, मोथा, देवदारु, कुष्ठ (कूठ) प्रत्येक का चूर्ण २ तोले। चूर्ण में प्रत्येक औषधि को कूट छानकर ही योगोक्त परिणाम में लेना चाहिये। तदनन्तर सबको मिलाकर चूर्ण तैयार करें। मात्रा—१ से ३ माशे तक। अनुपान—गिलोय का क्वाथ।

इस चूर्ण के निरन्तर एक मास के प्रयोग से शरीर स्वर्ण की तरह कांतिमान हो जाता है तथा दारुण वात रक्त, श्वित्र, औदुम्बर, कुष्ठ, कोठ, चर्मदल, सिध्म, पामा, व्रण, कण्डु, विचर्चिका, दद्रु (दाद), किटिभ, आमवात, शोथ, सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त उदर रोग,

प्लीहा (तिल्ली), गुल्म, वायु रोग, कामला एवं कंडू युक्त व्रणों को शीघ्र ही यह चूर्ण हरता है—ऐसा नागार्जुन मुनि ने कहा है।
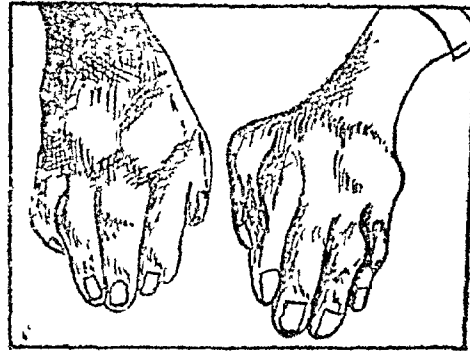
वातरक्त रोगी के हाथों की स्थिति

व्यवस्था पत्र—

निम्बादि चूर्ण सुबह-शाम दो-दो ग्राम और गिलोय दस ग्राम को जवकुट करके अढाई सौ ग्राम पानी में डालकर औटावें। जब पचास ग्राम शेष रह जावे तब उतार कर छान लेवें और शुद्ध गौ का घी १० ग्राम

—शेषांश पृष्ठ ३०४ पर देखें।

# —त्वक् रोगों पर मुष्टिक योग—

आचार्य वेदव्रत शास्त्री, कासगंज (एटा) उ० प्र०।

### खदिर वारि

प्रलेपोद्वर्तनस्नान, पान भोजन कर्मणि।
शीलितं खादिरं वारि-सर्वत्वक् दोष नाशनम्।

शरीरान्तर्गत त्वचा पर प्रलेप, उद्वर्तन, स्नान, पान तथा भोजन निर्माण कार्य में भी खदिर जल का ही निरन्तर प्रयोग किया जाय तो सर्वप्रकार के त्वचा विकार नष्ट होते हैं।

### सर्वकुष्ठनाशक योग

इन्द्राशन समादाय, प्रशस्तेऽहनि चोद्धतम्।
तच्चूर्णं मधुसर्पिभ्यां लिहेद् क्षीर घृताशिन:॥
हत्वा च सर्वकुष्ठानि, जीवेद् वर्षंत द्वयम्॥

भांग के पौधे को शुभ दिन में उखाड़कर लाकर शुद्ध कर सुखाकर चूर्ण कर लेवे। मधु घी के समान के साथ चाटने पर और घी दूध का भोजन करने वाला पुरुष सब कुष्ठों का विनाश कर दो सौ वर्ष का जीवन पाता है। मात्रा १ रत्ती से प्रारम्भ कर शनै: शनै: बढ़ाकर १ ग्राम तक ले जावे।

### एक मास में सब कुष्ठों पर विजय

य: खादेदभयारिष्टमरिष्टा मलकानि च।
स जयेद् सर्वं कुष्ठानि, मासादूर्ध्वं न संशय:॥

जो व्यक्ति हरड़ और नीम के कोमल पत्तों को या नीम के पत्तों और आमलों को मिलाकर सेवन करता है। वह एक मास के पश्चात् सब कुष्ठों पर विजय प्राप्त करता है।

### त्वक् रोगों में नीम का जल

निम्बस्य रोदनाद् प्राप्त: धार भूतश्चयो रस:।
सेवनाद् तस्य नश्यन्ति, त्वक् रोगा: न संशय:॥

देहातों में जब कभी स्वत: ही नीम से पानी बहने लगता है (जिसे देहाती भाषा में नीम का रोना माना जाता है)। इस पानी को एकत्रित कर पान करने से भी त्वचा के दोष शान्त होते हैं।

### वातरक्त विमर्दन

गूडूच्या: स्वरसोवापि, सेव्यमानो यथाबलम्।
जीर्णे घृतेन भुंजीत, वातरक्त विमर्दये॥

गिलोय का रस बलानुसार सेवन करने से और उसके जीर्ण होने पर प्रभूत घृत युक्त भोजन करने से वात रक्त शान्त होता है।
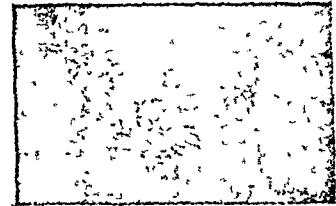
### विस्फोट कोठ शीतपित्तादि पर

निम्बस्यपत्राणि सदा घृतेन,
धात्री विमिश्राण्यथवोपयुंजीत।
विस्फोटकोठक्षत शीतपित्तं,
कण्डूस्रपित्ते रकसा च हन्यात्॥

नीम के कोमल पत्र घृत के साथ, आंवलों के साथ सेवन करने से विस्फोट, कोठ, क्षत, शीतपित्त, कण्डु, रकसा सभी शांत होते हैं।

### वल्मीक नाशक

जातीपल्लव कल्कैश्च, निम्ब तैलं विपाचयेद्।
वल्मीकं नाशयेद् तद्धि, बहुछिद्रं बहुस्रवम्॥

नीम के तेल मे चमेली के पत्तों का कल्क डालकर तेल विधि से पाक कर तैयार करे। इस तेल को बहुछिद्र और स्रावयुक्त वल्मीक व्रण मे धीरे-धीरे प्रवेश, अभ्यङ्ग करने से वल्मीक रोग नष्ट होता है।

### गुदभ्रंश

कोमलं पद्मिनी पत्र य: खादेद् शर्करान्वितम्।
एतन्निश्चित्य निर्दिष्ट न तस्य गुद निर्गम:॥

कमल के कोमल पत्तों को पीसकर मिश्री के साथ

प्रातःसायं खाने से और अभयारिष्ट या त्रिफलादि चूर्ण भोजन के बाद सेवन करने से गुदभ्रंगता निश्चय ही नष्ट होती है।

व्यङ्गघ्न लेप

रक्त चंदन मंजिष्ठा, कुष्ठलोध्र प्रियंगवः।
वटांकुर मसूराश्च व्यङ्गघ्ना: मुखकान्तिदाः॥

लाल चंदन, मंजीठ, कूठ, लोध्र, प्रियंगु, वट के अंकुर, मसूर की दाल इन सबको पीसकर कच्चे दूध में या पानी में ही पीसकर लेप करने से व्यङ्ग (झाई) अवश्य नष्ट होवे हैं।

त्वक् दाहे

शतधौत घृताभ्यङ्ग त्वक् दाहे प्रशम्यते।
सौ बार धोये हुए घृत का अभ्यङ्ग त्वक् दाह में लाभ पहुँचाता है।

श्वित्र नाशक लेप

गुञ्जाफलाग्निचूर्णन्तु लेपितं श्वेतकुष्ठनुत्।
शिलाऽपामार्गभस्मापि लिप्त्वा श्वित्रं विनाशयेत्॥

चौंटनी और चीते की छाल का लेप या मैनसिल और अपामार्ग भस्म का लेप गोमूत्र में पीसकर लेप करने से श्वित्र नष्ट होता है, प्रथम लेप जलन करता है।

मसूरिका निष्कासन तथा शमन हेतु

काञ्चनार त्वचः, क्वाथः, ताप्य चूर्णावचूर्णितः।
निर्गत्यान्तः प्रविष्टान्तु मसूरी बाह्यतोनयेत्॥

कचनार की छाल के साथ स्वर्ण माक्षिक भस्म १ रत्ती का सेवन करने से अन्तः प्रविष्ट मसूरिका पुनः बाहर निकल आती है और धीरे से शमन हो जाती है

चिकने केशों के लिए

धात्र्याम्रमज्जलेपात् स्यात् शिरोरुहस्निग्धकेशता।

आंवला और आम की गुठली की मींग को जल से पीसकर शिर पर लेप करने से केशों का झरना दूर होता है और केश चिकने और लम्बे होते हैं।

कच्छू रोग पर

अवल्गुज काशमर्द चक्रमर्द निशायुगम्।
माणिमंथञ्च तुल्यांशं मस्तु काञ्जिक पेषितम्॥
कण्डूं कच्छूं जयत्युग्रा सिद्ध एष प्रयोगराट्।

बावची, कसौंदी के बीज, चकवड़ के बीज, हल्दी, दारुहल्दी, सेंधानमक समभाग लेकर पीसकर चूर्ण कर दही के तोड़ और कांजी के साथ पीसकर प्रतिदिन लेप लगाने से कण्डू और भयंकर कच्छू नष्ट होती है।

सर्वमेढ्रोगापहारी

रसांजन शिरीषेण पथ्यया वा समन्वतम्।
स क्षौद्रं वा प्रलेपोऽयं सर्व मेढ्रगदापहः॥

रसौत शुद्ध को शिरीष के साथ मिलाकर शहद के साथ लेप करने से सर्व प्रकार के मूत्रेन्द्रिय के व्रणादि दूर होते हैं।

कुनख नाशक

नखकोटि प्रविष्टेन टङ्कणेन न शाम्यति।
कुनखश्चेतदा ग्राव्., शैलाऽपि प्लवते जले॥

कुनख रोग में जल से घिसे हुए टंकण का लेप करने पर तथा नख और मांस के बीच सूखा सुहागा का चूर्ण भरने से यदि कुनख रह जावे तो पहाड़ भी पानी में तैरने लगे—अर्थात् कुनख रोग शेष नहीं रह सकता है। ★

---

त्वक् रोग और आयुर्वेदीय औषधि + पृष्ठ २६८ का शेषांश

की जड़, धमासा, सारिवा और पित्तपापड़ा इन ४५ औषधियों को कूट पीसकर जौ कुट करके १ तोला का काढ़ा कर उसमें पीपल का चूर्ण और गुग्गुल मिलाकर पीवें तो अठारह प्रकार के कुष्ठ नष्ट हो जाते हैं।

खदिरारिष्ट - खैर की छाल, बावची ५०-५० पल, दारुहल्दी २० पल, हरड़ आंवला बहेड़ा तीनों मिलाकर २० पल इस प्रकार सम्पूर्ण औषध लेकर कूटके उसका ८ द्रोण पानी में काढ़ा करे। जब एक द्रोण मात्र पानी रहे तब उतार कर छान ले। शीतल होवे पर उसमें से शहद २०० पल, खांड १०० पल धाय के फूल २० पल कंकोल, जायफल, नागकेशर, लौंग, इलायची दालचीनी पत्रज ये सब औषधि १-१ पल पीपल ४ पल इस प्रकार सबको एकत्र कर चूर्ण कर लें। उसको पूर्वोक्त काढ़े में मिलावें। फिर उसको घी के चिकने पात्र में भरकर मुख पर मुद्रा दें। ३० दिन के पश्चात निकालें। इसके सेवन से महाकुष्ठ दूर होता है। ★

# —परम रक्तशोधक रसमाणिक्य—

वैद्य भानुप्रताप आर० मिश्र बी. एस. ए. एम , आयुर्वेद मध्यमा
विवेचक-श्री बालाहनुमान आयुर्वेद महाविद्यालय, लोदरा ता० विजापुर [महेसाना] गुज०

प्राध्यापक श्री मिश्रा जी ने एक रसौषधि को पाठकों के सामने इस लेख में रख दिया है। अपनी चिकित्सा में हम शुद्ध दवाइयों के आग्रही होते ही हैं और ऐसी एक औषधि जो ज्यादातर त्वक् रोगों में काम आने वाली है वह रसमाणिक्य इन्होंने प्रस्तुत की है। मिश्रा जी वैद्य और प्राध्यापक दोनों कार्य में कार्य कुशल हैं।

रसमाणिक्य तैयार करने का प्रयोग का विधान सरल है एवं रोग मुक्ति के लिए अभीष्ट है, यही बात लेखक ने अपने लेख में प्रयोग कितनी मात्रा में देने से कई दर्दियों में लाभ मिल सकता है ठीक-ठीक समझाया है। जिस श्वास के साथ विचर्चिका, विदारिका है तथा बार-बार प्रतिश्याय के हमले होते हैं। ऐसे विदारिका के दर्दियों में मैंने रसमाणिक्य अजमाया है। वह परम लाभप्रद है। रसौषधि के उपयोग के साथ स्पष्ट सुपथ्य आहार-विहार के लिये कहना बड़ी आवश्यक बात है।

—वैद्य किरीट पण्डया [विशेष सम्पादक]

---

हरताल में सोमल एवं गन्धक के परमाणु सम्मिलित हैं। कुछ लोग शुद्ध सोमल ७६ भाग तथा शुद्ध गन्धक २४ भाग को एक साथ खरल करके डमरूयंत्र में रखकर अग्नि देने से कृत्रिम हरताल तैयार होता है। ऐसा रसतरंगिणी में उल्लेख मिलता है। रसमाणिक्य को बनाने के लिए उत्तम एवं शुद्ध प्राकृतिक हरताल का प्रयोग करना चाहिये। इससे उत्तम रस माणिक्य का युक्तिपूर्वक तथा पथ्यापथ्यपूर्वक प्रयोग किया जाय तो विभिन्न प्रकार के त्वक् विकार, विभिन्न प्रकार के ज्वर तथा कैंसर जैसी भयानक व्याधियों को भी यह मिटाने में सहायक है। रसमाणिक्य के निर्माण की प्रक्रिया बहुत ही सरल होने के कारण रोगी तथा वैद्य दोनों इसका निर्माण करके प्रयोग करके लाभ उठा सकते हैं। अतः प्रस्तुत आलेख में हरताल का शोधन, रसमाणिक्य का निर्माण, मात्रानुपान, आमयिक प्रयोग तथा सुप्रसिद्ध योग का मार्गदर्शन देने का प्रयास किया गया है।

हरताल का शोधन — रसमाणिक्य बनाने के लिए शोधित हरताल की आवश्यकता होती है। अतः निम्न-लिखित हरताल के शोधन की विधियों में से किसी एक विधि से हरताल का शोधन करके रसमाणिक्य बनाना चाहिये —

(१) सर्वप्रथम वंशपत्री हरताल को चावल के बराबर टुकड़ों में विभाजित कर लेना चाहिए। तत्पश्चात कपड़ा में रखकर पोटली बना लेनी चाहिए। इस पोटली को दोलायंत्र में बांधकर क्रमशः चूर्णोदक, कूष्माण्ड स्वरस, तिल के तेल और त्रिफला क्वाथ में एक-एक प्रहर अर्थात् तीन-तीन घंटा स्वेदन करना चाहिए। इससे हरताल की शुद्धि होती है। उसके बाद शोधित वंशपत्री हरताल को गर्म पानी में अच्छी तरह शोधन कर सूर्यताप में सुखा लेना चाहिए। शुष्क हरताल का सूक्ष्म चूर्ण बनाकर रसमाणिक्य बनाने हेतु सुरक्षित रख लेना चाहिए।

(२) वंशपत्री हरताल को उपरोक्त विधि अनुसार दोलायंत्र में बांधकर नीबू के रस में एक प्रहर अर्थात् तीन घण्टे स्वेदन करने से वंशपत्री हरताल का शोधन होता है। उसके बाद शोधित वंशपत्री हरताल को गर्म पानी में अच्छी तरह धोकर सूर्यताप में सुखा लेना

चाहिये। शुष्क वंशपत्री हरताल का सूक्ष्म चूर्ण बनाकर रसमाणिक्य बनाने हेतु सुरक्षित रख लेना चाहिये।

(३) वंशपत्री हरताल को उपरोक्त विधि अनुसार दोलायंत्र में बांधकर तिल क्षार मिश्रित पानी से एक प्रहर स्वेदन करने से वंशपत्री हरताल का शोधन होता है। उसके बाद शोधित वंशपत्री हरताल को उपरोक्त विधि से धोकर शुष्क करके चूर्ण बनाकर रसमाणिक्य बनाने हेतु सुरक्षित रख लेना चाहिए।

(४) वंशपत्री हरताल को चूर्णोदक की सात भावना देने से वंशपत्री हरताल का शोधन होता है। शोधित वंशपत्री हरताल को गर्म पानी में अच्छी तरह धोकर सूर्यताप में सुखा लेना चाहिए। तत्पश्चात शुष्क वंशपत्री हरताल का सूक्ष्म चूर्ण बनाकर रसमाणिक्य बनाने हेतु सुरक्षित रख लेना चाहिये।

रसमाणिक्य का निर्माण—सर्व प्रथम फ्यूज हुए बल्ब को लेकर उसका ऊपरी धातुकृत भाग को हटा देना चाहिए। इस बल्ब को अच्छी तरह साफ करके उसमें शोधित किया हुआ वंशपत्री हरताल का चूर्ण भर लेना चाहिए। तत्पश्चात बालुका यंत्र में रखकर या सीधे अग्नि देनी चाहिए। उष्मा पाकर वह पिघल जाता है। शलाका डालकर देखें। लाल रंग का तार निकले तब अग्नि देना बन्द कर देना चाहिये। शीतल होने पर चमकदार लाल रंग का रसमाणिक्य सावधानीपूर्वक निकाल कर चूर्ण कल्पनानुसार चूर्ण बनाकर चिकित्सा के उपयोग हेतु सुरक्षित रख लें।

इस विधि का उल्लेख भारतीय रसशास्त्र में वैद्य श्री विश्वनाथ द्विवेदी जी ने किया है। यह बहुत ही सरल एवं सुरक्षित विधि होने के कारण इसका उल्लेख यहां किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य विधि से भी रसमाणिक्य बनाया जा सकता है। जिज्ञासु पाठक गण भारतीय रसशास्त्र में रसमाणिक्य निर्माण प्रकरण देखने का कष्ट करें।

परीक्षा—रसमाणिक्य देखने में माणिक्याभ चिकना कठिन कांचवत् लाल माणिक्य की भांति दिखाई देता है। अधिक अग्नि लगने पर रसमाणिक्य काला चमकदार कांच की भांति दिखाई देता है। उपरोक्त दोनों रसमाणिक्य का चूर्ण बनाने पर पीताभ चूर्ण बनता है। इसे घ्राणेन्द्रिय द्वारा सूंघने पर गन्धक की तरह सुगन्ध आती है। स्पर्श में यह रूक्ष है। स्वाद में से यह नीरस ईषत् कटु है। लाल वर्ण का रसमाणिक्य उत्तम माना गया है।

मात्रानुपान—इसे वयस्क को ११२ से २४५ मि. ग्रा. तक घी, शहद, मक्खन, मिश्री आदि अनुपान के साथ दिन में तीन बार देना चाहिए या चिकित्सक के परामर्श अनुसार देना चाहिये।

रसमाणिक्य का उपयोग—

यह विभिन्न प्रकार के कुष्ठ, वातरक्त, विसर्प, विपादिका, विचर्चिका, भगन्दर, नाड़ीव्रण, नासारोग, मुख रोग, विस्फोटक आदि में उपयोगी है। यह उपदंश, दुष्टव्रण, कास, श्वास, हृदयावरोध, वातश्लेष्म ज्वर, विषम ज्वर, सन्निपातिक ज्वर, पुण्डरीक कुष्ठ, मण्डल कुष्ठ, गलित कुष्ठ, आमवात, श्वेत कुष्ठ, पामा, शीतपित्त तथा क्षत आदि रोगों में हितकारी है।

रसमाणिक्य के आमयिक प्रयोग—

(१) आमवात में रसमाणिक्य २४५ मिग्रा., अजमोदादि चूर्ण २ ग्राम, गोदन्ती भस्म आधी ग्राम, गुडूची सत्व १ ग्राम प्रातः दोपहर शाम दशमूल क्वाथ के साथ देने से लाभ होता है। आमवात के रोगी को पथ्यापथ्य का पालन करना तथा लघु आहार देना चाहिये।

(२) कास में रसमाणिक्य २४५ मिग्रा., शृङ्ग भस्म १/४ ग्राम सितोपलादि चूर्ण १ ग्राम दिन में तीन बार वासावलेह के साथ देने से जमा हुआ कफ पिघल कर निकल जाता है। इससे खांसी में लाभ होता है।

(३) किटिभ कुष्ठ अर्थात् सोरायसिस में रसमाणिक्य २४५ मिग्रा, महामंजिष्ठादि घन वटी १/२ ग्रा., आरोग्यवर्धिनी रस आधा ग्रा., पंचनिम्ब १ ग्राम, खदिरत्वक् चूर्ण १ ग्राम दिन में तीन बार पंचतिक्त घृत गुग्गुलु के साथ लेने से तथा सोरा आयन्टमेंट लगाने से लाभ होता है। सोरायसीस एक कष्टसाध्य व्याधि है। अतः पथ्य अपथ्य का पालन बड़ी सावधानी से करें।

(४) पामा मे रसमाणिक्य २४५ मि. ग्रा., चोपचिन्यादि चूर्ण १ ग्रा., त्रिफला चूर्ण २ ग्रा., गन्धक रसायन आधा ग्रा., दिन में ३ बार महामंजिष्ठादि क्वाथ के साथ लेना चाहिए तथा मर्हं तेल का नवीन अभ्यंग करने से पामा अर्थात् खाज-खुजली ठीक हो जाती है। इसमें विरुद्ध आहार का त्याग करें।

(५) प्रतिश्याय अर्थात् सर्दी में रसमाणिक्य २४५ मिग्रा., महालक्ष्मी विलास रस ११२ मिग्रा., प्रवाल भस्म अभ्रक भस्म २४५-२४५ मिग्रा. लवगादि चूर्ण १ ग्रा. शहद के साथ दिन में तीन बार लेने से लाभ होता है।

(६) विपादिका, पाददारि और हस्तदारि एक-दूसरे से मिलते जुलते रोग हैं। इनकी चिकित्सा में भी साम्यता है। इसमें रसमाणिक्य २४५ मिग्रा., यष्टि-मधु चूर्ण, अश्वगन्धा चूर्ण, खदिरत्वक् चूर्ण प्रत्येक १-१ ग्रा. दिन में तीन बार दशमूल अरिष्ट के साथ लेने से विपादिका में लाभ होता है। इससे पीड़ित स्थान पर जात्यादि मलहम लगाकर पहले अच्छी तरह मालिश करना चाहिये। इसमें रोगी नमक का त्याग करें।

(७) संक्रामक वातश्लेष्म ज्वर अर्थात् फ्लू में रसमाणिक्य २४५ मिग्रा., कल्पतरु ११२ मिग्रा., गोदंती भस्म २४५ मिग्रा, सितोपलादि चूर्ण १ ग्रा. दिन में ३ बार शहद के साथ देने से आराम होता है। इससे सर्दी, खांसी, शरीर दर्द तथा ज्वर में शीघ्र लाभ होता है।

(८) श्वास में रसमाणिक्य २४५ मिग्रा, यष्टि-मधु १ ग्रा., शृङ्ग भस्म 1/4 ग्रा. शुद्ध टंकण क्षार 1/4 ग्रा, श्वास कुठार रस 1/8 ग्रा. दिन में तीन बार कनकासव के साथ लेने से दमा में आराम मिलता है। कफ आसानी से बाहर निकल जाता है।

(९) श्वेत कुष्ठ में रसमाणिक्य, गुडूची सत्व, मुक्ताशुक्ति भस्म, सुवर्ण माक्षिक भस्म एवं ताम्र भस्म ११-१२ ग्रा, बाकुची चूर्ण, खदिरत्वक् चूर्ण तथा पंच निम्बादि चूर्ण ५०-५० ग्रा. लेकर सबको मिश्रित करके सुरक्षित कांच की शीशी में रख लें। इसे श्वेत कुष्ठहर मिश्रण कहते हैं। इसे प्रातः दोपहर शाम दो-दो ग्राम महामंजिष्ठादि क्वाथ के साथ दें तथा श्वित्रहर लेप क्वाथ के साथ पीसकर सफेद दाग पर लगाने से शीघ्र आराम हो जाता है। पथ्यापथ्य का पालन इसमें करें।

(१०) शीतपित्त अर्थात् जुड़पित्ती में रसमाणिक्य २४५ मिग्रा, अग्नितुण्डादि चूर्ण २ ग्रा., गन्धक रसायन तथा आरोग्यवर्धिनी रस आधा-आधा ग्रा. दिन में ३ बार मंजिष्ठादि क्वाथ के साथ लेने से लाभ होता है। शीतपित्त पर स्वर्जिका क्षार अर्थात् खाने का सोड़ा पानी में मिलाकर लगाने से तुरन्त लाभ होता है।

**रसमाणिक्य के सुप्रसिद्ध योग—**

(१) नारायण रस—इसे वयस्क को ११२ मिग्रा. दिन में तीन बार नागरवेल के पान के साथ अथवा चिकित्सक के परामर्शानुसार देना चाहिए। यह विभिन्न प्रकार के ज्वर एवं सन्निपात में उपयोगी है। नारायण रस के नाम से भैषज्य रत्नावली अध्याय ५१ में एक योग और देखने को मिलता है। उपरोक्त योग और इसमें घटक द्रव्यों तथा उपयोग की दृष्टि से काफी अन्तर है। जिज्ञासु पाठक भैषज्य रत्नावली देखने का कष्ट करें।

(२) बृहत् कस्तूरी भैरव रस—इसे वयस्क को २४५ मिग्रा. दिन में तीन बार आर्द्रक स्वरस के साथ अथवा चिकित्सक के परामर्शानुसार देना चाहिए। यह विभिन्न प्रकार के ज्वर तथा सन्निपात ज्वर एवं सूतिका ज्वर में उपयोगी है। शरीर ठण्डा पड़ जाना, प्रलाप, तन्द्रा एवं नाड़ी क्षीणता आदि में उपयोगी है।

(३) रक्त रोगारि केप्सूल—इसे वयस्क को एक केप्सूल दिन में तीन बार मजिष्ठादि अर्क के साथ अथवा चिकित्सक के परामर्शानुसार देना चाहिए। यह सभी प्रकार के कुष्ठ, खाज-खुजली आदि सम्पूर्ण रक्त विकारों में उपयोगी है। यह पित्त प्रकृति वाले रोगियों को दिया जा सकता है। अतः यह एक निर्दोष औषधि योग है।

(४) डर्मेफैक्स केप्सूल—इसे वयस्क को १ से २ केप्सूल दिन में तीन बार पानी के साथ अथवा चिकित्सक के परामर्शानुसार देना चाहिए। यह बहिपूतन, गण्डमाला, उपदंश, मुंहासे, खुजली इत्यादि त्वक् विकारों में उपयोगी है। यह रक्तशोधक औषधि योग

है। यह रक्त के परिभ्रमण को नियमित बनाती है तथा बेहतर स्वास्थ्य एवं रक्त रूप प्रदान करती है। इसके लम्बे समय के प्रयोग से कोई नुकसान नहीं होता है। अतः यह एक पेटेण्ट औषधि योग है।

(५) उपदंशारि कैप्सूल—इसे वयस्क को १ से २ कैप्सूल दिन में दो बार पानी के साथ अथवा चिकित्सक के परामर्शानुसार देना चाहिए। फोड़ा-फुन्सी, व्रण, रक्तविकार, उपदंश, पूयमेह, गलित कुष्ठ, भगन्दर, चकत्ते आदि में उपयोगी है। यह एक निर्दोष औषधि योग है।

अन्त में विभिन्न बनावटों के उपयोग से कभी-कभी प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। हरताल अशुद्ध एवं रसमाणिक्य के कच्चे रहने पर बेचैनी, हृल्लास आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। ऐसी स्थिति उत्पन्न होते ही हरताल की विभिन्न बनावटों का प्रयोग बन्द कराना चाहिए। कूष्माण्ड स्वरस में जीरा एवं मिश्री मिलाकर बार-बार पिलाने से प्रतिक्रिया का शमन होता है।

—•❁• —

त्वक् रोग निवारण योग — पृष्ठ २८८ का शेषांश

मिलावें। इस काढ़े से बारीक निम्बादि चूर्ण २ ग्राम लेवें। वातरक्त के ऊपर महामरिच्यादि तैल की मालिश करें। यदि पामा, कण्डू हो तो निम्न उबटन करें—

बाजरे का चूर्ण (आटा) अढ़ाई सौ ग्राम, पीली पिसी हुई पच्चीस ग्राम, सत्यानाशी (चोक) का चूर्ण पचास ग्राम, चूर्ण हल्दी पिसी हुई १५ ग्राम, कपूर पाव ग्राम इन सबको मिलाकर किसी जार (भाड) में रख लें। आवश्यकतानुसार इसमें से निकालकर नारियल या सरसों का तैल मिलाकर थोड़ा जल डालकर उबटन करें। ऐसा करने से दाद, खाज, खुजली, विचर्चिका नष्ट हो जाती है। दाद, खाज, खुजली वाले यह चूर्ण भी एक माह तक सेवन करें।

कमर या गुप्तांग के दाद हेतु भी यह उत्तम दवा है। इसके अलावा यवानिका चूर्ण—अजवायन दो सौ ग्राम लेकर जल से धोकर सुखा लें और बारीक पीस लेवें। अजवायन चूर्ण जितनी मात्रा में हो उतनी ही मिश्री मिलावें। इसमें से चाय की चम्मच जितनी मात्रा सुबह दोपहर और शाम जल के साथ लेवे। इससे सूखी खाज दाद समूल नष्ट हो जाती है। गोकुलप्रसाद शर्मा नामक एक रोगी की कमर में बहुत खुजली एवं दाग थे। उससे वह बहुत दुखी था। मैंने उसे यह चूर्ण दिया। उससे बहुत लाभ हुआ। दाद, खाज, खुजली समूल नष्ट हो गये। यह साधारण सी दवा है। पर उसमें बहुत गुण हैं।

मलहम—अजवायन सौ ग्राम लेकर तवे ऊपर जला लेवें और किसी लोहे के पात्र में डालकर थोड़ा शुद्ध घी डालकर लोहे की मूसली से खूब बारीक पीसकर फिर चौड़े मुंह की शीशी में रख देवें। यह मलहम जिसके पामा हो जाता है उस पर यह मलहम लगावें। इससे रसी हुई पामा समूल नष्ट हो जाती है।

शीतपित्त और अजवायन—

शीतपित्त हो जाने से जो फोड़े या पित्ती होती है उसके लिए यह अजवायन का योग उत्तम है। यह योग इस प्रकार है—

अजवायन का चूर्ण सौ ग्राम, रस सिन्दूर तीन ग्राम, गुड़ डेढ़ सौ ग्राम। अजवायन चूर्ण और रस सिन्दूर को महीन पीसकर गुड़ में मिलाकर तीन-तीन या चार-चार रत्ती की गोलियां बना लें। यह दो-दो गोली गर्म जल से सुबह शाम लेवें। इससे पुराना शीत पित्त (पित्ती) समूल नष्ट हो जाती है।

उपरोक्त सभी योग अनुभूत हैं। इनसे वैद्य गण अवश्य लाभान्वित होंगे।

विभिन्न त्वक् रोगों में साण्डू ब्रादर्स का एक सफल योग

# हिमोक्लिन—

वैद्य अशोक भाई तलाविया भारद्वाज बी. एस. ए. एम,
आयुर्वेद मार्तण्ड आचार्य मनो चिकित्सा शास्त्र

विशेष सम्पादक—धन्वन्तरि पुरुष रोगांक, शून निदान चिकित्सा, आयुर्वेद गुप्त रहस्यांक, मानस रोगांक।

भारद्वाज औषधालय, स्वामी नारायण मन्दिर, सावर कुण्डला-३६४५१५ (भावनगर) गुजरात।

त्वक् रोगों की विभिन्न चिकित्सा का निर्देश है, जैसेकि-पंचकर्म चिकित्सा, अभ्यंग, लेपन, स्वेदन, रक्तमोक्षण औषधोपचार में चूर्ण, गुटिका, आसवारिष्ट, काढ़ा इत्यादि। आयुर्वेद की मूलभूत चिकित्सा योगों ऐसा है कि कोई कटु, कोई तिक्त, कोई बेस्वादी। अतः आज के शिक्षित व श्रीमंत लोग ऐसे योगों को लेने को तैयार नहीं हैं। साथ ही आधुनिक चिकित्सा का बोल बाला। उसके पास सुवोरेत्र, टेबलेट, कैप्सूल, मधुर सीरप इत्यादि मौजूद है। अधिकतर रोगी ऐसी ही दवा सरलता से लेने को तैयार हो जाते हैं। हमारी कड़वी दवा नहीं। युग परिवर्तन के साथ आयुर्वेद की विभिन्न रसायनशालाओं में भी अनुसंधान कार्य हो रहा है। अनेकों प्रकार की पेटेण्ट औषधियां आज हमारे सामने प्रस्तुत कर आयुर्वेद शास्त्र व पद्धति का प्रचार व प्रसार करने में अपना मूल्यवान योगदान दे रही हैं। विषय है त्वचा रोगों का, तो पेय के स्वरूप में आसवारिष्ट मूल शास्त्रीय योग है। उनका अनुसन्धान कर्म कर फार्मेसी में पेटेण्ट योग बनाकर बाजार में प्रस्तुतीकरण किया है—उन सब में आशातीत फलप्रद योग का नाम है—'हिमोक्लिन'। यह हिमोक्लिन पेय के स्वरूप में है। उनका विस्तृत विवेचन निम्नोक्त है—

नाम—हिमोक्लिन प्रवाही।

निर्माता—साण्डू ब्रदर्स प्रा० लि०, चेम्बूर बम्बई

योग द्रव्य—प्रत्येक ५ मिली. में

खदिर छाल, उपलसरी, मंजिष्ठा तीनों २५०-२५० मिग्रा, वहावा मगज, किरात तिक्त, कुटकी, निम्बत्वक् प्रत्येक १२५-१२५ मिग्रा., चोपचीनी, वासा ६०-६० मिग्रा., गिलोय, हरिद्रा दोनों २०-२० मिग्रा., दारुहरिद्रा मूल ४० मि.ग्राम।

वैद्यकीय उपयोग—उपरोक्त द्रव्य घटक से स्पष्ट हो जाता है कि हिमोक्लिन सीरप में जो भी योग का सम्मिश्रण किया गया है वह सभी उत्तमोत्तम गुणवान होने से विभिन्न प्रकार के त्वक् रोगों में उपयोगी साबित होता है।

हिमोक्लिन शामक, शोधक, रक्तशुद्धिकारक होने से निम्नोक्त त्वक् रोगों में सफलता से कार्य करता है।

रक्तपित्त, रक्तदुष्टि, त्वक् दाह, विस्फोटक, विसर्प, शिव्प, युवानपिडिका, विचर्चिका, दद्रु, पामा, विभिन्न कुष्ठ रोग इत्यादि। त्वक् रोगों में हिमोक्लिन का सफलता से प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—दो चम्मच (१० मिली.) दिन में दो बार समभाग जल से। रोग की तीव्रावस्था में ३-४ बार भी दिया जाता है।

इस दवा की कोई भी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं है। निरापद औषधि योग है।

हमारा विशेष मन्तव्य—वर्तमान में युवतियां एवं स्त्रियां अपनी त्वचा की सौन्दर्यता के लिए चिन्तित होती हैं और त्वचा सौन्दर्यता हेतु विभिन्न प्रयोगों को करती हैं। ऐसी स्त्रियों को हम प्रत्येक दिन हिमोक्लिन सीरप पीने की सलाह देता हूँ। हिमोक्लिन पीने से त्वचा में स्निग्धता पैदा होती है, रूक्षता मिट जाती है। व्यंग नीलिका, न्यच्छ इत्यादि मिट जाता है। रक्तशुद्धि होती है। रक्त शुद्धि से त्वचा में निखार आता है। श्यावता चली जाती है, पीलापन चला जाता है। ओष्ठ गुलाबी हो जाता है। अतः मेरी सलाह है कि त्वचा सौन्दर्य हेतु चिन्तित महिला व कुमारिकायें हिमोक्लिन सीरप का प्रतिदिन उपयोग करना जरूरी है। अस्तु। ★

मेरे पचास वर्ष के अनुभव में—

# —आरोग्यवर्धिनी—

वैद्य शांताराम कस्तूरे आयुर्वेद रत्न, डी. ए. एम. एस.
पन्नालाल नगर, अमरावती-५ (महाराष्ट्र)

—०●०—

* जाने माने वयोवृद्ध विद्वान वैद्य ☆ आयुर्वेदीय लोक सेवक
* मन्त्री—नगर वैद्य सभा, अमरावती
* अनेकों धर्मार्थ औषधालयों के स्थापक।

—वैद्य अशोक भाई तलाविया भारद्वाज।

---

आरोग्यवर्धिनी यह एक परमोपकारी दिव्यौषधि का निर्माण श्री नागार्जुन नाम के योगीराज जी ने किया है। इस दवा के नाम से यह ज्ञात होता है कि यह दवा आरोग्यवर्धन करने वाली है।

औषधि निर्माण—

रसगंधक लोहाभ्रशुल्व भस्म समांशकम्।
त्रिफला द्विगुणा योज्या त्रिगुणं शिलाजतु॥
चतुर्गणं पुरं शुद्धं चित्रमूलं च तत्समम्।
तिक्तासर्व समा ज्ञेया (देया) सर्व संचूर्ण्य यत्नतः॥
निम्ब वृक्ष दलां भोभिमर्दयेद् द्विदिनावधि।
ततस्तु गुटिका कार्या क्षुद्र कोल फलोपमाः॥
मंडलं सेविता सैषा (ह्येषा)। —र.यो.सा. ३२५

पारा, गन्धक, लोह भस्म, अभ्रक भस्म, ताम्र भस्म सममाग, हरड़ बहेड़ा आमला दो-दो भाग, शिलाजतु तीन भाग, शु० गुग्गुल चार भाग, चित्रक मूल चूर्ण चार भाग और सबके बराबर कुटकी का चूर्ण डाल मिला कड़वी निंब की पत्ती के रस में दो-तीन दिन तक अच्छी तरह खरल करें। ठीक खरल होने पर चने के बराबर गोलियां बना, सुखा कर रखें।

मात्रा—दो से छः रत्ती तक।

मंडलं सेविता ह्येषा हन्ति कुष्ठान्य शेषतः।
वात पित्त कफोद्भूतान् ज्वरान्
नाना प्रकारजान्॥
देया पंच दिनं जाते ज्वरे रोगे वटी शुभा।
पाचनी दीपनी पथ्या हृद्या मेदो विनाशिनी॥
मल शुद्धिकरी नित्यं दुर्धर्ष क्षुत्प्रवर्तिनी।
बहु नात्र किं मुक्तेन सर्व रोगेषु शस्यते॥
आरोग्यवर्धिनी नाम्ना गुटिकेयं प्रकीर्तिता।
सर्व रोग प्रशमनी श्री नागार्जुनचोदिता॥
—र. यो. सा.

इस गुटिका का मुख्य उपयोग कुष्ठ रोग में होता है। इस औषधि के गुण पाठ में प्रारम्भ में ही कहा है। 'हन्ति कुष्ठान्यशेषतः।' अनेक प्रकार के ज्वरों में भी इसका अच्छा लाभ मिलता है। यह गुटी-वटी पाचनी, दीपनी, पथ्यकारक तथा हृद्य है। मल शुद्धिकारक तथा मेद का हरण करती है। क्षुधा-भूख बढ़ाती है। अतः सर्व सामान्य रोगों में प्रयोग किया जा सकता है।

हमारे पचास वर्ष के चिकित्सा काल में कुष्ठ की प्रारम्भिक अवस्थाओं के कई रुग्ण आये जिसमें से कोई ७०% रोगी स्वस्थ हुए हैं।

सभी की सफल चिकित्सा निम्न प्रकार प्रमुख रही। इसमें आरोग्यवर्धिनी वटी का प्रथम स्थान रहा।

(१) इसमें पहले मेरे रोगी धनीमानी देश भक्त रहे आज भी जिन्दा हैं। आयु नब्बे के करीब है तथा रोजाना प्रातः कड़वी नीम की पत्ती का रस एक बड़ा चम्मच पीते रहते हैं जो निराशा से आशा में परिवर्तित होकर आयुर्वेद के तथा हमारे गुणगान करते हैं।

प्रयोग—प्रातः सायं आरोग्यवर्धिनी वटी दो गोली कड़वे नीम की पत्तो के रस के साथ देते थे। इन्हें तथा कारंजा लाड के समीपस्थ ग्रामों के कुछ रोगियों को तो आश्चर्यकारक लाभ हुआ। आप भी अनुभव करें—

एक रईस कुटुम्ब ईनामदार जो कि मेरे मित्र भी थे दस वर्ष उनका फैमिली डाक्टर रहा। योगायोगसी से करीबन परिवार के कुछ सदस्यों को इसी कठिन व्याधि ने ग्रसित करना शुरू किया। सभी उक्त औषधोपचार से पूर्ण स्वस्थ हुए। एक व्यक्ति का करांगुली बारीक होने लगा तथा कलाई का आकार क्षीण तथा विकृत दृष्टिगोचर होने लगा। अन्त में वह भी तीन वर्ष में स्वस्थ हो गये। किन्तु पंजे के क्षीणता एवं करांगुली विकृत बनी है। सभी रुग्णों का रक्त परीक्षण किया गया, निगेटिव है।

जीर्ण ज्वर में हमने हजारों रोगियों पर रोगोक्त अन्य औषधियों के साथ आरोग्यवर्धिनी का उपयोग शतशः लाभकारी पाया। हताश तथा निराश रोगी भी आयुर्वेद का गुणगान करते हैं।

प्रयोग—प्रातःसायं (१) सुवर्ण मालिनी वसंत १/४ से १/२ रत्ती तक, सितोपलादि चूर्ण ३ माशा या तालिसादि चूर्ण ३ माशा, अभ्रक भस्म १०० पुटी १/२ रत्ती, प्रवाल भस्म या पिष्टी १ रत्ती, सत्तगुर्च ३ रत्ती इस प्रमाण की एक मात्रा पूर्ण वयस्कों के लिए बना, दाडिमावलेह २ चम्मच के साथ देवें।

भोजनोत्तर दोनों समय—(२) आरोग्यवर्धिनी वटी २ गोली, करंज चूर्ण २ से ३ रत्ती, रोहितकारिष्ट ३ चम्मच तथा अमृतारिष्ट २ चम्मच, गर्म पानी ५ चम्मच के साथ देवें।

जिसके सीने में मामूली दर्द हो, उसको नं० १ में मृगश्रृङ्ग भस्म मिलाकर देवें। जीर्ण ज्वरियों में अक्सर यकृत, प्लीहा की वृद्धि पाई जाती है, इन सारी अवस्थाओं में आरोग्यवर्धिनी का एक विशेष महत्त्वपूर्ण यशदायी गुण-कार्य है। जबकि यकृत-प्लीहा वृद्धि सहित जीर्ण ज्वर रूप धारण करता है। ऐसी स्थिति में हम आरोग्यवर्धिनी के साथ रोहितकारिष्ट का सहारा भोजनोत्तर लेते आये हैं। अनुपम लाभ दर्शाती है। आरोग्यवर्धिनी का उपयोग दीपन पाचनार्थ तथा पथ्यकारक किया जाता है। यह वटी हृद्य तथा मेदो रोग का नाश करने वाली है।

मेद रोग को घटाने के लिए प्रातः खुली हवा में घूमकर आकर—एक पाव गुनगुना जल, शहद दो चम्मच तथा आधे नीबू का रस, इसके साथ आरोग्यवर्धिनी वटी दो गोली, मेदोहर गूगल ४ गोली पीस कर लेवें। करीब डेढ़ दो माह दवा सेवन से स्थूलकाय रोगी को विश्वास होने लगता है कि लाभ होगा। ठीक होने तक देते रहें। रोगी लेते रहें। इसमें भी आरोग्यवर्धिनी का प्रमुख कार्य पाया है।

आरोग्यवर्धिनी का प्रयोग सामान्यतः बुद्धिमान वैद्य कई प्रकार के रोगों में कर लाभान्वित हो सके हैं। अतः कई प्रकार के गुण आरोग्यवर्धिनी में पाये जाते हैं।

आरोग्यवर्धिनी का कार्य विशेषतः ग्रहणी शोधक तथा सेन्द्रिय विषनाशक होने से, ग्रहणी या मध्यम कोष्ठ के दोषों द्वारा उत्पन्न होने वाले अनियमित ज्वरों में इस वटी का अच्छा उपयोग पाया गया है। बार बार पलट पलट कर आने वाला ज्वर तथा पित्त के वैषम्य द्वारा उत्पन्न ज्वर इसमें इस वटी का अच्छा प्रभाव होता है।

आरोग्यवर्धिनी का एक कमाल यह भी है कि जब रोगी के मुंह में बार बार पानी आता हो फेन सहित स्वाद में मीठी की हो, पेट भारी हो, भूख न लगती हो, खाने के तुरन्त बाद कै हो जाना, सफेद चिकट दस्त हो, पेशाब टट्टी साफ न होती हो, ऐसी हालत में आरोग्यवर्धिनी वटी बड़ी लाभकारी होती है।

ग्रहणी तथा बृहदांत्रादि में चिपका हुआ किट्ट-मल निकालने हेतु आजकल स्निग्ध द्रव्यों का विरेचनार्थ प्रयोग किया जाता है। किन्तु इसका इष्ट परिणाम शीघ्र होता नहीं। तो आरोग्यवर्धिनी वटी और त्रिफला हिम का उपयोग उक्त स्थिति में बहुत अच्छा पाया है। विशेषतः पुराने (Chronic) बद्ध कोष्ठ में मध्य ग्रहणी में मल संचय बहुत होने की स्थिति में ऊपरी कल्प बहुत उपयुक्त पाया गया है।

—शेषांश पृष्ठ ३९० पर देखें।

त्वक रोग नाशक —

# -आरोग्यवर्धिनी रस-

डा० एस डी० गुप्ता बी.ए.एम.एस., डी.एच.डी,
स्वामी क्लिनिक, रामनगर-४ ८५८१ सतना (म० प्र०)।

ग्रन्थ परिचय — रस रत्न समुच्चय

रोगाधिकार कुष्ठ

मुख्य द्रव्य — कुटकी

घटक — आरोग्यवर्धिनी निम्न औषधियां मिल कर बनती है—

| क्र० | घटक | लैटिन नाम | मात्रा |
|---|---|---|---|
| १. | शुद्ध पारद | Pure Hydragyrum | १० ग्राम |
| २. | शुद्ध गंधक | Pure Sulphur | १० ग्रा. |
| ३. | लोह भस्म | Iron Bhasma | १० ग्रा |
| ४. | ताम्र भस्म | Copper Bhasma | १० ग्रा. |
| ५. | अभ्रक भस्म | Mica Bhasma | १० ग्रा. |
| ६. | शु. शिलाजीत | Mineral Pitch | ३० ग्रा |
| ७. | शु गुग्गुलु | Somniphora Mukul (Indian bdellium) | ४० ग्रा. |
| ८. | चित्रकमूल छाल | Plumbago Zeylanica Linn | ४० ग्रा. |
| ९ | कटुका | Picrorhiza kurra Roylex Benth | २४० ग्रा. |
| १०. | हरीतकी | Terminalia Chebula | २० ग्रा. |
| ११. | विभीतक | Terminalia Belercia | २० ग्रा. |
| १२. | आमलकी | Emblica Officinalis | २० ग्रा. |

भावना द्रव्य — निम्ब पत्र स्वरस (Azadirechta Indica)

निर्माण विधि — पारद एवं गंधक को एक चीनी मिट्टी के खरल में अच्छी तरह घोटकर कज्जली बना ली जाती है एवं भस्मों को मिलाकर घोटा जाता है। तत्पश्चात काष्ठ औषधि को कपड़छन चूर्ण कर मिला कर शिलाजीत एवं गुग्गुलु को मिलाकर नीमपत्र स्वरस का खरल में डालकर घोटते हैं। घोटते-घोटते सूख जाने को एक भावना कहते हैं। इसी तरह तीन भावना देकर २५० मिग्रा. की गोली बना लेवें। यदि कैपसूल में भरना हो तो शुष्क चूर्ण के २५० मिग्रा. या/एवं ५०० मिग्रा. कैपसूल बनाये जा सकते हैं।

मात्रा रोगी एवं रोग के बल काल के अनुसार मात्रा में परिवर्तन किया जा सकता है। *आरोग्यवर्धिनी की सामान्य मात्रा १२५ मिग्रा से ५०० मिग्रा तक।*

अनुपान — जल, दुग्ध, पुनर्नवादि क्वाथ, दशमूल क्वाथ (किसी एक का रोगानुसार प्रयोग करते है)।

गुण — रसायन, पाचन दीपन रक्तशोधक, उष्णवीर्य, कटुरस, मूत्रल, जन्तुघ्न, शोथघ्न, हृदय बलप्रद, मेदघ्न हैं।

कर्म यह विबन्धनाशक, जीर्ण ज्वर, जलोदर, पाण्डु, कामला, कुष्ठ, अजीर्ण, अग्निमान्द्य, प्रमेह, वातकफ विकारनाशक है।

प्रयोग (स्वानुभूत योग) -

(१) इस औषधि को कामला रोग में लिवोजीन सीरप के साथ २० मिली. की मात्रा में Vit B Comp के २ मिली के सूचीवेध (I M.) एक दिन के अन्तराल में १० दिन तक देने से लाभ होता है।

(२) आन्त्र एवं मूत्र वृद्धि रोग में वृद्धिवाधिकारि वटी २५० मिग्रा. की २ मात्रा सुबह शाम जल से एवं सैन्धवादि तैल का बाह्य प्रयोग कर लंगोट कसने पर प्रथम अवस्था में लाभकर है। १ माह तक सेवन करें।

(३) गण्डमाला (गले के चारों तरफ बेर की गुठली से छोटी ग्रन्थि निकले) तो इस औषधि को कांचनार गुग्गुलु की २५० मिग्रा. की मात्रा + आरोग्यवर्धिनी की २५० मिग्रा की मात्रा सुबह शाम गर्म जल से एवं भोजन के पश्चात् पंचारिष्ट (सण्डू) १५ मि

सी. की मात्रा समभाग पानी से १५ दिन तक लेने पर लाभ होता है ।

(४) त्वक् विकार इस औषधि को २५० मि.ग्रा. एवं रक्तरोगारि कैपसूल (निर्मल आयु० संस्थान) सुबह-शाम पानी से तथा भोजन के पश्चात खदिरारिष्ट या महामंजिष्ठादि क्वाथ १० मिली समभाग पानी से १५ दिन तक लें तथा वाह्य प्रयोग के लिए महामरिच्यादि तैल या चालमोगरा तेल की मालिश करने से लाभ होता है ।

(५) जीर्ण विबन्ध इस रोग में रात्रि सोते समय गर्म पानी से १ कैप्सूल लें, १५ दिन में लाभ होता है ।

(६) मुखपाक (छाले-Stomeititis)—इस रोग में आरोग्यवर्धिनी २५० मिग्रा. सुबह शाम पानी से एवं खदिरादि वटी को चूसने से या इरमेदादि तैल को जिह्वा में लगाने से लाभ होता है। १ सप्ताह तक सेवन करें ।

निषेध—(१) आरोग्यवर्धिनी को विरेचक होने के कारण गर्भिणी स्त्रियों में नहीं देना चाहिए ।

(२) दाह, मोह, तृष्णा, पित्तज विकार से पीड़ित रोगी को नहीं देना चाहिए । *

---

मेरे ५० वर्ष के अनुभव से आरोग्यवर्धिनी + पृष्ठ ३०८ का शेषांश

आरोग्यवर्धिनी के कारण मल की बैठी पुटें छूटने में मदद होती है तथा मल किट्ट के भीतर छिपे संचित विपाक्त द्रव्य निर्विष बनते हैं तथा ग्रहणी कार्यक्षम बन जाती है । आरोग्यवर्धिनी के साथ त्रिफला या अन्य संशोधनीय द्रव्य का उपयोग लाभकारी है ।

त्वक् रोग निवारणार्थ आरोग्यवर्धिनी का महत्वपूर्ण कार्य, उसके निर्माण द्रव्य के गुणों की ओर लक्ष देने से विश्वास दृढ़ होकर आरोग्यवर्धिनी का प्रयोग होनहार नये वैद्य अवश्य कर यशस्वी होंगे, ऐसा मैं विश्वास करता हूं ।

निम्न प्रयोग द्वारा जब हम कारंजा जैन धर्मार्थ औषधालय में प्रधान वैद्य पद पर काम करते थे तथा सिरस गांव कसबा धर्मार्थ औषधालय में हजारों रोगी रोगमुक्त हुए—

प्रयोग—प्रातः मध्याह्न सायं (१) आरोग्यवर्धिनी वटी २ गोली पीसकर केवल गर्म पानी या

अनुपान—महामंजिष्ठादि क्वाथ ३-४ चम्मच और गर्म पानी ५ चम्मच के साथ पिलावें ।

कड़वी बादाम का तैल (करञ्ज तैल)—१०० ग्राम में, आरोग्यवर्धिनी वटी १० ग्राम और कड़वी नीम की पत्ती ५० ग्राम दोनों को पीसकर टिकिया बना पकाले, तैल सिद्ध होने पर ठण्डा होने पर छानकर खुजली पर लगावें (स्वकल्पित) ।

प्रयोग नं० २

प्रातःसायं (१) आरोग्यवर्धिनी वटी १ गोली, त्रिफला चूर्ण ४ माशा, मंजिष्ठादि चूर्ण ३ माशा, वंग भस्म १॥ रत्ती, गंधक रसायन २ रत्ती, सत्तगुर्च ३ रत्ती पूर्ण वयस्क को इस प्रकार १ मात्रा बनाकर गर्म पानी से निगलवावें ।

भोजनोत्तर (२) आरोग्यवर्धिनी वटी, कैशोर गूगल २-२ वटी पीसकर मंजिष्ठादि क्वाथ ४ चम्मच गर्म पानी ४ चम्मच के साथ खिलावें ।

वाह्य प्रयोगार्थ उक्त करञ्ज तेल का प्रयोग करें ।

कोई तीस वर्षों से हम त्वक् रोगार्थ उक्त प्रयोगों का इम्ब-व्यूचि, खुजली, मेहरोग जिसमें हस्तपाद तल में भेगें पड़ जाती हैं खून निकलता है तथा असह्य वेदना होती है [मरहम गुलाबी (सिद्ध योग संग्रह) आदि] । अन्य मेह में उपयोग करते हैं तो यह प्रयोग करीब कई त्वक् रोगों में सफल सिद्ध हुआ है ।

आरोग्यवर्धिनी वटी गरनाशक, कुष्ठ, विषमज्वर, अपचन, बद्ध कोष्ठ, मेदो रोग, मल संचय, मल तथा शरीर की दुर्गन्धि, अग्निमांद्य, सर्वाङ्ग शोथ इत्यादि रोगों में फलदायी उपयुक्त औषधि है।

जलोदर में मल शुद्धयर्थ उपयोग गर्भिणी, उद्रिक्त पित्त रोगी, दाह, मोह, तृषा, भ्रम इन रोगों में नहीं करना चाहिए ।

****

# त्वचा रोगों में गुग्गुलु एवं गुग्गुलु मिश्रित योग

वैद्यराज डा० रणबीर सिंह शास्त्री विद्याभास्कर, एम ए., पी-एच. डी. (आयु०)
वेदायुर्वेद व्याकरण साहित्याचार्य। अध्यक्ष-जिला वैद्य सभा, आगरा
सावित्री संस्थान, इन्द्र भवन, ९/१३ पंचकुइया मार्ग, आगरा (उ० प्र०)

आपने वैद्य भास्कर-वेदायुर्वेद व्याकरण साहित्याचार्य, एम. ए., पी-एच डी. (आयु०) की उपाधि अर्जित की है। आप सावित्री संस्थान इन्द्र भवन, आगरा (उ० प्र०) मे चिकित्सक के रूप में कार्यरत हैं। आप वर्तमान में जिला वैद्य सभा, आगरा (उ०प्र०) के अध्यक्ष पद को धारण किये हुये हैं। आप आयुर्वेद के विद्वान हैं। वैद्य किरीट भाई पण्ड्या [विशेष सम्पादक]

भारत के मध्य प्रदेश और मरु प्रदेश आदि स्थानों में उत्पन्न होने वाली प्रसिद्ध औषधि गुग्गुलु या गूगल है। यह गोंद के रूप में मिट्टी, छिलका व कूड़ा मिला हुआ बाजार में मिलता है। इसे शोधित कर एकाकी या मिश्रित रूप में चिकित्सक काम मे लाते हैं।

गुग्गुलु के नाम व पर्याय—

गुग्गुलुर्देवधूपश्च जटायुः कौशिकः पुरः।
कुम्भोलूखलकं क्लीवे महिषाक्षः पलंकषः।
— भाव निघण्टु कर्पूरादि वर्ग

संस्कृत—गुग्गुलुः, देवधूपः, जटायुः, कौशिकः, पुरः, पलंकषः, महिषाक्षः आदि।

हिन्दी— गूगल, गूगर।

अंग्रेजी— Indian Dellium।

राजनिघण्टु में गुग्गुलु की उत्पत्ति —

जायन्ते पुरपादपा मरुभुविः ग्रीष्मेऽर्कसन्तापिताः।
शीतर्तौ शिशिरेऽपि गुग्गुलुरसमुच्चन्ति पञ्चधा॥

गुग्गुलु के पांच भेद—

हेमाभं महिषाक्ष तुल्यमवरं सत्पद्म रागोपमम्।
भृङ्गाभं कुमुदद्युति च विधिना
ग्राह्याः परीक्षा ततः॥

उक्त प्रमाणानुसार पुर वृक्षों से गोंद के रूप में गूगल प्राप्त होता है और यह आकार प्रकार भेद से पांच प्रकार का है। पांचों प्रकार के गूगलों में मनुष्यों के लिये कनक और महिषाक्ष को उत्तम माना है।

विशेषेण मनुष्याणां कनकः परिकीर्तितः।
कदाचिद् महिषाक्षश्च मतः ... ... ॥
—भाव० नि० कर्पूरादि वर्ग

गुग्गुलु के गुण (केवल त्वक् रोगों पर)—

इस लेख मे गूगल के अन्य गुणों का वर्णन न करते हुये केवल त्वचा के रोगों पर ही इसकी उपादेयता व रोग निवारकता निरूपित की जा रही है। शुद्ध गूगल अकेला ही त्वचा रोगों (चर्म रोगों) को दूर करने में समर्थ है। पामा, विचर्चिका, दद्रु, रूक्ष कड्डू, स्फुटिका, घमोरियां, उदर्द, शीतपित्त आदि त्वक् रोगों को अनुपान भेद से ठीक कर देता है।

गुग्गुलु की शुद्धि—

दुग्धैर्वा त्रिफला क्वाथे दोलायन्त्रे विपाचितः।
वाससा गालितो ग्राह्यः सर्वकर्मसु गुग्गुलुः॥
—आत्रेय संहिता

यह शुद्धि प्रकार आत्रेय संहिता का है, ठीक है।

आत्मीय अनुभव मैं स्वयं गुग्गुलु शोधन मे दुग्ध का प्रयोग नहीं करता, त्रिफला क्वाथ में समभाग गिलोय मिलाकर क्वाथ करने से गुणवर्धन होता है। इस क्वाथ में दोलायन्त्र मे गूगल शुद्ध करने पर एकाकी

ही औषध रूप में निम्नलिखित अनुपानों के साथ पूर्ण रूप से चर्म रोगों को नष्ट करता है।

एकाकी गुग्गुलु की सेव्य मात्रा- बालकों को ४ रत्ती से १ माशे तक दिन मे व रात मे गर्म दूध से सेवन करावे।

वयस्कों की मात्रा व अनुपान भेद—

वात रोगों से विकृत व स्फुटित चर्म रोगों पर १ से ३ माशे तक तीन बार महारास्नादि क्वाथ अथवा गर्म दूध से दें।

शीतपित्त या उदर्द में-१ माशे तक दो बार त्रिफला क्वाथ अथवा वृ० सारिवा क्वाथ से सेवन करावें।

पित्त की फुन्सियां दाह और घमौरियो में पित्त पापड़ा क्वाथ, चन्दनादि क्वाथ अथवा अर्क मुण्डी या अर्क चिरायता से लें। लगाने के लिए चन्दनादि तैल या शतधौत घृत लगावें।

वात रक्त एवं विसर्प त्वचा रोगों पर—२ से ४ माशे तक तीन बार नीम गिलोय के क्वाथ अथवा महामंजिष्टादि क्वाथ से सेवन करावें।

पामा-कण्डू-विचर्चिका मे—त्रिफला क्वाथ या प.ंट क्वाथ से तीन बार दें। लगाने में गन्धक गूगल तैल में लेप करें।

त्वग्दाह (त्वचा की जलन) व रक्तिमा पर—शुद्ध गूगल १ से ४ माशे मिश्री मिलाकर शर्बत सण्दल या शर्बत शङ्ख पुष्पी या ब्राह्मी से दें।

पुराने चर्म रोगों पर शु गुग्गुलु १ से २ माशे तक नीम का मद चोपचीनी का चूर्ण या उसवा क्वाथ से दें।

मकड़ी मसल जाने पर—४ रत्ती से १ माशे तक अर्क मुण्डी, अर्क उसवा ३-३ तोला मिलाकर दो वार दें। लगाने मे शु. घृत हल्दी आम की खटाई लगावें।

त्वचा शोथ- शु. गुग्गुलु को २-२ माशे, ४-४ तोले अर्क मकोय अथवा अर्क पुनर्नवा मे दें। लेप मकोय के पत्तों के स्वरस का करें।

अग्निदाह, अंशुघात, सन्तापज दाह—१-१ माशे शु. गुग्गुलु को अर्क चन्दन, अर्क गुलाब, अर्क सौंफ २-२ तोले मिलाकर दिन [illegible] तीन बार सेवन करावें। बाह्य लेप नीम के फेन, शतधौत घृत का लेप करें।

पिपीलिका, मक्षिका, भ्रमर के दंश पर—गुग्गुलु नीबू के स्वरस या सिरके में घिसकर लगावें।

गुग्गुलु स्वयं त्रिदोषघ्न है—

> माधुर्याच्छमयेद्वातं कषायत्वाच्च पित्तहा।
> तिक्तत्वात् पित्तजिरेन गुग्गुलु सर्वदोषहा॥
>
> —भाव प्रकाश

शुद्धीकरण के पश्चात् इसमें सौम्यता आ जाती है। त्रिफला और अमृता के क्वाथ से त्वचा के समस्त रोगों को, अनुपान भेद से गूगल सभी चर्म रोगों को नष्ट कर देता है।

उक्त त्वचा रोगों पर अकेला शोधित गूगल चौगुनी मिश्री या ग्लूकोज मिलाकर दो-तीन बार देने से अत्यन्त लाभ दीखता है।

गूगलसेवी का पथ्य—

अकेले शु० गूगल खाने वाले को भी त्वचा रोगों के निवारण के लिए खटाई, लाल मिर्च, विदाही, अजीर्ण, मैथुन, धूप, भ्रमण, मद्य सेवन, क्रोध और कब्ज न होने दें। भाव प्रकाश में लिखा भी है—

> अम्लं तीक्ष्णमजीर्णं च व्यवायं श्रमपातपम्।
> मद्य क्रोधं त्यजेत्सम्यग गुणार्थी पुर सेवकः॥
>
> —गुग्गुलु प्रकरण ४४-४५

गुग्गुलु मिश्रित योग त्वचा रोगों को ठीक करते हैं। यथा—संक्षेप से—

(१) कैशोर गुग्गुलु—यह योग 'भैषज्य रत्नावली' के वात रक्त रोग (चर्म रोग) प्रकरण में है। इसमें १ प्रस्थ महिषाक्ष गूगल—

गिलोय और त्रिफला के क्वाथ में शुद्ध कर गाढ़ा होने पर त्रिफला, त्रिकुटा, वायविडङ्ग २-२ तोले, निसोत, दन्तीमूल १-१ तोले, गिलोय चूर्ण ४ तोले, शुद्ध घृत ३२ तोले मिलाकर कूटकर ४-४ रत्ती की गोलियां बनायें। मात्रा—२ से ४ गोलियां तक।

अनुपान दूध, जल, अर्क, क्वाथ आदि।

त्वचा रोगों का प्रतिकार—भैषज्य रत्नावली (वात रक्त)

तनुरोधि वातशोणितमेकजमथ द्वन्द्वजं चिरोत्थंच ।
जयति स तं परिशुष्कं स्फुटितं चाजानु जञ्जादि ॥

व्रण कास कुष्ठ गुल्मश्वयथूदर-
पाण्डु रोग मेहांश्च... .. ॥

सभी प्रकार के वातरक्त स्राव स्फुटिकायें जो त्वचा पर आविर्भूत होकर त्वचा को विकृत कर देती हैं, उन सभी उपद्रवों को कैशोर गुग्गुल समूल नष्ट कर देता है ।

अनुपान में—मैं स्वयं महामंजिष्ठाद्यर्क, गोरख मुण्डी अर्क, चोपचीनी, उसवा, चिरायता, पित्तपापड़ा, कृष्ण सारिवा, खदिर चूर्ण आदि का अर्क पिलाता हूं स्वाथ अतिशीघ्र लाभकारी होते हैं। अतः बहुकल्प बहुगुणं सम्पन्नं योग्यमहौषधम्' के अनुसार अर्कों को ही प्रयोग में लाता हूं ।

कुष्ठ रोग (चर्म रोग)—

आयुर्वेद शास्त्रकारों ने १८ प्रकार के कुष्ठों का वर्णन किया है । इनमें से ७ महाकुष्ठ और ११ क्षुद्र कुष्ठ हैं। सभी त्वक्रोगों के अन्तर्गत हैं—

कुष्ठनाशक गुग्गुलु—

(१) अमृता गुग्गुलु (२) एक विंशतिक गुग्गुलु (३) पञ्चतिक्त घृत गुग्गुलु ये सब भैषज्य रत्नावली के कुष्ठ रोगाधिकार में पठित हैं ।

अमृता गुग्गुलु के घटक—भैषज्य रत्नावली (कुष्ठ)—

गिलोय, दशमूल, बहेड़ा, आंवला १००-१०० पल, पाठा, मूर्वा, बला, तिक्ता, दारुहल्दी, एरण्ड छाल प्रत्येक १०-१० पल, हरीतकी २०० पल, इनको १ द्रोण जल में पकाकर आठवां भाग शेष रहने पर १ प्रस्थ गूगल, शु. घृत आधा प्रस्थ इनका पाक करने पर सत गिलोय, सोंठ व पीपल २-२ पल प्रत्येक मिलाकर ३-३ माशे प्रातः व रात्रि में प्रयोग करें । ये सभी प्रकार के कुष्ठ व त्वक् रोगों को नष्ट करता है । यथा—

अष्टादशसु कुष्ठेषु, वात रक्त मदेषु च । इत्यादि ।

एक विंशतिक गुग्गुलु—भैषज्य रत्नावली (कुष्ठ)—

चित्रक त्रिफलाव्योष मजाजी कारवी वचाम् ।
सैन्धवाति विषे कुष्ठं चव्येला यावशूकम् ॥
विडङ्गान्यजमोदांश्च मुस्तान्यमराह्वा दारु च ॥
यावन्त्येतानि सर्वाणि तावन्मात्रस्तु गुग्गुलुम् ।
संक्षुद्य सर्पिषा सार्धं वटिका कारयेद् भिषक् ।
हन्त्यष्टादश कुष्ठानि क्रमीन् दुष्ट व्रणानपि ॥

यह गुग्गलु भी अठारह प्रकार के कुष्ठों एवं सभी प्रकार के चर्म रोगों को नष्ट करता है ।

पञ्चतिक्त घृत गुग्गुलु (भैषज्य-कुष्ठ)

निम्बामृतावृषपटोल संयुक्त गुग्गुलुपलैरपि पक्वं:

विशेष– इस गुग्गुलु में त्वचारोग नाशक अनेक औषधियों का मिश्रण है । इसके नियमित सेवन से सभी त्वकरोग-क्षुद्र कुष्ठ, महाकुष्ठ वातरक्त, व्रण, स्फुटिका, रूक्ष, पामा, स्रवित पामा, दूषित व्रण, विषम व्रण, सभी प्रकार के चर्म रोग ठीक हो जाते हैं ।

पथ्य एवं अनुपान

लेख के पर्व भागोल्लिखित पथ्य एवं अनुपान ही गुग्गुलु सेवी को प्रयोग करने चाहिये ।

सभी गुग्गुलु योग—त्वचा रोगों के लिए न्यूनाधिक लाभ करते हैं । अकेला शुद्ध गुग्गुलु अनुपान भेद से सभी त्वक रोगों को दूर करने में समर्थ है । सभी विभिन्न रोगों पर प्रयुक्त गुग्गुलु योग कुष्ठ रोगों को भी नष्ट करते हैं

| | | |
|---|---|---|
| त्रयोदशांग गुग्गुलु | वात रोगाधिकार | कुष्ठ त्वक्रोग नाशक |
| पुनर्नवादि गुग्गुलु, रसाभ्र ,, | वातरक्त रोगाधिकार | त्वचा रोगों को दूर करते हैं । |
| वातारि गुग्गुलु, योगराज ,, सिंहनाद ,, शिवा ,, | उरुस्तम्भ रोग-प्रकरण पठित | सभी चर्म रोगों को भी दूर करते हैं । |
| चन्द्रप्रभा गुटिका | प्रमेहाधिकार | त्वचा दोष रोगादि नाशक । |
| कांचनार गुग्गुलु | गलगण्ड रोगाधि० | चर्मरोग नाशक । |
| त्रिफला गुग्गुलु, षडंग ,, | विद्रधि रोगाधिकार | त्वक् रोगहारी चर्मरोग नाशक । |

—शेषांश पृष्ठ ११५ पर देखें ।

सभी प्रकार के कुष्ठों में—

# —गोमूत्र का कार्मुत्व—

डा० राजेश्वरी के० त्रिवेदी, बी. ए. एम. एस.
प्रभु भवन, प्लोट नं० ६५५, डान नजदीक, भावनगर (गुज०)

आजकल समाज में त्वचा के रोगियों की संख्या बढ़ती जा रही है। इसका कारण सद्वृत्त पालन का सदैव ही त्याग कर दिया है और आहार में क्या विपरीत एवं विरुद्ध है वो सोचते भी नहीं हैं। खट्टे और तैलीय पदार्थों का सेवन बढ़ता जारहा है। दैनिक क्रम में भी विपरीत रूप से वर्तन करता है। महर्षि चरक ने कुष्ठ के हेतु का निर्देश करते हुए कहा है कि विरोधी अन्नपान का सेवन, द्रव-स्निग्ध एवं गुरु आहार द्रव्य का सेवन, आये हुए वमन के वेगों को तथा अन्य मल-मूत्रादि के वेगों को रोकना, अधिक आहार करने के बाद व्यायाम अथवा अधिक धूप या अग्नि का सेवन शीत-उष्ण तथा लङ्घन (उपवास), भोजन का अविधि रूप से सेवन करना, धूप, श्रम और भय से पीड़ित होकर शीघ्र ही शीतल जल का सेवन करना, भोजन के न पचने पर भी पुनः भोजन कर लेना, नया अन्न, दही, मछली, नमक और खट्टी वस्तुओं का अधिक सेवन, उड़द, मूली, पिस्ताभ, गुड, दुग्ध और तिलका अधिक मात्रा में सेवन, भोजन के न पचने पर मैथुन करना और दिन में सोना, विप्र, गुरु का तिरस्कार करना, अन्य पापों का आचरण करने वाले व्यक्तियों को कुष्ठ रोग होता है।

त्वचा को नष्ट करने वाला रोग कुष्ठ है। सभी कुष्ठ त्रिदोषज हैं। त्वचादि धातुओं की विकृति करने वाला, शरीर को कुत्सित कर देता है। क्षुद्र कुष्ठ में दोष अल्प और त्वचा एवं रक्त तक पहुँचे हुए होते हैं। जब महाकुष्ठ में 'सप्त को द्रव्य संग्रह' कहकर वातादि त्रिदोष, रक्त, मांस और लसिका की दुष्टि बतलाई गई है।

सभी कुष्ठ में त्रिदोष होते हैं और कृमि होने का महर्षि सुश्रुत ने उल्लेख किया है। यथा—

'सर्वाणि कुष्ठानि सवातानि सपित्तानि सश्लेष्माणि सक्रिमीणी च भवन्ति।'

अर्थात् कुष्ठ के उत्पन्न होने में कृमि भी एक प्रधान हेतु है। कृमि त्वचा के आन्तरिक भागों को विकृत कर देते हैं और वह भाग बाहर से कुत्सित लगते हैं। कृमि के अभाव से कुष्ठ होना असम्भव है। इसलिए कृमि को नष्ट करना कुष्ठ की प्रधान चिकित्सा है। शास्त्र में शरीर में उत्पन्न हुए कुष्ठ की विकृति को नष्ट करने वाला सरल और घरेलू प्रयोग गोमूत्र का बताया है। कुष्ठ की शुरूआत में होने वाला कई कुष्ठ को गोमूत्र के द्वारा बहुत लाभ हुआ है, ऐसा हमने अपने हस्पताल में प्रथम देखा है।

महर्षि चरक ने गोमूत्र के गुण का उल्लेख करते हुए कहा है कि—

'गव्यं समधुरं किञ्चित दोषघ्नं क्रिमिकुष्ठनुत्।'

अर्थात् गाय का मूत्र रस में कषाय और मधुर, पथ्य और त्रिदोष शामक है। गोमूत्र कृमि एवं कुष्ठ को दूर करने वाला होता है। अतः सभी कुष्ठ में गोमूत्र का अवश्य प्रयोग करना चाहिये। श्वित्र कुष्ठ (किलास) में कृमि नहीं होते, फिर भी दोष-दूष्य के माध्यम के अनुसार इस विकार को भी गोमूत्र नष्ट करते हैं। कहा है कि—

कण्डूकिलास गुद शूल मुखाक्षि रोगान् गुल्माति-सारमरुदामय मूत्ररोधान्। कासं सकुष्ठजठरक्रिमिपाण्डु रोगान् गोमूत्रमकेमपि पीतमपाक करोति।

अर्थात् गोमूत्र किलास को भी मिटाते हैं।

गोमूत्र किस गुण से कुष्ठ को मिटाते हैं—

आयुर्वेद में सभी रोगों की सम्प्राप्ति एवं सम्प्राप्ति घटक बताये गये हैं और चिकित्सा की व्याख्या में कहा है कि 'सम्प्राप्ति विघटनमेव चिकित्सा'। कुष्ठ में तीनों दोष और धातु की दुष्टि पाई जाती है। इसमें भी कफ

वायु की प्रधान दुष्टि होती है। अतः गोमूत्र वात और कफ को अपने तीक्ष्ण और उष्ण गुण से एवं कफ को कटु गुण से मिटाते हैं। उपरांत अपने मधुर गुण से भी शमन करते हैं।

कुष्ठ में दूष्य रक्त, त्वचा, मांस और लसिका हैं। प्रथम रक्त को स्रुत करने में गोमूत्र का उष्ण गुण काम करता है। विकृत रक्त को बाहर निकालने में गोमूत्र महत्व का कार्य करता है और उनके आग्नेय भाव को विरेचन के रूप में निकालता है। त्वचा में विवर्णता होती है वो कृमि दुष्टि के वजह से है। कृमि प्रथम त्वचा के स्नेहांश को खाकर बिगाड़ते हैं। बाद में उसका वर्ण श्वेत या श्वेताभ रक्त बनाने लगते हैं। मांस, मेद और लसिका तीनों धातुओं में स्नेहांश अधिक रहते हैं। स्नेहांश की दुष्टि होने से त्वचा में कोथ (सड़ना) उत्पन्न होती है और कोथ को नष्ट करने में गोमूत्र का तीक्ष्ण गुण अधिक काम करता है। अतः कुष्ठ में दोष और दूष्य को मिटाने में गोमूत्र अधिक लाभदायी है। संक्षेपतः गोमूत्र को कुष्ठघ्न कहा है।

कुष्ठ में अग्निमांद्य भी होता है। उस अग्नि को प्रदीप्त करने में गोमूत्र का उष्ण और तीक्ष्ण गुण अधिक लाभदायी है और आग्नेय गुण अधिक होने से अन्न पर रुचि उत्पन्न करता है। क्षुधा भी दीप्त होती है। कभी कभी विबन्ध भी होता है। विबन्ध की अवस्था में गोमूत्र लेने से भेदन गुण से मल को बाहर निकालता है और वायु का अनुलोमन भी होता है।

## प्रयोग विधि

सुबह और शाम के समय [illegible] ग्राम गोमूत्र का प्रयोग करें।

### गोमूत्र का बाह्य प्रयोग—

गोमूत्र का सेवन उपरान्त स्नान करने में और जिस जगह पर कुष्ठ की उत्पत्ति होती है उस पर अभ्यंग करना हितावह है। बाह्य लेप करने से त्वचा के वर्ण को प्राकृतावस्था में लाता है और बाह्य कृमि भी मिटाता है।

इस प्रकार बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयोग द्वारा गोमूत्र चिकित्सा करने से कुष्ठ रोग दूर कर सकते हैं। ✱

---

त्वचा रोगों में गुग्गुलु एवं गुग्गुलु योग — पृष्ठ ३१३ का शेषांश

| | | |
|---|---|---|
| लाक्षादि गुग्गुलु<br>आभा ,, | भग्नरोग | त्वचारोग नाशक। |
| सप्तांग गुग्गुलु–नाड़ी व्रण | | स्फोटादि व्रणनाशक |

यथाहि—गुग्गुलुस्त्रिफलाच्चोर्णैः समांशैराज्य योजितः।
नाड़ीदुष्टव्रणशूलभगन्दर विनाशनः॥-भैष०

| | | |
|---|---|---|
| अमृता गुग्गुलु<br>एकविंशति ,,<br>पंचतिक्तघृत ,, | कुष्ठाधिकार | सभी त्वचारोग निवारक हैं। |
| कैशोर गुग्गुलु— | वात रक्ताधिकार | त्वक्रोग नाशक। |

### स्वकीय मन्तव्य—

विभिन्न निघण्टुओं में पठित गुग्गुलु गुणों का परिशीलन करते हुए भाव प्रकाश, योगरत्नाकर, शार्ङ्गधर, भैषज्य रत्नावली, चक्रदत्त एवं चरक संहिता आदि चिकित्सा व सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शुद्ध गुग्गुलु के त्वचा रोग नाशक गुण कभी नष्ट नहीं होते हैं।

एकाकी शुद्ध गुग्गुल का प्रयोग चर्म रोगों में आशातीत लाभ करता है और अनुपान भेद से सर्वविध त्वक् रोगों को भी नष्ट करता है।

उपर्युक्त अनेक प्रकार के गुग्गुल मिश्रित बहुत से योगों का संक्षेप से निदर्शन किया है।

शुद्ध गुग्गुल अपने त्वचा रोगहर गुण को विविध औषधियों के साथ मिलने पर भी नहीं छोड़ता। अन्य रोगों को भी दूर करते हुए सभी प्रकार के गुग्गुल अपने स्वाभाविक कुष्ठहर गुण को न छोड़ते हुए त्वचा के सभी रोगों पर आशानुरूप रोग निवारक प्रभाव दिखाता है।

# ✻ कैशोर गुग्गुलु ✻

वैद्य कनकराय एम० दल, विरन्चद मेन्शन, दिवानपरा रोड, राजकोट-३६०००१ (गुज०)

—✻—

राजकोट गुजरात में आयुर्वेद क्षेत्र में दल परिवार प्रशंसित है। परम्परागत आयुर्वेद विद्या दल परिवार में रक्षित है। वैद्य श्री कनक भाई दल उत्तम कोटि के आयुर्वेदज्ञ हैं एवं आयुर्वेद की विभिन्न संस्थाओं में पदाधिकारी हैं। उनके पुत्र दिलीप भाई ने एम०डी० [आयु०] कर आमाशय एवं पक्वाशय के रोगों में सिद्धता हासिल की है। भाई दिलीप की धर्मपत्नी दर्शना जी ने स्त्री रोगों में एम०डी० (आयु०) कर राजकोट नगर में स्त्री रोग विशेषज्ञ के रूप में सफल चिकित्सा कर रही हैं। मैं व्यक्तिगत रूप से दल परिवार का अभिवादन करता हूं। दल परिवार ने आयुर्वेद को अपनाया है। प्रचार करता है। इस हेतु दल परिवार अभिनन्दन का पात्र है। यहां मेरे विशेष आग्रह से दल परिवार द्वारा तीन लेख प्राप्त हुये हैं जो उपयोगी होंगे। —वैद्य अशोक भाई तलाविया भारद्वाज।

---

सामान्यत: सभी चिकित्सक खास करके जिसकी फार्मेसी है वह लोग अपनी अन्तःसूझ एवं अनुभव सिद्ध से योग बनाते हैं। जैसे कि च्यवनप्राश बहुत फार्मेसियां बनाती हैं। जैसे कि झण्डु, डाबर, आत्मानन्द, निरामय आदि। लेकिन हरेक फार्मेसी के च्यवनप्राश अलग अलग रीति से बनाये गये होते हैं। उसमें घटक द्रव्य भी सामान्य होते हुए भी कुछ अलग सा पड़ जाता है। इसी तरह कैशोर गुग्गुलु का भी समझना चाहिए।

अत: हमने यहां पर शारङ्गधर संहिता में दिया हुआ कैशोर गुग्गुलु का निर्माण एवं उपयोग और उसके परिणाम का वर्णन किया है।

**कैशोर गुग्गुल की निर्माण विधि इस प्रकार है—**

त्रिफला ३ प्रस्थ, गिलोय १ प्रस्थ को कूटकर लोहे की कड़ाही में ८ गुना जल मिलाकर काढ़ा बनायें। जल आधा शेष रहे तब उतार लें और छान लें। उस काढ़े को ६४ तोला उनमें गुग्गुलु डालकर मन्द आंच पर पकायें। जब गूगल पतला हो कर काढ़े में मिल जाय तब छानकर उसको फिर चूल्हे पर चढ़ा कर औटायें जिससे कड़ाई में गूगल लगने का भय न रहे। जब गूगल गुड़ पाक के समान हो जाय तब कढ़ाही से निकाल कर उसमें त्रिफला ८ तोले, गिलोय ४ तोले, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, वायविडङ्ग प्रत्येक २-२ तोले। अपामार्ग की जड़ और निशोथ १-१ तोले। इन सब द्रव्यों का महीन चूर्ण करके ऊपर वाले गूगल में मिला कर घी या एरण्ड तैल से स्निग्ध कर ३-६ रत्ती की गोलियां बना सुखाकर रख लें।

मात्रा—३-४ गोली सुबह शाम मञ्जिष्ठादि क्वाथ या गरम जल अथवा गरम दूध के साथ दें।

**उपयोग—**

इसके सेवन से वायु और रक्त विकार सम्बन्धी सब रोग नष्ट हो जाते हैं। यह गूगल हर समय सेवन किया जा सकता है। उसके सेवन से किसी प्रकार का विशेष पथ्य परहेज नहीं करना पड़ता है। उसका उपयोग विशेषकर वातरक्त, कुष्ठ, रक्त विकार में किया जाता है।

हमने कैशोर गूगल का प्रयोग रक्त विकारों में २० रुग्णों पर किया है जिनको कोई न कोई रक्त विकार था जैसे कि मुख पर पिडिकायें, प्रमेह की पिडिकायें एवं रक्त की अल्पताजन्य पाण्डु आदि। इन २० रुग्णों में कैशोर गूगल का बहुत अच्छा परिणाम मिला। क्योंकि कैशोर गूगल में होने वाले घटक द्रव्य सोंठ, कालीमिर्च अग्निमांद्य को दूर करके अग्निमांद्यजन्य विकार को दूर करके रोग को नष्ट करती है। त्रिफला, गिलोय विबन्ध को दूर करती है। कैशोर गूगल का पाण्डु रोग में बहुत अच्छा परिणाम मिला।

— शेषांश पृष्ठ ३१४ पर देखें।

# श्वेत कुष्ठ में उपयोगी वनस्पतियां

वैद्य मोहर सिंह आर्य, मिसरी (भिवानी) हरियाणा।

श्वित्र कुष्ठ रोग के इतिहास का सम्बन्ध मानव सृष्टि के आदि काल से ही चला आ रहा है। वैदिक काल के ग्रन्थों के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है। अथर्ववेद काण्ड १ सूक्त २३ में किलास की चिकित्सा के वर्णन में बतलाया है –

नक्तञ्जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥१॥

हे रामा कृष्णा तथा असिक्नि ओषधि तू रात्रि में उगने, बढ़ने वाली है। हे रंगने वाली ओषधि! तू किलास तथा श्वेत केशों को रंग दे।

यहां पर रामा नामक वनस्पति का उल्लेख है। कृष्णा तथा असिक्नि इसके पर्याय हैं। निरुक्त (१२।१३) मे रामा का अनुवाद कृष्णा है। रामा, कृष्णा, असिक्नि (असिता) एक वस्तु के पर्याय हैं। 'असिता' नील नीलिनी को राज निघण्टु म बताया है। रजनि को मदनी कोष मे नीलिनी कहा है। इस मन्त्र मे 'इदं. रजनि रजय' कहा है, जिसका अर्थ-हे रंगने वाली रंग दे। किस को रङ्ग दे–'किलासं पलितं च यत्' श्वित्र तथा केशों की श्वेतता को रङ्ग दे। नीलिनी-नील वनस्पति मे ये गुण हैं। किलास में प्रयुक्त होने वाली वनस्पतियों का विवरण संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है –

| क्रम सं० | संस्कृत नाम | बोटनीकल नाम | प्रयोज्य अङ्ग | सन्दर्भ |
|---|---|---|---|---|
| १. | अश्वगन्धा | Withania Somnifera Dunal | मूल, पत्र | श्वित्रकृमिलुत् (च.सू.कैय.नि.) |
| २. | इन्गुदी | Balanites Aegyptica | फल, छाल, पत्र | कुष्ठकृमिश्वित्र (कैय) |
| ३. | कटभी | Careya Arboria Rox B | फल, छाल | श्वित्र व्रणवत् (कैय.) |
| ४. | काकोदुम्बरिका | Ficus Palmata Forst | फल, मूलत्वक् | श्वित्रकुष्ठलुत् (कैय.) |
| ५. | काजू | Anacardium occidentale | गिरी, तैल | श्वेतकुष्ठफलावर्येत् (चि. र.) |
| ६. | तिनिश | Ougenia Dalbergioides Benth | काष्ठसार | श्वित्रकुष्ठजित् (कैय.) |
| ७. | खदिर | Acacia Catechu | त्वक्, खदिरत्वक् | श्वित्रकुष्ठान् हरेत् (भा. प्र.) |
| ८. | चित्रक | Plambago Zeylenica | मूलत्वक् | श्वित्रघ्न (भा. प्र.) |
| ९. | बाकुची | Psoralia Coryfolia | बीज | श्वित्रप्रशमनीपरा (भा. प्र.) |
| १०. | भल्लातक | Cemicarpus Anacardium | फल | हन्तिश्वित्रं कृमिव्रणम् (भा. प्र.) |
| ११. | लशुन | Alliwon Sativum | कन्द | कृमिकुष्ठकिलासघ्न: (च.सू.२७) |
| १२. | शिंशपा | Dalbergia Sissoo | पत्र, काष्ठसार | श्वित्रजित् (कैय. नि.) |

## खनिज द्रव्य

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १. | तुत्थ | Copper Sulphate | श्वित्रापहं त्वग्दोषनाशनम् | (र. त.) |
| २. | मनःशिला | Arsenic Rubrum (Realgar) | श्वित्रनुत् | (भा. प्र.) |
| ३. | कासीस | Iron Sulphate | श्वित्रनाशनं | (भा. प्र.) |

## जान्तव द्रव्य

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | गो-पित्त | श्वित्रहारी | (च.सू १) |
| २. | हस्तिमूत्र | किलासे जागं मूत्रं | (सु.सू. ४५) |
| ३. | तक्र | श्वित्रनुत् | (भा प्र.) |
| ४. | मयूर पित्त | श्वित्रहारि | (सु.चि. ९) |

# निर्गुण्डी ( VITEX-NEGUNDO )

वैद्य कन्हैयालाल गुप्ता खण्डेलवाल आयुर्वेद चिकित्सालय, सुकेत [कोटा] राज० ।

निर्गुण्डी बूटी

निर्गुण्डी गुडुच्यादि वर्ग में आता है ।

निगुण्डी के विभिन्न नाम—

हिन्दी निगुण्डी, सम्हालू, निगोनी
मराठी निगड़, शिवारी । संस्कृत–निर्गुण्डी
गुजराती नगोड़, नगद बंगाली–निशिन्दा
लैटिन व्हाइट नेगुण्डो (Vitex Negundo)

रासायनिक संगठन —

इसके पत्र मे एक उड़नशील तैल रहता है तथा इसके फलों में क्षारीय द्रव्य होते हैं। रासायनिक जाच से पता चला है कि रेसिन अम्ल तथा मैलिक एसिड इनमें पाया जाता है तथा विटामिन सी भी ।

विशिष्ट विवरण—

निर्गुण्डी के दो भेद माने गये है । एक श्वेत एवं दूसरा नीला । भाव प्रकाश में नील पुष्पी वाले को निर्गुण्डी कहा है। निर्गुण्डी का तना सामान्यत: पतला अनेक शाखाओं वाला होता है।

इसके पुष्प ५ पंखुड़ीदार तथा छोटे छोटे चने के पत्र के आकार के होते हैं ।

इसके फल काले रंग वाले गोलाकार होते हैं । पत्र छोटे छोटे १।। से ३ इञ्च तक के लम्बे बिना खण्डित होते हैं ।

इसमें वर्षा ऋतु में क्षुप होते हैं जो अक्सर अगस्त सितम्बर से दिसम्बर जून तक प्राप्त होते है । क्षुप की शाखायें पीली रंग की तरह होती है ।

प्राप्ति स्थान—

निर्गुण्डी प्रायः पूरे भारत में पाई जाती है। विशेष कर यह बिहार, बंगाल, उ० प्र०, महाराष्ट्र तथा पहाड़ों की तलेटी तथा पंजाब की ओर समुद्र तट वाले प्रदेशों में पाई जाती है । इसकी औषधि रूप में पत्र, छाल,बीज, मूल काममें लिये जाते हैं।

गुण धर्म—

निर्गुण्डी शोथ हरने वाली, दर्द को दूर करने वाली, दृष्टि बढ़ाने वाली, उष्णवीर्य, रसायन, दीपन, पाचन, कटु, तिक्त, मूत्रल, ज्वरनाशक है । मुख्यतया वात नाशक है ।
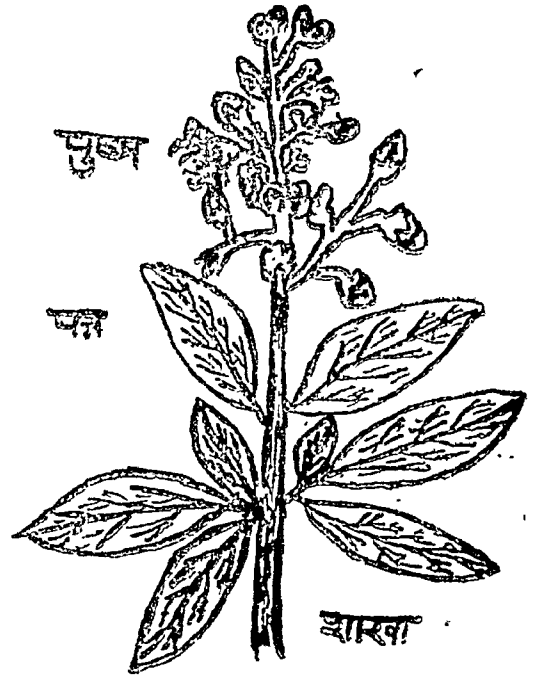
निर्गुण्डी के पत्तों को विभिन्न प्रकार के शूल पर तथा शोथ (सूजन) जैसे जोड़ों की सूजन, फुफ्फुस के शोथ आदि वेदना (दर्द) प्रधान रोगों में इसके पत्तों को गरम करके हलका मस्टर्ड आयल लगाकर बांधा जाना चाहिये । कफ, ज्वर आदि में इसका निम्न योग अत्यन्त लाभप्रद है–

पत्तों का रस [illegible] तोले + छोटी पीपल २ नग चूर्ण करके पिलावे से कफ ज्वर पर लाभ मिलता है ।

कुछ सफल प्रयोग—

(१) कुष्ठ ग्रन्थि आदि पर—निर्गुण्डी के मूल व

पत्तों को लेकर कूटकर रस निकालकर उसमें तिल तेल मिलाकर मन्द मन्द आंच पर गर्म करें और तेल रहने पर उतार लेवें। रस व तेल क्रमशः रस १२० ग्राम में ३० ग्राम तेल मिलावें। पामा, नासूर, फुन्सी आदि में लगावें।

(२) कुष्ठ पर—निर्गुण्डी के १० ग्राम पत्तों को २०० ग्राम पानी के साथ पीसकर छान लें तथा कुष्ठ रोगी को भूखे पेट लगातार पिलायें। लगभग ४२ दिन में कुष्ठ रोगी के घाव सूखने लगते हैं।

(३) चर्म रोगों पर—निर्गुण्डी के पत्तों को घी में तलें तथा उतार कर पत्तों का चमड़ी पर (रुग्ण स्थान पर) प्रयोग करें।

(४) अर्श पर—निर्गुण्डी के मूल का चूर्ण करके अभयारिष्ट के साथ लेवें।

(५) कुष्ठ के वमन पर—निर्गुण्डी के पत्ते ४० ग्राम तथा देवदारु, किन्दाल, चमेली के पत्ते सभी १०-१० ग्राम लेकर बारीक चूर्ण करें। तथा २ से ५ ग्राम शहद दुगुनी मिलाकर लेवें तथा हल्का गर्म पानी में सेंधा नमक मिलाकर अधिक से अधिक पिलावें। कुष्ठ रोगी के वमन में लाभ होगा।

विशिष्ट योग—

(१) निर्गुण्डी के चूर्ण को पानी के साथ नियमित सेवन करने से सफेद बाल काले होते हैं। शरीर देह पलटे, रूप वृत्त हो, ओज बढ़ता है। बुद्धि का विकास, ज्योति दीसे, स्वर्ग का देवता दीखे, नाग दीखे, पृथ्वी मण्डल दीसे। सेवन काल में पथ्यापथ्य का पूर्ण ध्यान रखें।

(२) बकरी के दूध के साथ निर्गुण्डी खावें। कम से कम ४६ दिन तक ८-८ तीर्थ जावें।

(३) सभी प्रकार के कुष्ठों पर (गांठयुक्त कुष्ठ छोड़कर)—निर्गुण्डी की जड़ को पीस चूर्ण करें तथा गाय के मूत्र के साथ नियमित सेवन करें। कुष्ठ में विशिष्ट लाभप्रद। त्वचा पर गांठयुक्त कुष्ठ में यह योग लाभप्रद कम है। अतः अन्य कुष्ठ रोग में प्रयोग करें। इसके अलावा यह पामा, विचर्चिका आदि में लाभप्रद है।

(४) निर्गुण्डी का तेल जो प्रयोग नं० १ पर बताया गया है, यह तेल सभी प्रकार के चर्म रोग, पामा, स्फोट, कुष्ठ तथा वात रोगों एवं कर्ण के रोगों में विशिष्ट लाभकारी सिद्ध हुआ है।

कैशोर गुग्गुलु + पृष्ठ ३१८ का शेषांश

इन २० रुग्णों को हमने अच्छी तरह निदान करके केवल कैशोर गूगल पर २ माह रखा। कैशोर गूगल का परिणाम ७ वें दिन से ही मिलने लगा था और एक महीने में प्रायः लाभ हो गया था। फिर भी दो माह तक रुग्ण ने कैशोर गुग्गुलु ली थी। आज भी उन रुग्णों की ओर से कोई फरियाद नहीं है। रक्तविकार जन्य पिडिका एवं प्रमेहजन्य पिडिका कैशोर गुग्गुलु से अवश्य नष्ट होती है। हां प्रमेह पिडिका में एक शर्त जरूर है कि प्रमेह का औषधोपचार जारी रखना आवश्यक है। जैसे कि आंवला, हरिद्रा चूर्ण, वसन्त कुसुमाकर रस, मामज्जक घन वटी का प्रयोग किया जाता है।

१० रुग्णों पर कैशोर गुग्गुलु का अच्छा परिणाम प्राप्त होने के कारण हमने सोचा कि चिकित्सा समाज में इसकी जानकारी देना अयोग्य नहीं होगा। ✱

# कामरत्नम् तंत्रम् में आयुर्वेद द्वारा सौन्दर्यकरण

डा० कमल प्रकाश अग्रवाल ४७ हुसैनी बाजार, चन्दौसी-२०२४१२।

रञ्जनम् —

(१) प्रथम देहरंजन कहते हैं। प्रा स्त्रियों के सुख के निमित्त पुरुषों को तथा पतियों के निमित्त स्त्रियों को अपना देहरञ्जन करना चाहिए। इस कारण विलासी जनों के निमित्त गन्धादि कार्य कहता हूँ।

(२) हरड़, लोध, और नीम के पत्ते, सतौना, दाडिम का छिलका, इन सबका लेप करने से शरीर की दुर्गन्ध दूर होती है।

(३) हरड़, नारियल की जड़, मोथा, त्रिफला, त्रिफला और पुतिकरंजुए के बीज इनका बगल मे लेप करने मे गरमी के दिनों मे यह महादुर्गन्ध को दूर करता है।

(४) हरड़, लाल चन्दन, नागरमोथा नागकेशर, खश, लोध, हल्दी यह सब बराबर लेकर स्त्री-पुरुषों के शरीर पर मलने में पसीने की दुर्गन्ध दूर होजाती है।

(५) कदम्ब के पत्ते, लोध, अर्जुन के फूल पीस कर शरीर मे मलने से शरीर की दुर्गन्ध नष्ट होती है।

(६) चन्दन, उशीर, करन्ज के पत्ते, काल, बहेड़ की मीग, अगुरु और नागकेशर यह सब पीसकर शरीर पर मलने से बहुत काल की दुर्गन्ध को दूर करते हैं। कहीं बाल पत्र भी पाठ है जिसका अर्थ नेत्र वाला है।

(७) दाडिम का वक्कल, मधु, लोध्र और पद्म इनको समान भाग लेकर और नीम के पत्तो को शरीर मे मलने से स्त्री के पसीने की दुर्गन्ध दूर होती है।

(८) केशर, उशीर, शिरस और लोध्र इनका चूर्ण कर शरीर पर लेप करने से गरमी में शरीर से बहुत पसीना नही निकलता, ऐसा भोजराज ने कहा है।

(९) तिल, सरसों दोनों, हल्दी, दूर्वा, गोरोचन और कूठ को बकरे के मूत्र के और मट्ठे के साथ शरीर पर लेप करने से मनोहरता होती है।

(१०) हरड़ और मोथा यह तुल्य भाग लेकर, बनहह का चौथाई भाग ले और इनसे आधा भाग यह सब मिलाकर लेप करने से काम स्थान की दुर्गन्ध दूर होती है।
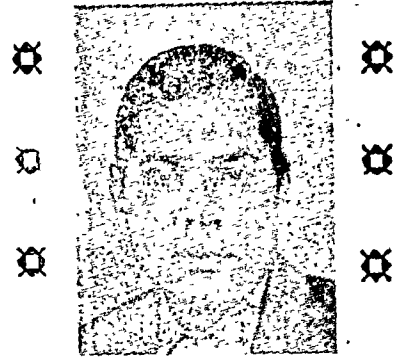
(११) इलायची, कचूर, पद्मज, चन्दन, मोथा, हरड़, सैंजना और कपूर यह मोहन नामक योग सब प्रकार की बदबू को दूर करने वाला है।

(१२) धतूरा, केशर, मोथा, नेत्रवाला, लोह, कपूर और उशीर यह सब समान भाग पीसकर इनका लेप करने से सब को प्रिय होती है। यह मनुष्य और देवताओं को प्रिय है ऐसा पूर्व विद्वानों ने कहा है।

(१३) उशीर, काला अगर, चन्दन, तेजपात, नेत्रवाला यह सब समान भाग पीसकर अंगों में लेप करने से विलासवती स्त्रियों के अङ्गों में चन्दन जैसी सुगन्ध हो जाती है।

मुखरंजनम् —

(१) आम और जामुन दोनों की गुठली लेकर काकड़ासिंगी और शहद मिलाकर यदि रात्रि के समय पुरुष मुख में रखें तो घोर दुर्गन्ध भी नष्ट होकर सुगन्धि उत्पन्न होती है।

(२) गुड़, दालचीनी, इलायची, नख (गन्धद्रव्य), जायफल और नागकेशर इनमें सुवर्ण का वर्क मिलाकर इनकी क्षुद्र बटी करके रात्रि में तम्बाकू के साथ खाने से पुरुष के मुख में सुगन्धि उत्पन्न होती है।

(३) जो स्त्री प्रातःकाल के समय जटामांसी, केशर और कूठ तीनों को पीस इनका चूर्ण चाटती है। उसके मुख की दुर्गन्ध १५ दिन में समाप्त होकर कपूर के समान हो जाती है।

(४) जो कोई कूठ का चूर्ण, मधु और घृत के साथ तालमखाने का नित्य सेवन करता है उसका मुख एक महीने में केतकी की गन्ध के समान हो जाता है।

(५) गोमूत्र में हरड़ पकाकर उसमें सौंफ, कूठ और पीपल डालकर सेवन करने से मुख की दुर्गन्ध दूर होती है।

(६) तिल जायफल, सुपारी भक्षण करने से और इसके ऊपर ठंडा जल आधा पल पीने से मुख की दुर्गन्ध नष्ट होती है।

(७) घी तथा कांजी इन दोनों का गण्डूष (कुल्ला) करने और इनके आदि, अन्त तथा मध्य मे कपूर का भक्षण करने से मुख की दुर्गन्ध नष्ट होती है।

(८) गोमूत्र में कूठ सुगन्ध वाला और हरड़ डाल कर क्वाथ बनावें और फिर सब पीसकर गोली बनाकर मुख में रखने से मुख की दुर्गन्ध का नाश होता है।

(९) कड़वे और तीखे काढ़े के सेवन से अथवा नित्य दतौन करने से अथवा शहद के साथ कूठ का चूर्ण करने से मुख की दुर्गन्ध नष्ट होती है।

(१०) सेंधा नमक, सरसों, शारिवन तथा दालचीनी चूर्ण कर इनका लेप करने से स्त्री पुरुषों के युवावस्था में उठने वाली मुख की दुर्गन्ध दूर हो जाती है।

(११) मसूर को कपूर तथा सरवन के साथ पीस कर बारम्बार उसको स्त्रियों के मुख पर लेप करने से गण्ड, पिटिका (मुंहासे) पन्द्रह दिन में ही नष्ट हो जाते हैं।

(१२) सेमल के वृक्ष के कांटे आठ दिन दूध में पीसकर स्त्री या पुरुष के मुख पर लेप करने से उस स्त्री या पुरुष के मुख की झांई तथा मुंहासे आदि तीन दिन में नष्ट हो जाते हैं।

(१३) धनियां, वच, सरवन यह बराबर भाग लेकर पीसकर निरन्तर मुख पर लेप करने से निश्चय ही मनुष्यों के जवानी के मुंहासे या पिढ़िका दूर हो जाते हैं। 'शैलजलोध्रतुल्य' भी पाठ है अर्थात् मैनसिल और लोध।

(१४) सरसों और तिल को जवाखार के साथ पीसकर मुख पर लेप करने से सात दिन में मुख की पीड़िका, फुन्सी, मुंहासे आदि नष्ट होते हैं, ऐसा रतिदेव ने कहा है।

(१५) दोनों हल्दी, गेरू, सोनापाठा, कदली, मेंथवाला, इन्द्र जो यह तीन बार मुख पर लगाने से मुख की फुन्सी दूर होती है और मुख चन्द्रमा के तुल्य हो जाता है।

(१६) कालीमिर्च और गोरोचन पीसकर मुख पर लगाने से स्त्री के जवानी के मुंहासे आदि दूर होते हैं।

(१७) अर्जुन की छाल और मजीठ का चूर्ण इनको शहद में मिलाकर तीन दिन मुख पर लेप करने से मुख कमल के समान निर्मल हो जाता है।

(१८) बिजौरे की जड़, घी, मैनसिल, गाय के गोबर का रस इनका लेप करने से मुख पर कान्ति होती है और पिढ़िका तिल आदि दूर होते हैं।

(१९) रक्त चन्दन, मजीठ, कूठ, लोध, प्रियंगु, वट के अकुर मसूर इनका लेप मसूरिका व्यंगादि को दूर कर मुख पर सुगन्ध और कान्ति उत्पन्न करता है।

(२०) मजीठ, मुलेठी, लाख और बिजौर की जड़ को पीसकर १-१ कर्ष प्रमाण लेकर १६ गुने कड़वे तेल में पकाय। फिर उससे दूना बकरी का दूध लेकर मृदु अग्नि में इन सबको पकावें। लीर का, छोटी फुन्सी, व्यंग मुंहासे आदि) सब इसके मलने से दूर होते हैं। मुख निर्मल हो जाता है, कंटकादि नहीं रहते तथा खुरदरापन जाता रहता है। सात रात के प्रयोग से मुख सुवर्ण के तुल्य हो जाता है। मधु को दो बार कहने से शहद दो कर्ष लेना चाहिये।

(२१) मैनसिल, लोध, दोनों हल्दी, सरसों यह बराबर लेकर जल में पीस लेप करने से मुख की श्यामता छूट जाती है।

(२२) भैंस के क्षीर से युक्त दोनों हल्दी और रक्त चन्दन मिलाकर मुख पर लेप करने से मुख की झांई दूर होती है तथा स्याही भी जाती रहती है।

(२३) दोनों हल्दी, मजीठ, गाय का घी सफेद सरसों, गेरू के साथ इनको पीसकर बकरी के दूध के साथ पकावें। इससे मुख पर सूर्य के समान कान्ति होती है।

(२४) वच, लोध, उशीर, घृत, राल, दूध, पीले वट के पत्ते, हल्दी के साथ पीसकर मुख पर लेप करने

से कमल के समान मुख प्रकाशित होता है।

(२५) मसूर को शहद के साथ पीसकर मुख पर मलने से सात रात्रि के प्रयोग से कमल के समान मुख हो जाता है।

केशरंजनम्—

(१) माला, गन्ध, धूप, वस्त्र, आभूषण यह श्वेत बाल वाले पुरुष को शोभित नहीं होते। इस कारण बालों की सेवा अवश्य करें जिससे वह अंजन और भौंरे की तरह काले हो जायें।

(२) आम की गुठली का तेल और कान्त पाषाण का चूर्ण, काकादनी का फल, लोह चूर्ण यह सब यत्नपूर्वक चूर्ण करके या अंकोल का तेल धान्यराशि में दबाकर एक महीने के उपरान्त निकाल कर शिर में तीन दिन लेप करने से केश काले हो जाते हैं और छः महीने तक लेप करने से वे बाल काले भौंरे के समान हो जाते हैं।

(३) त्रिफला, लोह चूर्ण, नील के पत्ते, भांगरा मूल इन सबका चूर्ण बकरी के मूत्र में एक दिन भावना देकर फिर शिर पर मलने से भौंरे के समान बाल हो जाते हैं।

(४) चौटनी के बीजों का चूर्ण, कूठ, एला, देवदारु यह बराबर लेकर इनके चूर्ण को एक दिन भांगरे के रस में भावना दें। इसके मलने से बाल भौंरे के समान कृष्ण वर्ण होते हैं। चूर्ण से चौगुने तेल में इसे मृदु अग्नि से पकाना चाहिये। इसके लगाने से बाल भौंरे के समान हो जाते हैं।

(५) हाथी का दांत जलाकर और उसके समान रसांजन लेकर बकरी के दूध में उसे पीसकर लेप करने से बाल काले होते हैं।

(६) त्रिफला, लोह चूर्ण, ईख का रस, भांगरे का रस, इनसे आधी काली मिट्टी एक बर्तन में एक महीने तक बन्द कर रक्खें। उसके लेप करने से बाल काले होकर चार महीने तक स्थिर रहते हैं।

(७) लोहकिट्ट, जवा (गुड़हल) के फूल, आमले यह समान भाग लें। इनको पीसकर तीन दिन लेप करने से दो महीने तक बाल काले रहते हैं।

(८) भांगरे का रस १ सेर और इसी के बराबर काले तिल लें। एक प्रहर तक इसमें तेल युक्त नीली रस लिप्त करें। इसके तीन दिन लगाने से बाल काले हो जाते हैं।

(९) सज्जीखार, जवाखार, सरसों, कांजी और नागकेशर इनको पीसकर केशों में लगाने से बाल काले हो जाते हैं।

(१०) काकमाची के बीज और उसके बराबर काले तिल लेकर यन्त्र में उनका तेल निकाल कर बालों में लगाने से बाल काले हो जाते हैं।

(११) गाय का घी, भांगरे का रस, मोरशिखा के साथ मृदु अग्नि पर पकाकर इसके लगाने से बाल काले हो जाते है। यह प्रयोग उत्तम है।

(१२) काकमाची के बीजों के समान काले तिल लेकर उसमें गुड़हल के फूलों का रस तथा शहद एक कर्ष डालें। सब एकत्र करके सात दिन तक लगाने से बालों को काला रखता है।

(१३) त्रिफला और लोह चूर्ण यह समान भाग लेकर जल से पीसकर इन दोनों के समान तेल लेकर मृदु अग्नि से पकावें। तेल के बराबर भांगरे का रस भी इसमें डालें। जब रस जल जाये और तेल मात्र रह जाय तब उसे चिकने बर्तन में भरकर पृथ्वी में गाड़ दें। एक महीने के बाद निकाल कर केले के पत्ते पर लगाकर शिर में सात दिन तक बांधें। निर्वात स्थान में क्षीर का भोजन पान करें और फिर त्रिफला के जल से धो डालें। सात दिन ऐसा करने से बाल सर्वथा काले हो जाते हैं और जन्म पर्यन्त केश श्याम रहते हैं।

(१४) अथवा महाकाल के बीज, उसी के समान भाग बाकुची और सोमराजी के बीज लेकर इनको चूर्ण कर चार दिन तक गुड़हल के रस की भावना दें और पाताल यन्त्र से इसका तेल निकाल कर एरण्ड के पत्तों में लगाकर शिर पर लेप करें और क्षीर (दूध) पान और बाल सूप का सेवन करें। मुख में तण्डुल रखकर। इस प्रकार सात दिन तक बालों पर लेप करने से बाल कृष्ण वर्ण हो जाते हैं।

(१५) वायविडंग को कीचड़ में डालकर छः महीने तक पड़ा रहने दें। उसका एक कर्ष चूर्ण करके सिर में डालने से बाल काले हो जाते हैं और जीवन पर्यन्त वैसे ही रह जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं।

(१६) नील की जड़, सेंधानमक, पीपल और घृत से बालों का लेपन करने से क्रमशः श्वेत बाल भी काले वर्ण के हो जाते हैं।

(१७) फूल सहित आम के फल, विडार, अर्क के फूल, नील यह सब लेकर और एक सेर तिल का तेल लेकर इसमें यह सब पकावें। उसके मध्य में राजहंस के बाल डालकर देखें। यदि वह डालते ही कृष्ण वर्ण हो जायें तो इसका पाक यथार्थ जाने। यह पृथ्वी में नील तेल के नाम से विख्यात है। इसको बालों पर लगाने से श्वेत बाल भौंरे के समान काले हो जाते हैं। यह प्रयोग अच्छी प्रकार देखा हुआ और सिद्ध है।

(१८) शतावरी, काले तिल, गोरोचन, काकमुद्गा इनको पीसकर बालों पर लेप करने से धुवल बाल काले हो जाते हैं।

(१९) नव मन्जिका का रस निकाल कर तिल का तेल डालकर कल्क लगाने से मनुष्यों के अकाल में श्वेत हुए बाल श्याम हो जाते हैं। यह बालों के सब प्रकार के रोग और मल को दूर करता है।

सुगन्धिकरणम् —

(१) मोंथा, सरसों, उशीर, हरड़, आमला इनका क्वाथ करके केशों की जड़ में लेपन करने से बाल मेघ के समान काले हो जाते हैं।

(२) छोटी इलायची, मोंथा, नख (सुगन्ध द्रव्य), आम, नागकेशर, शेफालिका, तेजपात, ढाक इनका चूर्ण करके इनको बालों में लगाकर स्नान करने से बालों में सुगन्ध हो जाती है।

(३) नागकेशर, मोंथा, उशीर, नखी (सुगन्ध द्रव्य) और हरड़ इनका लेप कर स्नान करने से मनुष्यों के सिर में १५ दिन तक सुगन्धि आती है।

(४) हरड़ की बकली, आमला, मेढ़ासिंगी, मोथे का रस, कूठ को जटामांसी के सहित लेप करके स्नान करने से सुगन्धि उत्पन्न हो जाती है।

केशयूकादि निवारणम् —

[१] केशों की लीखादि का निवारण करना— वायविडंग, गन्धक और कमल इनको पीसकर गोमूत्र से सिद्ध कर कड़वे तेल में पकाकर बालों में मलने से सम्पूर्ण लीखें मर जाती हैं।

[२] गोमूत्र और सरवन की जड़ का लेप लीखों का निवारण करता है।

[३] काले धतूरे के रस में एक निष्क (१०८ रत्ती) पारे को खरल करें और पान के रस में मिला कर वस्त्र पर लपेट कर यह वस्त्र सिर पर धारण करें। इसे तीन पहर सिर पर रखने से सिर से सब लीखें गिर जाती है। इसमें सन्देह नहीं।

[४] दोनों हल्दी मक्खन के साथ मिलाकर मलने से सिर की खुजली नष्ट हो जाती है।

[५] नील कमल, तिल, मुलेठी और सरसों तथा नागकेशर को आमले के साथ पीसकर लेप करने से यह लेप लीख का नाश कर देता है।

[६] हल्दी, गन्धक, गोमूत्र, वायविडंग और कड़वा तेल को पारे के साथ मिलाकर लेप करने से यह लीखों को दूर करता है।

[७] लाख, भिलावा, नागरमोथा, कूठ, गूगल, सरसों, वायविडंग इनको मिलाकर लेप करने से लीखें निवारण हो जाती हैं। बेल की जड़ और गोमूत्र इनका लेप लीखों का निवारण करने वाला है।

केशस्येन्द्रलुप्तादि निवारणम् —

[१] बालों का इन्द्रलुप्त रोग निवारण करना—सिर के बाल गिरने लगें तो इसको इन्द्रलुप्त कहते हैं। चौंटनी और शहद पीसकर सिर पर लगाने से सब प्रकार का इन्द्रलुप्त रोग दूर हो जाता है। इस योग से बाल जमकर बड़े और कुटिल हो जाते हैं।

[२] हाथी के दांत को जलाकर उसकी राख कर उसके बराबर रसौत लेकर बकरी के दूध में पीसकर लेप करने से हाथों की हथेली में भी बाल जम सकते हैं और जगह की क्या कहें।

[३] कुमकुम और कालीमिर्च को तेल के साथ पीसकर लेप करने से इन्द्रलुप्त रोग शीघ्र नष्ट हो

—शेषांश पृष्ठ ३२४ पर देखें।

# त्वक् रोग चिकित्सा

श्रीमती गार्गी शर्मा, कासगंज (एटा)
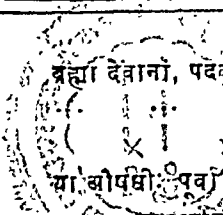
ब्रह्मा देवानां, पदवी कवीनां, ऋषिर्विप्राणां ।
... सोम पवित्रमत्येतिरेभन् ॥
× × × ×
या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यः त्रियुग पुरा ॥

ब्रह्मा या प्रजापति द्वारा प्रजा की सृष्टि से त्रियुग पूर्व ही औषध-सृष्टि कर मानव की धर्मार्थ काम प्रदाता देह को देदीप्यमान बनाने के विचार से आयुर्वेद शास्त्र का उपदेश स्वयं ही प्रदान किया था। अतएव 'ब्रह्मा हि यथाप्रोक्त' का प्राप्त आप्त लेख है। भगवान राम के अनन्य मित्र शृङ्गवेराधिपति के समान आपका शृङ्गवेर भी शोथ सन्निपात शीतपित्त शूल श्वासश्लीपदादि में परम उपयोगी है।

'उपदंश कुठार रस' का उपयोग कर नवीन एवं पुरातन उपदंशों को आप दूर सकते हैं। फिरंग रोग में 'उपदंशघ्न वटी' सर्वोद्रव संयुक्त फिरंगजनित पीड़ा को क्रीड़ा मात्र में शमन करती है।

गलत्कुष्ठ पर 'कुष्ठ कुठार रस' का प्रयोग कर कुष्ठ क्लेशित काय को निरोग बनायें।

'मंजिष्ठादि क्वाथ' के साथ 'कुष्ठगज केशरी रस' का प्रयोग कुष्ठ व्रणोद्दरों पर आपकी सुयश पताका फहरा देगा। दीन दुःखी गरीबों के हित के लिए कुष्ठनाशन रस या कुठारहर रस से आप उनको मुक्ति दिला देंगे।

वात रक्त जैसी भयंकर व्याधि में वात रक्तान्तक वटी, वात रक्तान्तक रस और वात रक्तान्तक लौह आपकी चिकित्सा में चार चांद लगा देंगे।

सुप्तिमंडल कुष्ठनुत में सर्वेश्वर रस का सदैव स्मरण रखें।

सर्व सुलभ श्वयथुघाती रस से आप शोथ को निर्मूल करें।

विसर्प योग में—विसर्प शोषण और विसर्पनाशन का प्रयोग अक्षप कर विसर्प को सर्पगति से त्वरित दूर कर सकते हैं।

शीतपित्त, उदर्द, कोठ को दूर करने हेतु शीतपित्त भञ्जन रस का प्रयोग करें। ✶

---

कामरत्नम् तंत्रम् में आयुर्वेद द्वारा सौन्दर्यकरण → पृष्ठ ३२३ का शेषांश

जाता है; जम्बीरी के बीजों का रस भी यही गुण करता है।

[४] दग्ध हुआ हाथी का दांत, बकरी का दूध, रसौत इनको पीसकर हाथ में लेप करने से भी बाल जम आते हैं।

[५] चमेली के फूल, दल और मूल, काली गाय के मूत्र में पीसकर यह लेप करने से रात-रात में बालों को दृढ़ कर देता है।

[६] सिंघाड़ा, त्रिफला, भांगरा, नील कमल, लोह चूर्ण इन सबका चूर्ण कर इसमें चौगुना तेल डालकर पका लें (कहीं 'भृङ्गाट' पाठ है, जिसका अर्थ भांगरा है)। इसके लेप से बाल कुटिल, सरल हो जाते हैं।

[७] यदि बालों को कीड़ा खा गया हो तो सुवर्ण को वहां घिसें, जब तक वह तप्तता को प्राप्त न हो जाये, तब तक बराबर घिसता रहे।

[८] भिलावा, कटेरी, चौटनी की जड़ और फल शहद के साथ पीसकर लेप करने से इन्द्रलुप्त दूर होता है।

[९] भिलावा, काले तिल, कटेरी के फल यह समान भाग लें। इसे चावल के जल से पीसकर लेप करने से इन्द्रलुप्त रोग दूर होता है।

[१०] काली गाय के मूत्र में जवा पुष्प पीसकर लेप करें, अथवा तिल के पुष्प, गोखरू और लवण को गाय के घी से पीसकर सात दिन लेप करने से बाल दीर्घ और बहुत हो जाते हैं।

[११] सेमल, ताल मूली, कमल मूल यह बराबर लेकर बकरी के दूध के साथ पीसकर सिर मुण्डित बालों पर तीन दिन लेप करने से उत्तम केश वृद्धि हो जाती है।

# सौन्दर्य-चिकित्सा

प्रो० मूलराज जे० वैद्य डी. एस. ए. सी.
रीडर-सरकारी अखण्डानन्द आयुर्वेद महाविद्यालय
विक्टोरिया गार्डन के सामने, भद्र, अहमदाबाद (गुज०)

—卐 —
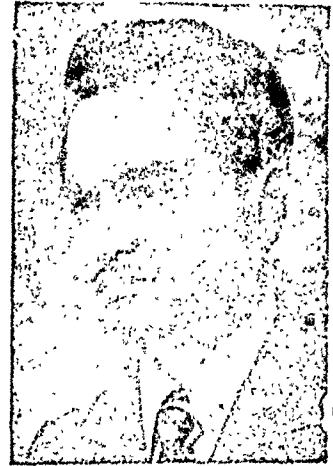
अब तक आपने विविध सेमीनार में भाग लेकर कई रिसर्च पेपर्स प्रस्तुत किये हैं। आपकी सिर के झड़ते बाल तथा युवाओं में श्वेत बाल की समस्या पर रिसर्च बहुत ही प्रशंसनीय है। गुजरात के दैनिक समाचार पत्र जैसे गुजरात समाचार, संदेश, प्रभात इत्यादि में १०० से ज्यादा आर्टिकिल प्रस्तुत किये हैं। गुजरात गवर्नमेंट प्रकाशित आयु प्रकाश के सम्पादक मंडल के सदस्य हैं। आकाशवाणी एवं दूरदर्शन पर भी आपके वार्तालाप जारी हैं। 'धन्वन्तरि' में भी आपके आर्टिकिल आते रहते हैं।

— वैद्य किरीट पण्ड्या (विशेष सम्पादक)

कई नासमझ लोग सफाई के चक्कर में कपड़े धोने का साबुन या डिटर्जेन्ट पाउडर से ही हाथ-पांव तथा मुंह धो डालते हैं। इससे तो त्वचा फट जाती है एवं भद्दी भी हो सकती है, ऐसा करना गलत है।

त्वचा को स्वच्छ एवं तरोताजा करने में तीन उपकरण ही प्रमुख हैं—

[१] साबुन, [२] पानी और [३] तैलाभ्यङ्ग

[१] साबुन—शीत प्रदेशों में दिन में एक बार।

[२] पानी—हल्की धुलाई की सलाह दी जाती है। लेकिन अपने देश में गर्म मुल्क में दिन में दो-तीन बार स्नान करते या त्वचा धोने से कोई नुकसान नहीं होता। साबुन तथा पानी की धुलाई सूखी त्वचा और व्यक्तियों की त्वचा के लिए ठीक नहीं है। खास-तौर से बहुत गोरे एवं संवेदनशील त्वचा वालों को तो साबुन का इस्तेमाल बहुत सम्भल-कर करना चाहिए। धोते समय जरूरत भर का झाग लगायें और जल्दी ही उसे साफ कर डालें। धोते समय ढेर सा शीतल पानी इस्तेमाल करें, जिससे साबुन का कोई अंश त्वचा पर रह न पाये।

[३] तैलाभ्यङ्ग (क्रीम)—आयुर्वेद में त्वचा को तन्दुरुस्त एवं निखार लाने के लिए तैलाभ्यङ्ग का महत्व बहुत बताया है। लेकिन नये फैशन युग के युवा-युवती तेल की जगह सुगन्धित क्रीम का इस्तेमाल ज्यादा करते हैं। तैलाभ्यङ्ग या क्रीम से अभ्यङ्ग करने से त्वचा में नये प्राण आते हैं, त्वचा की रूक्षता दूर होती है, त्वचा के कोषों में नई जागृति आती है, जिससे त्वचा में निखार आता है।

यदि आपकी त्वचा नाजुक एवं संवेदनशील है तो उबटन (जिसमें चन्दन, हल्दी, तुलसी एवं बेसन आता है) का इस्तेमाल करें। भारत में प्राचीनकाल से उब-टन द्वारा त्वचा का निखार प्रचलित है। उबटन को गोलाकार में त्वचा पर हल्के से रगड़ना चाहिए।

अपनी त्वचा की सफाई शुरू करने से पहले एक बार फिर देखें कि त्वचा कितने प्रकार की होती है और उसकी सही पहिचान क्या है? आमतौर पर त्वचा चार प्रकार की होती है—

१. सामान्य त्वचा—ऐसी त्वचा किशोरावस्था से पहले केवल स्वस्थ बच्चों में ही पायी जाती है। ऐसी त्वचा चिकनी, सुन्दर और छोटे छिद्रों वाली होती है।

२. सूखी त्वचा—ऐसी त्वचा बढ़िया टेक्सचर वाली पतली और नाजुक होती है। यह चमकती नहीं है, लेकिन सूखी तथा कम फुन्सी वाली होती है। शीत-काल में ऐसी त्वचा रूक्ष तथा फटती है।

—शेष पृष्ठ ३२६ पर देखें।

# सौन्दर्य चिकित्सा

प्रा० श्रीमती लीना आर० शाह
रीडर - शल्य-शालाक्य
राजकीय अखण्डानन्द आयुर्वेद कालेज,
अहमदाबाद-१ [गुज०]
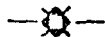
आप उपरोक्त कालिज में प्राध्यापिका है एवं सिद्धहस्त चिकित्सक हैं। आपके अनेक लेख दैनिक पत्र गुजरात समाचार, 'धन्वन्तरि' विशेषांक एवं आयुष प्रकाश में भी प्रकाशित होते रहते है।

--वैद्य किरीट भाई पण्ड्या [विशेष सम्पादक]

त्वचा को निर्मल और स्वस्थ रखने के लिए तिल तेल का अभ्यङ्ग करना चाहिए अथवा नारियल के तेल में निम्बू निचोड कर शरीर की मालिश (अभ्यङ्ग) करनी चाहिए। इससे शरीर के स्वाभाविक तैलीय द्रव्य की क्षतिपूर्ति होती है और मांसपेशियों में कसावट आती है। त्वचा को स्वस्थ एवं सौन्दर्य मे निखार लाने के लिए उबटन करना चाहिए। इसके प्रयोग से त्वचा के लिए किसी अन्य प्रसाधन की आवश्यकता महसूस नहीं होगी। बेसन, हल्दी तथा कच्चे नारियल का दूध मिलाकर त्वचा पर लगायें। उबटन की तरह मल कर उतारें। फिर गुनगुने पानी से स्नान कर अन्त में शीतल जल से सम्पूर्ण स्नान करें।

त्वचा की अनेक बीमारियां या तो खानपान सम्बंधी विकारों से उत्पन्न होती हैं या सफाई का पूरा ध्यान न रखने से। त्वचा में निखार लाने के लिए विटामिन 'सी' तथा 'बी' की कमी से त्वचा की बीमारियों को बढ़ावा मिलता है तथा वह रूक्ष हो जाती है। इसलिए हरा सलाद, हरी सब्जी प्रचुर मात्रा में खानी चाहिए। गाजर, निम्बू आमला, सन्तरा, अंगूर, अंकुरित मूंग, इत्यादि का अधिक उपयोग करना चाहिये।

खानपान सम्बन्धी परहेज की दृष्टि से गरिष्ठ भोजन, दिवास्वाप और तेज धूप से हमेशा बचते रहें।

सुबह-शाम शीघ्र गति से चलना तथा खुली हवा में लम्बे सांस लेना सबसे सरल और अच्छा व्यायाम है। व्यायाम से पसीने के रूप में शरीर की भीतरी गन्दगी बाहर निकल जाती है तथा रोम कूप साफ हो जाते हैं और त्वचा में गुलाबीपन आने लगता है।

आयुर्वेदीय औषधि की दृष्टि से धात्री रसायन सर्वोत्तम औषधि है और त्वचाभ्यङ्ग के लिए तिल तेल, चन्दन बला तेल, कुमकुमादि तेल की मालिश करनी चाहिये।

सौन्दर्य चिकित्सा — पृष्ठ ३२५ का शेषांश

३. तैलीय त्वचा—यह त्वचा खुरदरी, मोटी तथा चमकदार होती है। इसमें ब्लेक एड्स और फोड़े-फुन्सी निकल आते हैं। धोने के बाद कुछ देर में त्वचा चिकनी सी नजर आने लगती है।

४. मिश्र त्वचा--ऐसी त्वचा पर 'एकटीजोन' होता है यानी माथा, नाक तथा ठोडी तैलीय होती है क्योंकि यहीं पर सबसे अधिक ग्रंथियां होती हैं।

सभी प्रकार की त्वचा को निरोगी एवं स्वस्थ बनाने के लिए अभ्यङ्ग तथा विटामिन 'सी' सर्वोत्तम है। निम्बु के स्वरस से त्वचा को साफ करना चाहिए। भोजन में हरी सब्जियां, दूध, सन्तरा, अंगूर सर्वोत्तम प्रजीवक हैं।

तैलाभ्यङ्ग के लिये चन्दन बला तेल, कुमकुमादि तेल और एलीगन्स आयन्टमेंट ज्यादा फायदामन्द माने जाते हैं।

# त्वचा सौन्दर्यवर्धक प्रयोग

राजवैद्य कविराज पण्डित हरिवल्लभ मन्नूलाल द्विवेदी सिलाकारी शास्त्री
स्वामी निरंजन निवास–चकराघाट, सागर (म० प्र०)

* वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध आयुर्वेद चिचिकित्सक * राजनैतिक पार्टी · सक्रिय सदस्य
* अध्यक्ष म० प्र० आयुर्वेद मण्डल एवं जिला आयुर्वेद परिषद, सागर
* अध्यक्ष – जिला सक्रिय स्वतन्त्रता संग्राम सैनिक संघ, सागर
* सदस्य म० प्र० आयुर्वेदिक तथा यूनानी एवं प्राकृतिक बोर्ड, भोपाल
* मान्य सदस्य–अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन, नई दिल्ली
* आयुर्वेद ग्रन्थ लेखक विभिन्न पत्रिका में आयुर्वेद लेखन। – वैद्य किरीट भाई पण्ड्या (वि० सम्पादक)

[१] सौन्दर्यवल्लभ लेप—पीली सरसों, हल्दी, मजीठ १-१ तोला, बेसन, मसूर का आटा ५-५ तोला, खसखस दाना ॥ तोला।

विधि सबको महीन पीस कर अजादुग्ध अथवा अर्क केवड़ा में मिलाकर रात्रि में सोते समय मुख पर लेप लगाना चाहिए। प्रातःकाल शीतल जल से मुख को भली प्रकार धो लेना चाहिए। इससे मुख मण्डल की आभा प्रखर होती है। सौन्दर्यवर्धन में वृद्धि होती है। काले चिह्न दाग, झांई मिटती है।

[२] मसूर की दाल को महीन पीसकर नींबू के स्वरस में मिलाकर रात्रि में मुख पर लेप करे। प्रातः काल गर्म जल से मुख को धो लेना चाहिए।

[३] पीली सरसों तथा चिरौंजी दाने दोनों को समान भाग लेकर गोदुग्ध में महीन पीसकर उबालना, फिर इसे सुखाकर मुख पर मालिश करनी चाहिये। रात्रि में सोते समय प्रातःकाल गुनगुने जल से धो लेवें।

उपयोग—मुंहासे (मुख दूषिका) के दाग दूर होकर सौन्दर्यवर्धन होता है।

[४] नीम के बीज को देशी सिरके में महीन पीस कर रात्रि में मुख पर मण्डल लेप करना, प्रातःकाल गर्म जल से धो लेना। काली झांई नष्ट होती है। त्वग्रोग नष्ट होते हैं।

[५] १ तो. सुहागा का कपड़छन किया चूर्ण २ तो. चमेली के तेल में मिलाकर रात्रि में मुख पर लेप लगाना चाहिए। प्रातःकाल गर्म पानी से धो लेवें।

उपयोग—काले चिह्न तथा काली झांई नष्ट होती है। दद्रु मण्डल नष्ट हो सौंदर्य की वृद्धि होती है।

[६] सेम्हर के कांटे, हल्दी, चिरौंजी छिलकारहित मसूर का आटा, चने की दाल का आटा (बेसन) सब समान भाग लेकर गुलाब जल अथवा गोदुग्ध में महीन पीसकर रात्रि में मुख पर उबटन (लेप) लगाना। प्रातःकाल गर्म जल से धो डालना चाहिए।

उपयोग—मुख दूषिका (मुंहासे) मिटते हैं, सौन्दर्य वर्धन होता है।

[७] मजीठ, रक्त चन्दन जायफल तीनों समान भाग लेकर ताजे पानी में सिल पर चटनी के समान महीन पीसकर रात्रि में प्रतिदिन ६ माशा तक मुख पर लेप लगाने से झांई काले दाग दूर होते हैं, मुख स्वस्थ होकर सुन्दरता बढ़ती है।

[८] जायफल को दूध में चन्दन के समान घिसकर मुख पर लेप करने से मुख के काले, नीले दाग दूर हो जाते हैं। बाद में सरसों के तेल की मालिश करना। इससे मुख सौन्दर्य की वृद्धि होती है।

[९] कड़वे बादाम की गिरी को देशी सिरके में महीन पीसकर रात्रि में नेत्रों के नीचे लगावें। प्रातःकाल गर्म पानी से धो लेना चाहिये।

उपयोग–नेत्रों के नीचे हुए काले दाग नष्ट होवें हैं।

[१०] सेम्हल के कांटे और हल्दी दोनों समान भाग लेकर महीन पीसकर दूध में मिलाकर मुख पर दिन में ४-५ बार लेप करने से युवान पिडिकायें नष्ट हो जाती हैं और [illegible] होती है। *

# त्वक् सौन्दर्यवर्धक योग और मेरे अनुभव *

वैद्या अपर्णा लवांगीया बी. ए. एम. एस.
[illegible] टावर के पास, मणीनगर, अहमदाबाद-३८०००८ (राज०)
[illegible] राजभवन फलेट्स, शाही बाजार, अहमदाबाद-४

आयुर्वेद में आचार्यों के मतानुसार त्वचा के मुख्य चार वर्ण हैं। श्याम, श्यामावदात, अवदात और गौर हरेक व्यक्ति अपनी त्वचा गौर हो, ऐसी इच्छा मन में रखता है। त्वचा का वर्ण श्याम मे से गौर करना वह बात वैद्य हाथ में नहीं होती है। लेकिन कोई खास त्वक् रोग से त्वचा श्याव हो गई हो तो वैद्य औषध प्रयोग करके प्राकृतिक वर्ण ला सकते हैं।
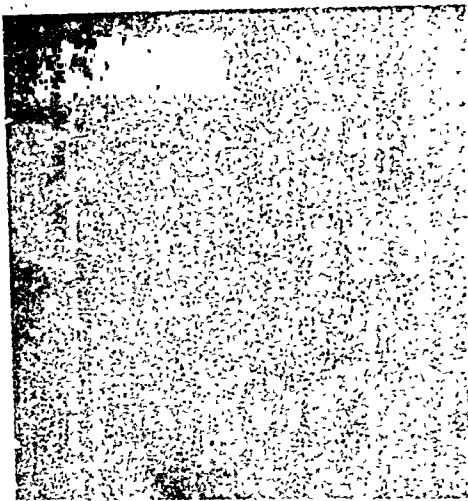
त्वक् रोगी

अधिक धूप में घूमने से त्वचा श्याव हो जाती है, कई बार आधुनिक क्लोरोक्वीन, और सल्फाड्रग लेने से रिएक्शन आ जावे से त्वचा का रंग विकृत हो जाता है तब योग्य चिकित्सा करके त्वचा का प्राकृतिक रङ्ग ला सकते हैं। विचर्चिका, श्वित्र, चर्मदल, कुष्ठ, दद्रु आदि रोगों में त्वक् वैवर्ण्य होता है। योग्य चिकित्सा करने से लाभ होता है।

त्वक् रोग में पहले रोगानुसार तथा दोषानुसार चिकित्सा करके रोग का शमन करना चाहिए, बाद में त्वचा का सौन्दर्य बढ़ाने की चिकित्सा करनी चाहिए।

(१) त्रिफला चूर्ण निम्बू के रस में भिगोकर लेप करना, १५ मिनट रखना और बाद में ठण्डे [illegible] स्नान करना।

(२) नारंगी चूर्ण, एरण्ड भ्रष्ट हरीतकी, [illegible] चूर्ण, मसूर की दाल एक-एक भाग सब एकत्र कर [illegible] पानी में मिलाकर त्वचा पर लेप करना १५-२० मिनट रखना, बाद में शीतल जल से स्नान करना।

(३) रूक्ष और निस्तेज त्वचा में सरसों के तैल में कर्पूर मिलाकर अभ्यंग करना चाहिए। इससे त्वचा स्निग्ध और चमकीली बनती है। इस प्रकार अभ्यंग करने के बाद लगभग आधे घण्टे के बाद ऊपर बताये योगों में से कोई योग का पाउडर उबटने के रूप में प्रयोग करना इससे त्वचा और चमकीली होती है।

(४) यौवन पिडिका के कारण त्वक् वैवर्ण्य हुआ हो तो इसमें जातीफल, चन्दन और कालामरी सब समान मात्रा में एकत्र करके लेप करना चाहिये।

(५) जातीफल क्वाथ में घिसकर लेप करने से लाभ होता है। इससे त्वचा के काले दाग दूर होते हैं।

उपर्युक्त बाह्य योगों के साथ लक्षणानुसार आभ्यन्तर योग प्रयुक्त करना चाहिए।

कुछ उपयुक्त आभ्यन्तर योग—

मञ्जिष्ठादि क्वाथ—दो तोला दिन में दो बार

हरिद्राखण्ड—दो ग्राम शहद के साथ

आरोग्यवर्धिनी, तुवरक रसायन, सारिवादि वटी आदि का जरूरत अनुसार प्रयोग करना चाहिए।